वर्ष : २१
अंक : १-

अगस्त, १९७२

युवकों का भी सरकारीकरण ?

सरकार की ओर से घोषणा हुई है कि उसकी ओर से देश भर में एक सौ नेहरू युवक केन्द्र खुलेंगे। इन केन्द्रों म क्या होगा ? खेल के मदान होंगे खेल के सामान होंगे। इसके अलावा और क्या क्या होगा ? और ये युवक कौन होंगे ? कहा गया है कि इन केन्द्रों में खेल के साथ साथ कुछ युवकनेता भी प्रशिक्षित किये जायेंगे। इन 'नेताओं' को क्या प्रशिक्षण मिलेगा और ये नेता प्रशिक्षित होकर क्या करेंगे ?

युवकों को कमाने, खाने खेलने, और सीखने की जितनी सुविधाएँ मिल सकें मिलनी चाहिए। लेकिन युवक स्वतंत्र निर्भय नागरिक बनें यह चिन्ता सबसे पहिले होनी चाहिए। क्या नेहरू युवक केन्द्र की इस योजना से यह उद्देश्य पूरा होगा ?

वर्ष : २१
अंक : १

हमें ऐसा लगता है कि अब सरकार युवकों को भी सरकारीकरण की अपनी दूरगामी योजना में सम्मिलित करने जा रही है। अगर हमारे युवक भी सरकार के हो जायेंगे तो क्या बचेगा जो समाज का होगा ?

लोकतंत्र स्वतंत्र रहे, इसके लिए दो चीजें आवश्यक होती हैं एक राजनीति में सभी दलों को बराबर स्वतंत्रता हो, और दो शिक्षा स्वतंत्र हो। लेकिन हम देखते हैं कि दोनों दृष्टियों से हमारा लोकतंत्र कमजोर हो रहा है। सरकार अधिक-से-अधिक अधिकार अपने हाथ म करती जा रही है। विरोधी दलों की स्थिति दिनोंदिन बिगड़ रही है। जो विरोधी दल ऊपर से भरे पूरे दिखाई देते हैं वे भी अन्दर-अन्दर खोखले होते जा रहे हैं। अनेक 'विरोधी सदस्य कमाई और सुविधाओं तथा भाई भतीजों के लिए

समाज कैसे चलेगा ? पर विज्ञान ने शस्त्र का स्वरूप बदल दिया है। आज दुनिया के सामने सवाल है कि इन शस्त्रों से कैसे मुक्त हो ? महावीर, बुद्ध और ईसा जो नहीं कह सके, वह बात आज निःशस्त्रीकरण की माँग द्वारा रखी जा रही है। निःशस्त्रीकरण आज दुनिया की अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है। निःशस्त्रीकरण में सिपाही की भूमिका समाप्त होती है। तब यह सवाल उठता है कि दण्ड शक्ति के स्थान पर अब कौन सी शक्ति समाज की रक्षा करेगी ? आज शस्त्र रखें तो सर्वनाश, (विकल्प के अभाव में) न रखें तो सर्वनाश। परिणामस्वरूप दुनिया की आकांक्षा निःशस्त्रीकरण की है और आयोजन शस्त्रीकरण का हो रहा है, क्योंकि आज कोई विकल्प नहीं है।

गांधीजी ने ध्यान दिलाया कि यह वांछनीय ही नहीं आवश्यक भी है कि सम्मति से समाज चले, क्योंकि लोकतंत्र की असली शक्ति सम्मति की शक्ति है। उसका साधन शिक्षा है। आज जो स्थान सैनिक का है, भविष्य में शिक्षक का बने।

समाज को दण्ड शक्ति से चलाने की एक पद्धति है। यदि सम्मति शक्ति से चलाना हो तो पद्धति बदलनी होगी। कोयले के इंजिन को डीजल से चलाना हो तो इंजिन की डिजाइन बदलनी होगी। इसके लिए आज परिस्थिति और मनःस्थिति दोनों अनुकूल हैं। विज्ञान में प्रकाश और चेतना दोनों का विकास हुआ है। प्रकृति का नियम है कि अन्धकार में आदमी को भय होता है। प्रकाश से हिम्मत बढ़ती है। इसलिए आज भय कम हुआ है और स्वाभिमान बढ़ा है। आज मालिक मजदूर को, सरकार जनता को, शिक्षक छात्र को भय से नहीं चला सकते। पहले के जमाने का ५० वर्ष की उम्र का बेटा बाप के सामने थर-थर कांपता था, पर आज का ३ साल का पुत्र भी कीन नहीं पकड़ने देता। पहले शिक्षक कक्षा में डण्डा लेकर पढ़ाने जाता था, और आज लेकर जाये तो वह डण्डा उसी की पीठ पर पड़ सकता है। इसलिए आज के शिक्षण की आयोजना में सोचना होगा कि सहकार का संस्कार कैसे विकसित हो ? परस्पर सहकार से समाज कैसे चले ? यह खोज करनी होगी, अन्यथा यह पीढ़ी खो जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि पूरी शिक्षा का दृष्टिकोण ही बदलना होगा।

लोकतंत्र की पहली शर्त मतदान है। मतदाता को इतनी न्यूनतम शिक्षा तो मिलनी ही चाहिए कि जिससे चुनाव-घोषणा-पत्र समझ कर मत दे सके। आज के स्तर के अनुसार हायर सेकण्डरी तक की शिक्षा की न्यूनतम माँग है। कृषि प्रधान देश भारत में प्रौढ़ो, स्त्रियों एवं बच्चों के काम के दायरे बटे हुए हैं।

जो बच्चे किसान के घर में काम करते हैं उन्हें शिक्षित करना हो तो उनके कामों को शिक्षा का माध्यम बनाना होगा।

लोकतन्त्र में शिक्षा का स्वरूप बुनियादी शिक्षा का होगा। सामाजिक और प्राकृतिक परिस्थिति के अनुरूप द्वारा शिक्षा देनी होगी।

आज लोकतन्त्र में नेतृत्व का संकट पैदा हो गया है। क्योंकि या तो नेता जन-प्रतिनिधि बन गया है या जन प्रतिनिधि को लोग गलती से नेता समझने लगे हैं। प्रतिनिधि सदा जनमत के पीछे चलनेवाला होता है। आज जनता का मार्गदर्शन करने वाला कोई नहीं है। यदि भविष्य में जनता को आगे बढ़ाना है तो नेतृत्व का नया स्वरूप विकसित करना होगा। उसकी जिम्मेदारी शिक्षक पर है। शिक्षक को समाज का नेतृत्व अपने हाथ में लेना होगा। यह तभी सम्भव है जबकि शिक्षक की भूमिका ऊँची हो। उसे जन प्रतिनिधि से उदासीन रहना होगा। उदासीन अर्थात् उत्-आसीन ऊपर आसन जमाया हुआ—तटस्थ नहीं। न्यायाधीश की स्थिति आज जन-प्रतिनिधि के नीचे नहीं है। वही स्थिति शिक्षक की होनी चाहिए।

आज शिक्षकों के अखिल भारतीय संगठन हैं, लेकिन वे अत्यन्त सीमित दायरे में सोचते हैं। वे अपने वेतन बढ़ाने की माँग हेतु हड़ताल करते हैं। यदि हड़ताल करना ही हो तो वह शिक्षा के विषय को न्याय के समान स्वतंत्र करने जैसे विषय पर होनी चाहिए।

यह कैसे होगा? जिन शिक्षकों में इस विचार के प्रति तड़पन हो, वे इस काम को उठा लें। आचार्य विनोबा ने इसके लिए आचार्यकुल के रूप में रास्ता खोला है।

प्रश्न विश्वविद्यालय स्वायत्त ही हैं, फिर भी समस्या ज्यों-की त्यों है। आपका अभिप्राय किस प्रकार की स्वायत्तता से है?

उत्तर विश्वविद्यालय का कुलपति, उपकुलपति सरकार के हाथ का खिलौना ही होता है। सरकार उनके आदेशों को सुपरसीड कर सकती है, न्याय विभाग के समान शिक्षा जगत को शिक्षा के मसलों पर निषेधाज्ञा के अधिकार नहीं हैं।

समाज कैसे चलेगा ? पर विज्ञान ने शस्त्र का स्वरूप बदल दिया है। आज दुनिया के सामने सवाल है कि इन शस्त्रो से कैसे मुक्त हो ? महावीर, बुद्ध और ईसा जो नही कह सके वह बात आज नि शस्त्रीकरण की माँग द्वारा रखी जा रही है। नि शस्त्रीकरण आज दुनिया की अनिवार्य आवश्यक्ता बन गयी है। नि शस्त्रीकरण में सिपाही का भूमिका समाप्त होती है। तब यह सवाल उठता है कि दण्ड शक्ति के स्थान पर अब कौन सी शक्ति समाज की रक्षा करेगी ? आज शस्त्र रखें तो सर्वनाश (विकल्प के अभाव में) न रखें तो सर्वनाश। परिणामस्वरूप दुनिया की आकाक्षा नि शस्त्रीकरण की है और आयोजन शस्त्रीकरण का हो रहा है क्यो कि आज कोई विकल्प नहीं है।

गाधीजी ने ध्यान दिलाया कि यह वाछनीय ही नही आवश्यक भी है कि सम्मति से समाज चले, क्योकि लोकतत्र की असली शक्ति सम्मति की शक्ति है। उसका साधन शिक्षा है। आज जो स्थान सैनिक का है, भविष्य में शिक्षक का बने।

समाज को दण्ड शक्ति से चलाने की एक पद्धति है। यदि सम्मति शक्ति से चलाना हो तो पद्धति बदलनी होगी। कोयले के इजिन को डीजल से चलाना हो तो इंजिन की डिजाइन बदलनी होगी। इसके लिए आज परिस्थिति और मन स्थिति दोनो अनुकूल हैं। विज्ञान में प्रकाश और चेतना दोनो का विकास हुआ है। प्रकृति का नियम है कि अधकार में आदमी को भय होता है। प्रकाश से हिम्मत बढ़ती है। इसलिए आज भय कम हुआ है और स्वाभिमान बढा है। आज मालिक मजदूर को, सरकार जनता को, शिक्षक छात्र को भय से नही चला सकते। पहले के जमाने का ५० वर्ष की उम्र का बेटा बाप के सामने थर-थर कांपता था, पर आज का ३ साल का पुत्र भी कॉन नही पकडने देता। पहले शिक्षक कक्षा में डण्डा लेकर पढाने जाता था, और आज लेकर जाय तो वह डण्डा उसी की पीठ पर पड सकता है। इसलिए आज के शिक्षण की आयोजना में सोचना होगा कि सहकार का संस्कार कैसे विकसित हो ? परस्पर सहकार से समाज कैसे चले ? यह खोज करनी होगी, अन्यथा यह पीढी खो जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि पूरी शिक्षा का दृष्टिकोण ही बदलना होगा।

लोकतत्र की पहली शर्त मतदान है। मतदाता को इतनी न्यूनतम शिक्षा तो मिलनी ही चाहिए कि जिससे चुनाव घोषणा पत्र समझ कर मत दे सके। आज के स्तर के अनुसार हायर सेकण्डरी तक की शिक्षा की न्यूनतम माग है। कृषि प्रधान देश भारत में प्रौढ़ो, स्त्रियो एव बच्चो के काम के दायर बट हुए हैं।

नयी तालीम त्वरित प्रगति नहीं करती है। उसका असली कारण यह है कि नयी तालीम के प्रेरक विचार को सारी जनता न तो पूरा-पूरा समझती है और न उसे स्वीकारती ही है। कुछ लोग गांधीजी के कार्यक्रम के अनुसार हिंद-स्वराज्य नहीं चाहते, क्योंकि वे मानव प्रकृति और मानव कल्याण की बुनियादी के रूप में गांधीजी की विचार सरणी को नहीं मानते। इस सही दृष्टि-भेद को स्वीकार कर समस्या सुलझाना चाहिए। मानसिक आलस्य का भी एक बोझा है। आदतों की पुरानी लीक पर चलना हमेशा आसान है और बहुत से लोगों को अपनी असमर्थता के कारण इस पुराने ढर में ही रहने में सन्तोष मिलता है। शहरों में शिक्षितवर्ग वर्तमान पद्धति में बुनियादी परिवर्तन या मामूली हर फेर भी नहीं चाहता, क्योंकि वर्तमान पद्धति को चालू रखने में उसको लाभ है।

यथास्थितिवादियों की ये विरोधी बातें

ये विरोधी लोग जिस पद्धति का समर्थन करते हैं उसकी कमजोरियों का उनको पूरा भान है। वे जानते हैं कि वर्तमान शिक्षा की योजना सारे राष्ट्र के लाभ के लिए कभी नहीं की गयी थी। असल में वह मध्यम वर्ग के लिए थी, जो नौकरशाही के दलाल हैं उनका राज्यसत्ता में प्रवेश करने के लिए प्रमाण पत्र पाने का लक्ष्य है। उसका उद्देश्य ही सीमित और संकीर्ण है। इसलिए वह जीवन के बुनियादी तत्वों की शिक्षा नहीं दे सकती। केवल ऊपर ऊपर की बातों की शिक्षा ही देगी। सम्पूर्ण और स्वस्थ मानव बनानेवाले विचार जैसे स्वातंत्र्य जीवन की आशा, नैतिक साहस और प्रेम की शिक्षा इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली में नहीं मिलती।

आज थोड़े गुरुकुल ऐसे हैं जहाँ विचार करना, सेवा करना सिखाया जाता है। परन्तु अब तक ये लोग पुरानी घिसी-पीटी शिक्षा-परम्परा में जकड़े हुए हैं, वे मुक्त नहीं हो सकते। विनोबा कहते हैं कि भारत ने स्वातंत्र्य प्राप्त किया तो पुराने राज्य का झण्डा जिस तरह एक दिन के लिए भी नहीं सहा गया, उसी तरह पुरानी शिक्षा भी फौरन बदल देनी चाहिए। पुराना शिक्षाक्रम नहीं निभाना चाहिए। भारत अभी तक शिक्षा में गुलामी निभा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिनकी आवाज 'जनमत' समझी जाती है वे पुरानी राज्य व्यवस्था की पैदाइश हैं। पुरानी पद्धति चालू रखने में उनका स्वार्थ है। इस शिक्षा ने हमें सुविधा प्रेमी बनाया है, हमको आजीवन वेतन की नौकरी दी है और हमें आशा है कि यही हमारे बालकों को भी मिलेगी। आरामपरस्ती हमको यथा-स्थितिवादी बनाती है। इस जीर्ण मनोवृत्ति को बनाए रखने में हमारा डरपोकपन

और हमारी अपराधी वृत्ति दोनों झलकते हैं। सरकार के पास पैसे कहाँ से आते हैं, उसका शान्त चित्त से विचार करेंगे तो हमें मालूम होगा कि जिनके बच्चों को भर पेट भोजन और शिक्षा नहीं मिलती, जो अपनी मेहनत की कमाई स्वयं नहीं खा पाते, वे लोग जो गाँवों में रहते हैं, हमारी शिक्षा और सुख-सुविधा का खर्च दे रहे हैं, खेतिहर और मजदूर हमें खिलाते हैं—हमें कपड़े देते हैं, हमें पढ़ाते हैं, हम जो शहरों में हैं, दुनिया में जो कुछ चीजें बन रही हैं उनके उत्पादक नहीं हैं। साफ कहें तो हम दूसरों का खून चूसनेवाले हैं। इसलिए हम परिवर्तन से डरते हैं। हम डरते हैं कि कहीं बुनियादी और राष्ट्रीय विचारों को गम्भीरता-पूर्वक स्वीकार करने से हमारे अपने जीवन में क्रान्ति आ जायेगी। जाने-अनजाने हम ये विचार तोड़ते हैं। हम जानते हैं कि हमने अपना घर रेत पर बनाया है परन्तु हम आशा रखते हैं कि मरने के पहले आन्धी तथा तूफान हमें कहीं घसीट न ले जाय।

सृजनात्मक जीवन की तालीम

यदि हम उस आरामतलब शिक्षा का त्याग करते हैं और अपने प्रमाण पत्र फेंक देते हैं और एक सही इनसान बनानेवाली कोई तालीम शुरू करने का निश्चय करते हैं, तो उसके लिए सोचना होगा कि तालीम कौन-सा रास्ता बताती है? बुनियादी शिक्षा के क्या आधार हैं?

प्रत्येक मनुष्य को उत्पादक काम, प्रेम और ज्ञान की आवश्यकता है, इस बुनियाद पर नयी तालीम आधारित है।

आदमी उत्पादन करना चाहता है। उसके भीतर सृजन करने की प्रेरणा रहती है। वह अपने हाथ से कभी अच्छी वस्तु देखता है, तब उसकी सृजन करने की प्रेरणा सन्तुष्ट होती है। खेत और बगीचा बनाता है, कपास से पूनी बनाता है, लकड़ी और धातु की उपयोगी और कलापूर्ण चीजें बनाता है, संगीत सीखता है और विभिन्न चित्रकलाओं में रुचि लेकर वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सारे संसार में भगवान के चित्र बनानेवाले धर्मों में देवों की जातियों में से कुछ देवों को सर्वोत्तम कारीगर और सर्वोत्तम कलाकार बताया गया है। काम केवल भौतिक आवश्यकता नहीं है, वह जीवन के अर्थ और प्रकार का हिस्सा है। कोई भी काम यदि शान्तचित्त से और तबीयत से किया जाय तो उससे कार्यक्षमता और कला, दोनों पर समान अधिकार हो जाता है।

मनुष्य की दूसरी आवश्यकता प्रेम करना और प्रेम पाना है। अपनी मानवीय प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति के लिए वह दूसरों का साथ चाहता है। इस

प्रतिक्रिया में उसकी आकांक्षाएँ, योजनाएं और उपक्रम होते हैं तथा व्यक्तिगत दु:ख भी शामिल होते हैं। परिवार, दल या जाति में वह अपना समावेश चाहता है जिससे वह अपनी कमजोरी के समय में मदद पा सके और जिसको अपना बल व बुद्धि अर्पण कर सके, ऐसे किसी समाज का वह सदस्य बनना चाहता है। अपने मानव बन्धुओं की सेवा में अपनी जवाबदारी अदा करना चाहता है। मनुष्य की सामाजिक आदतें उसकी अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अवश्य मदद पहुँचाती हैं। उनको ये आदतें केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वाभाविक उपक्रम ही नहीं होती, बल्कि उनसे जीवन की ऊँचाइयों को छूने का प्रयत्न भी होता है।

व्यापक और गहरी जिज्ञासा

मनुष्य की तीसरी आवश्यकता ज्ञान-प्राप्ति की है। व्यक्ति में शोध करने की और समझने की इच्छा रहती है। इस नये ज्ञान का किसी व्यावहारिक उपयोग से सम्बन्ध नहीं रहता। सभी बड़े-छोटे लोगों में निरपेक्ष, शुद्ध, निःस्वार्थ, जिज्ञासा भाव स्वभावतः रहता है। अपने आस-पास वह जो कुछ देखता है उसके स्वभाव और अर्थ का पता लगाना चाहता है। उसकी तात्कालिक भौतिक आवश्यकता से सम्बन्ध न रखनेवाली सब प्रकार की चीजों के सम्बन्ध में उसके मन में जिज्ञासा रहती है और उन पर उसका प्रयोग चलता रहता है। विज्ञान का इतिहास बताता है कि इस शुद्ध पिपासा की उपयोग रहित ज्ञान की तृप्ति के लिए मनुष्य ने जो कोशिशें की हैं उनमें से अप्रत्यक्ष रूप से बहुत उपयोगी और व्यावहारिक खोज हुई हैं। परन्तु जिस प्रेरणा से केवल ज्ञान और ममता की खोज होती है वह प्रेरणा भौतिक आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति के लिए हो रहे अच्छे और आसान तरीकों की मानव-जाति की खोज के मुकाबले बहुत व्यापक और गहरी चीज है।

यदि मनुष्य की मुख्य आवश्यकताएँ ये हैं तो इनकी तुलना में समाज की प्रगति को नापना चाहिए। जिस समाज के लिए मनुष्य की सहनशक्ति, उसको 'सुन्दरम्' बनाने में खर्च होती है, वह समाज का पूर्णतया मानवीय अंग है। सर्वोदय का फ्रेंच विद्यार्थी कहता है कि शान्ति, स्वातन्त्र्य और सन्तोष के सिवाय सच्ची प्रगति नहीं है। इसी आवश्यक सत्य को दूसरे शब्द में इस तरह रखा जा सकता है कि सच्चे सामाजिक जीवन के फलस्वरूप शान्ति मिलती है, मन की आजादी बुनियादी आजादी है। इन दिनों जनसाधारण जिसको प्रगति कहते हैं, उसका बहुत-सा अंश लेशमात्र भी प्रगति नहीं है। वह भौतिक सुविधाओं का ढेर मात्र है।

भास या अमेरिका के पास प्रचुर मात्रा में जितनी मोटर, रेडियो, विद्युत साधन हैं, इस तुलना में भारत के पास साधन न होने से यह पिछड़ा हुआ माना गया है। जो यह कहते हैं वे भौतिकतावादी हैं, और उन्हें प्रगति का सही अर्थ मालूम नहीं है। परन्तु मनुष्य के जीवन की प्रगति केवल उसकी मालिकी की चीजों की संख्या पर आधारित नहीं है। जिस मनुष्य को परिपूर्ण आत्म-संतोषप्रदायक काम मिलता है, बड़ा मित्रवर्ग और पारिवारिक प्रेम मिलता है, प्रतिष्ठा और उन्नति के अवसर खुले मिलते हैं वह मनुष्य साधन सम्पन्न है। जिन देशों को सम्पन्न कहा जाता है, उन्होंने उपरोक्त साधन सम्पन्नता पायी है या नहीं यह बहुत शंकास्पद है।

शैक्षिक प्रगति के पैमाने

शिक्षा के क्षेत्र में हम अपनी प्रगति उपरोक्त मूल्यों से नापनी चाहिए। अच्छी शिक्षा के द्वारा सृजनशील प्रवृत्ति का विकास हो तथा सहकारी जीवन, बौद्धिक खोज की अभिवृद्धि आनन्द और उत्साह के साथ-साथ मानवीय क्षमताओं का विकास हो यह उद्देश्य शिक्षा प्रणाली का होना चाहिए। विकासशील मानव की आवश्यकताएं बहुत सादी लेकिन गहरी होती हैं। बौद्धिक एवं शारीरिक विकास के साथ ही वह अपने आसपास की दुनिया और मनुष्यों के विषय में जानना चाहता है और उसमें भावना के साथ डूबना चाहता है। आनन्द चीजों को बटोरने में नहीं है व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में निहित है।

तालीम जो मानव को पूर्ण बनाये

व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए नयी तालीम सबसे बढ़िया और सरल साधन है। लोगों को तालीम आसानी से सुलभ हो इस सिद्धान्त पर नयी तालीम आधारित है। अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ, शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त करनी पड़ती हैं। इसलिए अच्छे जीवन के नक्शे का आवश्यक अंश शारीर श्रम है। अपना श्रम जो आप कर सकते हैं दूसरों पर थोपना अन्याय, शोषण और कायरता है। क्योंकि जीवन और विकास की चाबी परिश्रम है, प्राथमिक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादक हस्तोद्योग से करना नयी तालीम का मूल मंत्र है। उत्पादक कार्य प्रतिदिन के जीवन में सत्य अहिंसा के तत्व का व्यावहारिक प्रदर्शन है।

अपने लिए स्वयं अन्न पैदा करने में, घर बनाने और सजाने में और अपने औजारों को आकार देने में मनुष्य का शरीर स्वस्थ और पुष्ट होता है, उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता का विकास होता है। अच्छी तरह काम करने से कारीगर को आनन्द होता है। वह अनुभव करता है कि उसकी बुद्धि का व्यायाम

हो रहा है, वह स्वयं को तालीम दे रहा है। माता-पिता, पत्नी और बच्चों की भलाई के लिए काम करने का संतोष उसे प्राप्त है। वह प्रकृति और मानव-सृष्टि में शांतिपूर्वक रहने के जीवन सम्बन्धी कानून को समझने के साथ उसके पालन में सहयोग देना सीखता है। प्रौढ़ और बच्चे के शरीर, मन और आत्मा के उत्तम अंश को बाहर लाने की शक्ति इस प्रकार के उपयोगी बुद्धिपूर्ण काम में है। और उसमें बुद्धि और आत्मा का उच्चतम विकास सम्भव है। वह केवल शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं करता, परन्तु मानव प्रकृति की सब अभौतिक (यानी बुद्धि, आत्मा, वाणी आदि की) आवश्यकताएँ पूरी करता है। इसलिए बुनियादी पाठशाला के उद्योग के कार्यक्रम का तात्कालिक ध्येय भौतिक और व्यावहारिक है—जैसा कि कपड़े बनाना, साग-भाजी, अनाज बोना, कम्पोस्ट खाद तैयार करना, मकान साफ करना, मरम्मत करना, रसोई पकाना, आदि ये सब बातें बच्चा समझ सकता है। उसके हृदय की गहराई में समाज का क्रियाशील और उपयोगी सदस्य बनने की कामना रहती है इसलिए उसे ये बातें अच्छी लगती हैं। वह अपने शिक्षक और सहपाठियों के साथ योजना बनाता है। उसे अमल में लाता है। उसके परिणामों को जाँच करता है—मूल्यांकन करता है। उसके अपने हाथ से पैदा किया गया उपयोगी कपड़ा, अनाज, खाद आदि का प्रमाण और मूल्य, विद्यार्थियों के काम की सफलता और सगीनता की सच्ची कसौटी है।

नयी तालीम का मूल्यांकन भौतिक परिणामों से किया जाता है। उसको मर्कन्टिलता में पेशेवर औद्योगिक या उपयोगी प्रकार का शिक्षण कहा जाता है ऐसा नहीं है। नयी तालीम का ध्येय पूर्ण मानव बनाने की तालीम देना है, खेतिहर या कारखानों का श्रमिक बनाने का ध्येय नहीं है। उसके कार्यक्रमों का तात्कालिक ध्येय जीवनोपयोगी वस्तुओं का कुशल उत्पादन है, परन्तु इन कार्यक्रमों का अन्तिम लक्ष्य बालक की शारीरिक शक्ति परिपक्व बनाने के साथ कुशलता, परिपूर्णता, धैर्य, सात्विक विवाद, मित्रभाव, निःस्वार्थ सेवा आदि गुणों द्वारा मन में स्फूर्ति लाने का है। 'प्रसन्नता से आत्मा का विकास होता है और अच्छे काम करने से कठिनाइयों को दूर करने में और सौन्दर्य की प्राप्ति में वास्तविक प्रसन्नता मिलती है। अन्तिम लक्ष्य की सफलता के लिए तात्कालिक उत्पादन में सफलता आवश्यक है, परन्तु पाठशाला का कार्यक्रम अन्तिम ध्येय के अनुसार होता है। बुनियादी तालीम केवल उद्योग-धन्धे की तालीम नहीं है, क्योंकि उसका ध्येय मनुष्य को मानवीय, उदार और सांस्कृतिक बनाना है। उत्पादन कार्यक्षमता के तात्कालिक

लक्ष्य और स्थिर, मुक्त बलशाली पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य के लिए भी बुनियादी पाठशाला को मानव आत्मा की सिद्धियों का परिपूर्ण उपयोग करना ही चाहिए। वैज्ञानिक, जीवनोपयोगी विविध कलाओं का अध्ययन करते हुए उसे प्रयोगात्मक रूप देना उसके लिए अनिवार्य है। हमारी दृष्टि से नयी तालीम में संकुचितता नहीं होनी चाहिए ऐसा विनोबाजी ने लिखा है। हमारा ध्येय महान् भारत बनाने का है। इसलिए हमारी बौद्धिक तालीम विशाल और बुनियादी होनी चाहिए। हम अपना जीवन गाँव में बितायें, परन्तु दुनिया की सांस्कृतिक धारा से उसको पोषण देते रहें। अहिंसा और विज्ञान की मैत्री का नाम नयी तालीम है। इस मैत्री में से हम पृथ्वी पर स्वर्ग ला सकते हैं।

दो स्पष्टीकरण

बुनियादी तालीम, यान्त्रिक व्यवस्था के खिलाफ है। हाथ से चलाने के यंत्र को शिक्षा का मूलाधार बनाने से हम पीछे हटते हैं और बीसवीं सदी की सिद्धियों को दृष्टि से ओझल करते हैं। इस आलोचना का विचार यहाँ करना चाहिए। गाँवों के लिए बुनियादी तालीम अच्छी हो सकती है परन्तु जहाँ यंत्र तंत्र ज्यादा प्रगति में हैं, ऐसे शहरों के लिए वह प्रतिकूल है।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं

(१) जब लोग विज्ञान की बातें करते हैं तब प्रायः उनके कहने का अर्थ यंत्र-विद्या होता है, इसलिए उनके विचार और दलीलों में गड़बड़ होती है। वस्तुतः 'विज्ञान' मानसिक संयम है, वह दुनिया की जानकारी प्राप्त करने का तरीका, या साधन है। यह शक्ति मानव के जिज्ञासु स्वभाव की एक सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। अणुशक्ति के परीक्षण द्वारा वस्तुओं का पृथक्करण कर वातावरण को समझने के प्रयत्नों के परिणामों को विज्ञान कहते हैं। उसका प्रामाणिक लक्ष्य केवल व्यावहारिक उपयोग नहीं है अपितु बुद्धिपूर्वक समझने का है। नयी तालीम में मन की, प्रश्न करने की वृत्ति के विकास पर बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। आवश्यक प्रक्रियाओं को सही ढंग से समझने के लिए उन्हें अत्यन्त सादे तरीके से करना चाहिए। जो बालक कुएँ या नदी से पानी निकालता है और ऋतु के अनुसार पानी की सतह का उतार चढ़ाव देखता है उसे स्नान-घर में टंकी से पानी लेनेवाले बालक की अपेक्षा पानी के स्रोतों का ज्यादा सही और वैज्ञानिक ज्ञान होता है।

जो बालक तकली पर मजबूत, समान और प्रमाण प्रेसर बटवाला सूत कातता है वह कपास की परख और कताई की प्रक्रियाओं में निष्णात होता है। यह योग्यता उसे हैण्डल घुमाने से, बिजली का बटन दबाने और यंत्र को काम

करते देखते रहने से कभी नहीं मिल सकती। जिसमें कुशलता का उपयोग नहीं किया जाता, ऐसे यंत्र की अपेक्षा हाथ के औजार और उनके उपयोग से कच्चे माल को पक्का बनाने का पूर्ण अनुभव, अपने वातावरण की विशेषता को वैज्ञानिक समझ के लिए बहुत ज्यादा मूल्यवान है।

यान्त्रिक परावलम्बन वैज्ञानिक खोज की जिज्ञासा को समाप्त करता है। बिजली का बटन दबानेवाले लोगों में ही क्या एक भी यह जानता है कि उसके अन्दर क्या प्रक्रिया चल रही है?

यंत्र और मानव

यान्त्रिक प्रगति का महत्त्व समाज या शिक्षा में तभी है जब वह मानव जाति की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। जैसा हमने देखा, इन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ मनुष्य अपनी खुद की सारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है। यंत्रों की मदद स्वतंत्र रूप से अच्छी या खराब नहीं है। यदि यह मनुष्य को मनुष्य बनाने में मददगार होती है तो अच्छी है, रुकावट डालती है तो बुरी है। गत शताब्दी के भारी तकनीकी विकासों से भौतिक चीजों का उत्पादन बहुत अधिक हुआ है। परन्तु उससे लोगों का हाथ से काम करने का आनन्द समाप्त हुआ है। कामगार उत्पादन की प्रक्रिया नहीं समझ सकता और वह समूह के रूप में उसका हिस्सेदार भी नहीं बन सकता। अब मनुष्य अपने औजारों का स्वयं मालिक नहीं रहा। वह यंत्र का नौकर है। काम के अर्थ के साथ साथ जीवन का अर्थ भी नीचे गिर गया है। क्योंकि हमने अपनी यह धारणा बना ली है कि अपनी चीजों की मालिकी हमारे सारे सुख का आधार है। यंत्रवाद केवल उत्पादन बढ़ाने का औजार है। जीवन के बुनियादी लक्ष्य की दृष्टि से उसका उपयोग गौण होना चाहिए। मनुष्य यदि सारी दुनिया का भौतिक सुख भी प्राप्त कर ले, लेकिन उससे अपनी आत्मा का हनन होने दे, तो उससे क्या लाभ होगा? नयी तालीम यंत्रों के विरुद्ध नहीं है। परन्तु उसका आग्रह है कि यंत्र को उसके उचित स्थान पर रखना चाहिए। यंत्र औजार है—उसे हम पर हावी नहीं होना चाहिए।

●

चारु चौधरी

अहिंसा की शक्ति प्रकट करने का एक शैक्षिक प्रयोग

[श्री चारु चौधरी उन गिने-चुने गांधी विचार-प्रेरित रचनात्मक कार्यकर्ताओं में से हैं, जिन्होंने भारत-विभाजन के बाद तब के पूर्वी पाकिस्तान और अब के बांगला देश में निरन्तर अहिंसक लोकशक्ति जागृत करने के प्रयोग करते रहे हैं। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि बांगला देश के स्वातंत्र्य संघर्ष के दौरान पाकिस्तानी दमन चक्र से ईश्वर ने उन्हें बचा लिया। वयोवृद्ध आदरणीय श्री चारुदा गत मई '७२ के सर्वोदय सम्मेलन में पधारे थे, और उन्होंने अपने अनुभवपूर्ण भाषण में अहिंसक शक्ति के प्रयोग की जो कहानी सुनायी थी, उसमें से नोआखाली के आश्रम-विद्यालय का प्रेरक अनुभव हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।—सं०]

हमारे नोआखाली गांधी आश्रम में एक पुराना मकान है, उसके एक तल्ले के एक छोटे-से कमरे में बैठकर मैं अपना लिखा-पढ़ी का काम करता था। वहाँ से गाँव के खेत-बगीचे आदि दिखाई देते थे। हर रोज मैं यह देखता था कि छ सात साल से लेकर बारह चौदह साल तक के कुछ बच्चे हाथ में एक टोकरी, एक कटारी और कभी-कभी गले में रस्सी डालकर एक गाय को साथ लिये इधर उधर झाँकते बाग में जा रहे हैं, खेत में गाय को बाँधकर इधर उधर झाँकते हुए बगीचे में पड़ा हुआ एकाध नारियल, कुछ सुपारियाँ चुपके से उठा लेते हैं, और उन्हें टोकरी के भीतर डालकर ऊपर से घास फूस रखकर, उसे ढक देते हैं। कभी बगीचे की बाड़ में से कुछ लकड़ियाँ भी तोड़कर रख लेते हैं, कभी गाय को किसी के खेत में घुसाकर कुछ फसल भी चरा देते हैं। इस तरह से उन लड़कों के समय का उपयोग होता था। साफ है कि वे स्वाभाविक रूप से चोरी की तालीम लेते थे। उनके बाप या अभिभावक यहाँ वहाँ काम करके कभी कुछ कमा लेते थे और कभी रात को चोरी-डकैती के लिए निकल पड़ते थे। इस तरह वहाँ चोरी एक स्वाभाविक पेशे में परिणत होता जा रहा था। यह देखकर मेरे मन में चिंतन चलने लगा।

कुछ दिनों के बाद मैंने उन लड़कों के अभिभावकों को बुला भेजा। वे आये और हम एक साथ बैठे। छोटी-सी भूमिका के बाद मैंने उनसे पूछा, "तुम्हारे

लडके इधर-उधर घूमकर जो कुछ इकट्ठा करते हैं उससे कितनी आमदनी होती है ?" वे मेरे इस प्रश्न से असमंजस में पड गये। मैंने उन्हें समझाकर कहा, 'लडकों को अगर एक नारियल मिल गया और कुछ दूसरी चीजें मिल गयी तो भी कुल मिलाकर चार-पाँच आने की चीजें हो जाती हैं, एक आदमी के लिए पेट भरने लायक हो जाता है, लेकिन इससे लडके जो चोर बनने की तालीम पा रहे हैं, उसका क्या होगा ?' यह सुनकर वे लोग दुख के साथ कहने लगे, "हम गरीब आदमी हैं, खाने को दे नहीं सकते हैं, स्कूल में भी भेज नहीं सकते।" तब मैंने कहा, "इन लडकों को मुझे दे दो, मैं इनको रोज तीन आने दूँगा। सबेरे का नाश्ता दूँगा, दोपहर और रात का खाना वे घर जाकर खायें। आगे चल कर रात को उन्हें अपने पास रखने की व्यवस्था जब कर सकूँगा, तब रात को भी मेरे पास रहेंगे।"

वे इस पर राजी हुए। इस तरह से मेरा एक नया प्रयोग शुरू हो गया। ये सब किसान मजदूर के लडके थे हाथ के काम में अभ्यस्त थे। हमारे आश्रम के खेतों में धान, पाट आलू, नाना प्रकार की सब्जियों की फसल होती थी। इस काम के लिए सामान्य लिखे-पढे मजदूर आश्रम में रहते थे। उनके हर एक के साथ तीन-तीन चार-चार लडके दे दिये। उनको इतना कह दिया था कि बच्चे कितनी भी शरारत क्यों न करें, वे उन्हें मारेंगे नहीं धमकी भी नहीं देंगे। कोई लडका कोई बडा कसूर करे, तो उसे मेरे पास ले आवें। इस तरह से मेरा एक अभिनव स्कूल शुरू हुआ। प्रचलित पद्धति से अक्षर सिखाने या पढाने की ड्रजरी (गधी मजदूरी) मुझे बहुत पीडा देती थी। इसीलिए मैंने दूसरे रास्ते से उनको सिखाना शुरू किया। वे जब रुई धुनते थे, सूत कातते थे, तब मैं बोर्ड पर बड़े अक्षरों में लिख देता था—'चरखा' रुई और उन अक्षरों को पढाकर बोलता था यह 'च' यह 'र' और यह 'खा' है। तीनों अक्षर मिलकर हुआ 'चरखा'। इस तरह अक्षर परिचय की शिक्षा होती रही। इस पद्धति से मैंने देखा कि उनको अक्षर-ज्ञान बहुत जल्दी हो गया था। मैं उनको लेकर बैठता था। बात करने के ढंग से नयी-नयी कहानियाँ कहता था। फिर उन लडकों से वह कहानियाँ कहने के लिए कहता था। यह देखकर दूसरे लडके भी कहानी कहने के लिए उत्सुक हो जाते थे। इस तरह से उनकी पढाई बडे आनन्द के साथ चलती थी। कुछ लडकों को तो पढने की धुन ही लग गयी थी। हमारे स्कूल में सब तरह की आजादी थी। अपनी 'शृंखला' लडके खुद ही बनाये रखते थे। काम भी वे अपनी ही प्रेरणा से करने लगे थे। काम के साथ-साथ हर तरह की शिक्षा चलती थी। कुछ दिनों के बाद उनके काते हुए सूत से उनके लिए सफेद स्काउट पोशाक—हाफ शर्ट, हाफ

पैण्ट और टोपी—बना दी गयी। उनकी पैदा की हुई सब्जी बेचने के लिए उन्हीं को बाजार में भेजा जाता था। सब चीजो पर एक चिप्पी (स्लिप) लगाकर उनका मूल्य लिख दिया करता था। उसी दाम पर चीजें बेची जायगी, उससे कम में नही या ज्यादा में भी नही। उनको रसोई बनाने की और कपडे धोने के लिए साबुन बनाने की शिक्षा दी गयी थी। वे साबुन बनाकर खुद ही बाजार में बेचने जाने लगे। उनका चाल चलन बदलने लगा। वे दिनभर इतने कामो में व्यस्त रहते थे कि किसी के साथ झगडा करने या गाली-गलौज करने का मौका ही नही मिलता था। स्कूल उनके लिए दिनभर खेलने का, काम करने का, पढ़ने का बगीचा बना। स्कूल म प्रतियोगिता और सहयोगिता साथ-साथ चलती थी। बाद में गीत और भजन सिखाने का काम बडी सुन्दरता से चलने लगा। मैं यह अनुभव करता था कि व समझते थ कि मेरी तरह उनको दूसरा कोई प्यार नहीं करता था। उनके छोटे-छोटे उद्‌गारों से उनके व्यवहार से मुझे यह प्रतीत होता था। मेरा यह अनुभव कहता है कि प्यार से ही ऐसे लडको को ठीक राह पर लाया जा सकता है। छुट्टी होने से वे दुखी होते थ। बड बड शिक्षाविद आकर यह विद्यालय देख जाते थे और प्रशसा करते थे। मैं उनसे कहता था कि यहाँ लडके सीखते भी है, और कमाते भी है। उनके लिए मेरा कुछ भी खर्च नही होता।

बापका देश म सब जगह ऐसा स्कूल चलाया जा सकता है और एक ही साल के अन्दर निरक्षरता दूर की जा सकती है। इसम खर्च भी नही के बराबर है, लेकिन मैं यह स्कूल रख न सका। लडको के अन्दर जो परिवर्तन दीख पडता था वह उस समय का कट्टर पाकिस्तानी मुसलमान समाज सहन नही कर सका। व लोग मुझे तरह-तरह क मुकदमो म फँसाकर स्कूल स दूर रखने लगे। गाँव के साधारण लोग मुखिया लोगों के डर से स्कूल से अपने लडके हटा लेने लग। इस तरह स्कूल अपने आप बन्द हो गया। इस स्कूल के अनुभव से ही मेरे मन में यह विचार आया कि इस पद्धति से इसे एक 'रूरल युनिवर्सिटी' में परिणत किया जा सकता है। उसकी परिकल्पना भी बनायी गयी थी। खादीग्रामोद्योग, कृषि, गोपालन, मधु मक्खी पालन आदि कामो के माध्यम से शिक्षा लेकर लडके ग्रेजुएट (स्नातक) बनेंग और हल भी चलायेंग।

मेरी राय में यह था एक सच्चे ढग का अहिंसात्मक प्रयोग। मेरे पास ज्ञान या शक्ति की कमी थी। मैं थोडा-बहुत काम कर सका। मुझसे ज्यादा शक्तिशाली मनुष्य ज्यादा काम कर सकता है।

●

मोतीलाल शर्मा

शिक्षा : आज का स्वरूप एवं कल की कल्पना

कक्षा के कमरों में भारत के भविष्य का निर्माण हो रहा है। शिक्षक रूपी शिल्पी समाज एव मानवता के लिए उपयुक्त, श्रेष्ठ, आदर्श नागरिकों के निर्माण में व्यस्त हैं। शिक्षा ही जीवन है। क्या क्या अपेक्षाएँ हैं शिक्षा, शिक्षार्थी एव शिक्षक से, शिक्षालयो से ? पर वास्तव म क्या य अपेक्षाएँ पूरी हो रही हैं ? क्या हमारा यह विश्वास सुदृढ आधार पर आधारित है ? क्या आज की शिक्षा कल के तकनीकी उपकरणों से समाज के लिए योग्य नागरिक पैदा कर सकेगी जो समय के साथ कदम बढा सके, परिस्थितियो में अपन आपको व्यवस्थापित कर सके और देश की अपेक्षाओ को साकार कर सके ? एक बडा भारी प्रश्नवाचक चिह्न है ! तो आइये, वर्तमान परिस्थितियो का विश्लेषण करें और कल की कल्पना कर आवश्यक तैयारी करें।

शिक्षा का वर्तमान स्वरूप

किसी भी विद्या-सस्थान में प्रवश करने पर आप पायेंगे कि भिन्न भिन्न वर्गों, धनी-मानी परिवारो, मध्यवर्गीय कर्मचारियो या मजदूर घरानों से, विभिन्न पारिवारिक पृष्ठभूमियो, एक व दो नम्बर के खाते रखकर सरकारी कर की चोरी करनेवालो, कालाधन रखनेवालों, पढे-लिखे आदर्श परिवारो, अनपढ एव शिक्षा में अरुचि रखनेवालो, अपराधी माता पिताओ, टूटे परिवारों से आये विभिन्न आयु के, अध्ययन एव शिक्षा की तरफ रुचि रुझान रखनेवाले या शिक्षा से घृणा करनेवाले निर्बुद्धि छात्र छात्राएँ विद्यालय परिवार के अग हैं, और ३० से ५० के समूहो में कक्षा के कमरो में अध्ययन कर रहे हैं।

अब आप कल्पना कर सकते हैं विभिन्नताओ की, विकटता की, जो इन विद्यार्थी समूहो में विद्यमान हैं।

प्रत्येक कक्षा के लिए वार्षिक खुराक के रूप में पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है, भिन्न-भिन्न विषयो के विशेषज्ञो द्वारा। इस तथ्य को आँखो से ओझल रखकर

कि कितने बालक इस खुराक को पचा सकेंगे, किन किन बालकों को इस खुराक से शक्ति मिलेगी तथा कौन-कौन इस खुराक को पचाने में असमर्थ रहेंगे और उनकी बीमारी बढ़ जायेगी। इस प्रकार सभी बालकों को समान रूप से शक्तिशाली एवं समान गति से आगे बढ़ानेवाले मानकर पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया जाता है, जिसको बिना प्रश्न किये प्रत्येक विद्यार्थी को एक वर्ष पूरा करना है। सत्र के अन्त में इस खुराक का प्रभाव परीक्षा द्वारा मापा जाता है।

यह पाठ्यक्रम जब शिक्षक के पास आ जाता है तो शिक्षक से अपेक्षा की जाती है कि यह पाठ्यक्रम प्रत्येक विद्यार्थी के गले में दवा की खुराक के रूप में डाल दे। शिक्षक के लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं रहता। वह सभी विद्यार्थियों को एक ही छड़ी से हाँकना शुरू कर देता है। विद्यार्थी यह प्रयत्न करते हैं कि वे किसी प्रकार निर्धारित पाठ्यक्रम को गले उतार लें तथा परीक्षा के समय उगल दें, और इस प्रकार प्रमाणित कर दें कि वे अगली कक्षा अथवा अधिक शक्तिशाली आगामी वार्षिक खुराक लेने के लिए तैयार हैं।

सत्र के अन्त में परीक्षा ली जाती है कि पाठ्यक्रम रूपी खुराक का विद्यार्थियों पर क्या प्रभाव हुआ, वे कितना हजम करने में सफल हुए। परीक्षा होती है, ग्रेड दिये जाते हैं, अंक दिये जाते हैं और फिर शिक्षक अंक अथवा ग्रेड के क्रम में विद्यार्थियों की सूची तैयार करता है। अर्थात् उच्चतम अंकों से शुरू कर निम्नतम अंकवाले विद्यार्थी तक की सूची तैयार करता है। उच्च अंक प्राप्त विद्यार्थी—जो बुद्धिमान है, आमतौर पर शिक्षा में रुचि रखनेवाले पारिवारिक पृष्ठभूमि से आया होता है—की प्रशंसा करता है, तथा उसके अच्छे अंक प्राप्त करने का कारण अपने द्वारा आदर्श शिक्षण, आदर्श कक्षा-संगठन, आदि आदि बताता है। कम अंक प्राप्त विद्यार्थियों के लिए उनकी निम्न बुद्धि, खराब अथवा दूषित वंश-परम्परा, घटिया पारिवारिक पृष्ठभूमि, विद्यार्थियों में शिक्षा के प्रति रुचि का नहीं होना, आदि कारण बताता है। इस प्रकार जिन विद्यार्थियों को किसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं है, उच्च ग्रेड प्रदान कर प्रोत्साहन दिया जाता है। जिन पिछड़े एवं कमजोर तथा दूषित वातावरण के शिकार विद्यार्थियों को वास्तव में प्रोत्साहन की आवश्यकता है, व्यक्तिगत सहायता की जरूरत है, उन्हें हताशा का शिकार बनना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी को व्यक्तिगत विशिष्टता को पूर्ण विकसित होने का अवसर प्राप्त नहीं होता, जो कि शिक्षा का उद्देश्य एवं लक्ष्य है, और जिसमें देश, समाज एवं मानवता की भलाई निहित है।

अब जब ये विद्यार्थी कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं तो फिर इन्हें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। क्योंकि जो खुराक कक्षा के कमरे में दी गयी, वह तो नियमत. वार्षिक खुराक एवं सत्र के अन्त में होनेवाली परीक्षा को ध्यान में रखकर दी गयी थी। उसका वास्तविक परिस्थितियों, सामाजिक जीवन, समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया था। विज्ञान-अध्यापक ने प्रयोग करने के लिए निर्देश दिया था कि पुस्तक के १५वें पेज पर निर्देश एवं प्रयोग का वर्णन है, उसके अनुसार प्रयोग करो। गणित-अध्यापक ने बताया कि प्रश्नावली के सवाल १ से १४ तक पुस्तक के २५ वें पेज पर दिये उदाहरण के समान हैं। सामाजिक ज्ञान में प्रश्नों के उत्तर के लिए सम्बन्धित पेज अथवा अनुच्छेदों पर निशान लगवा दिये गये थे, जिनको कठस्थ करना था अर्थात् इस पूरी प्रक्रिया में सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष को समझने का मौका नहीं मिला था।

यह है आज की शिक्षा की स्थिति। अब आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि आज के शिक्षक-शिल्पी आज के विद्यामंदिरों में जिस विद्यार्थी का निर्माण कर रहे हैं, वह विद्यार्थी क्या कल की चुनौती को स्वीकार कर सकेगा? क्या वह कल की जिम्मेदारियों को सम्भाल सकेगा?

तब कल के समाज की आवश्यकताओ को पूरा करने हेतु शिक्षण का रूप कैसा हो लखक वे सुझाव निम्न प्रकार है

(१) शिक्षक का प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व के विकास एव पोषण के लिए बालक की अपनी शक्तियो का प्रयोग करना चाहिए।

(२) बौद्धिक दृष्टि से कमजोर बालक पर शिक्षक को विशेष ध्यान देना चाहिए।

(३) हमें अपनी शिक्षण विधियो एव पाठ्यक्रमो को बदलना चाहिए तथा इस बात पर जोर देना चाहिए कि बालक में निहित शक्तियो को बाहर निकालने एव विकसित करन पर अधिक ध्यान दिया जाय, बजाय इसके कि शिक्षक बालक के मस्तिष्क में अधिक-से-अधिक सूचनाएँ उंडलने का प्रयत्न कर।

(४) शिक्षण में उस ज्ञान का अधिक उपभोग किया जाना चाहिए जो बालक की रुचि द्वारा विकसित हुआ है। ताकि बालक की रुचि निरतर बनी रह।

(५) प्रतियोगिता को कम से कम प्रोत्साहित किया जाय। प्रतियोगिता का प्रयोग सिर्फ उसी समय करना चाहिए जबकि बालक स्वय इसकी आवश्यकता महसूस कर।

(६) बालक द्वारा अभिक्रम, कल्पना एव जागृति को अधिक-से अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(७) किसी कौशल में प्रशिक्षण देन के साथ साथ उस कौशल के क्षेत्र में अधिक से अधिक प्रयोग करने का अनुभव बालक को मिलना चाहिए।

(८) बालक म सृजनात्मक व्यक्तित्व का विकास शिक्षण का मुख्य बिन्दु हो।

इस प्रकार परिस्थिति का रूप बदल जाता है। जहाँ पहले कमजोर विद्यार्थी असफल होता था, वहाँ अब उपर्युक्त सुझावों के अनुसार कमजोर विद्यार्थी शिक्षक के व्यक्तिगत ध्यान का केन्द्र होगा, तथा बालक एव शिक्षक का विकास अनुभव पर आधारित होगा।

कमी कहाँ है ? क्यों है ?

कमजोरी दो स्थानों पर ही सम्भव हो सकती है—'शिक्षक म, अथवा 'प्रशासक, में। शिक्षक कक्षा म बालक को नेतृत्व देता है तथा शिक्षक का नेतृत्व शालीय प्रशासक, नेता प्रधानाध्यापक स मिल रह नतृत्व स प्रभावित होता है। शाला का सगठनात्मक वातावरण, जिसम बालक का विकास हो रहा है शालीय

फिर हम राजस्थान का ही उदाहरण लेते हैं। यहाँ शिक्षकों में से वरिष्ठता के आधार पर शास्त्रीय प्रधानों की नियुक्तियाँ होती हैं। पहली रात में शिक्षक के रूप में सोनेवाले व्यक्ति दूसरे दिन उठते ही वरिष्ठता देवी की कृपा से वह शाला-प्रधान के रूप में, शालीय नेता के रूप मे प्रकट हो जाता है तथा बिना किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किये शाला-प्रधान बन बैठता है।

अत. इस व्यक्ति से शिक्षको के व्यावसायिक विकास के लिए आवश्यक नेतृत्व की अपेक्षा करना दुराशा मात्र ही होगी। यह व्यक्ति शालीय संगठनात्मक वातावरण को शिक्षा के लिए उपयुक्त नही बना सकेगा। तो इन भयावनी परिस्थितियो से छुटकारा पाने के उपाय क्या हो सकते है ?

सुधार के लिए सुझाव

(१) शिक्षक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रमो में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाय।

(२) शिक्षण की विधियो में नवीनतम तकनीकी साधनो के उपयोग एवं शोध पर आधारित परिणामो के उपयोग के लिए शिक्षक को सक्षम बनाया जाय और प्रशिक्षित किया जाय।

(३) शालीय प्रशासको के लिए शैक्षिक प्रशासन के क्षेत्र में विशेष प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाय। इस प्रशिक्षण की अवधि १ से २ वर्ष की हो सकती है। यहाँ हमें व्यावसायिक प्रबन्ध की विधियो का भी उपयोग करना चाहिए।

(४) शिक्षक-प्रशिक्षण में भर्ती के तरीके दोषपूर्ण हैं, अत. शिक्षक-प्रशिक्षण में भर्ती के समय उम्मीदवारो का चयन मनोवैज्ञानिक परीक्षाओ के आधार पर किया जाना चाहिए।

(५) शिक्षक-प्रशिक्षण कालेजो के व्याख्याताओ की भर्ती के तरीके दोषपूर्ण है, अत इनको बदला जाना चाहिए तथा व्याख्याता पदो पर सीधी भर्ती को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इन व्याख्याताओ को प्रति दो वर्ष के बाद सेवाकालीन प्रशिक्षण के लिए आवश्यक रूप से भेजा जाना चाहिए, ताकि ये शिक्षा में हो रहे नवीनतम प्रयोगों एवं विकास के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें।

सेण्टर ऑव एडवास स्टडी इन एजुकेशन, बडौदा

दिनेशचन्द्र भारद्वाज

अनुशासनहीनता का उपचार : एक योजना

आये दिन हमें समाचार-पत्रों, आकाशवाणी-केन्द्रों एवं प्रचार-प्रसारण के अन्य साधनों के द्वारा विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं समाज के लोगों से यह ज्ञात होता है कि उनके काल में अनुशासनहीनता कम थी और अब विद्यार्थी-अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। प्राय सत्र के प्रारम्भ में और परीक्षा के दिनों में कहीं हड़ताल, कहीं घेराव, कहीं छेड़-छाड़, कहीं नकल, कहीं चोरी, कहीं गुण्डागिरी, कहीं जुआ तथा शराबखोरी और न जाने किन-किन अपराधों में विद्यार्थियों को पकड़े जाने एवं सताये जाने के समाचार मिलते रहते हैं। दिन-प्रतिदिन इन घटनाओं की वृद्धि भी बतायी जाती है। ऐसा लगता है कि इन हरकतों से सारा समाज पीड़ित रहता है। मैं व्यक्तिगत अनुभव से एवं लम्बे समय तक विद्यार्थियों के बीच में रहने के नाते, यह मानता हूँ कि विद्यार्थियों को मूल रूप में दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

दोषी कौन ?

दोष तो इनको दी गयी शिक्षा-पद्धति में है जो इन्हें कर्महीन, कर्तव्यहीन, और निराशावादी बनाती है। दोष के भागीदार इनके निर्माता शिक्षक और माता-पिता भी हैं। सबसे बड़े दोषी, इनका मोहरा बनकर कर्त्तव्यभ्रष्ट एवं निहित स्वार्थों की प्राप्ति हेतु काम में लेनेवाले, ये राजनेता एवं राजनैतिक दल हैं, जिन्होंने राष्ट्र की इस महान शक्ति की गरिमा बढ़ाने के स्थान पर उसे पथभ्रष्ट कर अपने चंगुल में फँसा रखा है। बड़े-बड़े राजनैतिक दलों की घुसपैठ शिक्षण-संस्थाओं में होनेवाले चुनावों के समय स्पष्ट रूप से देखी और अनुभव की जा सकती है। अत चोर को नहीं, चोर की माँ—इन दलों को—मारना उचित होगा। जिसने लाखों अनुशासनहीन कार्यों को प्रोत्साहित किया है।

फिर भी यदि मान लिया जाय कि हमारे ये कर्णधार एवं भविष्य के आधार विद्यार्थी अनुशासनहीनता और विविध प्रकार के दोषों में फँसे हैं तो मैं दृढ़ता-

पूर्वक यह मानता हूँ कि इस प्रकार के कार्यों को कम एवं नियमित करने में अथवा उन कार्यों को रोकने में एक परामर्श समिति या सलाहकार मण्डल का गठन ही सच्चा उपचार होगा, जिससे कार्यों में सच्चामार्ग प्रदान कर इन विद्यार्थियों को उन्नत और राष्ट्रहित में सोचने की ओर प्रवृत्त किया जा सकेगा।

समाधान के उपाय

प्रत्येक शिक्षण-संस्था में, चाहे वह स्कूल, कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय हो, एक सलाहकार मण्डल भी उनकी कार्य प्रणाली का मुख्य अंग होना चाहिए। इस सलाहकार मण्डल को प्रथम आवश्यकता के रूप में स्वीकारना होगा। इसके गठन में अधिक कार्यकर्ताओं का योगदान होना जरूरी है। प्रधानाध्यापक, आचार्य अथवा विश्वविद्यालय के अधिकारियों को निष्पक्ष भाव से अधिक-से-अधिक सुयोग्य एवं शिक्षा के महत्त्व को समझानेवाले लोगों को नामजद करना होगा। अधिकतर सदस्य स्थानीय हों, ताकि वे सम्मानित हों और उनके आने-जाने पर यात्रा व्यय एवं दैनिक भत्ते पर कुछ खर्च न हो। जब भी चाहें उन्हें बुलाया जा सके अथवा उनसे परामर्श किया जा सके। स्थानीय होने से ये अधिक जिम्मेदार, निष्ठावान एवं कर्तव्य पालक होंगे। वे सभी स्थानीय बातों को एवं स्थितियों और आवश्यकताओं को जाननेवाले भी होंगे। इन नामजद सदस्यों में व्यापक जानकारी एवं व्यवसायों के लोग लिये जायँ जिनमें अधिकतर अनुभवी, प्रगतिशील और अवकाश प्राप्त हों ताकि वे इसकी सदस्यता का सम्मानरूप में स्वीकार करेंगे। इस प्रकार के लोग, शिक्षक, अभिभावक, जज, वकील, डाक्टर, समाजसेवक, प्रशासक और स्थानीय सम्मान को बढ़ानेवाले लोग होंगे। विद्यार्थी-संगठनों के प्रतिनिधि और संस्थाओं के अधिकारियों के प्रतिनिधि एवं संस्थाओं के अधिकारियों को भी मनोनीत किया जाना चाहिए। नगर के राजनेताओं एवं दलों के लोगों को कम-से-कम प्रतिनिधित्व दिया जाय। स्थानीय पुलिस अधिकारियों को भी सम्मिलित किया जाय। अर्थात् सलाहकार मण्डल जितना सर्वांग हो, उतना ही अच्छा होगा। यदि आवश्यक हो तो जनता के अन्य जरूरी प्रतिनिधियों को भी बैठकों में आमंत्रित किया जाय।

मण्डल का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से विद्यार्थी समस्याओं का समाधान करना होगा। पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों एवं अन्य प्रकार के शैक्षिक कार्यों में इसका हस्तक्षेप उचित नहीं होगा। इस मण्डल का पदेन सचिव संस्था का मुख्य अधिकारी प्रधानाध्यापक या आचार्य ही होना चाहिए। संस्था के वरिष्ठ अनुभवी शिक्षकों को भी यह दायित्व दिया जा सकता है। सचिव संस्था के सभी अनुशासनहीन

मामलों को इस मण्डल की बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत करेगा। मण्डल के सदस्य उन मामलों को गहराई से अध्ययन करने के बाद अपना निष्पक्ष निर्णय बैठक में बहुमत से देंगे। यह निर्णय सचिव के द्वारा सम्बन्धित विद्यार्थियों को बुलाकर बता देना चाहिए। बैठक में सम्बन्धित विद्यार्थियों को अपनी बात कहने का मौका मिलना चाहिए। इसके बाद सम्पूर्ण संस्था के विद्यार्थियों को सामूहिक बैठक अथवा सभा में दण्ड की बात विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए ताकि संस्थाहित में किये मण्डल के निर्णय अविरोध लागू हो सकें। इस सभा में मुक्त वातावरण में अन्य विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं का भी पता लग सकेगा।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो निर्णय किये गये हैं वे निष्पक्ष, समाजहित एवं विद्यार्थीहित से प्रेरित हैं।

इस प्रकार की योजना में जहाँ एक ओर विद्यार्थी-समाज आश्वस्त होगा, वहाँ दूसरी ओर इस कार्य-प्रणाली से दोषी विद्यार्थी के प्रति समाज के अन्य लोगों की और छात्र-समाज की सहानुभूति भी कम होगी और सारी सन्था के चालकों एव विद्यार्थी नेताओं को नगर की जनता, सम्मानित नागरिकों एव अपने हितचिन्तकों का दृष्टिकोण भी जानने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार के निर्णयों के औचित्यों को टाला नहीं जा सकेगा। आज इन बातों के अभाव में जहाँ ५-१० विद्यार्थी आये दिन हड़तालों का आयोजन करवाकर वातावरण खराब कर सकते हैं, वह नहीं हो पायेगा।

विश्वास एव अनुभव के आधार पर यह योजना आज के बिगड़े माहौल में शायद अधिक कारगर सिद्ध हो सकेगी और शिक्षण-संस्थाओं में आये दिन होनेवाली विकृत घटनाएं बन्द हो सकेंगी। यह योजना समाजवादी युग को निर्माती भी होगी, क्योंकि इसमें स्थानीय समाज के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व होता है।

अनुभव एव प्रयोगार्थ इस योजना को किसी समस्याग्रस्त संस्था में कुछ वर्षों तक परीक्षार्थ लागू किया जाय, ताकि योजना के महत्त्व और सफलताओं का लेखा-जोखा मिल सके। इस सम्बन्ध में उठनेवाली अन्य बातों का भी बराबर अध्ययन किया जाय तो कुछ समय बाद इसका सारांश सामने आयेगा। सच्ची निष्ठा से योजना को कार्यरूप देने से शायद समाधान, उपचार या मार्ग मिल जाय।

प्राध्यापक भूगोल, उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

●

कृष्ण कुमार

शिक्षा की क्रान्ति का अर्थ

आजकल शायद ही कोई दिन बीतता हो जब देश के किसी-न-किसी कर्णधार के मुँह से शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन की बात सुनने को न मिले। विस्मय तब होता है जब स्वयं शिक्षामन्त्री इस तरह की बात कहते सुने जाते हैं। परिवर्तन की आवश्यकता जब इतनी गहराई से अनुभव की जाती है तो वह लाया क्यों नहीं जाता, उसके रास्ते में बाधा बन कर कौन खड़ा है, इस तरह की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

परिवर्तन क्यों नहीं होता, इस सवाल का उत्तर प्रायः सापेक्ष दृष्टिकोण से दिया जाता है। अभिभावक, विद्यार्थी, अध्यापक, शासन सभी को एक साँस में समानतः दोषी ठहरा कर देश का जिम्मेदार चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शिक्षा में परिवर्तन की बात समूचे समाज के सन्दर्भ से काट कर नहीं सोची जा सकती। शिक्षाधिकारियों को यह उत्तर रटा हुआ है कि बच्चों पर सबसे ज्यादा असर अभिभावकों का पड़ता है, अतः उनके सक्रिय सहयोग के बिना शिक्षा-जगत में आये हुए ठहराव को हिलाना बहुत कठिन है। सुनने में यह बात जितनी तर्कसंगत लगती है, भीतर से उतनी ही गैरवजनी लगती है। जिस देश की अधिसंख्य जनता स्वयं अनपढ़ और रूढ़िग्रस्त है, वहाँ बच्चों की तालीम के लिए सरकार को उनके माँ-बाप से क्या मदद मिल सकती है?

ठीक ऐसा ही भोलापन उस तर्क में निहित है जिसके अनुसार शिक्षायी क्रान्ति का प्रश्न सर्वजनीन जागरूकता और सहयोग से जुड़ा हुआ है। सम्भव है कि सरकारी तक का यह भोलापन एक स्वार्थपरक नीति हो जिसका लक्ष्य परिवर्तन की परिधि बढ़ाकर उस की शक्ति घटा देना हो। आजकल जिस तरह शिक्षायी परिवर्तन और सामाजिक जागृति के दो सवालों को जोड़ा जाता है, वह घोड़े के आगे गाड़ी लगने की तरह है। यदि तालीमी फेरबदल जनसामान्य के सजग हो जाने के बाद ही सम्भव होगी तो प्रश्न उठता है कि तब उस की आवश्यकता क्या रहेगी ? यह एक प्रचलित सत्य है कि शिक्षा के माध्यम से ही किसी देश की जनता अपने मौलिक दायित्वों तथा उद्देश्यों के प्रति चेतन होती है। शिक्षा उस चेतना की प्राथमिक शर्त है, उसका परिणाम नहीं— यह सीधी-सादी बात आजकल लगभग भुला दी गयी है। आशय यह है कि शिक्षायी परिवर्तन की समस्या को किसी अन्य सन्दर्भ से जोड़ना और जोड़कर उसका घेरा बढ़ाने की कोशिश करना न केवल अपने आप में एक असार्थक कोशिश है, *बल्कि एक दुर्भाग्यपूर्ण नीति भी है।*

इस नीति के जनक राजनेताओं और नौकरशाहों की तो यह नियति ही रही है कि वे परिवर्तन को तब तक रोके रहें जब कोई राजनीतिज्ञ या अफसर शिक्षा-पद्धति में पूर्ण परिवर्तन की बात करता है तो समझना यह चाहिए कि वह पूर्णता की आड़ में अपना सेवाकाल ठीक-ठीक गुजार लेना चाहता है। भारतीय शिक्षातन्त्र में पूर्ण परिवर्तन का इस समय केवल एक अर्थ है और वह यह है कि शिक्षा-जगत की समस्त गतिविधियों का केन्द्र शिक्षक बने। नौकरशाहों के सिर पर विभाग का कागजी भार ही हो और वे शिक्षक समुदाय के वरिष्ठ व्यक्तियों को एकत्र करने का माध्यम मात्र बनें। पाठ्यक्रम निर्माण, पुस्तक चयन व लेखन, परीक्षा, नयी नियुक्तियाँ आदि सभी जिम्मेदारियाँ शिक्षक के भरोसे छोड़ दी जायें तथा उनमें राजनेताओं व नौकरशाहों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, किसी किस्म का प्रभाव न हो।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना होगा कि इस नयी व्यवस्था में ऊँची कक्षाएँ पढ़ानेवाले शिक्षक 'ऊँचे' नहीं समझे जायेंगे। रूस जैसे कुछ समाजवादी देशों को छोड़कर अभी दुनिया के अधिकांश हिस्सों में प्राथमिक शिक्षण से टक्कर लेना माध्यमिक काम समझा जाता है। इस गहरी भ्रांति ने आरम्भिक कक्षाओं के शिक्षक को पतली आय व भारी काम का शिकार बनाये रखा है। बच्चों का साहचर्य एक ताजगी देनेवाला नहीं, थकानेवाला अनुभव होता है और उसकी अधिक

मात्रा किसी वयस्क की मानसिक क्रियाशीलता को कुंठित कर सकती है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य शिक्षा के जमींदार अनदेखा करते आये हैं। यदि भारतीय शिक्षा की नयी व्यवस्था का प्रारूप तैयार किया जाये तो उसमें ऐसी मिलीजुली संस्थाएँ खोलने पर विचार किया जाना चाहिए, जिनमें बच्चों, किशोरों व युवकों के शिक्षक एक दूसरे से बहुत दूर नहीं होंगे तथा समय समय पर एक दूसरे का अनुभव ग्रहण करेंगे। ऐसी स्थिति में विभिन्न पदों की अर्हताओं के हमारे वर्तमान मानदण्ड को पलटना अनिवार्य होगा। शान्तिनिकेतन का ख्याल कुछ ऐसा ही था और यही नियोजना पांडिचेरी के अंतरराष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान की है।

सोचने की बात है कि ऐसे किसी परिवर्तन को कोई राजनेता या नौकरशाह भला क्यों सम्भव होने देगा जिसमें उसकी अपनी ही कुर्सी के पाये टूट जायें ? यह बात सोची शायद इसलिए नहीं जाती क्योंकि देश के तमाम स्वनामधन्य शिक्षाविद् आये दिन ऐसे वक्तव्य जारी करते रहते हैं जिनसे लगे कि वे तालीम में सुधार लाने की खातिर अपने महत्त्व का बलिदान करने से झिझकेंगे नहीं। आमूल परिवर्तन की बात कह कर वे प्रगतिशीलता और नि.स्वार्थता का पौराणिक कवच ओढ लेते हैं व उसे ओढकर स्वयं परिवर्तन के रास्ते में खड़े हो जाते हैं।

उन की यह भूमिका काटी जा सकती है या नहीं और यदि काटी जा सकती है तो कैसे, इन सवालों पर विचार करने से पूर्व यह तय करना आवश्यक है कि क्या भारतवर्ष का शिक्षक-समुदाय किसी नयी व्यवस्था की चुनौती को स्वीकार करेगा ? क्या वह अपने दबे हुए काम व जिम्मेदारी के बोझ को एक क्रियाशील जीवन जीने के स्वप्न के सहारे वहन कर सकेगा ? इस तरह के सवाल उठाना इसलिए संगत है कि इन्हें आजकल सरकार व उसके अधिकारी अक्सर उठाते हैं और इनका उत्तर 'ना' में दे कर अपनी भूमिका की सार्थकता प्रमाणित करते हैं। शिक्षक समुदाय से ये प्रश्न कभी नहीं पूछे जाते।

ये प्रश्न उभरते इसलिए हैं कि आज के भारत का स्कूली मुदर्रिस प्रायः एक गरीब, परेशान, निष्क्रिय तथा सन्तोषी जीव माना जाता है। इन विशेषणों को अन्यथा न लिया जाये, इस उद्देश्य से यहाँ इनकी उत्पत्ति में क्रियाशील कारणों को स्पष्ट करना जरूरी है। वैसा इसलिए भी जरूरी है कि शिक्षा-जगत में आमूल परिवर्तन का तर्क जितने स्थूल रूप में सरकार तथा नौकरशाही द्वारा इस्तेमाल किया जाता है, स्कूली मास्टर उसे उतनी ही उदासीनता से अनदेखा कर देता है। प्राय. तो वह अपने विभाग के बारे में बात ही नहीं करता—इस डर से कि कहीं कोई ऐसी वैसी बात मुँह से न निकल जाये। करता भी है तो अपनी संस्था में

टाट पट्टी या डेस्क कम होने की, पक्की इमारत या खेल का मैदान न होने की, और यदि बहुत हुआ तो अपने अपर्याप्त वेतन की। उसकी दृष्टि कभी स्थानीय मामलों से परे नहीं जाती। कदाचित् वह समझता है कि पूर्ण परिवर्तन के कोई अर्थ नहीं होते, क्योंकि परिवर्तन जैसा चाहे हो उसकी संस्था की प्राथमिक आवश्यकताएँ वही बनी रहेंगी।

शिक्षक की आर्थिक स्थिति

स्कूल अध्यापक की यह द्वीपीय चिन्तना जिन कारणों से उपजी है, उनमें उसकी अमित स्थिति सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह मसला ऐसा है जिस पर कुछ भी कहना आजकल हास्यास्पद बन गया है। तनख्वाहें जिस ढंग से राई-रत्ती का मोल करके पिछले बरसों में बढ़ी हैं, वह उन्हें बढ़ाने और बढ़वाने का कोई बहुत उम्दा तथा कारगर तरीका नहीं था। चाहिए यह था कि अलग अलग उद्यमों के सम्बन्ध में अपेक्षित योग्यता व परिश्रम के बारे में हम अपने परतन्त्र दिनों के मूल्य छोड़ते तथा एक स्वाधीन जमाने की नयी अपेक्षाएँ निश्चित करते। ऐसी किसी कोशिश में स्कूल के अध्यापक को एक अनपढ़ देश में क्या स्थान मिलता, यह आसानी से सोचा जा सकता है। पर इसकी चिन्ता न वकालत पाने वालों ने की, न इलाज करनेवालों ने। परिणाम सामने है कि जहाँ जिले भर पर रौब रखने की कीमत दुनिया भर की सुख सुविधाओं के गणित से आँकी जाती है, वहाँ देश की भावी पीढ़ी को अनुशासनपूर्वक जीना सिखानेवाला देश के कई हिस्सों में नब्बे रुपये तनख्वाह पर ढाई रुपये की सालाना वृद्धि पाता है। अध्यापक की तनख्वाह के बारे में आज कोई नयी बात कहने की जरूरत नहीं है। सारी चर्चा का मर्म यही है कि देश का भावी जनमानस तैयार करनेवाला व्यक्ति स्वयं जागरूक तथा क्रियाशील होने के लिए स्वतन्त्र व सक्षम हो। अब सवाल यह है कि उसे यह सब कैसे नसीब हो? सरकार सोचती है कि जागरूकता का संचार किया जा सकता है और इसी लक्ष्य से उसने दिल्ली में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद तथा प्रादेशिक राजधानियों में विस्तार सेवा संस्थान खोल दिये हैं। कुछ चुने हुए स्कूलों में अधिक सामग्री तथा सुविधाएँ देकर या यूनस्को के प्रकाशन भेजकर देश के शिक्षक समाज में चेतना लाने का सपना भी कुछ इसी तरह का है। इन कार्यक्रमों की अभिपूर्ति के निमित्त सरकार अपने अधिकारियों को हजार तरह के फण्ड देती है और लगभग हर मौसम में राजधानी की मुफ्त सैर का मौका भी। यह सब कितना बेमानी है इसे स्पष्ट करने के लिए देश के परतन्त्र दिनों में आज से कोई साठ वर्ष पूर्व का

एक लेख अवतरणीय है। (यह लेख युवा प्रेमचन्द्र ने स्कूलों के सब डिप्टी इस्पेक्टर के रूप में अपनी नियुक्ति के कुछ ही दिन बाद प्रकाशित किया था।)

"कुछ तो रुपयों की कमी है और कुछ बेजा खर्च। कभी-कभी सरकार ने दो-चार लाख ज्यादा दिया भी तो वह इंस्पेक्टर और डाइरेक्टरों और मैं तथा तू के बांट-बखरे में पड़ जाता है और मुदर्रिस ज्यों-का-त्यों भूखा रह जाता है। दुर्भाग्य से सरकार का ख्याल है कि मुआयना ज्यादा होना चाहिए, चाहे तालीम हो या न हो। मुआयने पर रुपया खर्च किया जाता है, मगर तालीम की खबर नहीं ली जाती....गवर्नमेंट कब यह समझेगी कि मुआयना कभी तालीम को जगह नहीं ले सकता।"

इन वाक्यों में कोई लम्बे-चौड़े, आंकड़ेयुक्त सुझाव देने की हवस नहीं है; स्कूल के अध्यापक के प्रति मानवीय सहानुभूति प्रकट करने की इच्छा भर है। नौकरशाही और अध्यापक की कशमकश का यह चित्र आज अंशमात्र भी अप्रासंगिक नहीं बना है। देश स्वाधीन हो चुका है, पर हमारे मुदर्रिस को आज भी राष्ट्रपति की सहानुभूति की जरूरत है। जिसे वे अपने सचित्र पोस्टरों के माध्यम से भूतपूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन् की वर्ष गाँठ पर अत्यन्त स्नेह व श्रद्धापूर्वक अभिव्यक्त करते हैं। इसी दिन देश भर के मास्टर अपने कल्याण फण्ड के लिए चन्दा उगाहने घर-घर जाते हैं। शिक्षातंत्र के सूत्रधार आज तक स्कूल के मास्टर की दशा से मुँह चुरा कर आंकड़ों की आड़ में शरण लेते है, या फिर गोष्ठियों में बकझक करके अवरुद्ध विकास की मूल वजह आधुनिक तकनीकी उपकरणों तथा उनके वितरण के लिए आवश्यक शोध का अभाव है।

अभाव अगर सचमुच किसी बात का है तो वह इस समझ का कि वैचारिक सम्पन्नता का जीवन आदर्शों और प्रोत्साहन के सहारे नहीं, पर्याप्त आय के सहारे जिया जाता है और उसी पर किसी व्यक्ति की स्वच्छन्द क्रियाशीलता निर्भर रहती है।

इनमें से पहली बात सरकारी खजाने के बँटवारे से जुड़ी है और दूसरी मुदर्रिस के काम को क्लर्कों से भिन्न समझने से। सरकारी दिमाग को ये दोनों ही बातें रास नहीं आतीं। छात्र-संख्या का बोझ और अध्यापन के घण्टे कम किये जाने की बात तो अभी स्वयं अध्यापकों द्वारा भी नहीं उठायी जाती। वर्तमान में वे ४०:१ के अनुपात और प्रति सप्ताह ३०-३५ कक्षाएँ पढ़ाने के दायित्व से सन्तुष्ट नजर आते हैं। वस्तुतः छात्र-संख्या और शिक्षक का अनुपात कहीं कहीं उपर्युक्त न्यूनतम सख्या से बहुत अधिक है और यही स्थिति काम के घण्टों और

प्रकार की भी है। जरूरत पड़ने पर मास्टर से ७०-८० बच्चों की कवायद भी करवायी जा सकती है और आदमियों अथवा पशुओं की गणना भी। चुनावों में मतगणना के काम में शिक्षक ही सबसे आगे रहते हैं और इसी समय परीक्षाओं की तैयारी के लिए बच्चों को उनकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है। इस अनादरपूर्ण स्थिति से बेखबर स्कूली अध्यापकों की तकलीफ अभी केवल वेतन बढ़ाने की माँग को ले कर प्रकट हुई है और इस सम्बन्ध में प्रत्येक अवसर पर सरकार का उत्तर मानो टेप किया हुआ रखा रहता है बजट में पैसा नहीं है। जब कभी किसी प्रदेश में ज्यादा दबाव पड़ने पर तनख्वाह में पाँच-दस रुपयों की वृद्धि की जाती है तो सरकारी रेडियो यह कहने से नहीं चूकता कि इस वृद्धि से सरकार को इतने लाख रुपये का घाटा सहना पड़ेगा।

यदि सरकार के पास सचमुच पैसा नहीं है तो वह प्रदेश के मंत्री और मास्टर के बीच में नौकरशाही की तहों पर गद्दे बिछाने का इंतजाम कैसे कर लेती है? एक बचकानी सी बात तय करने के लिए वह प्रान्त भर के अफसरों को पहले दर्जे का यात्रा-भत्ता दे कर राजधानी बुलाने से नहीं हिचकती। यही नहीं, वह ऐसे संस्थानों पर लाखों रुपये प्रतिदिन का व्यय भी वहन कर लेती है जिनका काम सिवाय आँकड़े इकट्ठे करने के और कुछ नहीं है। एक ऐसे देश में जहाँ साक्षरता का प्रतिशत विश्व के अन्य देशों की तुलना में अपमानजनक रूप से नीचा है और जहाँ की सरकार के पास प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करने के लिए हमेशा बटुआ तंग रहता है, वहीं पर जवाहरलाल नेहरू के नाम पर सिर्फ उच्चस्तरीय शोध के लिए एक आलीशान विश्वविद्यालय कैसे चल रहा है?

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि शिक्षानीति में आमूल परिवर्तन की सारी सरकारी बातें मर्म विमुख हैं। उनकी प्रवचक प्रवृत्ति समझकर आमूल परिवर्तन की आवश्यकता को सही सन्दर्भ में परखने की अनिच्छा स्कूल के अध्यापक में महज इसलिए है क्योंकि उसकी स्वतंत्र चिन्तना को नौकरशाही व राजनीति ने कभी अभ्यास का अवसर नहीं दिया। उसकी हिचकिचाहट का संकट मनोविज्ञान से सम्बद्ध है, न कि कार्यकारी अक्षमता से। जैसाकि प्रायः सोचा जाता है। अपने हर कदम के लिए राजधानी के आदेश पर आश्रित रहनेवाला यह निरीह, सम्मानहीन प्राणी वाणी के छद्म स्वातन्त्र्य का जीवित अवतार है। वह अपनी कक्षा में छात्रों की संख्या और अध्यापकों के चयन से लेकर पाठ्य-सामग्री के संकलन व स्कूल के दैनिक कार्यक्रम की नियोजना तक किसी भी मसले पर एक रत्ती भर स्वतन्त्रता नहीं बरत सकता। उसके अस्तित्व की

यह सब क्यों पढ़ाते हैं। सही प्रश्न यह है कि बच्चों को क्या पढ़ाया जाये, यह चुनाव करने की आजादी क्या हमने अपने शिक्षकों को दी है?

भाषा : इस सन्दर्भ में चर्चा का सबसे प्रचलित विषय भाषा रही है। देश के तथाकथित 'पब्लिक' स्कूलों में—जिनसे नौकरशाही का एक बड़ा अंश अब भी तैयार होकर निकलता है—आरम्भ से ही शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी रहती है। सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं है। किन्तु वहाँ लगातार उपर्युक्त पाठ्यसामग्री की दरिद्रता की बात अत्यंत हीन स्वर में की जाती रही है। हिन्दी व अन्य प्रान्तीय भाषाओं में यदि अच्छी पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता सरकार समझती है तो उसकी राष्ट्रीय शिक्षण-शोध परिषद् अंग्रेजी में पुस्तकें तैयार करने में इतना धन व शक्ति क्यों व्यय करती है? भूगोल, इतिहास, समाज विज्ञान जैसे विषयों पर परिषद् की अधिसंख्य पुस्तकें अंग्रेजी में ही तैयार हुई हैं और उसकी शिक्षण निर्देशिकाओं ने भी राष्ट्रभाषा को हेय समझा है। जहाँ तक अनुवाद का प्रश्न है, अब यह कहना आवश्यक हो गया है कि इस कला के वर्तमान रूप के सहारे कोई आशा लगाना व्यर्थ है। देश के ढेरों भाषाविद् तथा विद्वज्जन आजकल अनुवाद की नौकरी पर जिन्दा हैं और उनके काम के लिए सरकार ने खूबसूरत इमारतें बनवा दी हैं। इनमें किये जा रहे अनुवाद स्वयं वातानुकूलित होते हैं। उनका आज की जीवंत भाषा से कोई सम्बंध नहीं होता और उन्हें पढ़ने व समझने के लिए छात्र को लगभग उतनी ही माथापच्ची करनी पड़ती है जितनी उसे अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें पढ़ने के लिए करनी पड़ती—कभी कभी उससे भी अधिक। 'जनरल इकनॉमिक्स' को 'साधारण अर्थशास्त्र' लिखने वाले ये फुर्तीले अनुवादक कितने वर्षों में भारतीय छात्र को विश्व के समकालीन ज्ञान-कोष तक धकेल पायेंगे, यह अंदाज शायद उन्होंने स्वयं लगाया होगा। वरना इनकी और इनके सहकर्मी शब्दावली निर्माताओं की प्राथमिक चिन्ता अपने सेवाकाल को लम्बा करने की होती है।

असलियत यह है कि ऐसे सारे महानुभाव, जो कक्षा से दूर अपने शीतल कमरों में हिन्दी को सम्पन्न बनाने में लगे हैं, सरकार के दलाल मात्र हैं। इनकी दलाली की वजह से 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलन को एक फसादी शक्ल मिली। जिस के सहारे सरकार ने अपनी अंग्रेजीपरस्त नीति और पुख्ता कर ली। अपेक्षा यह थी कि अंग्रेजी पहले प्रशासन से हटे, फिर शिक्षा से। शिक्षा में भी अंग्रेजी की दुहरी अहमियत समझने लायक थी—एक तो माध्यम के रूप में, दूसरे विषय के रूप में। निस्सन्देह 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलन की प्राथमिक माँग यही थी कि

अंग्रेजी प्रशासन से हटे—केंद्र और प्रदेश दोनों से। प्रशासन से अंग्रेजी शायद हटी, किंतु मात्र औपचारिक रूप से, जबकि शिक्षा के क्षेत्र से कई प्रदेशों ने उसे व्यावहारिक रूप से हटा दिया। यह सब सब स्तुत्य होता जब यह एक राष्ट्रीय नीति के रूप में होता। इसके स्थान पर सरकारें यह कहती रहीं कि अंग्रेजी धीरे धीरे हट रही है जबकि धीरे-धीरे हटने का कोई अर्थ नहीं होता। नीति निर्णय की सफलता व अपनी भलमनसाहत का प्रदर्शन करने की नीयत से सरकार ने शिक्षा को बलि का बकरा बनाया और मूर्खतापूर्वक अंग्रेजी का नाम लेकर शिक्षा के मानदण्ड ही उखाड फेंके। जिन प्रदेशों में ऐसा हुआ वहाँ के बच्चे आज अंग्रेजी नहीं सीख रहे हैं जबकि उनके भावी जीवन में अंग्रेजी की जरूरत बरकरार है। मंत्रियों व अफसरों की औलाद 'पब्लिक' स्कूलों में अंग्रेजी जानकर अगली नौकरशाही का प्रमुख घटक बनने की तैयारी कर रही है जब कि मामूली आदमी की औलाद अंग्रेजी के अज्ञान को मुद्दा बनाकर उस नौकरशाही से लोहा लेने के थोथे आदर्श पर पल रही है।

लिए प्रायः अनुपयुक्त समझा गया। बात वही वापस आ जाती है। स्कूली अध्यापक आज भी सत्ता के भेद सिखाकर हिन्दीभाषी छात्र को अंग्रेजी के व्याकरण को पंगु कर देता है वरना दस वर्ष की अवधि आसानी से तीन वर्ष में बदल सकती है।

मतव्य यह है कि अंग्रेजी की मानसिकता से मुक्त हुए बिना यदि कोई सरकार समाज के साधनहीन वर्ग के बच्चों को अंग्रेजी अध्ययन से मुक्त करती है, तो यह उसकी एक गैर-समाजवादी दुर्नीति भर है जिससे सभी को वाकिफ होना चाहिए। उसकी यह नीति वस्तुतः उस उपनिवेशी मानसिकता का अंग है जिससे वर्तमान भारतीय शिक्षा के जनक लार्ड मैकाले ने सन् १८३५ में ब्रिटानी संसद में अपने भाषण के द्वारा भारतीय चिंतन पर एक लम्बे समय के लिए थोप दिया था। मैकाले वस्तुतः भारतीय शिक्षा पर सांगोपांग विचार करनेवाले प्रथम और अन्तिम आधुनिक विचारक थे और यह हमारे तथाकथित शिक्षाविदों की काहिली का सबूत है कि वे आज तक मैकाले को गालियाँ देने के सिवाय कुछ न कर पाये। मैकाले के बाद देश में या तो टैगोर जैसे नमूनावादी हुए हैं जो शान्तिनिकेतन खोलकर किनारे हो गये या फिर जवाहर जैकेट पहननेवाले नौकरशाह शिक्षाशास्त्री। इनमें से किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि मैकाले की लगायी हुई गाँठ खोल सकें। मैकाले ने कहा था कि हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेजी के माध्यम से जब तक यूरोपीय ज्ञान का आलिंगन नहीं करेंगे तब तक वे अपने पुराणपंथी देश के भयावह पिछड़ेपन के शिकार बने रहेंगे। मैकाले के इन शब्दों के 'स्वदेशीय' जोश से टक्कर लेने लायक उत्साह इस शताब्दी में या तो गांधी ने दिखाया या फिर लोहिया ने। पर इन लोगों के तमाम गर्मदिल आह्वानों के बावजूद भारतीय शिक्षा की चाबी सिविल लाइंस के वासियों के हाथ से नहीं निकली तो नहीं निकली। क्या आश्चर्य है कि हमारी तालीम का उच्चतम लक्ष्य आज तक साहब की पदवी प्राप्त करना है और अच्छी नौकरी का मतलब रोबदाब की हैसियत समझा जाता है। जिन आयोगों पर हमने मौलिक विचार व सुझाव देने का भार छोड़ा है, वे शतप्रतिशत नौकरशाही संगठन हैं, इनके प्रत्येक सदस्य ने अध्यापकी छोड़कर साहबी पसंद की, यह उनके प्रतिवेदनों के पहले पन्ने पर छपी नाम पद तालिका में कोई भी देख सकता है।

देश के शिक्षायी ढाँचे की इस संकटापन्न स्थिति का कोई उपचार निकट भविष्य में सरकार करेगी, इस आशा के लिए कोई सम्बल हमारे पास नहीं है।

पचतत्र की एक कहानी जो हम अपने बच्चों को पढाते हैं, वह है जिसमें सीधी-सादी मछली जाल में फँस जाती है जबकि तालाब छोड देनेवाली तथा मरने का स्वाग रचनेवाली मछलियाँ बच जाती हैं। शिक्षाजगत् का जागरूक सदस्य आज किसी मछली का आदर्श ग्रहण करेगा या फिर चौथी राह निकालेगा ? इस चौथी राह के निश्चय के लिए यह बहस उठायी गयी है। भाग लेनेवालों की सुविधा के लिए लेख के आधारभूत तर्क पुन प्रस्तुत हैं

(क) शिक्षायी क्रांति पर साथक चिंतन का पहला चरण यह होना चाहिए कि भारतीय शिक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण सस्था कॉलेज या विश्वविद्यालय न होकर स्कूल हो।

(ख) देश क राजनीतिज्ञो तथा शिक्षा विभाग की नौकरशाही से किसी आमूल परिवर्तन की आशा नही करनी चाहिए, क्योंकि परिवर्तन के मूल में उन्ही की नियति निहित है।

(ग) बच्चो के शिक्षक की आर्थिक स्थिति से विमुख शिक्षायी क्रान्ति की कोई चर्चा सार्थक नहीं हो सकती।

(दिनमान, २० अगस्त, '७२ से साभार)

•

सूचना

पाठकों को सूचित किया जाता है कि सफद कागज को महँगाई एव छपाई आदि की दरो में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण वर्ष २१ अक १ माह अगस्त '७२ से नयी तालीम मासिक का वार्षिक चन्दा ६ रुपये के स्थान पर ८ रु० और एक प्रति का मूल्य ५० पैसे के स्थान पर अब ७० पैसा हो गया है कि हमें आशा है पाठकगण हमारी विवशताओं को ध्यान में रखते हुए अपना अधिकाधिक सहयोग पूर्ववत् प्रदान करते रहेंगे।

—सम्पादक

दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

[गत जून, ७२ में गुजरात के शारदाग्राम नामक नयी तालीम केन्द्र में अखिल भारत नयी तालीम समिति की बैठक के साथ साथ गुजरात राज्य का नयी तालीम सम्मेलन भी आयोजित किया था। उक्त सम्मेलन में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए। उनमें से दो प्रस्ताव अखिल भारतीय महत्त्व के हैं, जिन्हें हम नयी तालीम के पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। —सं०]

उच्च शिक्षा में परिवर्तन

प्रस्ताव नं० ४. हमारी उच्च शिक्षा की संस्थाएँ विद्यार्थियों को स्वाश्रयी परिश्रमी, आत्मविश्वासयुक्त और अपनी समस्याओं को अपनी सूझबूझ से हल कर सकें, ऐसा नहीं बना पायी हैं। फलस्वरूप शिक्षित युवक मामूली नौकरी खोजते, हताशा का अनुभव करते और बेरोजगारी के कारण कभी-कभी असामाजिक प्रवृत्तियों की ओर मुड़ जाते हैं। उच्च शिक्षा को, स्वावलम्बी बनाने तथा राष्ट्रोपयोगी तालीम-बद्ध युवक तैयार करने वाली प्रवृत्ति के रूप में पनपाने का निश्चय हो सके, तो शिक्षा के लिए खर्च होनेवाली शक्ति, समय और धन का अधिक लाभकारी उपयोग हो सकेगा।

पू० बापूजी ने नयी तालीम की जो शिक्षा सूचित की थी, उसने इतने सालों के मर्यादित प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिखाया, कि शिक्षा की यह पद्धति सर्वांगी विकासोन्मुख मानव बनाने में काफी सफलता प्राप्त करती है। इस तालीम के तत्वों को उच्च शिक्षा में व्यापक बना सकें, तो हमारी शैक्षणिक समस्या को हल करने में काफी मदद मिल सकती है। इस दृष्टि से उच्च शिक्षा का औद्योगिक समाज से अनुबंध आवश्यक है।

(१) समाजोपयोगी अनुकूल उद्योग और परिश्रम के लिए हर रोज कम से कम २ घण्टे देने से शुरुआत की जाय।

(२) उच्च शिक्षा की नयी संस्थाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित की जायँ।

(३) इन संस्थाओं में शिक्षक-विद्यार्थी सम्पर्क सजीव रह पाये इतनी संख्या की मर्यादा रखी जाय।

(४) उच्च शिक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक भाररूप न हो जाय, इसका ख्याल रखकर, कार्यक्षमता बनी रहे, इतना कार्यभार अध्यापकों को उठाना चाहिए।

(६) वेतन ग्रेड समाज की आर्थिक स्थिति की मर्यादा को ध्यान में रखकर निश्चित हो।

(७) राज्य उठा सके, इतना विशेष बोझ वह उच्च शिक्षण में भी उठाये और इस तरह संस्थाओं का बोझ घटाकर उनको व्यापारी बनने से रोकने में सहकार दे।

माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के बाद सभी विद्यार्थियों को विद्यापीठ में जाकर केवल साहित्यिक और तार्किक शिक्षा प्राप्तकर सिर्फ मामूली क्लर्क की नौकरी के लिए मारे-मारे फिरने से बचाना चाहिए।

समाज के लिए आवश्यक उद्योगों की भिन्न-भिन्न कक्षाओं की तालीम के लिए बड़े पैमाने पर व्यवस्था करके विद्यार्थियों को उस ओर आकर्षित किया जाय, और इस तरह की तालीम देकर तैयार समाज के लिए अनेक दृष्टियों से उपयोगी नागरिक तैयार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

नयी तालीम की संस्थाएँ गांधीजी के बताये हुए मार्ग पर इस प्रकार की उच्च शिक्षण की स्थापना करने और उन्हें व्यापक करने में पहल करें, और उच्च शिक्षण की संस्थाएँ, समाज तथा राज्य इस दिशा में कदम उठायें, ऐसी अपेक्षा यह सम्मेलन रखता है।

नयी तालीम के प्रादेशिक संघ

प्रस्ताव नं० ५—गुजरात में नयी तालीम संघ यद्यपि विविध क्षेत्रों में काम कर रहा है तथापि उसे बहुत-सी दिशाओं में विकास जारी रखना है, यह सम्मेलन ऐसी अपेक्षा रखता है।

भारत के सभी प्रदेशों में अभी अपने-अपने प्रादेशिक नयी तालीम संघ अस्तित्व में नहीं आये हैं, इसलिए वहाँ इस प्रकार का विकास-कार्य दिखायी नहीं पड़ता। यह सम्मेलन आशा करता है कि भारत के सभी प्रदेशों में नयी तालीम में श्रद्धा रखनेवाले व्यक्ति और मण्डल मिलकर अपने प्रदेशों में नयी तालीम संघों की स्थापना करें।

अखिल भारतीय क्षेत्र में सर्वप्रथम 'हिंदुस्तानी तालीम संघ' अस्तित्व में था, तब नयी तालीम को चारों ओर से प्रोत्साहन मिलता था। बाद में सर्व सेवा संघ की अखिल भारत नयी तालीम समिति यह कार्य कर रही है। इस समिति को सभी प्रदेशों से प्रतिनिधित्व युक्त रूप में परिवर्तित किया जाय तो देश में नयी तालीम का आन्दोलन अधिक गतिमान होगा, ऐसा यह सम्मेलन मानता है, और नयी तालीम समिति के समक्ष अपना अभिप्राय आदरपूर्वक विचारार्थ पेश करता है।

सभी प्रदेशों में प्रादेशिक संघों की स्थापना करने का प्रयत्न करना उपरोक्त अखिल भारती नयी तालीम समिति का स्वाभाविक कार्य है, ऐसा यह सम्मेलन मानता है। उक्त समिति इस प्रकार के प्रादेशिक संघों का संघ अथवा फेडरेशन का स्वरूप ले, ऐसा इसे सम्मेलन का सविनय सूचन है।

●

सेवाग्राम में अखिल भारत राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन

नयी तालीम समिति (सर्व सेवा संघ) और शिक्षा मण्डल वर्धा के संयुक्त तत्वावधान में अखिल भारत राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन सेवाग्राम में दिनांक १४, १५ और १६ अक्तूबर १९७२ को सम्पन्न होगा। सम्मेलन में उन महत्वपूर्ण शैक्षणिक समस्याओं की ओर, जो आज राष्ट्र के सम्मुख हैं, ध्यान खींचा जायगा। बुनियादी शिक्षा के शिक्षक, सर्वोदय विचार के तज्ञ, शिक्षण के काम में लगे हुए रचनात्मक कार्यकर्ता और गांधीजी द्वारा बतायी गयी शिक्षण पद्धति में जो लोग रुचि रखते हैं, उन सबको सम्मेलन में भाग लेने हेतु आमन्त्रित किया जाता है।

केन्द्र व राज्यों के शिक्षामंत्री, विश्वविद्यालयों के व कुछ अन्य सुप्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रियों को भी चर्चाओं में भाग लेने हेतु आमंत्रित किया जायगा। इस सम्मेलन के उद्घाटन के लिए प्रधानमंत्री से अनुरोध किया जा रहा है। श्री श्रीमन्नारायण, राज्यपाल, गुजरात, सम्मेलन की अध्यक्षता करेंगे।

अन्य जानकारी के लिए कृपया निम्न पते पर पत्र-व्यवहार करें,

के एस आचार्लु
मंत्री, नयी तालीम समिति सेवाग्राम,
वर्धा, महाराष्ट्र

पेड्रो टी० ओराटा,

फिलिपीन्स में स्वावलम्बी शिक्षा के स्कूल

[पेड्रो टी० ओराटा फिलिपीन्स में बैरियो (ग्राम) शिक्षा आन्दोलन के संस्थापक हैं, जिसका उन्होंने इस लेख में वर्णन किया है। इस साल उन्हें २६ वर्ष मे शिक्षण के क्षेत्र में नये तजुर्बों द्वारा सार्वजनिक सेवा करने के उपलक्ष्य मे मैक्सेसे पुरस्कार दिया गया है। (रेमान मैक्सेसे फाऊंडेशन, फिलिपीन्स की ओर से दिये जाने वाले ये पुरस्कार, जिन्हें अकसर एशिया का नॉबेल पुरस्कार कहा जाता है, सार्वजनिक सेवा के लिए एशियाई नेताओं को दिया जाता है।) डा० ओराटा सन् १९५० से १९६० तक यूनेस्को के शिक्षा-विभाग के सदस्य थे और अब फिलिपीन्स के शिक्षा सचिव के अवैतनिक विशिष्ट सहायक हैं। उन्होंने विकासशील देशों की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विस्तारपूर्वक लिखा है।]

स्वावलम्बी शिक्षा के इन अभिनव प्रतिष्ठानों में एक ओर ग्राम माध्यमिक स्कूल, पढ़ाई शुरू करने से पहले के स्कूल, साम्प्रदायिक कालेज और अनेक कक्षाओंवाले स्कूल हैं, तो दूसरी ओर अधिक उन्नत जीवन के लिए विज्ञान और समाजशास्त्रों का अध्ययन कराना, विद्यार्थियों को चिन्तन मनन की क्रिया, मूल्यों की परख करना, अपनी फीस और स्कूल के अन्य खर्च पूरे करने के लिए काम करके धन कमाना, आदि सिखाना और व्यवहार्य अनुसंधान कार्य के लिए शैक्षिक नेताओं को प्रशिक्षित करना है।

दूसरे महायुद्ध के फौरन बाद ये परियोजनाएँ सन् १९४५ में शुरू की गयी थीं। प्रान्तीय राजधानियों से बाहर पगसीवान के उरदनता स्थान पर, एक छत-विहीन गिरजाघर में पहला हाईस्कूल खोला गया। न किताबें थीं, न कागज-पेंसिल और न अध्यापकों को वेतन देने के लिए कोई रकम ही।

उद्देश्य यह था कि हर लड़के और लड़की को स्कूल में शिक्षा पाने का अवसर देने के लिए स्कूल को उनके घरों के इतने नजदीक ले जाया जाय, जहाँ वे आसानी से चलकर आ सकें, और नयी योग्यताओं के विकास से अपने फार्मों या खेतों का उत्पादन बढ़ाने में (अपनी दैनंदिन शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में) उनके पालकों की मदद कर सकें ताकि वे अपने स्कूलों का खर्च उठाने में समर्थ हो सकें।

लोग जिस अवस्था में थे, उनके पास जो भी था, स्कूल खोलने के लिए जो भी साधन-सुविधाएँ मौजूद थीं, शिक्षकों और प्रबन्धकों के रूप में जो लोग उपलब्ध थे, जो भी साजो सामान मिल सकता था, हमने उसको ही जुटाकर एक वक्त में केवल एक या आधा कदम ही आगे बढ़ना शुरू किया। इस काम में लोगों ने खुद योजनाएँ बनाने, फैसले करने और उनको कार्यान्वित करने में मदद की।

अगर हम इस बात का इंतजार करते कि पहले सब चीजें उपलब्ध कर दी जायें—इमारतें, पाठ्य-पुस्तकें, वैज्ञानिक उपकरण, योग्य-अध्यापक, आदि—तो आज उन १५०० हाईस्कूलों, ४५ सामुदायिक कालेजों और ५०० पूर्व स्कूलों में जो २५,००० बच्चे और युवा पढ़ रहे हैं, वे स्कूल में दाखिल होने का मौका पाने के लिए अब तक इन्तजार में ही बैठे होते।

हमने अतिरिक्त अनुदान, उपकरण और प्रबन्धकों की माँग से शुरुआत नहीं की, बल्कि जो भी उपलब्ध सुविधाएँ थीं, उनका हमने भरसक और भी अच्छा उपयोग किया। कुछ मामलों में तो हमारे पास काम शुरू करने के लिए कुछ भी

नहीं था, लेकिन जो हम सोचते थे कि किया जाना चाहिए, उसको करने का मन में सकल्प था, इसलिए हम जो कर सके, किया।

इस सकारात्मक दृष्टिकोण का उद्देश्य यह था कि फिलिपीन्स और शायद अन्यत्र भी प्रचलित उस सामान्य प्रथा के चक्र में फँसने से बच सकें, जिनके अनुसार कोई नया काम करने की शुरुआत समस्याओं और कठिनाइयों की एक लम्बी सूची पेश करने से की जाती है, जिसके बाद हर व्यक्ति हतोत्साहित हो जाता है, और किसी को काम शुरू करने की हिम्मत नहीं पड़ती। हमने जो किया, उसका नतीजा यह था कि यह सुनने के बाद कि लोगों ने अनेक उपयोगी और अच्छे काम पहले से ही कर रखे थे, उनमें अगले कदम उठाने का उत्साह पैदा हो जाता था। इस दृष्टिकोण की सीमाएँ हो सकती हैं, लेकिन कई फायदे भी हैं। लोगों में आगे बढ़ने का उत्साह पैदा होता है, कुण्ठा और निराशा-ग्रस्त मन से काम शुरू करने की अपेक्षा उत्साह भरे मन से काम कर पाने में उन्हें ज्यादा अच्छा महसूस होता है।

हमने हर परिस्थिति का यह जानने की दृष्टि से जायजा लिया कि कितना ज्ञान (स्थानीय और विदेशी), सुविधाएँ और साधन उपलब्ध थे ताकि उनका उपलब्ध साधनों के रूप में पूरी तरह या अंशत अतिरिक्त कक्षाएँ खोलने, प्रयोग करने, काम-चलाऊ तौर पर आवश्यक उपकरण तैयार करने, सेमिनार और वर्कशॉप चलाने आदि के लिए इस्तेमाल कर सकें।

जहाँ कुछ समय उपयोग के बाद कमरे खाली रहते थे वहाँ स्कूल लगाये गये। घरों की किफायती झोपड़ियों, दूकान और बगीचे के औजार और उपकरणों यहाँ तक कि स्कूल के बगीचे का भी उस समय इस्तेमाल किया जा सकता था, जबकि नियमित कक्षाओं के लिए उनकी जरूरत नहीं रहती थी और जो रोजमर्रा के स्कूल समय का थोड़ा वक्त ही लेते थे।

फिलिपीन्स में ऐसे प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापकों की काफी बड़ी संख्या है, जो बेकार है। अतिरिक्त कक्षाओं को पढ़ाने के लिए हमने उनका इस्तेमाल किया। वहाँ ऐसे अध्यापकों की संख्या भी काफी है, जो या तो प्रशिक्षण प्राप्त हैं या थोड़े से अतिरिक्त प्रशिक्षण के बाद योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। वे इन कक्षाओं को पढ़ाते हैं। इसके लिए उन्हें मामूली सा पारिश्रमिक दिया जाता है ताकि वे अपने अपर्याप्त नियमित वेतन में कुछ जोड़ सकें।

पहले से मौजूद प्राथमिक या हाईस्कूल लाइब्रेरियों का ही हमने प्रयोग किया, केवल उनमें आवश्यक नयी पुस्तकें भी जुटा दीं।

स्कूलों, अस्पतालों, दवाई की दुकानों और विद्यार्थियों के घरों में ऐसी असंख्य चीजें होती हैं जिन्हें रद्दी समझ कर फेंक दिया जाता है, जैसे बिजली के जले बल्ब, खाली डिब्बे और बोतल, घिसे फटे टायर और ट्यूब, टूटे शीशे, मकई का छालन, बाँस और लकड़ियाँ आदि। इन सब चीजों का इस्तेमाल हाईस्कूल और कालेजों के लिए कामचलाऊ ढग के वैज्ञानिक उपकरण तैयार करने और पूर्वस्कूल के बच्चों के खेल का सामान तैयार करने के लिए किया गया।

आमतौर पर स्कूल का प्रिंसिपल या जिले का सुपरवाइजर, सांकेतिक वेतन लेकर ही हाईस्कूल, पूर्वस्कूल या कालेज के सहायक प्रिंसिपल या अध्यक्ष के रूप में अतिरिक्त कक्षाओं का प्रबन्ध चलाने का काम करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि (अतिरिक्त खर्च के बिना ही) प्राथमिक, यहाँ तक कि हाईस्कूल और कालेज तक के बीच एक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करनेवाली प्रक्रिया चल पड़ी, जो फिलिपीन्स में तथा अन्य देशों में भी स्कूल-प्रशासन का सबसे जरूरी लक्ष्य है।

उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्य अन्य देशों के अनुभव का इस्तेमाल करना था, जिन्हें समान परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। स्विटजरलैण्ड, इजराईल और सिंगापुर में शिक्षाविदों ने भाषा-समस्या का हल निकालने के लिए क्या किया था? बर्मा, थाईलैण्ड, फिजी भारत, आस्ट्रेलिया में शिक्षा की विषय-वस्तु को लोगों को, विशेषकर गाँवों में, समस्याओं और जरूरतों से जोड़ने के लिए क्या किया गया है और क्या किया जा रहा है?

विदेशी अनुभव की नकल नहीं की गयी, बल्कि जैसे जैसे समस्याएँ उठती गयी, उनको उनके अनुरूप ढाला गया। अगर ऐसा न किया जाय, तो सम्भवत यह होता—और कुछ स्थानों पर इस समय हो रहा है—कि एक देश उन गलतियों को भी दुहराता जाता है जो कहीं और हुई थीं, बजाय इसके कि उन गलतियों से सीखे।

अध्यापकों के वेतन, पाठ्यपुस्तकों, लाइब्रेरी की किताबों और दूसरी जरूरी चीजों का कैसे प्रबन्ध किया गया, इस सिलसिले में हमें फिर चारों ओर नजर उठाकर देखना चाहिए कि आखिर कुछ न कुछ साधनों से शुरू करके भी प्राइवेट स्कूल और कालेज स्थापित किये जाते रहे हैं, चलते हैं और अपने खर्च निकाल कर काफी मुनाफा भी कमा लेते हैं। अगर प्राइवेट स्कूल कालज ऐसा कर सकते हैं तो पहले से प्राप्त अनेक सुविधाओं के बावजूद बिना लाभ के आधार पर नये क्लास क्यों नहीं चलाये जा सकते?

विद्यार्थियों और उनके अभिभावकों को अपने खेत या फार्म में अधिक से-अधिक

पैदा करके अपनी आमदनी बढाने में, या कोई नया व्यापार या काम शुरू करके कुछ अतिरिक्त पैसा कमाने में मदद की जाती है। यह सब पाठ्यक्रम से बाहर का काम नहीं है बल्कि विद्यार्थियों को जिन्दगी के लिए और खुद अपना काम शुरू करने के लिए तैयार करने और उनके अभिभावकों की उपयोगी शिक्षा जारी रखने के लिए, जिन्हें अपने अन्दर नयी क्षमताओं का विकास करने के उपलक्ष्य में योग्यता प्रमाण पत्र दिए जा सकते हैं स्कूल के पाठ्यक्रम का ही अंग बना दिया गया है। अपने आपको तथा अन्य लोगों की मदद के लिए ये काम करने पर विद्यार्थियों को हाईस्कूल या कालेज की शिक्षा का श्रेय दिया जाता है।

वनस्पति उद्योग और पशु उद्योग के ब्यूरो, पी० ए० सी० डी० और एन० सी० आई० डी० ए० तथा अन्य सरकारी संस्थाओं के प्रसार कर्मचारियों से परामर्श किया जाता है और उनकी सहायता माँगी जाती है, ताकि विद्यार्थी और उनके पालक नये कौशल और दृष्टिकोण सीख सकें जिनकी उन्हें जरूरत है। अनिवार्यतः यह सहायता मुफ्त में सहर्ष प्रदान की जाती है।

उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी को अगर सूअर का नन्हा-सा बच्चा दिया जाता है और कहा जाता है कि वह उसे पाल पोस कर बड़ा करने के बाद बेचकर मुनाफा कमा सकता है और अपनी फीस और अन्य खर्चों के पैसे निकाल सकता है तो साथ ही इस काम में उसका मार्गदर्शन भी किया जाता है, जो उसकी पढ़ाई का अंग होता है। उसे दिखाया जाता है कि सूअर के बच्चे की देखभाल कैसे करनी चाहिए उसका भोजन कैसे पैदा करना चाहिए, बीमार पड़ने पर क्या करना चाहिए बीमार पड़ने से रोकने के लिए उसे किस तरह टीके लगाने चाहिए और कहा जाता है कि सूअर को बेचने के बाद उसे सूअर के बच्चे की मूल कीमत ६ प्रतिशत का सूद जोड़कर, आवर्ती फण्ड को या उस व्यक्ति को लौटा देनी चाहिए, जिसने उसकी खरीद में मदद की थी।

यह हमारा सौभाग्य था कि आरम्भ से ही, और फिर लगातार, हमें बाहर से थोड़ी थोड़ी मदद मिलती रही है। इनमें विदेशी एजेंसियाँ भी शामिल हैं-बरियो (ग्राम) बुक फाउण्डेशन, एशिया फाउण्डेशन, यूनीसेफ यूनस्को (कूपन स्कीम), पी० ए० सी० डी० तथा अन्य जिन्होंने पाठ्यपुस्तकें खरीदने के लिए छोटी-छोटी रकम अनुदान के रूप में दीं, ताकि उन्हें सस्ते दामों पर ग्राम हाईस्कूलों और सामुदायिक कालेजों को बेच सकें, विज्ञान और खेल कूद के कामचलाऊ साजो सामान तैयार कर सकें और शिक्षा का निर्देशन करने का प्रबन्ध कर सकें।

इस प्रकार पिछले सात वर्षों में, सरकार पर खर्च का भार डाले बिना ही,

या नाम मात्र भार डाल कर ही, हम ढाई लाख से अधिक बच्चों को ग्राम-स्कूलों, सामुदायिक कालेजों और पूर्व स्कूलों में दाखिल कर सके हैं। ये परियोजनाएँ क्रमशः सन् १९६४, १९६६ और १९६९ में शुरू की गयी थीं।

इस साल हम लोग फिलिपीन्स के सबसे दूर बसे गाँवों के लिए कई दर्जों वाले स्कूल (अर्थात् ऐसे स्कूल, जिनमें एक ही अध्यापक के अन्तर्गत पहले से लेकर छठे दर्जे तक की पढ़ाई होती है) खोलेंगे। अगर इस परियोजना को पूरी तरह चालू कर सके तो इससे करीब दस लाख से ज्यादा ऐसे बच्चों को लाभ होगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि धन जितना भी अधिक प्राप्त हो सके, आवश्यक नहीं है। निश्चय ही उसकी जरूरत है और जितना ही ज्यादा हो उतना ही अच्छा है। लेकिन धन ही सब कुछ नहीं है। कल्पना प्रवण, निस्वार्थ और निष्ठावान नेतृत्व की जरूरत है, जो उससे बेहतर काम करके दिखा सके, जो वर्तमान साधनों, सुविधाओं, साजो-सामान और शिक्षकों, प्रबन्धकों के द्वारा किया जा रहा है।

इसके अलावा, जरूरत भर की अतिरिक्त रकम खुद आम लोगों से ही प्राप्त हो सकती है, जो जीवन पर्यंत चलने वाली अपनी शिक्षा की खातिर दे सकते हैं और अगर, संयोगवश, सरकार के पास भी देने के लिए कुछ राशि हो, तो उसका इस्तेमाल आवर्ती-फंड कायम करने के लिए किया जा सकता है, ताकि उससे विद्यार्थियों और उनके पालकों के लिए काम की नयी परियोजनाएँ शुरू की जा सकें।

तथाकथित नये परिवर्तन अकसर अत्यन्त महँगे पड़ते हैं। इतना ही नहीं, नयी मशीनें लगा लेने के बाद वे अकसर बेकार पड़ी रहती हैं, क्योंकि किसी को इस बात की ट्रेनिंग नहीं दी जाती कि उनको किस तरह चलाना चाहिए और एक बार अगर खराब हो जायँ तो उनकी मरम्मत कैसे करनी चाहिए। शिक्षा के जरिये, हर मुमकिन कोशिश करनी चाहिए कि ऐसे नये साधनों के विकास को ही प्रोत्साहन दिया जाय जो कीमती न हों, और देश जिनका खर्च उठा सके। यह ज्यादा अच्छा है कि जरूरत की कुछ-कुछ मशीनें और साजो-सामान खुद तैयार किया हुआ कामचलाऊ ढंग का हो। हमने ऐसा ही किया, पहले विज्ञान की शिक्षा में, फिर समाज-विज्ञानों की पढ़ाई में, पूर्व स्कूल में, व्यावहारिक कलाओं में और घरेलू अर्थशास्त्र आदि में।

इस तरह का कामचलाऊ साजो-सामान बनाने में बच्चे अकसर कुछ काम घर पर भी ले जाते थे, जहां अनिवार्यतः उनके माँ बाप और दूसरे बच्चे भी उनकी मदद करते थे, जिससे उन्हें भी लाभ होता था। इसके अलावा कुछ चीजें जैसे, लैम्प और तौलने की तराजू आदि का घरों में भी उपयोग होता है। अकसर गृहणियों को बाजार में ठग लिया जाता है, जहां तौलने की मशीनों और नापने के गजों में कुछ-न-कुछ गड़बड़ कर दी जाती है।

हमने उन कामों से ही आरम्भ किया जिनका करना प्राप्त सुविधाओं और करनेवालों के देखते हुए सम्भव था। इसके बाद उन कामों को हाथ में लेने के लिए काफी वक्त मिल गया, जिनके लिए अधिक पैसों, समय और परिश्रम की जरूरत थी। हमने महसूस किया कि शुरू में हल्के और आसान काम, जिनके लिए अतिरिक्त पैसों या बाहरी प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती, सफलतापूर्वक कर लेना कठिन और बड़े काम शुरू करने के लिए अच्छी तैयारी साबित होते हैं।

शिक्षा की प्रासंगिकता और गुणात्मकता बढाने के बारे में क्या किया जा रहा है? इन दिशाओं में हम अभी तक ज्यादा आगे नहीं जा सके, लेकिन हमने कुछ अगले कदम जरूर उठाए हैं।

हमने विज्ञान की पढ़ाई वैज्ञानिक तथ्यों को रटकर याद करने और वैज्ञानिक सिद्धान्तों को तथाकथित 'प्रक्रिया' या अन्वेषी दृष्टिकोण' द्वारा खोजने की सीमा से आगे बढाया है। हमने पूछा "एक वैज्ञानिक सिद्धांत खोज लेने के बाद, फिर क्या?" हम दो कदम आगे बढे—पहला कदम, हमने विद्यार्थियों को इस ओर उन्मुख किया कि वे उस सिद्धान्त का अत्यन्त सरल और व्यावहारिक ढंगों से प्रयोग करें-बोने के लिए बीज चुनने या एक कामगर कुएं से बांसों की नाली द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करने जैसे कामों में; और दूसरा कदम, हमने उन्हें निर्देशन दिया कि अपनी जानकारी और वैज्ञानिक सिद्धान्तों को लागू करने से प्राप्त लाभ में वे अपने सहपाठियों और पड़ोसियों को भी साझीदार बनायें।

हमने विज्ञान के विद्यार्थियों को कामचलाऊ वैज्ञानिक साजो-सामान बनाने के काम का निर्देशन किया, ताकि पैसा बचा सकें, जो वैसे भी उपलब्ध नहीं था, और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण, ताकि विज्ञान की शिक्षा उनके लिए अधिक अर्थपूर्ण, रुचिकर और साथ ही उपयोगी बन सके। मिसाल के लिए, स्विट्जरलैण्ड में घड़ी बनानेवाले विद्यार्थी अपने चार साला कोर्स का पहला साल सिर्फ उन औजारों के बनाने में लगाते हैं, जिनसे घड़ियाँ बनायी जाती हैं, और यह 'काम करते हुए' प्रशिक्षण पाने का तरीका है।

सामाजिक विज्ञान का पाठ्यक्रम इसलिए बनाया गया ताकि विद्यार्थी उन तरीकों और साधनों की खोज कर सकें, जिनसे वे अपने आपको अपराधी बनने या अपराधियों के शिकार बनने से बचा सकें। उन्होंने सिर्फ यही नहीं सीखा कि अच्छा आचरण क्या होता है बल्कि उन्होंने अच्छा आचरण करने का अभ्यास भी किया। इसके अलावा, उन्होंने अपनी जानकारी में सहपाठियों और पडोसियों को भी साझीदार बनाया।

हमने पहली जमात से ही, बल्कि पूर्व स्कूल के समय से ही, बच्चों को सिखाया कि वे सोच विचार करके और मूल्यों को परख करके कार्य करें। हमने कक्षा और समुदाय में, बस, सडक की पटरी आदि में वास्तविक जीवन स्थितियों का इस्तेमाल किया, और हमने पाठ्यपुस्तकों में वर्णित परिस्थितियों को उनके अन्दर सोचने और सोचकर अमल करने की शिक्षा देने के लिए इस्तेमाल किया।

हमें अभी बहुत आगे तक जाना है। लेकिन हम महसूस करते हैं कि एक निःस्वार्थ, निष्ठावान और कल्पनाशील नेतृत्व की उतनी ही जरूरत है, जितनी *धन की और कुछ मामलों में तो धन से भी ज्यादा। अगर धन उपलब्ध हो तो* अच्छा, लेकिन हम धन के लिए रुके नहीं रहे। अगर रुक जाते तो अब तक इन्तजार ही करते रहते। आश्चर्य की बात है कि सरकार ने जब हमारे काम के इतने अच्छे परिणाम देखे, तो उसने रकम देने का प्रस्ताव किया और अब विडम्बना यह है कि हाईस्कूल तक मुफ्त पढ़ाई का प्रबन्ध करने की कोशिश की जा रही है। यह गलत बात होगी।

यूनेस्को कूरियर : से साभार पुनर्मुद्रित

●

वर्ष : २१
अंक : १
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

अगस्त, '७२

●

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
● पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
अनुपम प्रेस, के. २९/३० दुर्गाघाट, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : अगस्त, '७२
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

सर्वोदय विचार के प्रसारण में

श्री गांधी आश्रम का स्तुत्य कार्य

आचार्य कृपालानी के संचालन में श्री गांधी आश्रम लगभग ५४ वर्ष से खादी के माध्यम से जनता की जो सेवा कर रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। आजकल श्री गांधी आश्रम का प्रधान कार्यालय लखनऊ में है। मेरठ, सहारनपुर, आगरा, मुरादाबाद, अमृतसर, अकबरपुर, फेफना, मगहर और प्रयाग, इस प्रकार ६ क्षेत्रीय कार्यालय हैं। उत्तर प्रदेश के अलावा मध्य प्रदेश, पंजाब, कश्मीर और असम राज्यों में भी आश्रम का काम चलता है। १९७१-७२ की कुल उत्पत्ति करीब ५ करोड़ रुपये की है और बिक्री ११ करोड़ रुपये की। आश्रम का काम २० हजार गांवों में चलता है। ७२४ उत्पत्ति-केन्द्र एवं ४०३ बिक्री-भण्डार हैं। कत्तिन १ लाख २३ हजार, बुनकर ८ हजार, अन्य कारीगर ५ हजार व कार्यकर्ता ३५००, कुल १ लाख ४० हजार लोगों को आंशिक व पूरी रोजी मिलती है।

अभी श्री गांधी आश्रम की वार्षिक सभा गत २२ से २४ अगस्त को मुजफ्फरनगर में आश्रम के प्रधानमंत्री श्री विचित्र नारायण शर्मा की अध्यक्षता में हुई। उसमें सर्वोदय-साहित्य-बिक्री में पूरी ताकत लगाने का संकल्प किया गया और आश्रम-कार्यकर्ताओं से अपील की गयी कि वे स्वयं तो सर्वोदय-साहित्य का अध्ययन करें ही, ग्राहकों को भी अधिक-से-अधिक साहित्य दें। श्री गांधी आश्रम ने साहित्य-प्रचार के लिए खास रियायतों का ऐलान किया है :

(१) हर खादी के खरीददार को, जितने की खादी खरीदेगा, उतना मान्य साहित्य आधी कीमत पर दिया जायगा।

(२) सर्वोदय-साहित्य-सेट, जिसमें ११ रु० का साहित्य है, वह ४ रुपये में हर ग्राहक को दिया जायगा। इसके लिए खादी-खरीद का बन्धन खादी-स्वर्ण-जयंती तक नहीं रहेगा।

सर्वोदय-साहित्य-सेट में ये पुस्तकें रहती हैं —(१) आत्मकथा : गांधीजी, (२) बापू कथा, (३) तीसरी शक्ति : विनोबा, (४) गीता प्रवचन, और (५) मेरे सपनों का भारत या अन्य साहित्य २ रुपये मूल्य का। इस प्रकार ११ रुपये की ११०० पृष्ठों की ये ५ किताबें केवल चार रुपयों में दी जायेंगी। साहित्य पर दी जानेवाली रियायत का पूरा भार श्री गांधी आश्रम का प्रधान कार्यालय उठायेगा।

श्री गांधी आश्रम के इस स्तुत्य निर्णय के लिए हम उसे बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि उसके विभिन्न केन्द्रों के व्यवस्थापक साहित्य प्रचार के कार्य में दिलचस्पी लेकर इसे आगे बढ़ायेंगे।

—राधाकृष्ण बजाज
अध्यक्ष

सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी—१

आवरण मुद्रक : खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी-१

वर्ष · २१
अंक २
सितम्बर, १९७२

नित्य नयी तालीम के अद्वितीय साधक : विनोबा

दिये गये थे उनमें सबसे महत्त्व का काम यही था। परन्तु स्थानीय निकाय इस अधिकार का सदुपयोग नहीं कर पाये और बहुत शीघ्र इन प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षक स्थानीय निकायों की राजनीति में फँस गये। ये अध्यापक ही देहातों के बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि थे। अतः इन निकायों से सम्बन्धित जो चुनाव होने लगे उन चुनावों में इनका रोल महत्त्व का होने लगा। स्थानीय निकायों के चुनावों के "एजेण्ट" बनकर ये अध्यापक अध्ययन-अध्यापन के अपने स्वधर्म से च्युत हो गये। अध्यापक समय से स्कूल नहीं जाते, घर पर रहते, खेती कराते या दूसरे धन्धे करते। शिक्षा विभाग की ओर से नियुक्त निरीक्षक अगर अध्यापकों को उनकी कर्तव्य-विमुखता के लिए दण्ड भी देना चाहते तो स्थानीय निकायों के सदस्य उनको ऐसा करने से रोकते। स्वतंत्रता के बाद स्थानीय निकायों के अध्यक्ष आदि के चुनावों का महत्त्व जब बढ़ गया तो निरीक्षकों की परवशता भी बढ़ गयी, और प्रारम्भिक शिक्षा का प्रशासन और भी कमजोर और निकम्मा हो गया। फलतः स्थानीय निकायों के निकम्मे प्रशासन को समाप्त करने की माँग बढ़ी।

२. थोड़े ही दिनों में निकाय के सदस्यों के छोटे-मोटे स्वार्थ प्रधान हो गये और निकाय अपने कर्मचारियों के साथ न्याय नहीं करने लगे। अध्यापकों को वेतन देने के लिए सरकार से जो धन मिलता या स्थानीय निकाय उनका भी दुरुपयोग करने लगे। अध्यापकों को समय से वेतन नहीं मिलने लगा और धीरे-धीरे निकायों की दुर्व्यवस्था और भ्रष्टाचार के प्रति क्षोभ बढ़ने लगा। और ज्यों-ज्यों देश में स्वतंत्रता की चेतना जागृत होती गयी, इन निकायों से शिक्षा को निकाल लेने की माँग बढ़ती गयी। पहले प्रच्छन्न रूप से पीछे खुलकर शिक्षक-संघों ने भी स्थानीय निकायों के भ्रष्टाचार की निन्दा की और माँग की कि चूँकि सरकार निकायों को शिक्षा का लगभग पूरा अनुदान देती है अतः वह शिक्षा को अपने हाथ में ले ले।

३. शिक्षा के लिए प्राप्त अनुदान को दूसरे कामों में खर्च करने अथवा अन्य दुरुपयोगों का परिणाम यह हुआ कि निकायों के स्कूल अत्यन्त विपन्न अवस्था में पहुँच गये। अधिकांश स्कूलों के भवन टूटे-फूटे और अरक्षित रहने लगे। विद्यार्थियों के लिए बैठने के लिए टाट-पट्टी तक का अभाव हो गया। स्कूल पेड़ों के नीचे लगने लगे। पढ़ाने

के साधन का अभाव हुआ—श्यामपट नहीं, नक्शे नहीं, शिल्प आदि विज्ञान-शिक्षण की सामग्री नहीं, फिर भी स्कूल चलते रहते।

जब प्रदेश में बेसिक शिक्षा आरम्भ हुई तो ये दोष और भी निखर कर सामने आये, क्योंकि बेसिक शिक्षा पद्धति में शिल्प-शिक्षण के लिए उपकरण और कच्चा माल अनिवार्य है। कुछ रुई, कुछ कार्ड-बोर्ड, कुछ रंग आदि चाहिए ही। उत्तर प्रदेश सरकार ने शिल्प सामग्री के लिए पहले ३२ रुपये और पीछे १०० रुपये प्रति बेसिक स्कूल दिये। इस सामग्री के खरीद-फरोख्त में तो निकायों ने गड़बड़ी की ही, परन्तु जो भली-बुरी सामग्री स्कूलों को दी गयी उसको रखने तक के पर्याप्त स्थान के अभाव में शिल्प-शिक्षण विडम्बना बन गया। साधनहीन बेसिक स्कूल क्षति (वेस्टेज) के बहुत बड़े स्रोत बन गये। इन धांधलियों से ऊबकर जनता ने बेसिक शिक्षा के सरकारीकरण की माँग की।

इस माँग के बावजूद प्रारम्भिक शिक्षा का सरकारीकरण न होता अगर प्रारम्भिक शिक्षा का खर्च स्थानीय निकाय स्थानीय स्रोतों से निकाल पाते। जब स्थानीय निकायों को शिक्षा के प्रबन्ध का अधिकार दिया गया था तो उनसे यही आशा की गयी थी। परन्तु स्थानीय निकाय ऐसा नहीं कर पाये और शिक्षा का लगभग पूरा खर्च सरकारी अनुदान से चलने लगा। और जब पूरा खर्च सरकार ही देती है तो शिक्षा का प्रशासन भी सरकार अपने हाथ में ले ले, इस दलील को सदा के लिए टाला नहीं जा सका और फलस्वरूप आज प्रारम्भिक शिक्षा का सरकारीकरण हो गया है।

तो हम आशा करें कि प्रारम्भिक शिक्षा के सरकारीकरण से ये तीनों बुराइयाँ दूर होंगी, अर्थात्

१—अध्यापकों को समय से वेतन मिलेगा।

२—समय से वेतन पानेवाले सन्तुष्ट अध्यापक स्थानीय निकायों की राजनीति से मुक्त होकर अध्ययन-अध्यापन के काम में लगेंगे।

३—स्कूलों को पर्याप्त साधन मिलेंगे जिससे प्रारम्भिक शिक्षा अधिक पूर्ण और पर्याप्त बन सकेगी।

परन्तु अन्यप्रदेश के अध्ययन करने से लगता है कि ये बुराइयाँ दूर भी होंगी तो आंशिक रूप में और सम्भव है नयी बुराइयाँ भी पैदा हो जायँ।

१ अध्यादेश में बेसिक शिक्षा की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि बेसिक शिक्षा का तात्पर्य हाई स्कूलों या इण्टरमीडियेट कालेजों से भिन्न स्कूलों में आठवीं कक्षा तक दी जानेवाली शिक्षा से है और "बेसिक स्कूल का तदनुसार अर्थ लगाया जाय" (अध्यादेश २-ख)। इसका मतलब यह हुआ कि आज तक हाई स्कूलों अथवा इण्टरमीडियेट कालेजों (जिनमें से अधिकांश शहरों और कस्बों में हैं) और इनसे भिन्न स्कूलों में (जिनमें से अधिकाश देहातों में हैं) चलनेवाली प्रारम्भिक (बेसिक) शिक्षा में जो एकरूपता थी वह समाप्त हो जायगी। एक दिन प्रदेश के वर्नाक्यूलर और एँग्लोवर्नाक्यूलर स्कूलों के पाठ्य-क्रम में जो भेद था उसे जूनियर हाई स्कूल (सिनीयर बेसिक स्कूल) तक के स्तर की शिक्षा को सर्वत्र समान करके मिटा दिया गया था। और दोनों ही प्रकार के स्कूलों में कक्षा ८ तक समान पाठ्यक्रम चलने लगा था। अब यह निश्चय है कि इस परिभाषा के अनुसार प्रदेश की प्रारम्भिक शिक्षा में वर्नाक्यूलर और एँग्लोवर्नाक्यूलर तथा देहातों और शहरों का पुराना भेद पुन आ जायेगा। मानलीजिए आज एक ही पाठ्यक्रम चलाने की बात स्वीकार भी कर ली जाय, परन्तु अगर कल बेसिक शिक्षा परिषद् ने पाठ्यक्रम में, शिक्षण-विधि में अथवा मूल्या-कन पद्धति में कोई सुधार किया और हाईस्कूलों और इण्टरमीडियेट कालेजों ने अपनी कक्षाओं (६, ७ और ८) में उन्हें लागू नहीं किया तो विषमता तो बढ़ेगी ही। बेसिक शिक्षा परिषद् पर इन संस्थाओं से सलग्न सीनियर बेसिक स्तर की शिक्षा पर नियंत्रण न होने से इस विषमता को क्या दूर किया जा सकेगा? हमारा अभिमत है कि अगर इस विषमता को दूर नहीं किया गया तो प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा की यह विषमता प्रदेश की पूरी शिक्षण प्रणाली को ही विषाक्त कर देगी। अभी तक तो हम पब्लिक स्कूल और गैर-पब्लिक स्कूल में चलनेवाली दो शिक्षण-पद्धतियों से ही परेशान हैं और जिसको दूर करके "लोक-शिक्षा की एक समान प्रणाली" लागू करने की सिफारिश कोठारी कमीशन ने की है। परन्तु इस भेद के बाद तो देहात और शहर, अमीर और गरीब की खाई इतनी अधिक चौड़ी और गहरी हो जायगी कि उसमें समाजवादी समाज बनाने की कल्पना सदा-सदा के लिए डूब जायगी।

२. अध्यादेश की दूसरी कमजोरी जो बेसिक शिक्षापरिषद के सारे प्रयत्नों को "नियुक्ति और स्थानान्तरण" के छिटपुट प्रयासों तक ही सीमित कर देती है। भूमि-भवन और शिक्षण के साधनों तथा उपकरणों को स्थानीय निकायों के ही अधिकार में छोड़ देना है। बेसिक शिक्षा परिषद को सबसे पहले इन्हें ही अपने नियंत्रण में लेना चाहिए था; क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा में सुधार का यहीं पहला कदम है। अध्यादेश के अनुच्छेद ११-२ (क) में कहा गया है "गाँवशिक्षा समिति" बेसिक स्कूलों के भवनों और उनके उपकरणों में सुधार करने के लिए यथास्थित जिला परिषद अथवा अन्तरिम जिला परिषद को सुझाव देगी और फिर अनुच्छेद १२-५ के अन्तर्गत निदेशक को अधिकार दिया गया है कि अगर उसे समाधान हो जाय कि समिति की सिफारिश के बावजूद "स्थानीय निकाय ने जिसका स्कूल हो उसके सम्बन्ध में अपने कर्तव्यों का पालन करने मे जानबूझकर अथवा निरन्तर चूक की है, तो परिषद आदेश द्वारा जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी को, पाँच वर्ष से ऐसी अधिक अवधि के लिए, जो आदेश में निर्दिष्ट की जाय, स्थानीय निकाय को अपवर्जित करने, स्कूल का प्रबन्ध जिसके अन्तर्गत स्कूल की भूमि भवन, निधियाँ तथा अन्य परिसम्पत्तियाँ भी हैं, अपने हाथ में लेने का निर्देश दे सकती है।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि चाहे राजनैतिक दबाव के कारण हो चाहे किसी दूसरी नीति के कारण, शिक्षा के भौतिक साधनों को स्थानीय निकायों के हाथ में छोड़ दिया गया है, परन्तु कैसे यह आशा की जाय कि स्थानीय निकाय, ईमानदारी के साथ प्रमादरहित होकर शिक्षा के भौतिक साधन अर्थात् पर्याप्त भूमि, अच्छे भवन और पर्याप्त उपकरण आदि बेसिक शिक्षा परिषद की समितियों के सिफारिश से बेसिक स्कूलों को उपलब्ध कर देंगे। सौ वर्ष जिन निकायों ने किसी की बात नहीं सुनी, सुनकर भी अनसुनी की, वे अचानक सुधरेंगे नहीं, यह बात निश्चित है, और एक बार फिर भौतिक साधनों के अभाव में (जिन्हें स्थानीय निकायों के हाथ में छोड़ दिया गया है) बेसिक शिक्षापरिषद के गुणात्मक सुधार के सारे प्रयास व्यर्थ बना दिये जायेंगे।

अतः अध्यादेश को पढ़कर यह बात साफ हो जाती है कि बेसिक

शिक्षा परिषद की स्थापना एकान्त प्रशासनिक व्यवस्था है और परिषद को लाचार होकर अपने काम को वेतन वितरण, नियुक्ति और स्थानान्तरण के प्रयास तक ही सीमित करना होगा।

३ बेसिक शिक्षा परिषद् और उसकी सहायता के लिए निर्मित समितियों के संगठन को देखने से एक और बात साफ होती है कि परिषद् और समितियाँ सरकारी नौकरों अथवा सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों से ही निर्मित हुई है। इस प्रकार के संगठन से शिक्षा की स्वायत्तता को बहुत बड़ा खतरा है। इतना ही नहीं, इससे लोकतंत्र को भी बहुत बड़ा खतरा है, क्योंकि इससे सत्ता का केन्द्रीकरण तो होता ही है, शैक्षिक प्रशासन का भी केन्द्रीकरण होता है। इस अध्यादेश से सरकारीकरण और केन्द्रीकरण को बल मिलेगा, जिससे शिक्षा की स्वायत्तता समाप्त हो जायगी। अतः तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि राज्य स्तर पर एक ऐसी शिक्षासमिति की स्थापना की जाय जिसमें वे शिक्षाविद शामिल हों, जिन्होंने शिक्षा की समस्याओं पर, विशेषतः बेसिक शिक्षा की समस्याओं पर चिन्तन किया और शिक्षा के क्षेत्र में काम किया है। यह समिति गैर सरकारी, असाम्प्रदायिक और पक्षमुक्त होगी तो अधिक प्रभावपूर्ण और लोकतांत्रिक ढंग से काम कर सकेगी। इस समिति का संगठन ऐसा होना चाहिए कि उसमें सरकारी सदस्यों का बाहुल्य न हो। इस समिति का काम होगा (१) प्रारम्भिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषयों पर बेसिक शिक्षा परिषद् को सलाह देना, (२) जनता और परिषद् के बीच सम्पर्क का काम करना, और (३) जिन नीतियों के सम्बन्ध में परिषद् और समिति में मतैक्य हो, उसके कार्यान्वयन में सहायता देना।

हमारा दूसरा सुझाव यह है कि अध्यादेश के अन्तर्गत जो गाँव समितियाँ बनी हैं वे मात्र सलाहकार समितियाँ न हों— वे प्रशासनिक इकाइयाँ भी हों। वे स्वतंत्र निर्णय लें और उन्हें कार्यान्वित करने में सक्षम हों। परन्तु यह करने के पहले निश्चय कर लिया जाय कि उनके संगठन में गैर सरकारी प्रतिनिधित्व का बाहुल्य होगा और विद्यालयों के दिन प्रतिदिन के प्रशासनिक स्वातंत्र्य में सरकार का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होगा।

४ एक अन्तिम बात यह कहनी है कि अगर उत्तर प्रदेश की

प्रारम्भिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा कहना ही है, जो वाछनीय है, तो राज्य के प्रत्येक प्राइमरी स्कूल के प्रत्येक किया कलापों मे बेसिक शिक्षा की आत्मा प्रकट होनी चाहिए। बेसिक शिक्षा परिषद प्रयास करे कि बेसिक शिक्षा के तत्व प्रदेश के बेसिक स्कूलों मे दाखिल हों। कोठारी कमीशन, जो बेसिक शिक्षा का हिमायती नहीं है, के अनुसार ये तत्व हैं-(१) शिक्षा में उत्पादक क्रियाकलाप, (२) पाठ्यक्रम का उत्पादक काम, एव बालक के भौतिक और सामाजिक वातावरण से अनुबन्ध, और (३)स्थानीय समुदाय और स्कूल का निकट का सम्पर्क। दूसरे शब्दों मे, बेसिक स्कूल के लडके अनिवार्य रूप से कोई समाजोपयोगी उत्पादक धन्धा करे—अपनी क्षमता के अनुसार उतनी देर करे जितनी देर में उन्हें उस धन्धे को वैज्ञानिक ढग से करना आवे, और उनको जो भी पढाया लिखाया जाय उसका सम्बन्ध उनके काम से, और उनके भौतिक तथा सामाजिक वातावरण से हो एव समाज-सेवा के कार्यों द्वारा वे अपने समुदाय के सतत सम्पर्क मे रहें।

अगर ऐसा नहीं होता है तो बेसिक शिक्षा परिषद की स्थापना की कोई उपयोगिता नहीं है।

—वशीधर श्रीवास्तव

०

उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा अधिनियम १९७२

[चूँकि प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए संविधान के अनुच्छेद ४५ के अन्तर्गत राज्य सरकार पर विशेष दायित्व रखा गया है और चूँकि उत्तर प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा की वर्तमान संचालन व्यवस्था पर्याप्त तथा सुदृढ़ नहीं थी और पुनः संघटित करना तथा बेसिक स्कूलों, नार्मल स्कूलों तथा अन्य बेसिक प्रशिक्षण इकाइयों के श्रेष्ठतर सुदृढ़ प्रशासन के अभिकरणों के रूप में राज्य बेसिक शिक्षा परिषद तथा उसकी सहायता के लिए स्थानीय परामर्शदात्री इकाइयों को स्थापित करना आवश्यक समझा गया।

चूँकि, राज्य विधान मण्डल सत्र में नहीं था और राज्यपाल को यह समाधान हो गया था कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनके कारण उन्हें तुरन्त कार्यवाही करना आवश्यक हो गया है।

अतः संविधान के अनुच्छेद २१३ के खण्ड (१) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करके, राज्यपाल ने एक अध्यादेश प्रख्यापित किया। इस अध्यादेश के कुछ अंश पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिये जाते हैं।—सं०]

परिभाषाएँ

१—जब तक कि प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो इस अध्यादेश में :

(क) "नियत दिनांक" का तात्पर्य उस दिनांक से है जब परिषद स्थापित की जाय।

(ख) "बेसिक शिक्षा" का तात्पर्य हाईस्कूल या इंटरमीडिएट कालेजों से भिन्न स्कूलों में आठवीं कक्षा तक दी जानेवाली शिक्षा से है और पद "बेसिक स्कूल" का तदनुसार अर्थ लगाया जायगा।

(ग) "परिषद" का तात्पर्य धारा ३ के अधीन संघटित उत्तर बेसिक शिक्षा परिषद से है।

(घ) "निदेशक" तथा 'जिला बेसिक शिक्षा अधिकारियों" का तात्पर्य क्रमश: बेसिक शिक्षा निदेशक, उत्तर प्रदेश, और जिला बेसिक शिक्षा अधिकारियों के रूप में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारियों से है।

(ट) "स्थानीय निकाय" का तात्पर्य जिला परिषद, अन्तरिम जिला परिषद, नगर महापालिका, नगरपालिका बोर्ड, टाउन एरिया कमिटी या नोटिफाइड एरिया कमिटी, जैसी भी दशा हो, से है—

परिषद का संघटन (१) इस अध्यादेश के अधीन उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा परिषद के नाम से एक परिषद स्थापित की गयी।

(२) परिषद शाश्वत उत्तराधिकार और सामान्य मुद्रावाली एक निगमित निकाय है, तथा इस अध्यादेश के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, उसे सम्पत्ति का अर्जन और धारण करने की शक्ति होगी और अपने नाम से वह वाद प्रस्तुत कर सकेगी तथा उसके विरुद्ध वाद प्रस्तुत किया जा सकेगा—

(३) परिषद में निम्नलिखित सदस्य होंगे :

(क) निदेशक, जो पदेन अध्यक्ष होगा।

(ख) दो व्यक्ति, जो राज्य सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद अधिनियम १९६१ की धारा १७ के अधीन स्थापित जिला परिषदों के अध्यक्षों में से, यदि कोई हो, नाम निर्दिष्ट (नॉमिनेट) किये जायेंगे।

(ग) एक व्यक्ति जो राज्य सरकार द्वारा उत्तर प्रदेश नगर महापालिका अधिनियम, १९५९ की धारा ९ के अधीन संघटित महापालिकाओं के नगरप्रमुखों में से, यदि कोई हो, नाम निर्दिष्ट किया जायगा।

(घ) एक व्यक्ति जो राज्य सरकार द्वारा यू० पी० म्युनिसिपेलिटीज़ एक्ट, १९१६ के अधीन स्थापित नगरपालिका बोर्डों के प्रेसिडेण्टों में से, यदि कोई हो, नाम निर्दिष्ट किया जायगा।

(ङ) सचिव, राज्य सरकार, वित्त विभाग, पदेन (यदि मनोनीत अधिकारी बैठक में स्वयं उपस्थित न हो सकें तो अपने विभाग के किसी अधिकारी को जिसका पद राज्य सरकार के उपसचिव से कम न हो, बैठक में उपस्थित होने के लिए भेज सकते हैं।)

(च) प्रिंसिपल, राज्य शिक्षा-संस्थान, पदेन।

(छ) दो शिक्षाविद, जो राज्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट किये जायेंगे।

(ज) एक अधिकारी, जिसका पद शिक्षा उपनिदेशक, के पद से कम न हो, राज्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट किया जायगा, जो सदस्य-सचिव होगा।

परिषद् के कृत्य

(१) इस अध्यादेश के अधीन परिषद का कृत्य राज्य में बेसिक शिक्षा तथा उनके लिए अध्यापक-प्रशिक्षण दिये जाने को सगठित करना, समन्वय करना, उसपर नियत्रण करना, उसके स्तर को ऊँचा उठाना तथा उसे राज्य की सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली से परस्पर सम्बद्ध करना होगा।

(२) परिषद की विशेषतया निम्नलिखित शक्तियाँ होंगी :

(क) बेसिक शिक्षा और उस हेतु अध्यापक-प्रशिक्षण के लिए शिक्षाक्रम तथा पुस्तकें विहित करना।

(ख) जूनियर हाईस्कूल तथा बेसिक प्रशिक्षण प्रमाण-पत्र, परीक्षा तथा ऐसी अन्य परीक्षाओं का संचालन करना जिन्हें राज्य सरकार समय-समय पर उसे सामान्य या विशेष आदेश द्वारा अध्यर्पित करे और ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को डिप्लोमा या प्रमाण-पत्र प्रदान करना।

(ग) शिक्षण देने तथा परिषद द्वारा सचालित परीक्षाओं में प्रवेश पाने के लिए परीक्षार्थियों को तैयार कराने के प्रयोजन से, संस्थाओं को ऐसी शर्तों के अधीन जो वह लगाना उचित समझे, मान्यता देना और ऐसी मान्यता को वापस लेना या निलम्बित करना और ऐसी संस्थाओं का निरीक्षण करना तथा उन पर नियंत्रण रखना।

(घ) बेसिक स्कूलों, नार्मल स्कूलों, बेसिक प्रशिक्षण प्रमाण-पत्र इकाइयों, राज्य शिक्षा-संस्थान का पर्यवेक्षण और उन पर नियंत्रण रखना।

(ङ) किसी जिले में या राज्य में अथवा उसके किसी भाग में बेसिक शिक्षा के विकास-प्रसार तथा सुधार एवं उसमें अनुसंधान हेतु योजनाएँ तैयार करना।

(च) किसी जगम या स्थावर सम्पत्ति का अर्जन करना, धारण करना। या निस्तारण करना और विशेषतया किसी बेसिक स्कूल या नार्मल स्कूल के लिए किसी भवन अथवा उपकरण का दान शर्तों पर जिन्हें वह उचित समझे, स्वीकार करना।

(छ) राज्य सरकार से अनुदान, आर्थिक सहायता और ऋण प्राप्त करना।

(ज) ऐसे सभी कार्य करना जो इस अध्यादेश द्वारा प्रदत्त या आरोपित

किसी शक्ति या प्रयोग या किसी कृत्य का सम्पादन अथवा कर्तव्य का पालन करने के लिए आवश्यक या सुविधाजनक अथवा आनुषंगिक हो।

कर्मचारियों का स्थानान्तरण

(१) बेसिक स्कूल के सम्बन्ध में किसी स्थानीय निकायों के अधीन उक्त दिनाक के तत्काल पूर्व कार्यरत प्रत्येक अध्यापक, अधिकारी तथा अन्य कर्मचारी (जिसके अन्तर्गत कोई पर्यवेक्षी या निरीक्षण कर्मचारी वर्ग भी है।) परिषद को स्थानान्तरित कर दिये जायेंगे और वे परिषद के अध्यापक, अधिकारी या अन्य कर्मचारी हो जायेंगे और वे उसी अवधि के लिए, उसी पारिश्रमिक तथा सेवा के उन्हीं अन्य निबन्धनों एवं शर्तों पर पद धारण करेंगे जिन पर वे धारण करते यदि परिषद संघटित न की गयी होती और वे तब तक इस प्रकार बने रहेंगे जब तक कि परिषद द्वारा ऐसी अवधि, पारिश्रमिक तथा सेवा के अन्य निबन्धनों एवं शर्तों में यथाविधि परिवर्तन न कर दिया जाय।

(२) किसी स्थानीय निकाय के बेसिक स्कूल के किसी अध्यापक को किसी अन्य स्थानीय निकाय के बेसिक स्कूल में स्थानान्तरण, सिवाय उसकी सहमति के नहीं किया जायगा।

बेसिक शिक्षा समितियाँ

(१) प्रत्येक जिले के लिए एक समिति स्थापित की जायगी, जो जिला बेसिक शिक्षा समिति कहलायेगी और जिसमें निम्नलिखित सदस्य होंगे

(क) जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी, जो अध्यक्ष होगा।

(ख) तीन व्यक्ति जो जिला परिषद या अन्तरिम जिला परिषद के यदि कोई हों, सदस्यों में से राज्य सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किये जायेंगे।

(ग) तीन व्यक्ति जो जिले में स्थित नगर महापालिकाओं, नगरपालिका बोर्ड, नोटिफाइड एरिया कमिटियों तथा टाउन एरिया कमिटियो के सदस्यो से राज्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट किये जायेंगे।

(घ) एक व्यक्ति जो निदेशक द्वारा जिले में, निम्नांकित में प्रत्येक से, अर्थात

(१) लड़कों के इण्टरमीडिएट कालेजों के प्रिंसिपलों में से,

(२) लड़कियों के इण्टरमीडिएट कालेजों के प्रिंसिपलों में से,

(३) लड़कों के राजकीय नार्मल स्कूलों के प्रधानाध्यापकों में से, और

(४) लड़कियों के राजकीय नार्मल स्कूलों की, प्रधान अध्यापिकाओं में से, नाम निर्दिष्ट किया जायगा।

(ङ) तीन से अधिक अन्य शिक्षाविद, जो राज्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट किये जायेंगे।

(च) विद्यालय उप निरीक्षक, जो समिति का सदस्य सचिव होगा।

(२) पदेन सदस्यों से भिन्न समिति के सदस्यगण ऐसे निबन्धनों और शर्तों पर पद धारण करेंगे जैसा राज्य सरकार सामान्य या विशेष आदेश द्वारा निर्देश दे।

(३) परिषद समिति से ऐसे विषयों पर परामर्श करेगी जैसा राज्य सरकार सामान्य या विशेष आदेश द्वारा निर्देश दे और उससे किसी अन्य विषय पर भी परामर्श कर सकती है।

गाँव शिक्षा समितियाँ

(१) प्रत्येक गाँव या गाँवसमूह के निमित्त जिसके लिए यू० पी० पंचायत राज्य एक्ट १९४७ के अधीन गाँवसभा स्थापित हो, एक समिति स्थापित की जायगी, जो 'गाँवशिक्षा समिति' कहलायगी और जिसमें निम्नलिखित सदस्य होंगे

(क) गाँवसभा का प्रधान जो अध्यक्ष होगा।

(ख) बेसिक स्कूलों के छात्रों के तीन संरक्षक (जिनमें से एक संरक्षक महिला होगी) जो सब विद्यालय उप निरीक्षक (सब डिप्टी इन्स्पेक्टर) द्वारा नामनिर्दिष्ट किये जायेंगे।

(ग) उस गाँव या गाँवसमूह में बेसिक स्कूल का मुख्य अध्यापक, और यदि एक से अधिक स्कूल हों तो उनके मुख्य अध्यापकों में से ज्येष्ठतम, जो उसका सदस्य-सचिव होगा।

(२) इस अध्यादेश के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, समिति—

(क) बेसिक स्कूलों के भवनों और उनके उपस्करों में सुधार करने के लिए यथास्थिति जिला परिषद अथवा अन्तरिम जिला परिषद को सुझाव देगी, और

(ख) ऐसे स्कूलों का निरीक्षण करेगी और अध्यापकों द्वारा समय-पालन किये जाने तथा उनकी उपस्थिति के बारे में जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी को रिपोर्ट देगी।

बेसिक स्कूलों पर नियन्त्रण

(१) निदेशक किसी बेसिक स्कूल (चाहे वह किसी स्थानीय निकाय या किसी अन्य व्यक्ति अथवा निकाय का हो) और बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में स्थानीय निकाय के कृत्यों का सम्पादन करनेवाली अथवा उससे सम्बद्ध स्थानीय निकाय के

अभिलेखों और उसकी कार्यवाहियों का भी समय-समय पर निरीक्षण कर सकता है अथवा करा सकता है।

(२) निदेशक

(क) किसी बेसिक स्कूल के प्रबन्धाधिकरण को (जिसके अंतर्गत कोई स्थानीय निकाय भी है) निरीक्षण करने पर अथवा अन्य प्रकार से पाये गये किसी दोष या कमी को दूर करने का, या

(ख) किसी स्थानीय निकाय का बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित अपने कृत्यों का सम्पादन करने के सम्बन्ध में निरीक्षण करने पर अथवा अन्य प्रकार से पाये गये किसी दोष या कमी को दूर करने का निर्देश दे सकता है।

(३) यदि किसी बेसिक स्कूल का प्रबन्धाधिकरण उपधारा (२) खण्ड (क) के अधीन दिये गये किसी निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तो निदेशक प्रबन्धाधिकरण द्वारा किये गये स्पष्टीकरण या अभ्यावेदन, यदि कोई हो, पर विचार करने के पश्चात्—

(क) किसी ऐसे बेसिक स्कूल की दशा में जो स्थानीय निकाय का न हो, ऐसे स्कूल की मान्यता वापस लेने के लिए मामला परिषद को अभिदिष्ट कर सकता है, या

(ख) किसी ऐसे बेसिक स्कूल की दशा में, जो स्थानीय निकाय का हो, परिषद को उपधारा (५) के अधीन कार्यवाही करने की सिफारिश कर सकता है।

(४) किसी बेसिक स्कूल के सम्बन्ध में उपधारा (३) के खण्ड (क) के अधीन सिफारिश प्राप्त होन पर परिषद उस स्कूल की मान्यता वापस ले सकती है,

(५) यदि किसी बेसिक स्कूल के सम्बन्ध में उपधारा (३) के खण्ड (ख) के अधीन सिफारिश प्राप्त होने पर परिषद का यह समाधान हो जाय कि स्कूल के कार्यकलापों का ठीक प्रबन्ध नहीं हो रहा है, अथवा उस स्थानीय निकाय ने जिसका स्कूल हो उसके सम्बन्ध में अपने कर्तव्यों का पालन करने में जानबूझकर अथवा निरन्तर चूक की है, तो परिषद आदेश द्वारा जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी को, पाँच वर्ष से ऐसी अनधिक अवधि के लिए जो आदेश में निर्दिष्ट की जाय, स्थानीय निकाय को अपवर्जित करने, स्कूल की भूमि, भवन, निधियाँ तथा अन्य परिसम्पत्तियाँ भी हैं, अपने हाथ में लेने का निदेश दे सकती है, और तदुपरान्त, जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी को, केवल ऐसे निबन्धनों के अधीन रहते हुए जो परिषद द्वारा आरोपित किये जायें, स्कूल के प्रबन्ध में ऐसी सभी शक्तियाँ तथा प्राधिकार उपलब्ध होंगे जो स्थानीय निकाय को उपलब्ध होते, यदि इस उपधारा के अधीन कोई आदेश न दिया गया होता।

(६) यदि स्थानीय निकाय, उपधारा (२) के खण्ड (ख) के अधीन दिये गये किसी निदेश का अनुपालन करने में असफल रहता है तो निदेशक उसके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण या अभ्यावेदन पर, यदि कोई हो, विचार करने के पश्चात् मामला परिषद को उपधारा (७) के अधीन कार्यवाही करने के लिए अभिदिष्ट कर सकता है,

(७) यदि उपधारा (६) के अधीन कोई सिफारिश प्राप्त होने पर परिषद को यह समाधान हो जाय कि स्थानीय निकाय ने बेसिक शिक्षा के सम्बन्धों में अपने कर्तव्यों का पालन करने में जानबूझकर अथवा निरन्तर चूक की है अथवा बेसिक शिक्षा के प्रयोजनार्थ राज्य सरकार से प्राप्त किसी अनुदान का दुरुपयोग किया है अथवा उसे व्यावर्तित किया हो, तो परिषद मामला राज्य सरकार को उपधारा (८) के अधीन कार्यवाही के लिए अभिदिष्ट कर सकता है।

(८) राज्य सरकार उपधारा (७) के अधीन सिफारिश प्राप्त होने पर गजट में अधिसूचना द्वारा यह निदेश दे सकती है कि पाँच वर्ष से अधिक ऐसी अवधि के लिए जो अधिसूचना में निर्दिष्ट की जाय, बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध म स्थानीय निकाय की शक्ति तथा कृत्य, ऐसे दिनांक से जो निर्दिष्ट किया जाय परिषद को अन्तरित हो जायेंगे।

राज्य सरकार द्वारा नियन्त्रण

(१) परिषद ऐसे निदेशों को कार्यान्वित करेगी जो उसे इस अध्यादेश के कुशल प्रशासन के लिए राज्य सरकार द्वारा समय समय पर जारी किये जायें।

(२) यदि इस अध्यादेश के अधीन परिषद द्वारा अपनी किन्ही शक्तियों के प्रयोग में या प्रयोग किये जाने के सम्बन्ध में और अपने किन्हीं कृत्यों के सम्पादन में अथवा सम्पादित किय जाने के सम्बन्ध में परिषद और राज्य सरकार के बीच, अथवा परिषद और किसी स्थानीय निकाय के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो तो ऐसे विवाद पर राज्य सरकार का निर्णय अंतिम तथा यथास्थिति परिषद या स्थानीय निकाय पर बन्धनकारी होगा।

न्यायालयों की अधिकारिता पर रोक

इस अध्यादेश द्वारा अथवा इसके अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करके परिषद अथवा किसी समिति द्वारा दिये गय किसी आदेश या निर्णय पर न्यायालय में कोई आपत्ति नहीं की जायगी।

बनारसी दास चतुर्वेदी

गांधी और विनोबा

महात्मा गांधीजी के विषय में बहुत-सी किताबें निकली हैं और भविष्य में भी निकलती रहेंगी, लेकिन आचार्य विनोबाजी की पुस्तक 'गांधी जैसा देखा समझा' अपना अलग ही महत्त्व रखती है। इस पुस्तक का संकलन और सम्पादन गुजराती में श्री कान्ति भाई शाह ने किया है। यह पुस्तक सरसरी निगाह से पढ़ने की नहीं है, बल्कि स्वाध्याय के तौर पर अध्ययन करने की है। एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह, कि विनोबाजी किसी के भी अन्ध भक्त नहीं हैं। वे स्वतन्त्र चिन्तन करते हैं और अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखते हैं। एकाध जगह उन्होंने महात्माजी की स्पष्ट आलोचना भी की है। उदाहरण के लिए, उन्होंने यह बात लिखी है कि अन्य ग्यारह व्रतों के साथ बापू ने 'स्वाध्याय' पर जोर नहीं दिया। उनके कार्यक्रम की यह न्यूनता विनोबाजी की तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं सकी। विनोबाजी यह नहीं चाहते कि हम लोग बिना सोचे-समझे गांधीजी का अन्धानुकरण करते रहें। जमाना बदल रहा है, और तेजी से बदलता जायगा। ऐसी स्थिति में गांधीजी के सिद्धान्तों की खूंटी से बंधे रहना ठीक नहीं। विनोबाजी ने एक और बात भी स्पष्ट कर दी है कि गांधीजी निरन्तर प्रगतिशील थे और जो लोग यह कहते हैं कि 'यदि आज गांधीजी जीवित रहते तो यह करते, वह करते' वे भयंकर भूल करते हैं। विनोबाजी लिखते हैं "यह भलीभांति समझ लेने की बात है कि गांधीजी पल-पल विकसित होते रहे। अगर इसे हम नहीं समझेंगे तो गांधीजी को जरा भी नहीं समझ सकेंगे। वे तो रोज रोज बदलते, पल-पल विकसित होते रहे हैं। वह आदमी ऐसा नहीं था कि पुरानी किताब के संस्करण ही निकालता रहे। कोई नहीं कह सकता कि आज वे होते तो कैसा मोड़ लेते। उन्होंने अमुक समय अमुक बात कही थी, इसलिए आज भी वैसे काम को आशीर्वाद ही देंगे, ऐसा अनुमान लगाना अपने मतलब को

बात होगी।" मैं कहना चाहता हूँ कि ऐसा अनुमान लगाने का किसी को हक नहीं। 'लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति'—लोकोत्तर पुरुष के चित्त की थाह कौन पा सकता है? इसलिए गांधीजी आज होते तो क्या करते और क्या न करते, इस तरह नहीं सोचना चाहिए।

विनोबाजी बापू के कितने ऋणी थे। यह बात इस ग्रन्थ में भली प्रकार स्पष्ट कर दी गयी है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि विनोबाजी ने उस ऋण को चक्रवृद्धि ब्याज सहित चुका दिया। यदि आज भारतवर्ष में बापू के 'सच्चा नाम-लेवा' हैं तो विनोबाजी, काका कालेलकर और जयप्रकाशजी जैसे अल्पसंख्यक व्यक्ति ही हैं। विनोबाजी ने इस बात पर जोर दिया है कि बापू में वात्सल्य भाव की प्रधानता थी। कार्यकर्ताओं के वे पिता ही नहीं, माता भी थे।

इस ग्रन्थ में अनेक प्रेरणादायक वाक्य यत्र-तत्र छिटके पड़े हैं। विनोबाजी ने जो कुछ पढ़ा है उसे उन्होंने भलीभाँति हृदयंगम भी कर लिया है, और वे अपने स्वाध्याय से निकाले हुए रत्नों को दूसरों को भी दिखलाते हैं। एक जगह पर उन्होंने लिखा है—'शंकराचार्य का वाक्य मुझे हमेशा याद आता है कि मनुष्य के परम भाग्य तीन होते हैं। १—मानव देह की प्राप्ति, २—मुमुक्षुत्व-मुक्ति की छटपटाहट, और ३—किसी महापुरुष के आश्रय का लाभ, 'मनुष्यत्वंमुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।'

'शंकराचार्य के इस वाक्य पर विचार करता हूँ तो मेरा हृदय आनन्द से उछलने लगता है। मैं परम धन्य हूँ कि मानव-देह मिली, मुक्ति की धुन लगी और महापुरुष का सत्संग मिला। सन्त-महात्माओं की वाणी पुस्तकों में पढ़ना एक बात है और उसका प्रत्यक्ष सत्संग करना, उनके मार्गदर्शन में काम करना, प्रत्यक्ष उनका जीवन देखना, अलग बात है। मुझे यह भाग्य प्राप्त हुआ, इससे मैं धन्य हो गया।'

कई जगह विनोबाजी ने बड़े मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। संस्थाएँ किस प्रकार निष्प्राण और निस्तेज बनती जाती हैं, इसपर उनके विचार बड़े उत्तेजक हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने कवीन्द्र के शान्ति-निकेतन, मालवीयजी के हिन्दू विश्वविद्यालय और रामकृष्ण परमहंस के आश्रम तथा गुरुकुलों का जिक्र किया है, और महात्माओं की संस्थाओं का मूल रस कैसे सूख रहा है इसका भी उल्लेख किया है। उन्होंने एक जगह लिखा है—"अब मेरे सामने सवाल उठता है कि क्या स्फूर्तिक्षय कालानुक्रम से होता रहता है? इसमें कोई शक नहीं कि वेगक्षय-

कारी सामर्थ्य काल में होती है, इसलिए बार-बार गति देनी पड़ती है। चैतन्य का स्पर्श बार-बार होना चाहिए तभी गति मिलती है। घडी को बार-बार चाभी देनी पडती है। इससे यह समझ सकते है कि कालानुक्रमेण स्फूर्ति का क्षय होगा लेकिन वह इतना जल्दी अपेक्षित नही था। यह तो २०-२५ वर्षों के अन्दर ही पहले की स्फूर्ति एकदम लुप्त हो रही है।

इसके कारणो पर विचार करने पर दो-तीन बातें ध्यान में आती हैं। हमारी सस्थाओ का देखते-देखते जीवन रस सूखता जा रहा है, इसका कारण है स्वाध्याय का अभाव। हम कर्मयोग में पडे हैं। कर्मयोग में उसके लाभ के साथ-साथ हानि भी होती है। शकराचार्य, रामानुज, बुद्ध, महावीर आदि के अनुयायियो के जो कुछ दोष थे, वे हमने सुधारे, यह बात सही है। हमने कर्मयोग पर अधिक भार दिया। यह सुधार जरूरी था। लेकिन ये लोग आत्मज्ञान में जितने गहरे उतरते थे, उतने गहरे हम नहीं उतरते। इससे कार्य के विकास के साथ-साथ हमारी विचारनिष्ठा घटती जाती है। हमारे कामो की गठरी भारी बनती जाती है, लेकिन उसका तत्व उड रहा है। मनुष्य चला जाता है, सस्था रह जाती है। फिर वह निस्तेज, फीकी पडती जाती है, *दृष्टि छिछली बनती* जाती है।

इस पुस्तक का 'गाधी-विश्वास या आत्म विश्वास' नामक अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विनोबाजी परमुखापेक्षी नही हैं। वे स्वतत्र विचार तथा आत्म-विश्वास, स्वाध्याय और चिन्तन को बहुत महत्त्व देते हैं। वे यह नही चाहते कि हम लीक को पीटते रहें। आजकल सर्वोदय विचारधारा में शिथिलता आ गयी है। उसके कारण भी उन्होंने बतलाये हैं। इसकी मुख्य वजह उन्होंने यह बतलायी है कि हम लोगों में स्वाध्याय का अभाव है और हम प्रश्नो की गहराई में नही उतर सकते। मिल-जुलकर सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति हम लोगों में *जाग्रत नही हुई। विनोबाजी ने लिखा है-'यदि बुद्ध भगवान ने जीते जी यह कह* दिया होता कि अब आप लोग एक समुदाय बनाओ और विचार करो। जिस विषय में सब एक मत हो, वह करो। मैं केवल साक्षीरूप रहूँगा। कभी मेरी सलाह पूछी जायगी तो आऊँगा अवश्य, लेकिन वह बन्धनकारक न होगा। आप सबको ही मिल-जुलकर करना है।' उन्होंने ऐसा किया होता तो उनके बाद चार शिष्य बुद्ध के नाम पर ही जिस तरह एकदम भिन्न भिन्न चार सम्प्रदायो में बँट गये, उस तरह से कदाचित न बँटे होते।

बुद्ध ने ऐसा नही किया, इससे उनके निर्वाण के बाद उनके शिष्यों के बीच

तीव्र मतभेद पैदा हो गये—चार पन्थ खड़े हो गये। चारों कहते कि 'मुझे भगवान् बुद्ध ने ऐसा सिखाया है।' एक ने कहा, 'दुनिया पूर्ण सत्य है।' दूसरे ने कहा, 'नहीं शून्य है।' तीसरे ने कहा, 'विज्ञान है।' दर्शन का सारा झमेला बुद्ध के नाम पर चला। हजार वर्ष तक उनके बीच झगड़े चले। इसलिए निर्बलता आयी और बाद में शंकराचार्य के प्रहार से तो एकदम सारा टूट ही गया।

विनोबाजी ने यह पुस्तक अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लिखी है। उनका एक वाक्य पढ़ लीजिए—'कुछ निमित्तों से मैं उनके पास पहुँच गया। उन्होंने मुझ जैसे असभ्य मनुष्य को सभ्य तो नहीं, लेकिन सेवक जरूर बना दिया। मेरे भीतर के क्रोध के ज्वालामुखी का और दूसरी अनेक वासनाओं की बड़वाग्नि का शमन कर देनेवाले तो बापू ही थे। आज मैं जो कुछ हूँ, वह सब बापू के आशीष का चमत्कार है। बहुत-बहुत बातें मैंने बापू के चरणों में रहकर सीखीं।'

किसी विचारशील पाठक के लिए इस ग्रन्थ से अनेक प्रेरणाएँ मिल सकती हैं। सन् १९३८ में विनोबाजी का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया और वजन सिर्फ ८८ पौण्ड रह गया था। उस समय बापू ने उनको बुला भेजा और बहुत सी बातचीत करने के पश्चात कहा—तुम्हें सारा चिन्तन बन्द करना पड़ेगा। सारे विचार छोड़ देने पड़ेंगे। आश्रम, काम अथवा किसी भी विषय का विचार नहीं करना पड़ेगा।' विनोबाजी ने उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया और पौष्टिक आहार लिया तथा सारा समय शान्त एवं प्रसन्नचित्त से बिताया। नतीजा यह हुआ कि दस महीने में उनका वजन ८८ पौण्ड से बढ़कर १२८ पौण्ड हो गया।

यह ग्रन्थ विनोबाजी के सैकड़ों लेखों तथा प्रवचनों से लेकर बनाया गया है। पहले गुजराती में छपा था और अब हिंदी में आ गया है। ग्रन्थ की हिंदी भाषा में प्रवाह है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य विनोबाजी ने इसे देखकर मान्यता प्रदान कर दी है। गांधी और विनोबा दोनों के विचारों को समझने में यह पुस्तक अत्यन्त सहायक है। इसका सन्देश निराशा का नहीं, आशा का है। अन्त में विनोबाजी का एक वाक्य उद्धृत किया जाता है—'विचारों की हमेशा छानबीन होती रहनी चाहिए। सभी प्रेरक विचारों का अध्ययन हो। उनमें अविचार, दुर्विचार के जो अंश हों, उनका निवारण किया जाय। इस तरह विचारों का अनुशीलन होता रहेगा, तो जो स्फूर्तिक्षय मालूम पड़ रहा है, वह मालूम नहीं पड़ेगा।' हमारी समझ में यही इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण सार है। ●

मार्जरी साइक्स

जीवन की बुनियादें

[मार्जरी साइक्स द्वारा लिखित 'जीवन की बुनियादें' नामक पिछले अंकों से चली आ रही लेखमाला का समापन इस अंक में हो रहा है। नयी तालीम की विचार स्थापना में, महत्त्वपूर्ण शिक्षा शास्त्रियों में मार्जरी साइक्स का अपना एक स्थान है।

यह लम्बा लेख, यद्यपि आज से २५ वर्ष पहले लिखा गया था, पर आज यह इस चीज को उद्घाटित करता है कि नयी तालीम का महत्त्व उस समय आज की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से समझा जाता था, जबकि उस समय इस प्रकार के स्कूल भी थोड़े थे लेकिन वे सुयोग्य शिक्षकों द्वारा संचालित होते थे जो नयी तालीम के सिद्धान्त और प्रयोग पर पूर्ण आस्था रखते थे।—स०]

नयी तालीम क्या है ?

नयी तालीम के सिद्धान्तों को प्रयोग में लाने के प्रयत्न के लिए उन्हें पाँच मुद्दों में बताया जा सकता है :

१. बुनियादी तालीम का केन्द्र : बालक जिस दुनिया में रहते हैं उसे समझना चाहते हैं, उसमें अपना स्थान खोजना चाहते हैं, यह उनकी स्वाभाविक दिलचस्पी दिखाई देती है। हमने शुरू में देखा कि बच्चों की सीखने, बनाने और पारिवारिक कामों में सहयोग देने की आन्तरिक भावना उनकी मनपसन्द आदतों में शामिल है। पाँच-छः साल का बालक जिन्दे पौधों, प्राणियों और खुद काम में ला सके, ऐसी सब प्रकार की निर्जीव वस्तुओं में रस लेता है। वह पिता-माता, भाई-बहन, हमउम्रवालों और अन्य लोगों में रस लेता है। कोई चीज कैसे बनती है उसको समझने, सफाई करने, रसोई बनाने, बर्तन माँजने, हल चलाने, मछली पकड़ने, कपड़े बुनने, कुम्हार का चाक घुमाने, आदि कामों में

बच्चों की गहरी रुचि होती है। छोटे बच्चे बड़े लोगों की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का अनुकरण अपने खेल में करते हैं। चीजें बनाने और उत्पादन करने की उनकी चाह, सामाजिक काम में शामिल होने की लालसा तथा चीजों को उपयोग में लाने के तरीके सीखने के लिए वे सदा उत्सुक रहते हैं और उन्हें खुशी होती है। बालकों की शिक्षा और उनकी विविध शक्तियों के विकास में उनका स्वाभाविक रस हो और वह उनकी प्रवृत्तियों का आधार रूप हो सके इसके लिए बुनियादी तालीम की विविध श्रेणियों में साधारण ज्ञान की सूचना होती है। उन्हें गिनती करना, हिसाब करना आदि गणित की प्रक्रिया सिखायी जाती है। पढ़ने-लिखने का व्यावहारिक उपयोग है, यह बच्चों के मन में स्पष्ट होता है। कपास, अनाज, शाक-भाजी आदि का वजन करना पड़ता है। उनका प्रमाण देखना पड़ता है। दाम निश्चित करने होते हैं। लाभ-हानि का हिसाब रखना पड़ता है, तख्ते के कद (आकार) के अनुसार उसे चौरस पड़ता है। मकान की योजना बनानी पड़ती है। जब बागबानी और खेती गम्भीरता से करने लगते हैं तब जमीन और उसके प्रकार, पौधों की सब अवस्था, किसान के शत्रु-मित्र, पक्षी और कीड़े, सरसामान की सम्भाल और ऋतुओं व महीनों की विशेषता सम्बन्धी कुछ सीखने का काम अत्यावश्यक व्यावहारिक महत्त्व का होता है। फसल को खाद देना, घर की योजना बनाना, आदि वैज्ञानिक भावना से किये जायँ तो शानदार आनन्द का बहुत विशाल क्षेत्र खुल सकता है। उसका अर्थ यह नहीं कि बाहर के वैज्ञानिक शब्दों का बहुत प्रवेश हो, पर इसका अर्थ यह है कि बालकों के विषय में रुचि बढ़ाने के लिए प्रयोग करने, उस विषय पर विचार करने, कारण और उसके असर को बुद्धि से समझने के लिए उत्साहित किये जाने चाहिए।

२. बुनियादी तालीम जीवन-प्रेरक है : शिक्षण-सिद्धान्त और उसकी पद्धति की परिभाषा हर किताब में मिलती है कि वास्तविक शिक्षा यानी बालकों में छिपी अविकसित शक्तियों को बाहर लाना ही पढ़ाई का उद्देश्य होना चाहिए। हमें यह नहीं सोचना है कि विद्यार्थी का दिमाग केवल सन्दूक है, उसमें जानकारी की दृष्टि से अच्छी तरह लिखी पुस्तक व्यवस्थित रूप से भरना है। फिर भी हमारी अधिकतम पाठशालाएँ अपने विद्यार्थियों में इस प्रकार की शाब्दिक जानकारी भर देती हैं और उस जानकारी को परीक्षा में दोहराने की विद्यार्थी की शक्ति के अनुसार अपनी सफलता मानती हैं। हम सोचते नहीं कि क्या विद्यार्थी अपने मन से भी कोई काम कर सकता है? कुछ सोच सकता है? या वे केवल प्रश्न के एक पहलू को ही पकड़कर चलते हैं? सीखे हुए सिद्धान्तों का उपयोग

नयी परिस्थिति में ये कर सकते हैं क्या ? बुनियादी पाठशालाएँ इस स्थिति में परिवर्तन की कोशिश करती हैं। ये बालक विकासमान प्राणी हैं, उनको बढ़ने के लिए स्वस्थ, सम्पन्न और पोषक वातावरण की आवश्यकता है। साल भर में उसने जो जानकारी प्राप्त की उसे प्रत्येक श्रेणी के अंतिम समय में छात्र जैसी की वैसी बता दे, इस पर बुनियादी तालीम के पाठ्यक्रम में उतना महत्व नहीं दिया जाता। पाठशाला के वातावरण तथा सामाजिक व्यवहार में, शिक्षकों के मानस में, पुस्तकालय में, कारीगरी में, संगीत तथा समाज के सयाने बुजुर्गों से विद्यार्थी को सतत् प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए, और उसका प्रभाव पाठ्यक्रम में भी हो जिसे वे स्वयं उपयोग कर सकें, हजम कर सकें। जमीन में अलग-अलग प्रकार के पौधे अलग अलग तरह से उगते हैं। बच्चे भी उसी तरह बढ़ते हैं। उनको स्वतंत्रता देने पर सब एक प्रकार के प्रश्न नहीं पूछेंगे। एक प्रकार की पुस्तकें नहीं पढ़ेंगे। विद्यार्थी सुनी हुई या पढ़ी हुई जानकारी शब्दशः नहीं बता सकता हो तो उसका अर्थ उसे मालूम हो। यह नहीं कि उन्होंने उस जानकारी को आत्मसात् नहीं किया है। स्वस्थ जीवन अपनी आवश्यकतानुसार समग्र ग्रहण करता है और उसे आत्मसात् करता है। पौधों का विकास मापने का जो तरीका आजमाते हैं वही बालकों का विकास मापने का एक मात्र तरीका है। स्वावलम्बन, फूल फल के गुण पर से माप सकते हैं। बंध बँधाये पाठ्यक्रम और परीक्षा पद्धति को जीवन प्रेरक शिक्षा द्वारा बदलना चाहिए। सबसे पहले उसे शिक्षकों को बदलना चाहिए। हमारे अधिकतर शिक्षकों की धारणा है कि अब उनके आगे तालीम की आवश्यकता नहीं है। उन्हें अपने ये विचार बदलने चाहिए। उनके मानस की दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर बदलनी चाहिए। काम को नवीन दृष्टि से समझाने और सिखाने का प्रयोग ही जीवन है, ऐसा शिक्षकों को समझना चाहिए। मानस परिवर्तन के सिवाय नयी टेक्नीक की तालीम एक साँचे में ढली हुई पद्धति को नयी पद्धति में परिणत करेगी।

३. नयी तालीम सहकार मूलक है - मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। वह परिवार और समाज में रहता है। अपने विकास की आदिम अवस्था में भी उसका जीवन बुनियादी तौर पर सहकार पर ही निर्भर करता था। शिक्षा का अर्थ है कि उसे सही काम पर लगाना, उसकी सृजनात्मक रुचि को दिशा देना, उसमें सहयोग से काम करने की प्रेरणा भरना। इस प्रकार की सहकार-योजना बनाने की व्यवस्था में काम के प्रत्येक अंग का उपयोग होना चाहिए। 'बुनियादी तालीम' में जो साधन अपनाये गये हों उन सब पर उस सहयोग का

असर प्रभावपूर्ण हो और उत्पादन की हुई चीजों का उपयोग किस भाँति करना है, इसका निर्णय सहकार से होना चाहिए।

आजकल अधिकतर पाठशालाओं में प्रतिस्पर्द्धा की भावना बहुत ज्यादा प्रचलित है; क्योंकि शिक्षक वर्ग और माता-पिता दोनों ने स्पर्द्धा-पद्धति से शिक्षा पायी है। इसलिए दूसरी कोई पद्धति उनकी समझ में नहीं आती है। बार-बार कहा जाता है कि बालक इनाम के लिए या परीक्षा में प्रथम आने के लिए या प्रमाण-पत्र हासिल करने के लिए काम करेंगे। लालच के सिवाय बालक जरा भी काम नहीं करेंगे। हमारी शिक्षण-पद्धति के स्वार्थी लक्ष्यों का लज्जास्पद परिणाम स्पर्द्धा-पद्धति है। बाहरी लाभों के लिए चलायी गयी इस स्पर्द्धा के भयंकर परिणाम बहुत दर्दनाक हैं, यह स्पष्ट है। परीक्षा के लिए बनी शिक्षा-प्रणाली जीवनहीन और बेकार है। वे सत्य, अहिंसा के तालीम-घर नहीं हैं।

परन्तु सर्वसामान्य के लिए सबके द्वारा मिल जुल के काम करने से ही भौतिक, आध्यात्मिक, शारीरिक एवं मानसिक उन्नति हो सकती है। यही सही जीवन की शिक्षा है। इसलिए बुनियादी तालीम में एक बालक को दूसरे बालक की स्पर्द्धा में नहीं रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की प्रगति की नींव ध्यानपूर्वक रखी जाती है। परन्तु प्राप्य लक्ष्य सामूहिक होता है और यह प्राप्य लक्ष्य बालकों को एक साथ काम करके अपनी टुकड़ी के लिए प्राप्त करना है।

दृष्टान्त के रूप में कताई-उद्योग की व्यवस्था देखें। बाहर से व्यक्ति को अलग दिखानेवाले काम में स्पर्द्धा का तत्व दाखिल करना बहुत आसान होगा। पुराना शिक्षक बच्चों को कहेगा—कौन सबसे ज्यादा कातता है, देखें! और सबसे ज्यादा कातनेवाले को शाबाशी देगा या खुशी की तालियाँ बजवायेगा, यह गलत तरीका है। परन्तु बुनियादी पाठशाला में स्वयं शिक्षक भी असम्भावित ऊँचा आदर्श रखने से रोकता है। सब बालक मिलकर यह निर्णय करते हैं कि सप्ताह में कितना सूत कातने का लक्ष्य रखना है। प्रति दिन सबने मिलकर कितना काता, यह देखने के लिए सबके तारों का जोड़ करते हैं और लक्ष्य के हिसाब से कितना काता उसका प्रमाण देखते हैं। अगर लक्ष्य से कम हुआ तो प्रत्येक को दूसरे दिन कुछ अधिक कातने का प्रयत्न करना चाहिए। इस पद्धति से सारा काम सम्पूर्ण सहकारी बुनियाद पर चलता है यह केवल एक दृष्टान्त है। पाठशाला में दिन भर इस सहयोग का अधिक असर रहा करता है। यह अमिट

प्रमाव बालकों को सिखाता है कि सहयोग से काम करने का तरीका काम की व्यवस्था की दृष्टि से स्वाभाविक, सही और यथार्थ है।

फिर भी पहले कहा गया तदनुसार समूह में व्यक्ति को भुलाया नहीं जाता। शिक्षक पाठशाला के जीवन के अनेक पहलुओं में प्रत्येक बालक की प्रगति का नोट ध्यानपूर्वक रखता है। खुद के दिन भर के काम की, खुद की योजना, रुचि, क्षमता और समूह के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए विद्यार्थी को कहा जाता है। विद्यार्थी का लिखने का अभ्यास पक्का हो जाता है उसके बाद तुरंत अत्यन्त आसान तरीके से वह लिखने की शुरुआत करता है। विद्यार्थी अपना पाठ्यक्रम पूर्ण करता है। इस बीच वर्ग में विचार विनिमय होता है, उससे और पाठशाला में सिखाये गये विषयों पर ग्रहणशक्ति के अनुसार रोजनिशि में विचार प्रदर्शित करने की शक्ति सामान्य शालाओं की अपेक्षा बुनियादी शाला में बहुत उच्च होती है।

इस तरह सहकारी समाज की व्यवस्था में जवाबदारी और व्यक्तिगत बुद्धि का विकास होता है और इन सादे ठोस उपायों द्वारा बुनियादी पाठशाला के विद्यार्थी लोकतंत्र की स्वतंत्रता के आवश्यक लाभों का अनुभव करते हैं। लोकतंत्र के स्वातंत्र्य का अर्थ है सबकी भलाई के लिए स्वीकार किये गये कानूनों की मर्यादावाला स्वातंत्र्य।

४. बुनियादी शिक्षा अहिंसक है यह शिक्षा बालकों के लिए ही है इसलिए उसमें बच्चों की स्वाभाविक प्रेरणाओं की उपेक्षा नहीं होती, वह जीवन में प्रेरक तत्व की तरह है। यह मानव की अपार विविधता का आदर करती है। वह सहकारी है इसलिए बालकों को आपस में एक-दूसरे का आदर करने की तालीम देती है। परस्पर एक दूसरे का स्वेच्छापूर्वक आदर करना, अहिंसक समाज का आवश्यक कानून है। परन्तु यह अहिंसा हिंसा का इनकार मात्र नहीं है।

गांधीजी के शब्दों के अनुसार, 'अहिंसा सच्चा स्वातंत्र्य देनेवाली है।' 'स्वातंत्र्य' शरीर, मन, आत्मा के तन्दुरुस्त विकासवाली स्थिति है। किन किन चीजों की सच्ची आवश्यकता है इसका ज्ञान स्वातंत्र्य की बुनियाद है। सादा, स्वास्थ्यप्रद भोजन, साफ कपड़े, अच्छा मकान, अच्छा आरोग्य, संगीत और तालबद्ध हलचल एवं अपने हाथों से सुन्दर निर्माण की खुशी, कार्य और खेल में मित्र व साथी का आनन्द, इन चीजों की आवश्यकता है। ये सब चीजें अच्छी बुनियादी पाठशाला का वातावरण सुखी बनाती हैं। सच्ची सम्पत्ति का यह स्तर है कि कृत्रिम मेहमानगिरी, सोना चांदी और चमकीले कपड़ों की तृष्णा से मुक्त होना।

सच्ची सम्पत्ति क्या हैं इसे अहिंसक समाज समझता है और उससे वह सन्तुष्ट रहता हैं। इसलिए उसे अपने पड़ोसी से ईर्ष्या करने की आवश्यकता नहीं रहती। सन्तोष, आत्मसंयम, इच्छा तथा स्वामित्व की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा नयी तालीम के आचारशास्त्र के अंग हैं।

अहिंसक आचार का मूल्यांकन तब तक पूर्ण और निर्विघ्न नहीं होता जब तक कि गहराई से समाज-कल्याण के द्वारा उसकी बुनियाद सत्य पर नहीं रहती। हमारा अन्तिम लक्ष्य राष्ट्र या मानवमात्र की भलाई है। परन्तु हमेशा समूह के काल्पनिक कल्याण के लिए चारित्र्य और सद्बुद्धि व्यक्ति के लाभों का बलिदान होने का डर रहेगा, यानी एक या दूसरे रूप में सदैव सरमुख्त्यारी का डर बना रहेगा। समाज या व्यक्ति का कायमी भला तभी सम्भव है जब वह प्रकृति के नियम या धर्म की भाषा में ईश्वरेच्छा के अनुकूल हो। गांधीजी की तरह सत्य और प्रामाणिकता के लिए सामाजिक दबाव से न झुकनेवाले व्यक्तियों को नयी तालीम पैदा नहीं करती है, तो वह असली महत्त्व के प्रश्न में मानव-जाति के प्रति बेवफा होगी। इसलिए बुनियादी शिक्षा में से सत्य का सर्वोपरि स्थान है। शिक्षा में सबसे कोमल और महत्त्वपूर्ण काम भावी प्रजा को सत्य और भलाई के लिए आवश्यक पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित करने में सहायक होना है। प्रत्येक बालक को यह सीखना है कि अपनी स्वार्थपूर्ण और आक्रामक प्रेरणाओं को विशुद्ध बनाकर सर्वोदय की ओर ले जाना है, क्योंकि इससे स्वयं उसका जीवन अपने साथियों के समाज में पूर्णरूप से फल फूल सकता है। परन्तु अकेला यह बस नहीं है। उसे समझना चाहिए कि समग्र मानव-जाति जिस विश्व की अंग है उसके शाश्वत कानूनों को मान्य करने से और उन कानूनों का अमल करने से ही वह (समग्र मानव-जाति) अपनी पूर्ण ताकत सौन्दर्य में विकसित कर सकती है। जिस तरह स्वार्थी बालक अपने परिवार को दुःखी करता है उसी तरह मानव-जाति अन्य जीवों के और दुनियारूपी अपने घर के अन्य साधनों की स्वार्थी असावधानता और अक्रमक शोषण से दुनिया के जीवन को दुःखी बनाती है। इसका अर्थ यह है कि स्थायी स्वातंत्र्य के लिए बुनियादी गुण चतुराई और उदारता है। सयानापन सादी भाषा में कहें तो शाश्वत पूर्ण सत्य पर पक्की श्रद्धा जो समग्र समाज के जीवन के सुखशान्ति का चित्र देखता है और अपने जीवन को उस चित्र के अनुसार बनाता है। वह सयाना उदारता यानी सबके भले में ही अपनी भलाई के सिद्धान्त पर पक्की श्रद्धा, सच्चा, प्रेमल, उदार आत्मा मिलता है। उस सबमें भलाई प्रतिबिम्बित देखता है। उनके इन विविध व्यक्तियों का अर्थ अहिंसा के

प्रति गहरा आदर होता है। वह किसी मानव को दु खी नही करता।

मानव-जाति के दूसरे गुण इन दो के अग है। प्रामाणिकता, वफादारी, हिम्मत, साफ और तेज बुद्धि, निश्चल कुशल हाथ और दृष्टि से सब अच्छे गुण है। हमने देखा कि नयी तालीम का लक्ष्य इन गुणो का विकास करना है। परन्तु स्वतत्र रूप से वे द्वितीय कोट के है। अगर उनके मूल में सत्य-अहिंसा नही हो तो आसानी से उनका उपयोग थोडे लोगो के स्वार्थो के लिए या भौतिक विचार-सरणी के लिए किया जा सकता है। हिटलर के जर्मनी और दूसर बहुत से सर-मुख्त्यारी व अन्यायी राज्यो में यही घटित हुआ। प्रामाणिक मानवो ने अपनी कुशलता, बुद्धि प्रामाणिकता और बहादुरी का उपयोग हिंसक और असत्य के बुनियाद-वाली जीवन-प्रणाली के लिए किया है। सज्जनता और भलमनसाईमूलक शिक्षा ही सत्य-अहिंसा मूलक होने की अधिकारिणी है। परमेश्वर के नाम का उपयोग करें या न करें तो भी यदि नयी तालीम सज्जनता और भलमनसाई का प्रचार करती है तो वह आध्यात्मिक शिक्षा है।

अगर भारत गाधीजी का रास्ता पसन्द करता है तो वह सज्जनों का आदर करनेवाला और दूर दूर के गाँव के गरीब से गरीब सबके सन्तोष, स्वातन्त्र्य तथा शान्ति से प्रगति मापनेवाला और उनका मूल्य समझनेवाला समाज विकसित करने के काम में लगेगा। इस विकास में शिक्षक और शाला का केन्द्रीय स्थान है।

भारत के छोटे-छोटे गाँव के लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति अधिकतर खुद करते थे। अपने समाज के व्यवहारों की व्यवस्था भी वे स्वय करते थे। इन्ही गाँवों की जमीन ने भारत के बडे से-बडे विचारक, कवि और सन्तो को पोषण दिया है। यही ग्रामीण समाज अहिंसक आदर्श के नजदीक आये। वह आदर्श अभी भी भारत के हृदय में है। नयी तालीम इस अहिंसक आदर्श का निश्चयपूर्वक स्थिर भारतीय समाज की बुनियाद डालने का ध्येय रखती है। भूतकाल की सुन्दर सस्कृति टिकी हुई है, क्योकि वह सत्य की पहाडी चट्टान पर खडी है तथा दूसरे देशों के सम्बन्धो से और बढे हुए ज्ञान से नया अलग प्रकार की समृद्ध सामग्री से नयी सस्कृति बनायी जा सकती है। परन्तु मानव के सच्चे स्वभाव से उन्ही सही मूल्यो द्वारा उसी पहाडी चट्टान पर नयी सस्कृति निर्मित करनी चाहिए।

●

हैरो पैसो

स्कूल में सफलता के मार्ग में दस बाधाएँ

स्कूल में बालक की सफलता की सम्भावनाएँ—सफलता जो इस बात से नापी जाती है कि वह विभिन्न परीक्षाओं में कितने अच्छे पर्चे करता है। कानून के अनुसार जिस आयु तक स्कूल में पढना जरूरी है, क्या उसके बाद भी वह उच्च शिक्षा या ट्रेनिंग के लिए पढ़ाई जारी रखता है—सीधे तौर पर उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से ताल्लुक रखती है। अधिकतर राष्ट्रों में यह ताल्लुक इतना सीधा है कि स्कूलों में यह आरोप लगाया जाता है कि स्कूल छाँट-छाँटकर विद्यार्थी दाखिल करके यथापूर्व स्थिति को कायम रखने में मदद करते हैं, न कि व्यक्तिगत क्षमताओं और अभिरुचियों के विकास में।

लगभग पिछले पचीस वर्षों में शिक्षा का उल्लेखनीय रूप से जनतन्त्रीकरण हुआ है। इस प्रवृत्ति का पता इस बात से लगता है कि स्कूलों में भरती होनेवाले विद्यार्थियों और विभिन्न प्रकार के शैक्षिक प्रोग्रामों की संख्या में और स्कूलों पर खर्च की जानेवाली धनराशि में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है।

फिर भी शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने का लक्ष्य आज भी इतना दूर है कि वहाँ तक विश्व के अधिकांश देशों को पहुँचना बाकी है। इसके बावजूद कि अधिकांश सरकारें आज सार्वभौमिक शिक्षा लागू करने के लिए सार्वजनिक रूप में वचनबद्ध हैं, लेकिन सच तो यह है कि शिक्षा की जो सुविधाएँ प्रदान की जा रही हैं, उनमें पूरा लाभ उठाने में बच्चों की एक बहुत बड़ी तादाद असमर्थ रहती है, बहुत से तो विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों में दाखिला तक पाने में वंचित रह जाते हैं और बहुत से स्कूल ऐसे कार्यक्रम तैयार करने या किसी सेवाएँ प्रदान

करने में असमर्थ दीखते हैं जो उन बच्चों और युवाओं की जरूरतें पूरी कर सकें, जिनके लिए वे खोले जाते हैं।

कुछ समूह सजातिक नहीं हैं—अर्थात् इन समूहों के सभी सदस्य एक जैसे नहीं हैं—न उनके बच्चे ही इस कारण स्कूल में पिछड़ जाते हैं, क्योंकि वे किसी ऐसे वर्ग में नहीं आते।

फिर भी, कुछ ऐसे कारण हैं जो कक्षा में दाखिल होने के बाद ही बच्चे की पढ़ाई में रुकावट या बाधा डाल सकते हैं।

१

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर वह एक ऐसे परिवार से आता है जो गरीब है।

गरीबी बच्चे को स्कूल में सफलता पाने के अवसरों पर बुरा प्रभाव डाल सकती है। एक बच्चा जो लगातार भूखा रहता है, उसे स्कूल के सबक पर पूरा ध्यान केन्द्रित करने म कठिनाई होगी ही। एक बच्चा जिसके माँ बाप उसे जरूरत के कपड़े नही बनवा सकते, शारीरिक असुविधा महसूस कर सकता है या अपने से बेहतर कपड़ोंवाले सहपाठियों के सामन लज्जित महसूस कर सकता है।

एक बच्चा जो बड़ी भीड़ भाड़वाले घर से आता है, जहाँ भोजन हमेशा कम पड़ जाता है या ठीक से सन्तुलित किस्म का नहीं होता, जहाँ सफाई की व्यवस्था इतनी खराब है कि उसे तरह-तरह की बीमारियाँ लग सकती हैं, वह स्कूल का काम पूरा कर सकेगा, इसकी सम्भावना कम है। एक बच्चा अगर यह देखता है कि उसके पास-पड़ोस के वयस्क लोग या तो बेकार मारे मारे फिरते हैं या फिर बहुत मामूली नौकरियाँ करते हैं, तो वह अपने भविष्य की सम्भावनाओं के बारे में सीमित लक्ष्यों का विकास कर सकता है।

२

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर उसे अपनी मानसिक क्षमताओं और भाषा का विकास करने के लिए केवल सीमित अवसर ही प्राप्त होते हैं।

मध्य वर्ग के बच्चों के मुकाबले में एक गरीब बच्चे को अपनी मानसिक क्षमताओं और भाषा का विकास करने के अत्यन्त सीमित अवसर प्राप्त होते हैं। निम्न और मध्य वर्ग के बच्चों के सोचने की शैलियों के भेद अकसर इस बात का नतीजा होते हैं कि उनके माँ बाप विशेषकर उनकी माताएँ उनके साथ किस ढग

से बोलती हैं और परिवार में एक-दूसरे के प्रति किस प्रकार का व्यवहार चलता है।

बच्चा कक्षा में अपने साथ सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज लेकर जाता है, वह होती है उसकी प्रभावी भाषा। निम्न वर्ग के घर बच्चों को अनेक प्रकार के उद्दीपन प्रदान करते हैं। और उनके अन्दर अनेक योग्यताएँ और क्षमताएँ विकास करने में मदद करते हैं, लेकिन वे अक्सर उन्हें उस कोटि का अनुभव प्रदान करने में असफल रहते हैं, जो एक बच्चे को स्कूल में अध्यापक की माँगों की पूर्ति करने में मददगार साबित हो सकें।

गरीब परिवारों के बच्चों को अकसर चाक्षुप प्रतीकों में भेद करने या फर्क देखने में, मूर्त कार्यों के विपरीत सामान्य प्रत्ययों का प्रयोग करने में, और स्कूल सम्बन्धी कार्य में सफलता के लिए जरूरी अन्य योग्यताएँ प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार, स्कूल ऐसे बच्चे से उन बातों की अपेक्षा करता है, जिनके लिए शैशव और आरम्भिक बचपन के अनुभवों ने तैयार नहीं किया है। जिससे वह अकसर शुरू से ही अनुत्तीर्ण होने लगता है।

२

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर उसके घर और पड़ोस के जीवन मूल्यों और कक्षा के मूल्यों में तीव्र अन्तर्विरोध होता है।

मूल्य, दृष्टिकोण, आरम सम्बन्धी धारणाएँ, और सफलता पाने की प्रवृत्ति सामाजिक वर्गों से सम्बन्धित हैं। वे मूल्य और आदर्श जो एक बच्चे और उसके परिवार के लिए महत्त्वपूर्ण और अर्थवान् हैं, सम्भव है कि उनसे सर्वथा भिन्न हों, जो अध्यापकों और स्कूल के दूसरे कर्मचारियों का मार्गदर्शन करते हैं।

आचरण व्यवहार के वे तरीके, जो परिवार और पड़ोस में पसन्द किये जाते हैं और जिनके लिए बालक को शाबासी मिलती है, सम्भव है कि उन्हें स्कूल के अधिकारी बुरा बतायें और उनके लिए बालक को दण्ड भी दें।

विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने और स्कूल में सफलता पाने की बात को विभिन्न सांस्कृतिक और जातीय समूह एक जैसा मूल्य नहीं देते। नतीजा यह है कि स्कूल के ध्येयों को घर में समर्थन मिल सकता है और नहीं भी। यह देखकर कि घर और पड़ोस में जिस आचरण को अनुमोदित और उचित समझा जाता है, और स्कूल में उससे विपरीत आचरण को पसन्द किया जाता है, एक बालक गहरी उलझन में पड़ जाता है।

बच्चा जैसे-जैसे बडा और परिपक्व होता जाता है, उसके लिए अभिजात वर्ग के मूल्य और आचरण के मानदण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण होते जाते हैं। दरअसल, अभिजातवर्गीय संस्कृति युवाओ के आचरण पर इतनी हावी हो सकती है कि एक विद्यार्थी उन मूल्यो का तिरस्कार या उनकी अवहेलना कर सकता है, जिन्हें उसका परिवार या स्कूल सिखाने की कोशिश करते हैं, अगर वे मूल्य उनसे विपरीत हैं, जो अभिजातवर्ग को महत्त्वपूर्ण लगते हैं। मूल्य, दृष्टिकोण और भावनाएँ, ये सब स्कूल के वातावरण में अपना योग देते हैं और विद्यार्थी क्या सीखता है और किन बातो को महत्त्वपूर्ण मानता है, इस पर इस वातावरण का गहरा असर पडता है।

४

एक बालक स्कूल में पिछड सकता है, अगर वह किसी अल्पसंख्यक कौम या नीच जात का सदस्य हो।

विशेष रूप से अगर वे नजर आते हो या पहचाने जाते हो तो उन बच्चो को, जो अल्पसंख्यक कौमो या नीची जातो के सदस्य हैं और जिनके प्रति समाज *में व्यापक रूप से भेदभाव बरता जाता है, स्कूल में पिछड सकते हैं। एक बच्चे* को अगर भेदभाव का सामना करना पडता है, या अगर वह सोचता है कि उसके साथ भेदभाव बरता जाता है तो इसका अपने और अपनी हैसियत के बारे में उसकी भावनाओ, अपनी कौम के बारे में उसके सहज अभिमान और अपनी सफलता की सम्भावनाओ पर गहरा असर पडता है।

निम्न वर्ग के बच्चो या भिन्न संस्कृति में पले बच्चों के बारे में अध्यापक तथा स्कूल के अन्य कर्मचारियो की जो निम्नकोटि की आशाएँ होती हैं, अकसर उन बच्चो के अन्दर अपनी सफलता के बारे में पहले से मौजूद निम्न धारणाओ को और भी पक्का कर देती हैं। चूँकि यह उम्मीद की जाती है कि ऐसे बच्चे सफल नही होगे, अध्यापक उन्हें ध्यान देकर नहीं पढाते और जब वे फेल हो जाते हैं, तो मानो स्कूल की यह भविष्यवाणी, कि ऐसे लडके तो फेल होगे ही, पूरी हो जाती है।

भिन्न कौमो और भिन्न भाषा-भाषी बच्चों को स्कूलो में निम्न कोटि की तालीम दी जाती है। स्कूल के कर्मचारियो में उनके प्रति पूर्वाग्रह और विद्वेष होने के कारण न बच्चों के साथ भेदभाव बरता जाता है, उन्हें आगे बढ़ने का अवसर भी नही दिया जाता। कुछ मिसालें ऐसी भी मिलती हैं कि कुछ समूह अपनी संस्कृति की रक्षा और समृद्धि के लिए कोशिश करते हैं और स्कूल की

ओर से किये गये प्रयत्नों को उन्हें मिटाने की कोशिश के रूप में देखते है। भेदभाव के कारण कुछ विद्यार्थी सफलता पाने में असमर्थ रहते हैं।

५

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है अगर वह प्रवासी है।

खेत-मजदूरों के बच्चों को, जो फसल के मौसमों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहते है, खानाबदोश कबीलों, जिप्सियों और घूम-घूमकर काम करनेवाले श्रमिकों के बच्चों को लगातार स्थानान्तरण करना पड़ सकता है। ऐसे भ्रमणशील बच्चे, चाहे कितने भी विविध अनुभव प्राप्त कर लिये हो और विभिन्न किस्म के काम सीख लिये हों, लेकिन स्कूल में या तो इन योग्यताओं को कोई मान्यता नही दी जाती या उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता।

अकसर भ्रमणशील बालक को स्कूल या अन्य सार्वजनिक एजेन्सियों द्वारा बोझ ही माना जाता है। चूँकि स्कूल में उसकी हाजिरी अनियमित होती हैं, इसलिए अध्यापकों की समझ में नही आता कि वे ऐसे भ्रमणशील बच्चों के साथ क्या करें, और वे इस इन्तजार में रहते हैं कि वे फिर कहीं चले जायें। भ्रमणशील बालक इसलिए पढाई में पिछड जाता है, क्योंकि स्कूल या तो ऐसे कार्यक्रम तैयार करने में असमर्थ होता है या तैयार करना ही नही चाहता, जिनमें उनके निरन्तर भ्रमणशील जीवन और सांस्कृतिक पद्धति का पूरा विचार रखा जाता हो।

६

एक बालक स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर शिक्षा का माध्यम उसकी अपनी मातृभाषा या बोली न हो।

अपने शैशव काल में एक बच्चा जो भाषा सीखता है या अपने घर में जिस भाषा को बोलता है अर्थात् जो उसकी 'मातृभाषा' है—वह अकसर उससे भिन्न होती हैं, जिसका प्रयोग स्कूल में उनके अध्यापक करते हैं या जिसका प्रयोग उन पुस्तकों और अन्य पाठ्यसामग्री में किया जाता है, जिसका वह इस्तेमाल करता है। इस प्रकार अन्य योग्यताओं और क्षमताओं के अलावा, स्कूल में सफलता पाने के लिए जिनका विकास करने की अपेक्षा उससे की जाती है, उनमें से एक नयी भाषा का सीखना भी हो सकता है।

उसकी मातृभाषा या उसके बोलने का पैटर्न यदि अभी तक परिनिष्ठित नही है तो बच्चा पिछड सकता है। अध्यापकों द्वारा प्रयुक्त भाषा अगर बालक के घर में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न है तो उसे स्कूल में सफल होने के लिए एक

अपरिचित भाषा सबक को समझने और उसका प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। स्कूल अगर उसकी अपनी मातृभाषा या बोली का तिरस्कार या उसकी अवहेलना करता है, अगर अध्यापक उन बच्चों को दण्ड देते हैं, जो अपरिचित भाषा का प्रयोग करते हैं, तो इससे स्वयं अपने और अपने परिवार के बारे में बालक की भावनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

७

एक बालक पिछड़ सकता है, अगर वह भौगोलिक दृष्टि से एक अलग अलग निर्जन स्थान का निवासी हो।

एक बालक जो किसी दूरदराज, गाँव या बहुत छोटी झोंपड़ी में रहता हो, उसे इस दृष्टि से असुविधा हो सकती है कि उसके लिए स्कूल की व्यवस्था उपयुक्त न हो या भौतिक रुकावटों के कारण वह उपलब्ध शैक्षिक सुविधाओं का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ हो, या स्कूल में पढ़ाने की बात को उसके यहाँ विशेष मूल्य न दिया जाता हो। मिसाल के लिए उसके माँ-बाप की यह धारणा हो सकती है कि बालक को घर के काम का बनाने की दृष्टि से स्कूल की पढ़ाई अपेक्षाकृत महत्वहीन होती है।

ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों में सांस्कृतिक और भाषागत भेदों के कारण स्कूल में बालक की सफलता पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यहाँ तक कि एक महानगर के केन्द्र की गरीब और धनी बस्तियों में रहनेवाले बच्चे भी भौगोलिक बिलगाव की स्थिति में हो सकते हैं, इस दृष्टि से कि अपनी बस्ती से बाहर की दुनिया के साथ उनका रेडियो और टेलिविजन के द्वारा ही सम्पर्क होता हो, अन्यथा बहुत कम या बिलकुल नहीं। इस प्रकार गरीब और धनी बस्तियों के बच्चों के अनुभवों और स्कूल में दी जानेवाली पाठ्यसामग्री में उतना ही बड़ा अन्तर हो सकता है, जितना एक दूरदराज गाँव के बच्चे को महसूस होता है—इसलिए स्कूल में उसकी असफलता की सम्भावना भी उतनी ही बड़ी होती है।

८

एक विद्यार्थी स्कूल में पिछड़ सकता है, अगर वह लड़की है या अगर वह किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का सदस्य है।

विभिन्न संस्कृतियों में एक लड़की की शिक्षा का अलग-अलग मूल्य आँका जाता है। लड़कियों को स्कूल में कितने साल तक पढ़ाना चाहिए उन्हें किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और उनके लिए किस स्तर की योग्यता वांछित है, इनके बारे में विभिन्न संस्कृतियों की अलग-अलग धारणाएँ हैं।

कुछ समूह लड़कियों को स्कूल में भेजने की बात तक का विरोध करते हैं, विशेषकर अगर ऐसे स्कूलों में सहशिक्षा चालू है।

कुछ समाजों में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि शिक्षा को कितना मूल्य दिया जाय और एक बच्चे की जीवन-सम्भावनाओं को बदलने में स्कूल की क्या भूमिका होती है। उदाहरण के लिए कुछ धार्मिक सम्प्रदायों का विचार है कि एक बच्चे की सामाजिक-आर्थिक विकास सम्भावना बढ़ाने में स्कूल का कोई योगदान नहीं होता, इसलिए वे स्कूल में सफलता को कोई महत्व नहीं देते।

९

एक बालक स्कूल सम्बन्धी अन्य अनेक कारणों से भी पिछड़ सकता है।

अध्यापक-वर्ग, पढ़ाई के प्रोग्राम, सेवाएँ, पाठ्यसामग्री, संगठन, परीक्षा-विधि और उस समाज के साथ स्कूल के सम्बन्ध—जिसका यह एक अंग है—ये सब बातें एक बालक की सफलता की सम्भावनाओं को प्रभावित करती है। ऐसे अध्यापक जो तैयारी करके नहीं आते और अयोग्य हैं, ऐसा पाठ्यक्रम जो बिलकुल असंगत है, स्कूल का अन्य साजो सामान जो अपर्याप्त या बेकार है, ऐसे कर्मचारी, जो विद्यार्थियों की उपलब्धियों के बारे में यथार्थपरक दृष्टि नहीं रखते या उनसे मामूली आशाएँ ही रखते है, विद्यार्थियों को ऐसे ग्रुपों में बाँटना जो कुछ विद्यार्थियों की सम्भवनाओं को सीमित कर देते हैं, की ऐसे स्कूल या प्रोग्राम, जिनमें चुन-चुनकर ही विद्यार्थी भरती किये जाते हैं, और जो गरीबों के बच्चों के साथ भेदभाव या जाति भेद और भाषा भेद की नीति का पालन करते हैं—ये सब विद्यार्थी की सफलता पर प्रभाव डालते हैं।

अधिकांश समाजों में अधिकतर स्कूलों की शैक्षिक प्रक्रियाओं पर बहुसंख्यक सम्प्रदायों का प्रभुत्व चलता है, जिसके कारण उनसे भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि में पले विद्यार्थियों के लिए विकास के अवसर सीमित हो जाते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि, अलगाव, गलत पाठ्यक्रम तथा प्रशासकीय विषमता, ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जो कुछ बालकों को पिछड़ी स्थिति में डाल दे, जिससे सफलता पाने की सम्भावनाएँ कम हो जाती है।

१०

सामाजिक पृष्ठभूमि एवं स्कूल में सफलता।

दुनिया भर के राष्ट्रों में, चाहे वे विकसित हों या विकासशील हो, जहाँ कम

या ज्यादा मात्रा में नागरिकीकरण और औद्योगीकरण हो चुका है, विद्यार्थियों की काफी बड़ी संख्या पिछड़ेपन की स्थिति में स्कूलों में दाखिल होती है।

ऐसे विद्यार्थी अक्सर गरीब परिवारों से आते हैं, या अल्पसंख्यक कौमों और नीची जातियों के होते हैं, या ऐसी भाषा या बोली बोलते हैं, जो बहुसंख्यक सम्प्रदाय के मानदण्ड से भिन्न होती है, या किसी अलग थलग क्षेत्र के निवासी होते हैं, या औरत-जाति के होते हैं, या किसी ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय से आते हैं, जो शिक्षा को नीची निगाह से देखता है, या प्रवासी होते हैं*। अतः विद्यार्थी जिस पिछड़ेपन की अवस्था का सामना करता है वह उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि और परिवेश से उत्पन्न होती है, और अंशतः वह स्कूल से ही पैदा होती है। सामाजिक पृष्ठभूमि और शिक्षा संस्थानों का वातावरण दोनों ही मिलकर सफलता असफलता का कारण बनते हैं।

शैक्षिक अवसर की बराबरी एक ऐसा विचार है जिसके पीछे शिक्षा सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कई प्रकार की समानताओं का भाव अन्तर्निहित है। विद्यार्थी की सामाजिक पृष्ठभूमि और स्कूल में उसकी सफलता में जो गहरा सम्बन्ध है उसकी स्वीकृति तो इस समस्या को समझने की दिशा में पहला कदम है ही, कि उन लोगों की सफलता के अवसर बढ़ाने के लिए किस प्रकार के परिवर्तन करने जरूरी होंगे, जो अनेक कारणों से इस समय पिछड़ी अवस्था में हैं। ('यूनेस्को कूरियर' जुलाई, '७२ से साभार पुनर्मुद्रित।)

*शरणार्थियों, युद्धपीड़ितों और राजनीति से प्रताड़ित लोगों का एक ऐसा वर्ग भी है जिसे आश्रय देनेवाले राष्ट्र में न अधिकार ही मिलते हैं, न वे सुविधाएँ ही जिनमें शिक्षा की सुविधाएँ भी सम्मिलित हैं।—सम्पादक।

•

चेकोस्लोवाकिया के नर्सरी स्कूल

चेकोस्लोवाकिया में शिशु विहार (क्रेश) और नर्सरी स्कूल बच्चों और नौयुवकों की शिक्षा और प्रशिक्षण-प्रणाली की प्रथम कड़ी है। सन् १९६० के शिक्षा-कानून ने नर्सरी स्कूलों के लक्ष्य की इस प्रकार परिभाषा की है :

"परिवार के सान्निध्य और सहयोग में तीन वर्ष की अवस्था से लेकर नौ वर्षवाले बेसिक स्कूलों में जाना प्रारम्भ करने की अवस्था तक नर्सरी स्कूल बच्चों के चतुर्दिक विकास की देखभाल करते हैं।"

यह शिक्षा-कानून राष्ट्रीय कमिटियों (प्रशासन के चुनाव द्वारा निर्मित स्थानीय संगठन) को नर्सरी स्कूलों के जाल को और विस्तृत करने का उत्तरदायित्व देता है ताकि वे नौकरी कर रही माताओं के बच्चों के अलावा पाँच वर्ष की उम्र के सभी बच्चों को भर्ती कर सकें। ऐसे स्कूलों की भर्ती के सम्बन्ध में नौकरी कर रही माताओं के बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है। इस तरह, बच्चों को स्कूल के लिए तैयार करने में नर्सरी स्कूल एक महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता है। ये नर्सरी स्कूल खुलते भी ऐसी ही जगह हैं, जहाँ छोटी उम्र के कम-से-कम २० बच्चों की तरफ से दर्खास्त होती है कि वे नर्सरी स्कूलों में नियमित रूप से आकर पढ़ेंगे। ऐसा इसलिए करना पड़ता है; क्योंकि चेकोस्लोवाकिया के सभी नर्सरी स्कूल राज्य द्वारा संचालित होते हैं।

कहीं-कहीं स्कूल में लगनेवाले साधनों और उसके चलाने का खर्च फैक्ट्रियों और कृषि सहकारी संस्थानों द्वारा उठाया जाता है, विशेषतः जबकि स्कूल इन्हीं संस्थानों में काम करनेवाले कर्मचारियों के बच्चों के लिए खोला जाता है। ऐसे नर्सरी स्कूलों की कुल संख्या स्कूलों की सारी संख्या की सिर्फ ५० प्रतिशत है। ऐसे स्कूलों में शिक्षकों की नियुक्ति स्कूल-प्रशासन करता है और उन्हें वेतन वही देता है।

सन् १९६९ और ७० के शिक्षा सत्र में चेकोस्लोवाकिया में आठ हजार एक सौ तिहत्तर नर्सरी स्कूल थे, जिनमें तीन लाख सतहत्तर हजार सात सौ बासठ, यानी तीन से ६ वर्ष की आयु के बच्चों की पूरी जनसंख्या के पचास प्रतिशत बच्चे पढ़ते थे। नौ वर्षवाले बेसिक स्कूलों के प्रथम वर्ष के सत्तर प्रतिशत बच्चे पहले नर्सरी स्कूलों में ही शिक्षा पाते हैं। नर्सरी स्कूल अधिकांशतः (८८ प्रतिशत) प्रतिदिन दस-ग्यारह घण्टे चलते हैं। इनमें पढ़नेवाले अधिकांशतः बच्चे नौकरी करनेवाली माताओं के होते हैं। शेष नर्सरी स्कूलों में बच्चे प्रतिदिन पाँच घण्टे रहते हैं। नर्सरी स्कूलों की एक बहुत ही छोटी संख्या ('९) सोमवार से लेकर शनिवार तक पूरे हफ्ते चलती है। इन स्कूलों में खासकर वही बच्चे

पड़ते हैं जिनकी माताएँ घर में अकेली होने के कारण रोजी-कमाई में लगी रहती हैं या माँ की लम्बी बीमारी के कारण जिनकी कुछ समय तक और कोई देखभाल नहीं कर सकता। ऐसे स्कूल कुछ अंशों में बच्चे के घर की तरह ही होते हैं, जिनकी एक विशेषता यह भी होती है कि वे बच्चे के परिवार से बराबर सम्पर्क बनाये रखते हैं।

जिन जगहों में बच्चों की कम संख्या के कारण नर्सरी स्कूल नहीं खुल सकता, वहाँ स्थायी या कुछ समय के दिवा-घर स्थापित किये जाते हैं। ये तभी खोले जाते हैं जब कम-से-कम १० बच्चों की तरफ से इन्हें खोले जाने की दर्खास्त पड़ती है। इनमें दो वर्ष से ऊपर के बच्चे रखे जाते हैं। कोई तेरह हजार बच्चे इन दिवा-घरों में आते व रहते हैं। जहाँ लड़कों की कम संख्या के कारण नये नर्सरी स्कूल नहीं खोले जा सकते, वहाँ आसपास के नर्सरी स्कूलों में ही एक से तीन वर्ष के बच्चों के लिए कक्षाएँ बढ़ा दी जाती हैं। ये बच्चे शिशु स्वास्थ्य-विशेषज्ञ, नर्सों व अभिभावकों द्वारा देखे भाले जाते हैं, उसी तरह जैसा नर्सरी स्कूलों में नियम है।

विशेष स्कूल हॉल में, स्थानीय सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए शिशु विहार और नर्सरी स्कूल दोनों एक ही भवन में रखे गये हैं और उन्हें एक मिली-जुली संस्था की तरह सचालित किया जा रहा है। इन सुविधाओं का मुख्य लाभ यह है कि इनसे पेशेवर कार्यकर्ताओं, नर्सों, डाक्टरों और शिक्षकों की एक टीम बन जाती है, जिनसे बच्चे के, छोटी उम्र से लेकर स्कूल जाने की उम्र तक, सर्वांगीण विकास की गारण्टी मिल जाती है। नर्सरी स्तर से नर्सरी स्कूल तक परिवर्तन को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है ताकि बच्चों और उनके माँ-बाप को कोई कठिनाई न हो।

नर्सरी स्कूल में सिर्फ तन्दुरुस्त बच्चे भर्ती किये जाते हैं। मानसिक या शारीरिक खराबियों जैसे त्रुटिपूर्ण मानसिक विकास, वाणी सम्बन्धी खराबी, सुनने की खराबी, दृष्टि की कमजोरी, विकृत या किसी बीमारी की वजह से कमजोर शरीर या शुरू से यों ही कमजोर रह गये बच्चों के लिए विशेष नर्सरी स्कूल खोले गये हैं जिनमें ऐसे बच्चों की खास परवाह की जाती है। ऐसे बच्चे, जिनमें मिली जुली अनेक प्रकार की खराबियाँ हों, उनके लिए अस्पतालों में नर्सरियों या चिकित्सा सम्बन्धी विशेष दैनिक संस्थाओं की व्यवस्था की गयी है।

नर्सरी स्कूलों में शिक्षा निःशुल्क है। माँ-बाप सिर्फ बच्चे के खाने का खर्च देते हैं। फीस माँ-बाप की आमदनी के हिसाब से रखी जाती है, फिर भी, ऊँची-से ऊँची फीस खाने के खर्च के बराबर ही आती है।

किसी नर्सरी स्कूल में नियमित रूप से दैनिक कार्यक्रम पर्याप्त रहता है। यह इस तरह रखा जाता है ताकि बच्चे के नियमित व ठीक रहन-सहन से उसका ठीक मेल बैठ सके और बच्चों को खेलकूद का, बाहर रहने व आराम करने का काफी समय मिल सके। नर्सरी स्कूल में बच्चों को तीन बार भोजन मिलता है। माँ के काम में लगे रहने पर बच्चा अपने ही भरोसे रहता है, लेकिन ६ बजे शाम के बाद ऐसा नहीं होता। सब बच्चे सुबह नौ बजे के पहले इकट्ठा होते हैं और तीसरे पहर की चाय के बाद तितर-बितर हो जाते हैं। गर्मी के दिनों में वे अपना ज्यादा समय नर्सरी स्कूल के बगीचे में बिताते हैं। लेकिन वे खराब मौसम तक में या जाड़े में भी कम से-कम दो घण्टे प्रतिदिन नियमित रूप से टहलने जाते हैं।

नर्सरी स्कूलों का शैक्षिक कार्य छोटे बच्चों और नर्सरी स्कूलों की शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम के अनुरूप ही होता है। यह एक स्टैण्डर्ड कार्यक्रम होता है जो अपनी रूपरेखा में सबके लिए अनिवार्य होता है। यह पाठ्यक्रम की अलग-अलग आवश्यकताओं का प्रत्येक बच्चे की परिपक्वता, विशेषता तथा स्थानीय परिस्थितियों से तालमेल बैठाता है। यह कार्यक्रम उन कामों का विस्तार से वर्णन करता है जो शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा सौंदर्य-बोध सम्बन्धी शिक्षा के सम्बन्ध में पूरे किये जा सकते हैं। शैक्षिक कार्यों में शिक्षक व शिष्य के वैयक्तिक सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है।

शिशु विहार व नर्सरी स्कूलों के लिए खिलौने और शैक्षिक सहायक सामग्री एक विशेष फैक्ट्री द्वारा ही सप्लाई की जाती है। यह फैक्ट्री 'टीचिंग एड्स' (शैक्षिक सहायक सामग्री) नाम से जानी जाती है, जो सभी प्रकार के स्कूलों को सहायक सामग्री पहुँचाने की गारण्टी देती है। राज्य के अध्ययन शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशक सभी आवश्यक अध्यापक साहित्य प्रकाशित करते हैं। शिक्षकों के उपयोग के लिए प्री स्कूल एजुकेशन (शाला पूर्व शिक्षण) नाम से एक व्यवस्थित मासिक भी प्रकाशित किया जा रहा है।

, नर्सरी स्कूलों में माँ बाप से सहकार-सम्पर्क पर काफी ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक नर्सरी स्कूल में माँ-बाप व शिक्षक संघ होता है। इसका काम स्कूल को शिक्षा सम्बन्धी क्रियाकलापों में मदद, बच्चों के माँ-बाप के बीच अध्यापन शास्त्र व स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों की जानकारी फैलाना तथा स्कूल को अच्छी तरह चलाने के लिए उसकी आर्थिक स्थिति के सुधार में हिस्सा लेना है।

समय-समय की सम्मिलित गोष्ठियों में शिक्षक बच्चों के माँ-बाप व अभि-

भावरो को नर्सरी स्कूल की समस्याओं से परिचित कराते हैं और इस बात पर विचार-विमर्श करते हैं कि माँ-बाप इन समस्याओं का हल करने में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं। शिक्षक माँ-बाप से उनके बच्चो के बारे में व्यक्तिगत रूप से बात करते हैं और इस बात का प्रयास करते हैं कि बच्चों पर किस प्रकार का असर डाला जाय ताकि उसके व्यक्तित्व का सही विकास हो।

स्कूल स्वास्थ्य अधिकारी नर्सरी स्कूल में नियुक्त समय पर नियमित आता रहता है। साल भर में एक बार बच्चो की बारी विस्तार से स्वास्थ्य परीक्षा होती है। उनके दाँतों की नियमित जाँच होती रहती है और बच्चे देखभाल व चिकित्सा के लिए दाँत-केन्द्रो को भेजे जाते रहते हैं।

प्रशिक्षण

बच्चों की पूरे दिन देखभाल करनेवाले प्रत्येक प्रकार के नर्सरी स्कूल में दो शिक्षक होते हैं, जिसमें से एक पूर्वाह्न व दूसरा अपराह्न ड्यूटी पर रहता है। ये शिक्षक प्रति सप्ताह ३१ घण्टे पढ़ाते हैं। ये लोग शिक्षको के चार वर्षीय स्कूल में प्रशिक्षित होते हैं, जिसके बाद उनसे उत्तर बेसिक के नौ वर्षीय स्कूलो में काम लिया जाता है। तभी वे उत्तर बेसिक की नौ वर्षीय शिक्षा देने के अधिकारी समझे जाते हैं। उनकी ट्रेनिंग एक इम्तहान लेकर समाप्त की जाती है। इस इम्तहान का स्तर हायर स्कूल परीक्षा के बराबर माना जाता है। अगर जरूरी हुआ तो सेकण्डरी स्कूल के ग्रेजुएटों के लिए दो साला पाठ्यक्रमो की व्यवस्था की जाती है। इन ग्रेजुएटो को पहले बारह वर्षों की स्कूली शिक्षा मिल चुकी रहती है। इन दोनों प्रकार के नर्सरी स्कूलो में शिक्षार्थियों को संगीत, शारीरिक व्यायाम व कला प्रतिभा की जाँच-परीक्षा देनी पड़ती है।

शिक्षकों को स्नातकोत्तर ट्रेनिंग अध्यापन शास्त्र के क्षेत्रीय संस्थानों द्वारा प्रदान की जाती है। उनके लिए व्यवस्थित अध्ययनो के कई चक्रो तथा अनेक प्रकार के पाठ्यक्रमो की व्यवस्था की जाती है। जहाँ तक जिलो का सम्बन्ध है, जिले के अध्यापन-शास्त्र-केन्द्रो द्वारा व्यवस्थित कार्य की योजना होती है। ये जिला केन्द्र नर्सरी स्कूलों के शिक्षकों के लिए थोड़े दिनो का पाठ्यक्रम चलाने, अच्छे शिक्षकों के लिए आपस में अनुभव के आदान-प्रदान की व्यवस्था करते और नर्सरी स्कूलों के पर्यवेक्षण का प्रबन्ध भी करते हैं। शाला पूर्व शिक्षा के जिला इंस्पेक्टर का काम शिक्षकों की निगरानी के साथ-साथ उन्हें व्यवस्थित सहायता देना भी है।

सौजन्य : जैन पेस्टल
रूपान्तरण : रामभूषण

शिक्षक और अभिभावक : सहयोग की आवश्यकता

यह सर्वमान्य सत्य है कि घर, पड़ोस, समाज और शाला सभी बालक पर प्रभाव डालते हैं। परिवार जीवन की अमर पाठशाला है—यह कहावत प्रसिद्ध है। अनन्तकाल से परिवार बच्चो की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा है। वह बुनियादी शिक्षा देता रहा है जिसके आधार पर उनके भावी जीवन की भव्य इमारत खड़ी की जाती है। परिवार की यह शिक्षा उस समय तक चलती रहेगी जब तक अन्तिम मानव इस पृथ्वी पर जीवित रहेगा। इतिहास बताता है कि विश्व के प्रत्येक शिक्षाशास्त्री ने शिक्षा के इस महान केन्द्र घर' अथवा परिवार को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह सत्य है कि ग्रीस में स्त्रियो को प्रधानता न दिये जाने के कारण उनके परिवार को उतना महत्त्व नही दिया, किन्तु लाक, रूसो, पेस्टालाजी इत्यादि शिक्षाविदों ने परिवार को शिक्षा के केन्द्र के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अभी-अभी कुछ वर्षों से परिवार की यह महान सस्था कुछ छिन्न भिन्न सी होती दिखायी दे रही है तथा इसका महान उत्तरदायित्व अब अन्य सस्थाओ द्वारा वहन किया जा रहा है।

जीवन पर अमिट प्रभाव

आधुनिक काल में औद्योगीकरण एव वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप जीवन की जटिलता तथा सघर्ष बढ़ गया है। माता पिता अपनी जीविका अर्जन एव जीवन-सघर्ष में इतने व्यस्त हो गये है कि उनके पास इतना समय नही कि व बच्चों की ओर ध्यान दे सकें। इसलिए उनकी शिक्षा के लिए अधिक से अधिक शिक्षा-सस्थाओ की स्थापना की जा रही है। आज शाला बच्चो की शिक्षा का प्रधान केन्द्र हो गयी है तथा घर की जिम्मेदारी शालाओं पर डाल दी गयी है। किन्तु यह

सत्य है कि बच्चा शाला में जो कुछ सीखता है वह उसके लिए पर्याप्त नही होता। वास्तव में शाला में प्राप्त किये गये उसके अनुभव अधूरे होते हैं तथा शाला से बाहर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त किये गये अनुभव ही उसकी पूर्ति करते हैं, फिर चाहे वे अच्छे हों अथवा बुरे। उदाहरण के लिए शाला बच्चों को नैतिक शिक्षा देती है तथा उन्हें सच्चाई और ईमानदारी का पाठ पढ़ाती है। किंतु शाला के बाहर जब उन्हें दूसरे प्रकार का वातावरण मिलता है तो वे झूठ बोलना और चोरी करना सीख जाते हैं। यहाँ शाला का प्रभाव बच्चे के लिए व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत घर या परिवार के संस्कार बच्चे पर वह अमिट प्रभाव डालते हैं, जिसे कोई नही मिटा सकता। बाल्यावस्था में बच्चे का जीवन एवं उसके कार्यकलाप घर तक ही सीमित रहते है। अत घर का वातावरण उसके सुकोमल अपरिपक्व मन पर सबसे गहरा प्रभाव डालता है। इस समय जिस तरह के संस्कार उन पर पड़ते हैं, उनका प्रभाव सम्पूर्ण जीवन भर उन पर बना रहता है।

आधुनिक शोधकर्ताओं का मत है कि शिक्षक भी घर की ही तरह प्रभावशाली हो सकता है, यदि वह शाला के बाहर जीवन के विभिन्न अनुभवों के निकट सम्पर्क में रहे तथा उनके और शाला के बीच समन्वय स्थापित करते हुए बच्चे को शिक्षा प्रदान करे। यद्यपि यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि बच्चा जब शाला में प्रवेश लेता है, तो घर के प्रभाव की नींव उसमें पहले से ही पड़ी रहती है तथा शिक्षक एवं शाला उसी पर आगे कार्य कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इस प्रकार बालक को एक विशेष साँचे में ढालने तथा उसके जीवन को एक विशेष दिशा देने में आज भी घर या परिवार एक महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली माध्यम का कार्य करता है।

इसमें कोई शक नही कि आज के शिक्षक यह महसूस करते हैं कि बालक को यदि उचित शिक्षा देनी है तो उसके व्यवहार, उसके घर तथा उसके आसपास के सामाजिक वातावरण का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि अब माता-पिता भी यह महसूस करने लग गये हैं कि घर और समाज का वातावरण बालक के विकास पर बड़ा प्रभाव डालते हैं। चाहे वह नकारात्मक हो अथवा स्वीकारात्मक। इस प्रभाव की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि माता-पिता अपने बाल विकास के अनुभवों का परिवार में समुचित प्रयोग कर। माता-पिता की इसी अनुभूति का परिणाम है कि आज इस बात की अधिकाधिक माँग हो रही है कि अभिभावकों को भी बाल-संरक्षण एव बाल विकास में प्रशिक्षण

दिया जाय। सर सिरिलबर्ट ने अपने शोध-कार्य के निर्णय में स्पष्ट कहा है कि यदि लेसेज फेयर की नीति को चलने दिया गया तो पचास वर्ष की थोड़ी-सी अवधि के भीतर ही विद्याप्रिय छात्रों की संख्या घटकर आधी रह जायगी तथा कमजोर दिमाग के छात्रों की संख्या दुगुनी हो जायगी। संक्षेप में यदि प्रबुद्ध समाज का निर्माण करना है तो आज के एवं भावी अभिभावकों के प्रशिक्षण के लिए उचित कार्यक्रम का आयोजन अनिवार्य है।

शिक्षक-अभिभावक का निकट सम्पर्क

उपर्युक्त तथ्यों के परिणामस्वरूप यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि शिक्षकों एवं अभिभावकों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में लाया जाय तथा उनके समान हितों के कार्यक्रमों का आयोजन किया जाय। आज शाला और घर के बीच निर्मित खाई को पाटने की जरूरत है। तभी आधुनिक युग के लिए उपयुक्त समन्वित व्यक्तित्वपूर्ण छात्रों का निर्माण सम्भव हो सकेगा और इसके लिए शिक्षक-अभिभावक सहयोग को प्राथमिकता देना अत्यन्त आवश्यक है। यह सहयोग अभिभावकों को उन कठिनाइयों एवं बाधाओं से परिचित करायेगा, जिनका सामना शिक्षकों को छात्रों को पढ़ाते समय करना पड़ता है। यह सहयोग शिक्षकों को भी छात्रों के माता पिता, घर के वातावरण, इत्यादि को समझने में सहायता प्रदान करेगा और वे छात्रों की शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विशेषताओं का सही ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार उन्हें उचित शिक्षा प्रदान करने में सफल हो सकेंगे।

यह सत्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल में शिक्षक-अभिभावक सहयोग नहीं था, और इसकी उस समय आवश्यकता भी नहीं थी। उस समय समाज की आवश्यकताएँ और माँगें बहुत कम थीं। परिवार का मुखिया ही घर का शिक्षक होता था, परिवार एवं समाज का जीवन ही पाठ्यक्रम था तथा जीवन की आवश्यक बातें सीखने के लिए अनुकरण ही एकमात्र शिक्षण-पद्धति थी। इस प्रकार बालक परिवार में रह कर ही सत्य, सेवा, स्नेह, त्याग, बन्धुत्व एवं न्याय सरीखे महान गुणों को सीख लेता था।

किन्तु आज सभ्यता के विकास तथा समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और माँगों ने जीवन को दुरूह और जटिल बना दिया है। आरम्भ में शिक्षा का उद्देश्य लिखना-पढ़ना सीखना था, किन्तु यह स्थिति उसी समय तक रही जब तक जीवन सरल था और संयुक्त परिवार की व्यवस्था थी। कालान्तर में यह व्यवस्था टूट गयी और जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। यही कारण है कि आज बालकों के चरित्र-निर्माण तथा उसकी व्यावसायिक शिक्षा का उत्तरदायित्व शालाओं पर आ पड़ा।

आज अभिभावक अपने बच्चों के भावी भाग्य निर्माण के लिए पूरी तरह से शिक्षकों एवं शालाओं पर निर्भर हैं। यह वाछनीय नहीं है। कारण, परिवार और समाज वास्तव में एक दूसरे के निर्माता हैं। वास्तव में माता-पिता और शिक्षक दोनों के पूर्ण सहयोग एव निःस्वार्थ भाव से घर और शाला तथा समाज में बालकों एव नौयुवकों के हित में कार्य करना चाहिए।

अक्सर देखा जाता है कि बालक शाला में जिस तरह का व्यवहार करता है, घर में उससे भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। घर में अभिभावक तथा शाला में शिक्षक को इसे देखकर बालक के वास्तविक स्वभाव को समझने में कठिनाई होती है। बालक के असली रूप को समझने में असफल होने के कारण वे उसके वास्तविक विकास में मदद नहीं पहुँचा सकते और सम्पूर्ण स्थिति एक समस्या बनकर रह जाती है। इस समस्या का हल शिक्षक अभिभावक सहयोग से ही सम्भव हो सकता है।

यह भी अक्सर देखा जाता है कि बालकों को पाठ्यक्रम चुनाव की सलाह देते समय अभिभावक अपनी स्वय की इच्छा एव महत्वाकाक्षा को ही ध्यान में रखते हैं। प्रत्येक माता-पिता की इच्छा रहती है कि उनका बालक डाक्टर, इंजीनियर अथवा ऐसा ही कोई ऊँचा पद प्राप्त करे। अत इसके अनुसार वे विज्ञान, गणित इत्यादि विषयों को लेने के लिए अपने बच्चों को बाध्य करते हैं। परिणाम यह होता है कि बालकों की इच्छा व योग्यता को ध्यान में रखे बिना जिन विषयों का चुनाव करा दिया जाता है, उसमें वे असफल होते हैं। बालकों को इससे निराशा तो होती ही है, साथ ही अभिभावकों को भी आर्थिक हानि के साथ-साथ गहरी निराशा का सामना करना पड़ता है। शिक्षक-अभिभावक सहयोग के माध्यम से यह कठिनाई भी हल की जा सकती है। शाला में शिक्षक एव विशिष्ट निर्देश अधिकारी बालक की रुचि एव योग्यता का आकलन कर उसे अभिभावक को बता सकेंगे तथा अभिभावक इसके अनुकूल इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं का समायोजन कर सकेंगे।

लोकतंत्र की मजबूती के लिए सही शिक्षा

यहाँ यह कहना असगत न होगा कि जनतंत्र के स्थायित्व के लिए मजबूत स्तम्भों की जरूरत होती है और इनकी शिक्षा उचित रीति से हो, यह आवश्यक है। चूँकि हमारा देश स्वतंत्र है और उसने जनतंत्रीय शासन व्यवस्था को अपनाया है, अत उसकी सफलता यहाँ के शिक्षित नागरिकों पर निर्भर है। आज के बालक कल के नागरिक होंगे, अत आज शिक्षकों और अभिभावकों का उत्तरदायित्व बढ गया

है। अब हमें आनेवाली पीढ़ी की प्रवृत्तियों और दृष्टिकोणों में परिवर्तन करना होगा। इसके लिए भी शिक्षक अभिभावक सहयोग नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक समय की बदलती हुई परिस्थितियों में नयी प्रगतिशील शिक्षण-पद्धतियों को अपनाया जा रहा है। किन्तु अभिभावकगण अब भी उनसे अपरिचित हैं। वे पुरानी परम्परागत पद्धतियों के आदी हैं, तथा चाहते हैं कि शिक्षक पूरे समय बोलते रहें। यदि वे देखते हैं कि बालक लाइब्रेरी में चुपचाप स्वयं अध्ययन कर रहे हैं अथवा प्रयोगशाला में कार्य कर रहे हैं और शिक्षक केवल उनका मार्ग-दर्शन कर रहे हैं तो अभिभावक उनकी आलोचना करते दिखाई देते हैं। शाला या शिक्षा व्यवस्था में किसी भी नये परिवर्तन को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं तथा उसका विरोध करते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि अभिभावकों को शिक्षा की नवीन प्रवृत्तियों व नयी शिक्षण-विधियों से परिचित कराया जाय और यह शिक्षक-अभिभावक सहयोग से ही सम्भव हो सकता है।

मेरा ख्याल है कि जब तक शिक्षकों और अभिभावकों में पूरा-पूरा सहयोग नहीं होता तथा जब तक उनमें एक दूसरे के प्रति आत्मीयता और सहानुभूति की भावना नहीं आती तब तक 'शिक्षा' अपने वास्तविक अर्थ में पूरी नहीं हो सकती, तथा छात्रों का अहित ही होता रहेगा। पाश्चात्य देशों में शिक्षक-पालक सहयोग संघ बड़ी संख्या मे कार्य कर रहे हैं तथा अनेक तरह से शाला-कार्य म मदद पहुँचा रहे हैं। अमेरिका में 'राष्ट्रीय अभिभावक-शिक्षक' नामक एक पत्रिका निकलती है जो इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रही है तथा, शिक्षा की अनेक समस्याओं को सहज ही हल करने में सहायता पहुँचाती है। आज समय आ गया है जब केवल 'घर' और अभिभावकों की महत्ता मात्र बता देने से काम नहीं चलेगा, बल्कि उनका पूरा पूरा सहयोग प्राप्त कर शिक्षा को अधिक उपयोगी और प्रभावपूर्ण बनाना होगा तभी हम अपने देश और राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं। ●

७।१५० बैजनाथ पारा, रायपुर, मध्य प्रदेश एच

आचार्यकुल : गतिविधि

(मध्य प्रदेश मासिक कार्यविवरण, माह अगस्त १९७२)

चम्बलघाटी क्षेत्र में संगठन प्रखण्ड और ग्रामीण स्तर तक विकसित : इस मास आचार्यकुलों का संगठन प्रखण्ड और ग्रामीण स्तर तक विकसित हुआ है। अभी तक प्रायः जिले के मुख्य स्थान पर आचार्यकुल की भावना और विचार से प्रेम रखनेवाले लोग इकट्ठा होकर तदर्थ रूप से जिला आचार्यकुल बना लेते थे, और तदर्थ जिला संयोजक प्रखण्ड और ग्राम स्तर तक उसे व्यापक करने का प्रयत्न करते थे। अब चम्बल घाटी क्षेत्र में सघन रूप से प्रयत्न के परिणामस्वरूप निम्नांकित जिलों में संगठन नीचे तक गया है और इस मास में १५५ नये सदस्य बने हैं।

जिले	आचार्यकुल		प्राथमिक आचार्यकुल
ग्वालियर	१	(सालवई, डबरा, भितरवार)	१०
शिवपुरी	३	(मयरौनी, नरवर, पोहरी)	१२
मुरैना	१	(जौरा अम्बाह सबलगढ)	८

आशा है कि दतिया, भिण्ड और गुना में भी इसी तरह काय व्यापक होगा।

आचार्यकुल की शैक्षिक नीति और कार्यक्रम पर प्रखण्ड स्तर की गोष्ठियाँ **.** ३ अगस्त को श्योपुर (मुरैना) १८ अगस्त को डबरा (ग्वालियर), और २८ अगस्त को शिवपुरी में प्रखण्ड स्तरीय गोष्ठियाँ आयोजित हुईं। श्योपुर गोष्ठी में उस समय वहाँ चल रहे पुलिस आतंक पर सदस्यों ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। डबरा और शिवपुरी की गोष्ठियों में श्री दादाभाई नाईक और श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। तीनों गोष्ठियों में प्रदेशीय *संयोजक की उपस्थिति रही।*

प्रदेशीय स्तर पर कार्य-संगोष्ठी : ग्वालियर में दिनांक १३. ८. '७२ को प्रदेशीय स्तर पर एक कार्य-संगोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसमें मध्य प्रदेश आचार्यकुल तदर्थ समिति के ९ सदस्य तथा मुरैना, शिवपुरी, दतिया, रामपुर, रतलाम, खरगौन और भोपाल ७ जिलों के १० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें निम्नांकित निर्णय लिये गये :

(१) नवम्बर में केन्द्रीय आचार्यकुल समिति की बैठक का स्थान शिक्षा महाविद्यालय, ग्वालियर रखना तय हुआ। इसी अवसर पर मध्य प्रदेश आचार्य-कुल का द्विदिवसीय सम्मेलन बुलाने का तय किया गया।

(२) प्रदेशीय सम्मेलन के अवसर पर तदर्थ समिति के स्थान पर, प्रदेशीय आचार्यकुल का विधान के अनुसार संगठन किया जाय।

केन्द्रीय आचार्यकुल का योगदान : १५ अगस्त, १९७२ से श्री दादाभाई नाईक की ग्रामस्वराज्य-पदयात्रा में केन्द्रीय आचार्यकुल के संगठक श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा २८ अगस्त तक साथ रहे और स्थान स्थान पर आचार्यकुल के विचार को फैलाया।

मध्य प्रदेश ग्रामस्वराज्य-पदयात्रा : मध्य प्रदेश तदर्थ समिति के वरिष्ठ सदस्य श्री दादाभाई नाईक की ग्रामस्वराज्य-पदयात्रा के दौरान अब श्री प्रमोद उपाध्याय, जिला संयोजक आचार्यकुल, छिंदवाड़ा, दिनांक २८ अगस्त १९७२ से गाँव-गाँव में आचार्यकुल का विचार फैलाने और आवश्यकता पड़ने पर प्राथमिक एवं प्रखण्ड स्तर पर तदर्थ संयोजक मनोनीत करने का कार्य करेंगे। उन्हें प्रदेशीय तदर्थ समिति में सदस्य सहवरित कर प्रदेशीय संगठक के रूप में मनोनीत किया गया।

राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में मध्य प्रदेश आचार्यकुल के सदस्य भाग लेंगे : सभी जिला संयोजकों को सेवाग्राम, वर्धा में होनेवाले राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन १४, १५ अक्टूबर, '७२ में भाग लेने के लिए लिखा गया, कार्य-संगोष्ठी का विवरण व ग्रामस्वराज्य-पदयात्रा में योगदान विषयक परिपत्र भेजे गये।

●

आचार्यकुल : गतिविधि

(दिल्ली प्रदेश आचार्य कुल की अपील)

आज हम देश की आजादी की रजत-जयन्ती मना रहे हैं। वह आजादी एक लम्बी लड़ाई के बाद हासिल हुई थी। वह लड़ाई विचार, प्रेम त्याग तथा बलिदान के शस्त्रों से लड़ी गयी थी। जगत के इतिहास में अहिंसक लड़ाई का वह पहला और बड़ा सफल प्रयोग था। प्रयोगवीर था मानवता का मसीहा महात्मा गांधी।

अब हम जनतन्त्र में जी रहे हैं। जनतन्त्र का जन यदि सूखता जायेगा और तन्त्र फूलता जायेगा तो जनतन्त्र को बड़ा खतरा है। इससे बचने के लिए अनेक निःस्वार्थ और सेवामय सगठनो के आधार पर लोकशक्ति को संगठित करना पड़ेगा। इस कार्य के लिए एक इनसान ने अभी-अभी इस देश की पन्द्रह साल तक पैदल परिक्रमा करके लोगों के दिलों को जगाया। छोटे बड़े लाखों किसानों ने एक भी पैसा लिये बिना प्रेम से १५ लाख एकड़ जमीन दी, जो बेजमीन, बसहारा, मेहनतकश मजदूरों को बाँटी गयी। वह कमवीर है विश्वबन्धु विनोबा।

एक ने स्वराज का रास्ता दिखलाया, दूसरे ने सर्वोदय का। स्वराज के बाद अब सर्वोदय।

एक ने राजनीतिशास्त्र में अहिंसा को सफल किया, दूसरे ने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में।

ऐसी तजस्वी और पराक्रमी अहिंसा द्वारा स्वयं हमें हमारी छोटी-मोटी समस्याओं को सुलझाने की शक्ति हासिल करके सर्वोदय की ओर अग्रसर होना है।

इसके लिए अच्छा अवसर है—११ सितम्बर, विनोबा जयन्ती, २ अक्तूबर, गांधी-जयन्ती। आपकी संस्था में व्यवस्थित आयोजन करके ये दोनों जयन्तियाँ उत्साहप्रद ढंग से मनायें। निम्न कार्यक्रमों में से अधिक-से-अधिक का आयोजन करके शिक्षकों तथा छात्रों को लाभान्वित कीजिए।

(१) छात्रों तथा शिक्षकों की सभा में इन महापुरुषों के जीवन और विचार के विविध पहलू प्रस्तुत किये जायँ।

(२) विचार गोष्ठी का आयोजन करें।

(३) शिक्षकों तथा छात्रों द्वारा संस्था की सफाई का कार्यक्रम रखा जाय।

(४) किसी गाँव में या बस्ती में श्रमदान किया जाय।

(५) शिक्षकों में, छात्रों में तथा नजदीक के मुहल्ले में सर्वोदय के साहित्य तथा पत्रिकाओं का प्रचार करें।

(६) निबन्ध तथा विचार प्रतियोगिता रखी जाय।

(७) झुग्गी-झोपड़ीवाले क्षेत्रों से मुलाकात और सम्पर्क किया जाय तथा वहाँ की आवश्यकतानुसार कार्यक्रम रखा जाय।

(८) अपनी संस्था के शिक्षकों तथा छात्रों को आचार्यकुल तथा तरुण शान्ति-सेना के सदस्य बनाइए।

(९) संस्था के किसी हॉल या कमरे में साहित्य चित्र प्रदर्शनी लगाइए।

(१०) स्वदेशी प्रेम के रूप में ग्रामोद्योग के द्वारा बनी चीजें तथा खादी आदि को खरीदी को प्रोत्साहन दिया जाय। और सादा जीवन तथा सात्विक आहार पर जोर दिया जाय।

(११) प्रात स्कूल या कॉलेज के प्रारम्भ के समय रोज ५-१० मिनट का सामूहिक स्वाध्याय (एक पढ़े, सब सुनें) का कार्यक्रम रखा जाय।

ये कार्यक्रम ११ सितम्बर और २ अक्टूबर के बीच २० दिन के पूरे सर्वोदय पर्व में भी चलाये जा सकते हैं। और इनमें से कुछ स्थायी रूप से आगे भी जारी रखे जा सकते हैं।

११ सितम्बर से २ अक्टूबर के दरम्यान आप जो भी कार्यक्रम आयोजित करें उसमें कहीं हमारी सलाह या सहायता की आवश्यकता हो तो हमें आपकी सेवा करने में आनन्द होगा।

गांधीजी तथा सर्वोदय की सुन्दर पुस्तकें, आचार्यकुल तथा तरुण शान्तिसेना के पर्चे तथा फार्म, प्रदर्शनी और अन्य बातों की सारी जानकारी आपको श्री वसन्त व्यास, संयोजक दिल्ली प्रदेश सर्वोदय मण्डल, सन्त समागम, २४ पार्क एरिया, करौलबाग, नयी दिल्ली–५ (फोन ५६३४७९) से प्राप्त होगी।

(डा०सीताकृष्ण नम्बियार)	(प्रेमलाल गोविल)	(प्रेमराज शर्मा)
संयोजिका	कार्याधिकारी	सह संयोजक
दिल्ली प्रदेश आचार्यकुल	राष्ट्रीय सेवा योजना	दिल्ली प्रदेश आचार्यकुल
	दिल्ली विश्वविद्यालय	

●

दैनन्दिनी

सन् १९७२ की दैनन्दिनी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही है। इस दैनन्दिनी में आप लोगों से समय-समय पर मिलनेवाले सुझावों का यथासम्भव समावेश किया गया है। इस बार के मुख्य परिवर्तन निम्न प्रकार हैं :

● हर माह के अन्त में एक कोरा पृष्ठ छोड़ा गया है। दैनन्दिनी के अन्त में ४ पृष्ठ सादे दिये गये हैं। कुल मिलाकर गत वर्षों की अपेक्षा १९७२ की दैनन्दिनी में १६ पृष्ठ अतिरिक्त जोड़ा गया है, फिर भी कीमत में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

अन्य विशेषताएँ

● प्लास्टिक का सुरुचिपूर्ण चित्ताकर्षक कवर। रूलदार पृष्ठ, सर्व सेवा संघ और सर्वोदय आन्दोलन में लगी संस्थाओं, पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य प्रवृत्तियों की अद्यतन जानकारी। डाकवार विषयक जानकारी, सरकारी छुट्टियों की सूची और मासिक वेतन चार्ट।

साइज	माप	कीमत
क्राउन	१८॥ सें०मी० × १२। सें०मी	४ रुपया प्रति
डिमाई	२१॥ सें०मी० × १४ सें०मी०	५ रुपया प्रति

आपूर्ति के नियम

● विक्रेताओं को २५ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है। एक साथ ५० या अधिक दैनन्दिनी मगाने पर ग्राहक के निकटतम स्टेशन तक फ्री पहुँच भेजवायी जाती है। ५० से कम सख्या में दैनन्दिनी मँगाने पर पैकिंग, पोस्टेज और रेल महसूल का खर्च ग्राहक को वहन करना पड़ता है। भेजवायी गयी दैनन्दिनी वापस नहीं ली जाती। दैनन्दिनी की बिक्री पूर्णतया नकद, वी० पी० या बैंक के मार्फत रखी गयी है। आर्डर भेजवाते समय अपना नाम, पता और निकटतम रेलवे स्टेशन का नाम सुवाच्य अक्षरों में लिखिए और यह स्पष्ट निर्देश दीजिए कि मँगायी गयी दैनन्दिनी के लिए आप रकम अग्रिम ड्राफ्ट द्वारा भेजवा रहे हैं या बिल्टी, वी० पी० या बैंक के द्वारा भेजवा दी जाय।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार प्रधान सम्पादक
श्री वंशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : २
मूल्य : ५० पैसे

अनुक्रम

सितम्बर, '७२

●

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
● पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
अनुपम प्रेस, के २९/२० दुर्गाघाट, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : सितम्बर, '७२
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन सेवाग्राम

अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन दिनांक १४, १५ और १६ अक्टूबर १९७२ को नयी तालीम समिति (सर्व सेवा संघ) और वर्धा शिक्षा मंडल के संयुक्त तत्वावधान में सेवाग्राम, वर्धा (महाराष्ट्र) में किया जा रहा है।

प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने १४ अक्टूबर को ११-३० बजे इस सम्मेलन का उद्‌घाटन करना स्वीकार किया है। सम्मेलन के समय में आचार्य विनोबा भावे के भी शैक्षणिक विचारों को सुनने का अवसर प्राप्त होगा। केन्द्र के शिक्षा मंत्री, सभी राज्यों के शिक्षा मंत्रियो, अधिकांश उप-कुलपतियों, प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों, गण्यमान्य सर्वोदय विचारकों एवं बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले प्रमुख कार्यकर्तागणों को इस सम्मेलन में भाग लेने और चर्चा करने के लिए आमंत्रित किया गया है। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य प्राइमरी स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने के बारे में विचार-विमर्श करना है, जिससे इसे राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुरूप अधिक उद्देश्यपूर्ण और उत्तरदायी बनाया जा सके।

सम्मेलन का कार्यक्रम प्राय. निम्न प्रकार से रहेगा :

१४ अक्टूबर	११-३०	उद्‌घाटन समारोह
	३-०० दोपहर	प्रथम अधिवेशन विचारणीय विषयों पर चर्चा
	६-३० सायं	आश्रम प्रार्थना (प्रतिदिन)
	८-३० रात्रि	सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं शैक्षणिक फिल्म शो
१५ अक्टूबर	सुबह	प्रतिनिधिगणों का आचार्य विनोबा भावे से मिलना।
	३-०० दोपहर	द्वितीय अधिवेशन-चर्चा
	८-३० रात्रि	तृतीय अधिवेशन-चर्चा
१६ अक्टूबर	८-३० सुबह	अंतिम अधिवेशन निवेदन का प्रस्तुतीकरण, चर्चा श्रीमन्नारायणजी का अध्यक्षीय भाषण, धन्यवाद ज्ञापन

इस सम्मेलन में भाग लेनेवाले लोगों से निवेदन है कि वे अपने पहुँचने और यदि कुछ विशेष अपेक्षा हो, तो उससे, मंत्री को अवगत कराने की कृपा करें।

के० एस० आचार्लु
मंत्री, नयी तालीम समिति
सेवाग्राम, वर्धा (महाराष्ट्र)

आवरण मुद्रक : खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी-१

वर्ष २१
अंक ३
अक्टूबर, १९७२
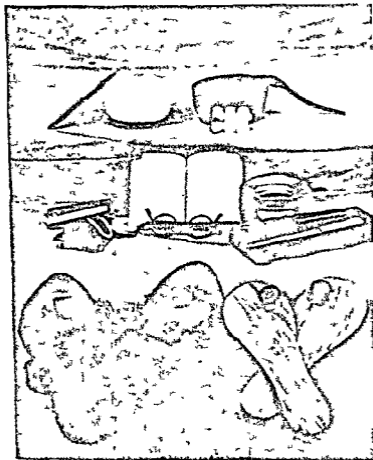
बापू कुटी (सेवाग्राम) में स्मृति के चिह्न

वर्ष : २१
अंक : ३

३२०० करोड़ रुपये की शिक्षा-योजना

केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने पाँचवी पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर व्यय के लिए बत्तीस सौ करोड रुपये के प्राविधान की माँग की है। (इतना धन मिलेगा नहीं, यह बात दूसरी है।) इसमें से सोलह सौ करोड रुपये प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय किये जायेंगे। ६ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा देना संविधान का लक्ष्य था और यह आशा की गयी थी कि १९६५ तक यह लक्ष्य पूरा कर लिया जायगा। परन्तु ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों के लिए भी अभी प्रारम्भिक शिक्षा सुलभ नहीं हुई है। इसीलिए सितम्बर १९७२ की बैठक में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद ने केन्द्रीय शिक्षा मंत्री की ३२०० करोड़ रुपये की योजना स्वीकार करते हुए राज्यों से यह अपील की है (राज्यों से इसलिए कि शिक्षा राज्य का विषय है) कि वे १९७५-७६ तक ६ से ११ वर्ष की आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करें, और १४ वर्ष का आयु तक की शिक्षा का लक्ष्य पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् १९७८-७९ तक अवश्य पूरा कर लें। गणतंत्र में प्रारम्भिक शिक्षा भोजन, जल और आवास की भाँति नागरिक की न्यूनतम आवश्यकता है, अतः संविधान के इस लक्ष्य को पूरा करने को पाँचवी पंचवर्षीय योजना में प्राथमिकता दी जाय।

परन्तु यक्ष प्रश्न यह है कि क्या पाँचवी पचव-

र्षीय योजना तक यह लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? जो बात कही गयी है वही दूसरी, तीसरी और चौथी योजनाओं के आरम्भ में भी इतनी ही आतुरता के साथ कही गयी थी, परन्तु लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। और आज जब फिर केन्द्रीय मंत्री इस संकल्प को दोहरा रहे थे तो केन्द्रीय परिषद् की बैठक में ही विशेषज्ञों ने शंका प्रकट की कि सम्भवतः पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भी यह लक्ष्य पूरा नहीं होगा। देश में चार राज्य ऐसे हैं—राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा, जिनमें यह लक्ष्य पूरा होता दिखाई नहीं देता। इन राज्यों में, जिनमें आदिवासियों की संख्या पर्याप्त है, स्कूल न जानेवाले लड़कों का प्रतिशत ७६ है, जो पूरे देश के ६ से १४ वर्ष की आयुवाले बच्चों का ५६ प्रतिशत है। इसीलिए विशेषज्ञों ने यह शंका की है कि सम्भवतः पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भी हमारा संवैधानिक लक्ष्य पूरा न हो।

आखिर ऐसा हुआ क्यों है ? हम १९४७ के बाद किये गये अपने शिक्षा प्रसार के प्रयासों का विश्लेषण करें तो निम्नांकित बातें देखते हैं :

(१) १९४७-४८ में (देश के स्वतंत्रता वर्ष में) देश में कुल १५० लाख प्रारम्भिक स्कूल, ४,००० हाई स्कूल, और १,००० उच्च शिक्षा के विद्यालय थे। शिक्षा-प्रसार के फलस्वरूप १९७१-७२ में देश में ५ लाख प्रारम्भिक स्कूल, ३५,००० हाई स्कूल, और ४,५०० उच्च शिक्षा की संस्थाएँ हो गयी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वातंत्र्योत्तर काल में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में आठ गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है, जब कि प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में यह वृद्धि चार गुनी से भी कम हुई है। अगर १९७८-७९ तक यानी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक हमें ६ से १४ वर्ष की आयु के बीच के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्रावधान करना होगा, तो हमको १४.२१ करोड़ बच्चों को स्कूल में लाने की व्यवस्था करनी होगी। अब हम अगर एक प्रारम्भिक स्कूल में औसत संख्या २०० की भी मान लें तो हमें ५ वर्षों में ७ लाख प्रारम्भिक स्कूल खोलने होंगे। हम आशा करते हैं कि इतने स्कूलों को खोलने का प्रावधान योजना में होगा। प्रावधान का अर्थ है राज्यों को 'मैचिंग ग्रान्ट' देने का प्रावधान। परन्तु अनुभव यह है कि सभी राज्य केन्द्र से 'मैचिंग

माण्ट' लेकर योजनाओं को प्रारम्भ नहीं करते। ग्राण्ट लेते भी हैं तो उसका पूर्ण उपयोग नहीं करते। पहले भी यह हुआ है और अब भी होगा। कुछ राज्य ऐसे होंगे जो अपने को मैचिंग ग्राण्ट लेने की अनुकूल परिस्थिति में हो नहीं पा सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि बावजूद केन्द्र की योजना के भी राज्य उतने प्रारम्भिक स्कूल न खोल सकेंगे, जितने स्कूलों की आवश्यकता प्रारम्भिक शिक्षा का अनिवार्य बनाने के लिए होगी। परिणाम निश्चय ही वही होनेवाला है जो पहले हुआ था। यानी पचवर्षीय योजना के अन्त तक भी प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का सवैधानिक लक्ष्य पूरा नहीं होगा।

(२) योजना के विश्लेषण से दूसरा तथ्य यह प्राप्त होता है कि प्रारम्भिक कक्षा के गुणात्मक पक्ष पर अपेक्षाकृत बहुत कम धन खर्च करने का प्राविधान है। शिक्षा के गुणात्मक पक्ष में सुधार तभी सम्भव होगा जब योजना को चलाने के लिए जहाँ एक ओर योग्य शिक्षकों का प्रशिक्षण हो, वहाँ दूसरी ओर शिल्प विज्ञान आदि विषयों के वैज्ञानिक और पूर्ण शिक्षण के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। परन्तु १६०० करोड़ रुपये में से इस मद पर कुल १७० करोड़ रुपये खर्च किये जायेंगे। इसका अर्थ केवल इतना होगा कि अप्रशिक्षित अधकचरे ज्ञान वाले शिक्षक अपर्याप्त साधनों से शिल्प अथवा विज्ञान का दूषित शिक्षण करेंगे, जिससे विद्यार्थियों का ही अहित नहीं होगा, देश का धन भी बरबाद होगा। बेसिक शिक्षा जिन राज्यों में असफल हुई, उसका असफलता के मुख्य दो ही कारण थे—प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी और पर्याप्त साधन का अभाव। अगर ये दोनों कारण अब भी बने रहे, तो जिस 'कायानुभव' को प्रारम्भिक शिक्षा का अभिन्न अंग बनाकर योजना बनायी जा रही है वह भी असफल होगी और छात्र केवल कोरी साक्षरता प्राप्त कर सकेंगे, जिसका आज की परिस्थिति में, जब प्रत्येक नागरिक से उत्पादक इकाई होने की आशा की जा रही है, बहुत अधिक मूल्य नहीं है।

(३) तीसरी महत्त्व की बात यह है कि अगर इस प्रकार के स्कूल खुले भी तो उनके लिए कोई आकर्षण गाँव की उस गरीब जनता में नहीं होगा, जिनके बच्चे उनकी कमाई में चार पैसे का योगदान करते हैं, चाहे गाय भैंस चराकर, चाहे अपने माँ बाप की खेत खलिहान में

सहायता करके, चाहे घर पर रहकर अपने छोटे भाई-बहनों की देख-भाल करके। हमारे देश की योजना बनानेवाले यह क्यों नहीं सोचते कि स्कूल खोल देने से ही इस तबके के लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजेंगे। हमारे शिक्षा शास्त्री और योजना बनानेवाले ये क्यों नहीं समझते कि इन लोगों के लिए तो शिक्षा की ऐसी योजना बनानी पड़ेगी, जिसमें लड़के पढ़ने के साथ कुछ पैदा भी कर सकें। बेसिक शिक्षा एक ऐसी ही शिक्षा-पद्धति है। और कोठारी कमीशन द्वारा संस्तुत 'कार्यानुभव' की पद्धति भी अगर ईमानदारी के साथ कार्यान्वित की गयी, तो इस प्रकार की पद्धति में विकसित हो सकती है। परन्तु हम कैसे मान लें कि योजना बनानेवालों की दृष्टि साफ है, जब हम यह देखते हैं कि जिन तत्वों से प्रारम्भिक शिक्षा का गुणात्मक विकास होगा उन पर योजना में इतना कम खर्च करने का प्राविधान किया गया है।

अतः बार-बार दोहराने के बावजूद एक बार और कहना पड़ रहा है कि जैसे सड़े गले आज के प्रारम्भिक स्कूल हैं, उनकी संख्या में वृद्धि मात्र करने से देश की किसी समस्या का हल नहीं होगा—न उनमें देहातों और शहरों के भी गरीब तबकों के बच्चे—पढ़ने जायेंगे और न उनमें शिक्षा पानेवाले लड़के इस योग्य हो सकेंगे कि अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद जीवन में प्रवेश करके कुछ काम करने के साथ 'पार्ट टाइम' शिक्षा लेकर अपनी शिक्षा को पूरी कर सकेंगे। जैसी कल्पना इस योजना के बनानेवालों ने की है और जिस 'पार्ट टाइम' शिक्षा के लिए पर्याप्त धन का प्राविधान किया है, जिस 'मल्टीपुल एण्ट्री' के लिए इस योजना की इतनी प्रशंसा की जा रही है वह बेकार हो जायेगी। जब प्रारम्भिक शिक्षा—शिक्षा पानेवालों को किसी कौशल की ही शिक्षा नहीं देती, केवल साक्षरता ही सिखा रही है, तो 'मल्टीपुल एण्ट्री' यानी विभिन्न पेशों में प्रवेश करने की बात करना व्यर्थ है।

अतः आवश्यकता तीन बातों को समझ लेने की है: (१) प्रथम यह कि जैसे आज के प्रारम्भिक स्कूल हैं, वैसे स्कूलों को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उससे अच्छा होगा कि संविधान का लक्ष्य पूरा न हो।

(२) दूसरा यह जो भी प्रारम्भिक स्कूल खुलें, उनमें पढ़ने लिखने

के साथ वैज्ञानिक ढंग से समाजोपयोगी उत्पादक काम सिखाने का प्रबन्ध हो, और

(३) तीसरा यह कि दूर के गाँवों में, आदिवासी क्षेत्रों में और नगरों में जिन्हें 'स्लमएरिया' कहते हैं, उनमें दो दो तीन तीन घण्टों के स्कूल खोले जायँ, जहाँ लडके जो काम कर रहे हैं उन्हें करते हुए भी आकर पढ सकें और कुछ उपयोगी धन्धा सीख सकें। पूज्य धीरेन्द्र भाई कहते हैं, "हमारे योजनाकारों को भैंस की पीठ पर स्कूल खोलने की योजना बनानी होगी।"

—वंशीधर श्रीवास्तव

शिक्षा का माध्यम

यह स्वयंसिद्ध बात है कि जब तक किसी देश के नौजवान ऐसी भाषा में शिक्षा पाकर उसे पचा न लें, जिसे जनता समझ सके, तब तक वे अपनी देश की जनता के साथ न तो जीता जागता सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं और न उसे कायम रख सकते हैं।

मेरा विश्वास है कि राष्ट्र के जो बालक अपनी मातृभाषा के बजाय दूसरी भाषा में शिक्षा प्राप्त करते हैं व आत्महत्या ही करते हैं। विदेशी माध्यम से बालकों पर अनावश्यक जोर पडता है। वह उनकी सारी मौलिकता का नाश कर देता है। विदेशी भाषा के माध्यम से उनका विकास रुक जाता है और वे अपने घर और परिवार से अलग पड जाते हैं। इसलिए मैं इस चीज को पहले दरजे का राष्ट्रीय संकट मानता हूँ।

अगर मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो तो मैं आज से ही विदेशी भाषा के माध्यम से अपने लडके और लडकियों की शिक्षा बन्द कर दूँ, और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त कर दूँ। मैं पाठ्यपुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूँगा। वे माध्यम के परिवर्तन के पीछे पीछे चली आयेंगी। यह एक ऐसी बुराई है जिसका तुरंत इलाज होना चाहिए। ... .

—मो० क० गांधी

(शिक्षा का माध्यम पृष्ठ, १० से ११ तक)

शिक्षा की संरचना

मैं इस ख्याल का हूँ कि प्राथमिक और माध्यमिक दोनों शिक्षाओं को मिला दिया जाय। प्राथमिक शिक्षा की जो शकल आज है, मैंने उसे गाँवों में देखा है और इधर तो मैं एक गाँव में ही रहने लगा हूँ। इसलिए मैं समझता हूँ कि अगर हम देहातों को कुछ देना चाहते हैं तो जरूरी है कि सेकेण्डरी तालीम को प्राइमरी के साथ मिला दिया जाय। मेरा ख्याल है कि आजकल देहाती मदरसों में लड़कों को जो कुछ पढ़ाया जाता है उससे देहातवालों का नुकसान ही होता है। जो लड़के स्कूल आते हैं उनमें से अधिकतर या तो शहरी बन जाते हैं या गाँव के प्रति अपना कर्तव्य भूल जाते हैं। इसीलिए मैं अपने अब तक के अनुभव से यह कह सकता हूँ कि हमारी मौजूदा प्राइमरी तालीम से गाँववालों को फायदा नहीं पहुँचता। तो सवाल होता है कि इस प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो? मेरा तो जवाब यह है कि किसी उद्योग या दस्तकारी को बीच में रखकर उसके जरिए ही सारी शिक्षा दी जाय। लड़कों को जो कुछ भी सिखाया जाय वह सब किसी न किसी उद्योग या दस्तकारी के जरिए ही सिखाया जाय। आप कह सकते हैं कि मध्ययुग में हमारे यहाँ लड़कों को सिर्फ धंधे ही सिखाये जाते थे। मैं मानता हूँ लेकिन उन दिनों धंधों के जरिए तालीम देने की बात लोगों के सामने नहीं थी। धंधा सिर्फ धंधे के ख्याल से सिखाया जाता था। हम धन्धे या दस्तकारी के माध्यम से दिमाग को भी आला बनाना चाहते हैं। इसलिए मेरी दरख्वास्त यह है कि हम सिर्फ उद्योग या दस्तकारी ही न सिखायें, बल्कि इनके जरिए बच्चों को सारी तालीम दें।

इस प्राथमिक शिक्षा को मैं सबसे अधिक महत्त्व देता हूँ। मेरे विचार में यह शिक्षा अंग्रेजी को छोड़कर और विषयों में आजकल की मैट्रिक तक होनी चाहिए। अगर कालेज के सब ग्रेजुएट अपना पढ़ना लिखना एकाएक भूल जायें तो इन लाखों ग्रेजुएटों की याददाश्त के एकाएक बेकार हो जाने से देश का जो नुकसान हो उसे एक पलड़े में रखिए और दूसरे में उस नुकसान को रखिए जो करोड़ों स्त्री-पुरुषों को अज्ञानान्धकार में घिरे रहने से हो रहा है।

हरिजन ११ सितम्बर '३९

—मो० क० गांधी

शोषणरहित बुनियादी तालीम

[ता. २५-६-७० को बारदोली (गुजरात) यंत्रविद्यालय के उद्‌घाटन के अवसर पर दिया हुआ मंगल प्रवचन, मूल गुजराती से अनूदित ।–सम्पादक ।]

हमने समाज के विभाग बनाये, *जातियाँ तैयार कीं, वर्णव्यवस्था को आजमा* कर देखा। आजकल 'धनी और गरीब', 'शिक्षित और अशिक्षित', ऐसे कितने ही विभाग करते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में दो मुख्य वर्ग देखने में आते हैं। उनके कारण उत्पन्न सवालों को यदि हम हल कर सकें तो बहुत से सवाल हल हो जायेंगे।

वे वर्ग कौन से हैं? एक है श्रमजीवी और दूसरा है परिश्रम, शरीर-श्रम टालनेवाला। मनुष्य शिक्षा चाहता है, सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। उसमें सांस्कृतिक लाभ होता होगा। परन्तु मनुष्य का मुख्य प्रयत्न एक ही रहता है—*"श्रमजीवी वर्ग में शामिल न होना पड़, श्रम टालकर, श्रमजीवी लोगों* की सेवा प्राप्त कर बिन श्रमजीवी वर्ग में शामिल होना।"

एक दिन एक बूढ़ा अपने पोतों को जरा नाराजी से परन्तु खूब प्रेम और श्रद्धा से समझा रहा था: "कमबख्तो ! वक्त है तब तक चार शब्द सीख लो। वरना सारी जिन्दगी मेहनत मजदूरी करनी पड़ेगी।" उस बूढ़े ने समाज-जीवन की केन्द्रीय बात पकड़ी थी। 'चार शब्द सीखने', लिखना-पढ़ना सीखोगे तो कानून से लेकर मुकद्दमे तक का और वकील से लेकर देश के नेताओं तक का कोई भी स्थान पा सकोगे और हाथ से परिश्रम करने की तकलीफ से बच जाओगे। किसी के बूट साफ करने की अपमान भरी स्थिति भुगतनी नहीं पड़ेगी।

शिक्षित लोग अनेक प्रवृत्तियाँ करते हैं तरह तरह के काम करते हैं, जबान चलाते हैं, कलम चलाते हैं, संस्थाएँ और कारखाने खड़े करते हैं। वे बेकार नहीं बैठते। परन्तु उन्हें हाथ से परिश्रम नहीं करना पड़ता।

यही वस्तु अपने ढंग से समझाते हुए मैं कहता हूँ, 'मनुष्य चार शब्द सीख तो उसे हाथ में कलम लेकर तीन ऊँगलियों से ही काम लेना पड़ता है। श्रमजीवी को दसों ऊँगलियों को काम में लाना पड़ता है। वह चाहे हल चलाये, घास काटे, बरतन माँजे या रंदा चलावे दस ऊँगलियाँ काम में लानी ही पड़ती हैं।

पढ़ा लिखा आदमी तीन ऊँगलियों से लिखेगा अथवा हिसाब करेगा। उसका प्रारम्भ अंक और लिपि सीखने से होता है। छुटपन में हमारी पढ़ाई का प्रारम्भ 'अंकलिपि' नाम की किताब से होता था। हम उसे अकल्पी कहते थे। परन्तु उसका उद्देश्य तो दस ऊँगलियों के दो हाथों से श्रम करने की मेहनत टालने का ही होता है।

परिणाम यह हुआ कि दस ऊँगलियोंवाली मेहनत मजदूरी करनेवालों को विद्या कला न मिली। उसके श्रम-जीवन में बुद्धि उन्नति और प्रगति का लवलेश भी नहीं मिलता। बुद्धिवाले सारे शोषक और श्रमजीवी सारे जड़ अपरिवर्तनवादी और शोषित ऐसी समाज रचना हुई।

ऐसा भेद समाज में जब तक बना रहेगा तब तक उच्च नीच का भाव, शोषण अन्याय और अत्याचार समाज में रहेंगे ही। लड़कर, राज्य व्यवस्था में क्रान्ति करके अथवा असहयोग का शस्त्र चलाकर शोषणरहित समानतामूलक समाज हम कायम नहीं कर सकेंगे इस निर्णय पर पहुँचकर गांधीजी ने सर्वांगीण सार्वभौमिक क्रान्ति के प्रारम्भ में—बुनियाद में क्रान्तिकारी शिक्षा का उपाय बताया जिसके अन्दर अंक लिपिवाली विद्या ग्रहण करने के साधन के रूप में ही कुशल रचनात्मक, समाजोपयोगी उत्पादक परिश्रम को स्वीकार किया। ऐसे रचनात्मक परिश्रम के द्वारा ज्ञान प्राप्त कीजिए और उसे परिश्रम के साथ अनुबंध के रूप में अक्षरज्ञान और अंकों का ज्ञान दीजिए।

ऐसी बुनियादी शिक्षा का पुरस्कार करते हुए मैंने एक बार स्पष्ट किया कि आज शिक्षा लेनेवाले तमाम वर्गों को और जातियों को परिश्रम की दीक्षा देंगे जिससे उनका जीवन निष्पाप हो और उसकी एकाग्रता मिटे। शोषक का जीवन जीने के आदी ये वर्ग यदि समय पर बुनियादी शिक्षा को स्वीकार नहीं करेंगे तो मानकर चुप नहीं बैठेंगे। हम उन्हें उनके नसीब पर छोड़कर श्रमजीवी लोगों के पास जायेंगे और कहेंगे कि श्रम जीवन के द्वारा आप लोग निष्पाप

रह सके हैं। उस श्रम-जीवन का न खोकर आपके हुनर-उद्योगों की मार्फत ही हम आपको अनुबन्ध के रूप में तमाम विद्या-कलाओं की शिक्षा देंगे और आपके वर्ग का सर्वांगीण जीवन विकसित कर उस शोषक वर्ग को ही असहाय स्थिति में रख देंगे। 'निवारन से नहीं मानते सो हारने से मानते' ऐसा अनुभव उन्हें करवा देंगे। आश्रम और विद्यापीठ में मेरे परिचय में आकर प्रेरणा पानेवाले श्री मोहन परीख बहुत दिनों से बुनियादी शिक्षा के इस दूसरे भाग का प्रयोग यहाँ बैठे कर रहे हैं। उन्होंने एक सुरुचि छापाखाना खोला है। उसमें प्रेस विषयक सब काम सुरुचिपूर्ण होगा ही। परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य केवल छापाखाना चलाने का नहीं है, परन्तु उसके द्वारा श्रमजीवी वर्ग को अनुबन्ध के तौर पर छोटी-बड़ी विद्या कलाएँ सिखाने का है।

सुरुचि छापाखाना तो समन्वय का केवल साधन है। बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ तो चार प्रकार के सार्वभौम उद्योगों से ही हो सकता है। (१) खेती (अन्न निर्माण) (२) वस्त्र विद्या, (३) रहने के लिए झोंपड़ी या आलीशान मकान बनाने की कला, और (४) इन तीनों उद्योगों के लिए जरूरी औजार का निर्माण। अन्न, वस्त्र, निवास और औजार इन चार के शिक्षण से प्रारम्भ करके उसके अनुबन्ध में प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा साथ-साथ देने के प्रयास का प्रारम्भ होगा।

और वही काम उसी ढंग से बड़े पैमाने पर चलाकर गांधी विद्यापीठ शोषक वर्ग को निष्पाप बनने की कला सिखाएगा। यह है बुनियादी शिक्षा का हेतु और उसका कार्यक्रम। इसी के लिए गांधी विद्यापीठ की स्थापना हुई है। गांधीजी के विचार जिन्हें जँच गये हैं ऐसे हम तीन आपके सामने खड़े हैं। गांधी विद्यापीठ का कुलपति मैं, चालीस वर्ष आदिवासियों के बीच अखण्ड निष्ठा से काम करनेवाले श्री जुगतराम भाई दवे उपकुलपति हैं, और आश्रम में तथा गुजरात विद्यापीठ में जिन्होंने मुझे बड़ा कीमती साथ दिया उन स्वर्गीय श्री नरहरिभाई परीख के स्वतंत्र मिजाज के चिरंजीव मोहन परीख विद्यालय के उपप्रमुख हैं। हम यहाँ शोषण-रहित, निष्पाप, सम्पूर्ण, समृद्ध जीवन की नींव डालनेवाली शिक्षा को लेकर बैठे हैं। इसमें मेरा हिस्सा केवल बुजुर्ग के तौर पर प्रेरणा, योजना, सूचना और सलाह देने का है और साथ ही सारी प्रवृत्ति को आशीर्वाद देने का है। बाकी तो सर्वोदय के आदर्श को वरण करनेवाले, शोषणरहित सादा जीवन जीनेवाले शिक्षा-शास्त्रियों की यह प्रवृत्ति है। इसमें पुरातनकाल से चले आनेवाले जड़-श्रम-जीवन को जरा भी स्थान नहीं है। परिश्रम तो करना ही है। परन्तु वह परिश्रम दिन

प्रतिदिन ज्यादा सुकर करने के लिए अच्छे अच्छे वैज्ञानिक औजार तैयार करेंगे। यहाँ कोई इजाद होगी वह सर्वोदयवृत्ति से प्रेरित होगी। यहाँ का अक्षरज्ञान, हिसाब का ज्ञान और साहित्य का अनुशीलन बहुमत के पोषण के लिए नहीं, परन्तु समस्त मानव परिवार के पोषण के लिए होगा।

रक्षण के लिए शांतिसेना, पोषण के लिए बुनियादी तालीम के साथ खेती और उद्योग-हुनर, उत्कर्ष के लिए तेजस्वी पढ़ाई और शोध-खोज एवं वर्ग-विग्रह टालने के लिए द्वेषरहित सामाजिक साम्ययोगी सहयोग का जीवन सिखानेवाला सर्वोदय का आदर्श यह है हमारी योजना। अहिंसा प्रेरित शान्ति-साधक इस सर्वोदयी योजना को हमारी प्रार्थना के साथ इस विद्यालय का उद्घाटन (यानी उसका मंगलारम्भ) जाहिर करता हूँ।

ॐ सह नौ अवतु।
सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु।
मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति॥

●

वाराणसी के शिक्षकों के बीच जे० पी०

[साधना केन्द्र, वाराणसी में वाराणसी के आचार्यकुल के सदस्यों के साथ जयप्रकाशजी की हुई चर्चा यहाँ दी जा रही है।—स०]

जे०पी० जन्म दिन (विजयादशमी) पर हमारी शुभ कामनाएँ

प्रारम्भ में आचार्य-कुल के सदस्यों का, जिनमें प्रमुख सर्वश्री रघुकुल तिलक, रोहित मेहता धनंतरमनजी, राधश्याम शर्मा, श्रीमती शुभदा तैलंग और श्रीमती लीला शर्मा आदि थे, परिचय जयप्रकाशबाबू से कराया गया। चर्चा का रूप प्रमुखतः बातचीत का ही रहा। श्री रोहित मेहता ने पूछा—"शिक्षकों का प्राइवेट मैनेजमेण्ट से शोषण होता है और दूसरी ओर शिक्षा के सरकारीकरण की आवाज जोर पकड़ रही है। इन दोनों में दोष है। इन दोषों से कैसे बचा जाय ?"

जे० पी० मैं शिक्षा का विशेषज्ञ नहीं हूँ, यह प्रश्न भी गम्भीर है। विनोबाजी ने इसलिए आचार्यकुल की बात रखी है। वह एक ओर आचार्यों के कर्तव्य की जागृति और आचारनिष्ठा की बात करते हैं तो दूसरी ओर शिक्षा को शासन-मुक्त रखकर आचार्यों के हाथ में शिक्षा को रखने की बात कहते हैं। शिक्षा को जैसे सरकार से मुक्त रखना है वैसे मैनेजरों से भी। आज देश में जो नया ट्रेण्ड है उससे शिक्षक की ऐकेडमिक स्वतंत्रता पर अंकुश लगेगा। वह वांछनीय नहीं है। इसे रोकने के लिए शिक्षकों को अपनी स्वतंत्र आवाज बुलन्द करनी चाहिए। आज

शिक्षको छात्रों और अभिभावका के चरित्र का पतन हो गया है। सब मिलकर नकल करते-करवाते हैं। फिर अगर परीक्षा और नौकरी का सम्बन्ध विच्छेद किया जाय तो शिक्षा में एक क्रान्ति होगी।

सबसे पहला काम यह करना होगा कि आचार्यों को दलगत राजनीति से अलग होना होगा। यही विनोबा ने आचार्यकुल में कहा है। छात्रों को दलगत राजनीति से अलग रहना चाहिए। फिर दोनो साथ बैठकर सोचें और कोई रास्ता निकालें। अभिभावक का भी साथ लें।

श्री रघुकुल तिलक जे० पी० के इस कथन का मैं समर्थन करता हूँ कि परीक्षा के प्रमाण-पत्र को नौकरी से विच्छिन्न किया जाय। नौकरी देनेवाले अपनी परीक्षाएँ स्वय ले लें और किसी प्रमाण पत्र की माँग न करें। मैं जब रलव बोड में था तब मैंने डिपाटमण्टल परीक्षा ली और परीक्षा देनेवालों पर तृतीय श्रेणी के अभ्यार्थी परीक्षा न दें—यह बधन हटा दिया था, और तब प्रतियोगिता में थर्ड क्लास के विद्यार्थी भी आये थे और आग चलकर नौकरी में अच्छा काम किया। इसी प्रकार प्रमाण-पत्र का पूरा बन्धन ही हटा दिया जाय तो और अच्छा है। इससे नकल करने की प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

कुमारी सुभद्रा तैलग : राजाजी एसे प्रतिभावान व्यक्ति भी अपनी राय व्यक्त करत हैं उसका कोई असर नहीं होता। इसका क्या कारण है?

जे० पी० राजाजी एक पार्टीविशप से जुड गये हैं। अत विचारो को तटस्थ वृत्ति से नही देख पाते। वे तटस्थ होकर बात कहें तो आज से अधिक असर होगा। इसीलिए विनोबा ने आचार्यकुल के सदस्यों को पक्षमुक्त रहने की सलाह दी है।

इसके बाद ज० पी० न मुसहरी के प्रयोग की जानकारी दी और कहा कि मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि शिक्षा में परिवतन समाज के परिवर्तन के बिना नही होगा।

श्री राधेश्याम शर्मा सर्व सेवा सघ को एक आदर्श स्कूल चलाना चाहिए।

एक अन्य प्रश्न नयी तालीम देश भर में क्यो नही चली?

जे० पी० नयी तालीम नहीं चली। यह ठीक है, परन्तु इसका जो भी कारण रहा हो, एक कारण सब सेवा सघ में नयी तालीमी सघ का विलयन था। परन्तु प्रधान कारण था नयी तालीम के कार्यक्रम का पाठ्यक्रम में ईमानदारी से प्रयोग न करना। केवल नाम बदला गया। स्कूल पुराने रहे—न उद्योग का वैज्ञानिक शिक्षण हुआ और न शिक्षा को जीवन स अनुबंधित करने की चेष्टा हुई। ●

लोकात्मा के जागरूक प्रहरीः जयप्रकाश नारायण

[श्री जयप्रकाश नारायण ११ अक्तूबर, १९७२ को ७० वर्ष के हुए। वे उसी दिन से एक वर्ष के लिए सार्वजनिक जीवन से अवकाश पर हैं। परन्तु चम्बल के आत्म समर्पणकारी बागियों के कार्य में मार्गदर्शन देते रहने के लिए उन्होंने अपने संकल्प में अपवाद माना है। दल और सत्ता की राजनीति से अलिप्त रहकर लोकात्मा के जागरूक प्रहरी के रूप में श्री जयप्रकाशबाबू देश का मार्गदर्शन कर रहे हैं। देश के ऐसे अनिर्वाचित लोकमान्य नेता के मंगल स्वास्थ्य एवं दीर्घायुता की कामना करते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य दादा धर्माधिकारी का यह सारगर्भित—मौलिक लेख हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।
—सम्पादक]

श्री जयप्रकाश नारायण का व्यक्तित्व विभूतिकल्प है। ऐसा व्यक्तित्व, जिसमें विभूति के अनंत आयाम विद्यमान हैं। अद्भुत रम्यता के साथ साथ उनके व्यक्तित्व में इन्द्र धनुष सी लुभावनी विविधता है। जयप्रकाश बाबू केवल जनता के अभीष्ट ही नहीं हैं उस हैसियत से भी आज हमारे देश में उनका व्यक्तित्व अद्वितीय है। वे केवल निर्दलीय नागरिक ही नहीं हैं, अपितु निष्पक्ष लोकनिष्ठ व्यक्ति हैं। प्रचण्ड समूह या विशाल समुदाय के उपासक नहीं लोकात्मा के जागरूक प्रहरी हैं। इधर कुछ वर्षों से लोकात्मा और विश्वात्मा के अभेद का साक्षात्कार प्रत्यक्ष लोक जीवन में करने की साधना उन्होंने की है। इसीलिए वे भारतीय नागरिक हैं, विश्व नागरिक हैं और विश्व मानव भी हैं। उनका निज देश अब क्षितिजव्यापी हो गया है। इसी कारण आज वे लोगों के अनिर्वाचित, स्वयंसिद्ध प्रतिनिधि के रूप में माने जाते हैं। श्री विठ्ठलराव देशमुख ने ठीक ही कहा था कि जयप्रकाशजी लोकात्मा के अभिभावक हैं। एमरसन ने कहा है कि जो बड़े होते हैं उनके विषय में हमेशा गलतफहमी हुआ करती है। इस अर्थ में जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व जितना विवादग्रस्त है, उतना ही मनोज्ञ भी है। उनका विपक्षी या शत्रु विरला ही कोई होगा। अधिकतर विरोधियों को यही

आकांक्षा होती है कि यह हमारे साथ होता, तो अच्छा होता। इस विरोध में भी गर्भित प्रशंसा है। इस आलोचना में भी गौरव निहित है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने उन्हें पहले पहल १९३३ या ३४ में नागपुर में श्री पी० वाइ० देशपाण्डे के यहाँ देखा। पहिली ही भेंट में प्रभावित करने का गुण उनके व्यक्तित्व में है। यों वे शास्त्रीय अर्थ में रूपवान नहीं हैं। लेकिन कुल मिलाकर उनके चेहरे में एक मधुरता है। एक सुभगता का भाव है। नीलोत्पल-सदृश्यामवर्ण उस सुभगता को बढाता है। उसके बाद जब-जब उनसे मिलने का सुयोग हुआ, मेरे चित्त पर यह जो प्रथम प्रभाव पडा था वह दृढ होता गया। पी० वाइ० देशपाण्डे के यहाँ समाजवाद का विवेचन करते हुए उन्होंने जो विश्लेषणात्मक भाषण किया उसमें उनकी प्रतिभा की झाकी मुझे दिखाई दी। अंग्रेजी में जिसे 'प्री पर्झेसिंग प्रेजेन्स' कहते हैं, उस तरह का कुछ प्रभाव उनकी पहिली ही भेंट में चित्त पर पडा।

वीर पुरुष के रूप में तो उन्हें इस देश के सभी लोग जानते और मानते हैं। स्वराज्य के संग्राम में सैनिक और सेनापति के रूप में जिस अतुल पराक्रम और साहसिकता का परिचय उन्होंने दिया, उसकी गाथा वीर-काव्य की तरह रोमांचकारी और हृदयस्पर्शी है। परन्तु सच्चा वीर तो वह है, जिसका हृदय करुणापीयूषपूर्ण और अतएव नवनीतमृदुल होता है। जयप्रकाशजी के स्वभाव में ऐसी सरलता है, जो चट्टानों को भी भेद सकती है। प्रसंगानुसार उनमें आवेश और रोष भी जागृत होता है। लेकिन उसके मूल में करुणा की ही सहज प्रेरणा होती है। इसीलिए उसमें से प्राय अशुभ परिणाम नहीं निकलते। बुद्धि और हृदय, ऋजुता और प्रांजलता का अद्भुत सामंजस्य उनके व्यक्तित्व में हुआ है। जिस समय जो सत्य देखते हैं उसे अपने सम्पूर्ण चित्त से ग्रहण कर लेते हैं। उसको कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्राणपण से जुट जाते हैं। लेकिन दूसरे की बात समझने के लिए नित्य तत्पर रहते हैं। इसी का यह परिणाम है कि उनके व्यक्तित्व को कोई मतवाद, कोई सम्प्रदाय, कोई संस्था या कोई संगठन अपनी सीमाओं में बाँध नहीं सका है। वे पुरानी काग्रेस में रहे, समाजवादी भी रहे और अब सर्वोदयी हैं। लेकिन उनका व्यक्तित्व इनमें से किसी विचारधारा से सीमित नहीं हो सका। आज भी वे सर्वोदय का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन उनका व्यक्तित्व उतना ही परिमित नहीं है। वे सर्वोदय के प्रतिनिधि हैं और उसमें बहुत कुछ अधिक भी हैं। इसीलिए नये विचार को ग्रहण करने और पुराने विचारों की

शृखला तोडने में उन्हें कोई कठिनाई नही हुई। उनके व्यक्तित्व की सजीवता का यह सबसे बडा प्रमाण है।

उनके एक गण्यमान्य मित्र ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जयप्रकाश का जीवन खोये हुए अवसरों की कहानी है। सच तो यह है कि व कभी अवसरों की खोज में रहे ही नही। परिस्थिति में अवसर ही अवसर यदृच्छा से उपस्थित होते रह। उनसे अपने लिए लाभ उठाने की नीयत ही कभी पैदा नही हुई। ईसा ने कहा है, 'जो अपने जीवन का उत्सर्ग करता है उसी को जीवन की यथार्थ म उपलब्धि होती है।" कुछ लोगो ने यह भी कहा है कि ज० पी० हमेशा 'बस चुकते गये।" हकीकत तो यह है, उन्होंने किसी बस' की प्रतीक्षा ही नही की। तिब्बत, कश्मीर, नगालैण्ड, बागला देश, भारत पाकिस्तान सम्बध आदि कई समस्याओं के समाधान के लिए उन्होने केवल अपने प्राण ही सकट में नही डाले, अपितु सारी प्रतिष्ठा और राजनैतिक जीवन को भी दाँव पर लगा दिया। जहाँ किसी प्रकार के स्वार्थ का भान ही नही, वहाँ अवसर खोने का भय भला कैसे हो सकता था?

जयप्रकाशजी की पराक्रम-यात्रा जितनी उदात्त रम्य और मनोज्ञ है, उतनी ही उनकी विचार-यात्रा भी है। पराक्रम-यात्रा में क्रान्तिकारी जयप्रकाशजी की वृत्ति सशस्त्र क्राति के माग का अनुसरण करने में जिस प्रकार कहीं कुण्ठित नही हुई, उसी प्रकार जब से उन्होंने शान्तिमय क्राति की प्रक्रिया को बुद्धिपूर्वक अगीकार किया, तब से उस मार्ग म उनकी वीर वृत्ति की गति अकुण्ठित ही रही है। जब व कश्मीर के मामले में और अकसाई चीन के मामल में लोकमत के प्रवाह के विरोध में अपना मत व्यक्त करने लगे, उस वक्त दिल्ली की एक सावजनिक सभा में कुछ लोगों ने उनको सबक सिखाना चाहा। उस सभा में जो आतक का वातावरण था उसे देखकर कुछ तथाकथित शान्ति सैनिको ने अपने पीले दुपट्टे भी छिपा लिये थ। पर तु जयप्रकाशजी तनिक भी विचलित नही हुए। इससे ठीक दूसरी तरह का प्रसग श्रीनगर में था, जब उन्होने शेख अबदुल्ला की उपस्थिति में कश्मीर की जनता से कहा कि कश्मीर की समस्या का हल भारतीय सघ राज्य से बाहर किसी हालत में सोचा नही जा सकता। यही उनकी विचार यात्रा के लिए भी लागू है। वे जिस विचार को ग्रहण करते हैं, उसे सम्पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण करत है। परन्तु उनकी निष्ठा जिज्ञासा का अन्त नही कर पाती है। उनकी जिज्ञासा अबाधित रहती है। इसलिए अपन मत का अभिनिवेश होते हुए भी उनकी बुद्धि में आग्रह ठहर नही पाता। अनाग्रह तो

बुद्धिमत्ता का अनन्य लक्षण है। दूसरे की भूमिका समझने की तत्परता जय प्रकाशजी की बुद्धिनिष्ठा का स्थायीभाव है। फलतः उनके स्वभाव में उत्कटता होते हुए भी असहिष्णुता नहीं है। इसीका शुभ परिणाम निकला है कि नये विचार ग्रहण करने की क्षमता उनकी बुद्धि में से कभी तिरोहित हो नहीं हुई।

अनाग्रह के कारण ही उनका सौहार्द और सहृदयता मतभेदों को चीरकर प्रतिपक्षी के भी हृदय का स्पर्श करती है। जयप्रकाशजी के स्वमत प्रतिपादन का आवश कभी कभी असहिष्णुता की सीमा का स्पर्श करता सा प्रतीत होता है। लेकिन उनके हृदय की उदारता सारे मतभेदों को लाँघकर मानवीय सम्बन्धों का परिपोष करती है। लोहिया से उनके कई वाद विवाद हुए। कभी कटुता भी पैदा हुई। लेकिन चित्त की गहराई में जो सौहार्द था वह फिर भी अक्षुण्ण हो रहा। डा० लोहिया की मृत्यु के समय वह प्रकट हुआ। किसी भी प्रकरण में तथ्यों की खोज करने की एक अदम्य आकांक्षा भी उनको क्षुद्र मताग्रह से हमेशा बचाती रही है। साधारण रूप से साम्यवादियों के लिए उनके मन में बहुत श्रद्धा या विश्वास नहीं है। फिर भी पिछले चुनावों के बाद ज्योति बसु ने जब कुछ गम्भीर आरोप सत्तारूढ़ पक्ष पर किये तब जयप्रकाशजी वास्तविक परिस्थिति की खोज बीन के लिए बिना किसी हिचकिचाहट के तैयार हो गये।

परम्परागत अर्थ में जयप्रकाशजी उन व्यक्तियों में से नहीं हैं जिन्होंने सत्य की खोज को अपने जीवन का प्रयोजन माना हो। लेकिन वस्तुनिष्ठा और सत्य निष्ठा के विषय में उनकी भूमिका सराहनीय रही है। नतीजा यह है कि बुद्धि ने जिस समय जिस सत्य को ग्रहण किया उसमें उनकी अहंता ने कभी बाधा नहीं पहुँचाई। चाण्डिल के सर्वोदय सम्मेलन में विनोबा का अविस्मरणीय प्रवचन सुनने के बाद उन्होंने भरी सभा में घोषणा की कि मेरे सारे सन्देह अनाप हो गये हैं। मैं अपने को विनोबा का शिष्य कहलाने के लिए तैयार हूँ। इस प्रकार की निरहंकारिता के कई उदाहरण उनके जीवन में से दिये जा सकते हैं।

परिस्थिति में जब चुनौती उपस्थित होती है तो वे सहज प्रेरणा से उसका स्वीकार कर लेते हैं। उसमें उत्तेजना नहीं होती है। उनके जीवन में जो-जो स्थित्यंतर आये उन सभी प्रसंगों में उन्होंने चिरपरिणामकारी निर्णय भी सहज प्रेरणा से लिये हैं। विनोबा के आन्दोलन में शामिल होने के बाद पार्टी छोड़ने की बात जब उनसे बार बार कही जाने लगी तब उन्होंने कहा— मैंने अपने जीवन में कोई महान निर्णय, कोई स्थित्यंतरकारी संकल्प इस प्रकार नहीं किया है। सारे निर्णय सहजप्रेरणा से हुए हैं। बोधगया के सर्वोदय सम्मेलन में उन्होंने जब

जीवनदान के सकल्प की घोषणा की, तो उससे एक क्षण पहिले, स्वय उन्हें भी पता नही था कि उनके मुँह से ऐसी किसी घोषणा का उच्चारण होनेवाला है। उन्होंने मुसहरी जाने का सकल्प भी इस सहजस्फूर्ति से किया। उनके निर्णय के पीछे कोई नफा नुकसान का हिसाब या हानि लाभ का नापतौल नही था।

उसी प्रकार किसी सामाजिक या राष्ट्रीय सकट के समय जब उन्होने कुछ निर्णय किये तो वे भी अन्तस्फूर्ति से किये। जिसे दानवृत्ति या उदारता कहते हैं, उसका विकास उन्हें नही करना पडा। दान या उदारता के विचार से पहले उनकी सहानुभूति प्रवृत्त हो जाती है। उनके स्वभाव की इस विशेषता को लक्ष्य करके ही शायद "इलस्ट्रेटेड वीकली" के सम्पादक ने उनके विषय में लिखा कि "यह शख्स देना ही देना जानता है लेने या पाने की फिराक में नहीं रहता।" बेंगलूर में एक दिन एक साधु पुरुष के दर्शनों के लिए उनके साथ जाने का सुयोग मिला। उन महात्मा न जयप्रकाशजी से बार-बार एक ही बात कही—"आपका हृदय बहुत शुद्ध है।" उन महात्मा की वह बात निर्विवाद सत्य है। समाज में ऐसे कई साधुवेशधारी व्यक्ति हैं जिनका हृदय पॉलिटिशियन और डिप्लोमेट का होता है। जयप्रकाशजी एक ऐसे गृहस्थ हैं जिनका हृदय सन्त का है।

जयप्रकाशजी के हृदय में सन्ततुल्य शुचिता है उसी प्रकार बालसुलभ ऋजुता और सरलता भी है। सर्वोदय आन्दोलन में पहले पहल आये, तो उन्हें अपने रहन सहन के कारण बडा सकोच होता था। उनके रहन सहन म विलासिता या प्रसाधन-प्रियता नही है। लेकिन सदभिरुचि और रसिकता पर्याप्त है। इसलिए उनके रहन सहन में एक आरिस्टोक्रटिक ढग का आभास होता है। कुछ सर्वोदय कार्यकर्ता कानाफूँसी करने लगे। धीरेन्द्र मजूमदार ने—हजूर 'मजूर' शब्द चलाये थे। कार्यकर्ता आपस में कहने लगे जयप्रकाशजी का रहन-सहन हुजूरी का है। बेचारे जयप्रकाशजी बडे परेशान हुए। कहने लगे—"तब तो इस जमात में रहन के लायक नही हूँ।" बडी मुश्किल से उनकी यह परेशानी दूर हुई। वे खुशामदपसन्द व्यक्ति नही हैं। लेकिन शीघ्र प्रसन्न हो सकते हैं। बालक की तरह प्रसन्न भी शीघ्र होते हैं और रूठते भी शीघ्र हैं। उनकी स्फटिकवत प्राजलता का यह परिणाम है। व्यवहार की सुन्दरता और सभ्यता उनकी अनुकरणीय है। लेकिन उनके स्वभाव में औपचारिकता का अभाव है। इसलिए उनके स्वभाव दोष भी बहुत चोट नही पहुँचाते।

अदम्य पराक्रमशीलता होते हुए भी महत्त्वाकाक्षा जयप्रकाशजी को छू तक नही गयी है। शायद इसीलिए उनके एक विद्वान मित्र ने उनके जीवन का श्रेय

हुए मौकों की कहानी कहा है। ऐसे कम से-कम दो या तीन अवसरों का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। जब लोगों ने, और ऐसे लोगों ने जिनका लोक-जीवन में प्रभाव है, उनसे साग्रह अनुरोध किया कि वे प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति पद के लिए खड़े हों। उन्होंने बहुत नम्रतापूर्वक और दृढ़तापूर्वक इनकार किया। उस वक्त यह भी कहा कि अहिंसा के लिए जिस हद तक मेरे चित्त में निष्ठा पैदा हुई है, उसका ध्यान रखते हुए मैं इन पदों को स्वीकार नहीं कर सकता। उन्हीं जयप्रकाशजी ने बांगला देश प्रकरण के सन्दर्भ में यह भी बिना संकोच के कहा कि शायद मेरी अहिंसा उतनी सम्पूर्ण नहीं है जितनी कि एक शान्ति सैनिक की होनी चाहिए। इसलिए मैं शान्ति सेना से प्रणामपूर्वक हटने को तैयार हूँ। उनके एक बहुत पुराने प्रतिष्ठित समाजवादी मित्र ने उनसे यहाँ तक कहा था, "आप परिस्थिति के नाप के नहीं साबित हो रहे हैं।" फिर भी उन्होंने बहुत शान्ति से यह समझाने की कोशिश की थी कि उनका सत्ता से बाहर रहना भी क्यों उपयुक्त था। अन्त-र्बाह्य प्रामाणिकता वीर-वृत्ति की अभिन्न सहचारिणी है। जे० पी० का व्यक्तित्व उससे लबालब है।

जयप्रकाशजी के हृदय की शुद्धता, असीम व्यापकता और अबाधित उदारता का अनूठा परिचय चम्बल घाटी और बुन्देलखण्ड के बागियों के आत्म-समर्पण प्रकरण में हुआ है। बागियों को मनाने या समझाने के लिए जयप्रकाशजी नहीं गये थे। बागी स्वयंप्रवृत्ति से उनके पास आत्म-समर्पण करने गये। जब पिछली ३१ मई को बुन्देलखण्ड के बागियों को यह पता चला कि जयप्रकाशजी अस्वास्थ्य के कारण आ नहीं सकेंगे, तो यह विचार हुआ कि किसी अन्य समादरणीय व्यक्ति को उनकी जगह विधि सम्पन्न करने के कहा जाय। तब बागियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जयप्रकाश बाबू का विकल्प कोई नहीं हो सकता। अगर वे नहीं आ सकते हैं, तो वहाँ जाकर उनके चरणों में आत्म-समर्पण करेंगे। सच तो यह है कि जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व लुभावना ही नहीं, अपितु अनुपम है। उनका न कोई विकल्प हो सकता है और न ही प्रतिहस्तक। जहाँ प्रत्यक्ष मानवीय सम्बन्ध का प्रश्न होता है, वहाँ जयप्रकाशजी ही अपना विकल्प और पर्याय हैं।

जयप्रकाशजी जिस काम को स्वीकारते हैं, उसमें अपने आपको बिना किन्तु-परन्तु के पूरी तरह झोंक देते हैं। उस कार्य को सम्पन्न करने में वे कुछ उठा नहीं रखते। लेकिन उनकी एकाग्रता एकांतिकता में कभी खो नहीं जाती। एक-निष्ठता के साथ-साथ उनमें निरन्तर सार्वत्रिक सावधानता भी होती है। इसलिए देश में या जगत में घटित होनेवाली किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना के विषय में वे

अपना मत बिना भय और सकोच के स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं। उस विषय में कोई सक्रिय कदम उठाना पड़े, तो प्राय चूके नहीं हैं। कुछ लोग इन पर यह आरोप लगाते हैं कि राजनीति में इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से हस्तक्षेप करने म जे० पी० को मजा आता है। वस्तुस्थिति यह है कि जयप्रकाश ने सत्ता की राजनीति के सकीर्ण क्षेत्र में से लोकनीति के या लोक कारण के क्षितिजव्यापी क्षेत्र में पदार्पण किया है, तालाब से निकल कर विशाल समुद्र में अपनी नौका छोड दी है। प्रधानमत्री या राष्ट्रपति पद की परिधि और दायरा बहुत ऊँचा और महान अवश्य है, लेकिन निरुपाधिक नागरिकता का क्षेत्र असीम है। इस दृष्टि से जयप्रकाशजी का व्यक्तित्व भी व्यापक बनता चला गया है।

जयप्रकाशजी की जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं। उनके पढने से पता चलता है कि उनका जीवन रोमहर्षक घटनाओं से सम्पन्न रहा है। सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यिक स्वर्गीय रामवृक्ष बेनीपुरी ने उनकी जो जीवनी लिखी है, वह उपन्यास से भी अधिक रोचक है। परन्तु जयप्रकाशजी कहते हैं, बेनीपुरीजी ने बहुत अत्युक्ति की है। बातों को बढा बढाकर लिखा है। असल में मैं वैसा अद्भुत पराक्रमी वीर नहीं हूँ। यह उनकी नम्रता या विनयशीलता नहीं है। उनकी वास्तविक आत्म-मर्यादा है। और यही उनके व्यक्तित्व का मेरुदण्ड है, जिसमें उनकी मानवता अविकल रूप से अक्षुण्ण रही है।

जयप्रकाशजी के जीवन में व्रत और सकल्प का कोई विशेष स्थान नहीं है। उन्होने शायद ही कभी कोई व्रत लिया हो। ब्रह्मचर्य का व्रत तो स्यात् उनके सपने में भी नहीं था। लेकिन प्रभावतीजी ने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया। जयप्रकाशजी प्रभावतीजी के सहयोगी बी ठहरे। प्रभावतीजी के व्रत का अगीकार करने में उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पडा। सहजस्फूर्त दाम्पत्य ब्रह्मचर्य में जय प्रभा की जोडी लासानी है। जयप्रकाशजी के कुछ घनिष्ठ मित्रो की यह धारणा है कि प्रभावतीजी का व्यक्तित्व आकार में उतना भव्य भले ही न हो, लेकिन गुणात्मकता में शायद कुछ श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा। जहाँ तक अदम्य सत्यनिष्ठा और आभ्यन्तर शुचिता का प्रश्न है प्रभावतीजी के मुकाबले के व्यक्ति बहुत बिरले होंगे। भय तो उन्हें छू तक नहीं गया है। यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि जय प्रभा एक दूसरे से बढ़कर हैं। इस प्रकार का दूसरा कोई उदाहरण मुझे मालूम नहीं है।

जयप्रकाशजी की ७० वी जन्म-जयन्ती पर प्रकाशित गुजराती पुस्तक "मारी विचार यात्रा" की प्रस्तावना से।

नारायण देसाई

शिक्षा का मानवीय आयाम

[विनोबा जयन्ती के अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के अध्यापकों एवं छात्राध्यापकों के सम्मुख दिया गया भाषण ।—सम्पादक]

आज मैंने जो विषय अपने लिए पसन्द किया है, उसको शीर्षक दिया है—'विनोबा के शिक्षण विचार'। लेकिन सम्भव है कि उन सारे विचारों में गाधी के शिक्षण का बहुत सारा हिस्सा समाविष्ट हो जाय। इसलिए गाधी विनोबा को अलग-अलग न करते हुए उन विचारो के मूल में से शिक्षण के सम्बन्ध में कुछ मौलिक चीजें, जो न सिर्फ हमारे देश को मिली हैं लेकिन ससार के सभी शिक्षाविदो ने यह स्वीकार किया है कि इनमें से बहुत सारी बातें जगत के शिक्षा शास्त्र के लिए भी मौलिक है। उन विचारों को, उन विचारो के केवल एक आयाम को आप लोगों के सम्मुख रखना चाहता हूँ और वह आयाम है—शिक्षा का मानवीय आयाम (ह्यूमन डाइमेन्शन)। आपमें से बड़ लोगो को शायद यह मालूम होगा कि जब १९२२ में गाधीजी पर मुकदमा चल रहा था उस समय उनसे जज ने पूछा कि 'आपका पेशा क्या है?' उन्होंने कहा, 'मैं किसान हूँ और बुनकर हूँ।' इस प्रसग का उल्लेख करते हुए अकसर विनोबा कहते है कि मुझसे कोई यदि पूछता तो मैं यही उत्तर देता कि मैं एक शिक्षक हू।' विनोबा ने वैसे किसी अध्यापन मदिर में या किसी यूनिवर्सिटी-कालेजो में बाकायदा पढ़ाया नही होगा। लेकिन जीवन भर अपने आपको एक शिक्षक मानते रहे हैं। यहाँ तक कि अभी अभी अपने भूदान के क्रान्तिकारी कार्यक्रम से भी निवृत्त हो जाने के बाद, जिसको व सूक्ष्म प्रवेश कहते हैं, उन्होने कहा कि 'अगर मुझ कोई कहे कि जितना महत्त्व का भूदान का विचार तुमने जनता के सामने रखा उतना ही महत्त्व का विचार तुमने और क्या रखा ह ? तो मैं कहूगा कि मुझे लगता है कि आचार्यकुल का विचार, जो मैंने दिया है उसका महत्त्व भूदान-ग्रामदान के आदोलन से कम नहीं है।' शिक्षा और शिक्षक के सम्बन्ध में यह उनका अपना विचार है।

परन्तु यही मैं यह भी निवेदन करना चाहता था कि एक तरफ से जबकि विनोबा मानते हैं अपना अगर कोई सर्वश्रेष्ठ विचार है तो वह विचार आचार्यकुल है। दूसरी तरफ वे मानते हैं कि मेरा कोई स्वधर्म हो तो शिक्षा है, वहाँ तीसरी तरफ वे यह मानते हैं कि शिक्षा संस्था से बद्ध नहीं होना चाहिए। वह सहज स्वाभाविक रूप से जितना हो सके, होता रहे। उसके लिए उन्होंने एक शब्द का संयोजन भी किया है। मनु महाराज का शब्द—'निवृत्त कर्म' से उन्होंने यह शब्द उठाया है—'निवृत्त शिक्षण'। गीता में 'सहज कम' जिसे कहा है मनु महाराज ने उसके लिए 'निवृत्त कर्म' शब्द का इस्तेमाल किया है। जो करने में करनेवाले को और जिस पर वह हो रहा है दोनों को बोझ का अनुभव नहीं होता वह निवृत्त कर्म है। विनोबा कहते हैं जो शिक्षण है वह 'निवृत्त शिक्षण' होना चाहिए। पढ़ानेवाले को पढ़ाने का बोझ न हो और पढ़नेवाले को सीखने का बोझ न हो। दोनों का सहज स्वधर्म बन जाय। मेरे ख्याल से विनोबा ने जो शिक्षा का विचार दिया है उसका प्रधान तत्व यदि है तो वह निवृत्त शिक्षण का है।

यह कैसे होगा? यह तब होगा जबकि शिक्षा 'वन वे ट्राफिक' न रहे। आमतौर पर, यह माना जाता है कि शिक्षा 'वन वे ट्राफिक' है। गुरु बैठा है पढ़ाने के लिए, शिष्य बैठा है पढ़ने के लिए। इसकी कल्पना करीब करीब ऐसी है। गुरुकी बोतल में या गुरु के कुम्भ में ज्ञान का अमृत भरा पड़ा है और विद्यार्थी का पात्र रिक्त है। गुरु क्या काम करता है? अपने कुम्भ में से विद्यार्थी के रिक्त-पात्र को भर देता है। यह है 'वन वे ट्राफिक।' इधर से निकल कर उधर गिरता है। यह शिक्षा की परम्परागत व्याख्या है।

गुरु पढ़ाता है, विद्यार्थी ग्रहण करता है। गुरु बोलता है, वह 'नोटस' लेता है। अगर सामने कोई प्रश्न पूछ लिया तो गुरु अपमानित भी हो उठता है। यानी पढ़ाने का क्रम एक ही दिशा में से होना चाहिए। यह जो पद्धति है इसका परिणाम क्या होता है? गुरु का कुम्भ जैसे-जैसे विद्यार्थी के पात्र को भरता जाता है गुरु का कुम्भ खाली होता जाता है और ये पात्र यदि पूर्णरूपेण भर जाता है तो गुरु का कुम्भ शून्य बन जाता है। यह 'वन वे ट्राफिक' का दोष है।

हम लोग अपनी शिक्षा-संस्थाओं में यह पाते हैं कि तीस साल के पुराने नोट चल रहे हैं और शिक्षक उसी नोट के अनुसार पढ़ा रहे हैं। उसके पास जो पात्र है, उसमें जो भरा है, वही उसे खाली करना है न कि उसे सामने से ग्रहण करना है।

यह जो पद्धति है एक तरफ से बहनेवाले प्रवाह की पद्धति है, उससे शिक्षा

या जो असली व्यापार है, वह कुण्ठित होता है। वह व्यापार दोनों तरफ का होना चाहिए। इस मूल श्रद्धा में से विनोबा का सारा शैक्षिक विचार उत्पन्न हुआ।

दूसरी चीज, जो विनोबा के लिए कभी-कभी इस्तेमाल होता है वह 'आचार्य' शब्द है। गांधीजी के आश्रम में किसी एक विद्यालय के ये आचार्य थे, इसलिए उनका नाम आचार्य रखा होगा या जो 'आचार्य' शब्द का मूल अर्थ है उस अर्थ में आचार्य हैं, इसलिए रखा गया होगा, मैं नहीं कह सकता।

आचार्य वह है जो अपने आचरण में किसी विचार को, किसी दर्शन को और जीवन को लाता हो तथा जिसके आचरण से दूसरे को आचार करने की प्रेरणा मिलती हो। कर्म जो है वह अपने लिए है और दूसरे के लिए कर्म की प्रेरणा। खुद करना है काम, दूसरे के काम को देखकर काम करने की प्रेरणा होती है।

हमने अक्सर देखा है कि जहाँ कर्म और विद्या सम्मिलित होते हैं जिन विद्यालयों में कभी नयी तालीम का नाम होता है, कभी-कभी किसी दूसरे प्रोजेक्ट का भी नाम रहता है उसमें जो कर्म और ज्ञान का मेल है, उसमें यह माना गया है कि शिक्षक अक्सर कर्म की प्रेरणा देगा। इतना ही नहीं, विद्यार्थी कर्म करेगा और शिक्षक कर्म करायेगा। परन्तु आचार्य शब्द की परिभाषा में जरा भेद है। इसकी जो कल्पना है, इसमें भेद यह है कि शिक्षक आचरण स्वयं करेगा और आचरण की प्रेरणा शिक्षार्थी लेगा। न कि उससे आचरण करना-करवाना यही उसका काम हो।

मेरे ख्याल से शिक्षा के सम्बन्ध में ड्यूई, पेस्तेलोजी इत्यादि लोगों ने जो चीजें कही उनमें और विनोबा के विचार में यह मूल भेद है।

विनोबा ने सोचा, शिक्षा में श्रम का स्थान होना चाहिए, यह मैं कहूँ उससे पहले शिक्षा में श्रम का स्थान कैसा होना चाहिए? यह जरा आचरण करके देखूँ। उन्होंने माना कि शिक्षा से समाज में कुछ मूल्यों की स्थापना होनी चाहिए। उदाहरण के लिए स्वातंत्र्य का मूल्य और समत्व का मूल्य। उन्होंने सोचा मैं अपने जीवन में स्वातंत्र्य और समत्व का मूल्य स्थापित कर सकता हूँ या नहीं, यह पहले देख लूँ। बाद में उसके विषय में जो कुछ कहना हो वह कहूँगा। उन्होंने देखा कि हमें कुछ कहना है। कहना यह है कि जो सबसे पीछे हैं, जो नीचे है उसके उत्थान की बात अगर करनी है तो मुझे स्वयं उसके साथ समरसता का अनुभव करना चाहिए। पहले उन्होंने इसका अनुभव किया और उसके बाद कहा। उन्होंने सोचा कि सबसे कम मजदूरी किस काम में मिलती है? उन दिनों

उन्होंने देखा कि कताई करने में कम से कम मजदूरी मिलती थी। उन्होंने देखा कि कताई करने के कारण जो मजदूरी मिलेगी उस मजदूरी में जीवन यापन कर सकता हूँ या नहीं ? यह पहले प्रयोग करके देखूँ और उस प्रयोग को करने लगे। उससे प्रतिदिन उनका पुराने पाँच पैसे मिल जाते थे। पुराना पाँच पैसे अर्थात् सवा आना। उस सवा आने में ही जीना, यह निश्चय करके वर्षों, तक उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया। उन्होंने देखा कि इसमें परिश्रम उतना नहीं करना पड़ता। अत उन्होंने सोचा सबसे अधिक परिश्रम जिसमें करना पड़े वैसा कोई काम करने का मौका मिल जाय तो वही मौका ढूँढूंगा। वह मौका मिला, जब जेल में गये। उनसे पूछा गया कि आप कौन-सा काम करेंगे ? उन्होंने कहा, 'आपके पास जो सबसे अधिक मेहनतवाला काम है वह मुझे दे दीजिए।'' वहाँ पत्थर तोड़ने का काम, मिट्टी बनाने का काम उन्होंने दस महीने तक किया। उन्होंने कहा कि यदि कृषिप्रधान देश में कोई प्रगति करनी है तो कृषि के कोई प्रयोग करने चाहिए। सामान्य किसानों की कई प्रकार की अड़चनें हैं तो मैं क्या करूँ ? औसत व्यक्ति को जितनी जमीन मिलती है उतनी ही जमीन लूँगा यानी पौन एकड़ प्रति व्यक्ति। हमारे देश में कृषि पर निर्भर रहनेवाले को पौन एकड़ प्रति व्यक्ति जमीन मिलती है। अत पौन एकड़ सामान्य स्तर की जमीन प्रति व्यक्ति के हिसाब से ली। किसानों को कम साधन मिलते हैं, अत बिना साधन के कुदाली लेकर खेती का काम करना शुरू किया। इसे उन्होंने नाम दिया-ऋषि कृषि। ऋषि लोग बैलों का उपयोग करते थे या नहीं ? मालूम नहीं। ऋषियों के पास बहुत अधिक साधन तो क्या होंगे आश्रम में ? इसलिए कुदाली से ही काम करना शुरू किया। इस तरह पहले उन्होंने प्रयोग किया और उस प्रयोग के साथ उन्होंने अपने विचारों को प्रकट किया। इसलिए आचरण से जिन विचारों का आरम्भ हुआ और आचरण से जिन विचारों की अभिव्यक्ति हुई, वह विचार विनोबा के शिक्षा विचार के मूल में था।

नयी तालीम यानी समवाय पद्धति

शिक्षण विचार के साथ उद्योग को तरह-तरह से जोड़ा जाता है। कुछ लोग कहते हैं केवल कि शिक्षा से उन्हें सम्बन्ध है। विनोबा ने उसका नाम दिया मात्र-पद्धति। 'मात्र' शब्द का उपयोग मराठी भाषा के अर्थ में किया। हिन्दी में 'मात्र' किसी शब्द के पीछे जोड़कर कहते हैं। केवल पढ़ने लिखने को 'मात्र पद्धति' कहा। यह एक पद्धति है। दूसरी पद्धति 'परिशेष' पद्धति है जिसमें पढ़ना लिखना सब कुछ करते जाइए उसमें थोड़ा-सा 'उद्योग' जोड़ दीजिए। जैसा उत्तर प्रदेश

की बुनियादी शालाओं में जोड़ा गया था। एक रात में बुनियादी तालीम को सरकार ने स्वीकार कर लिया एव उसमें रोज एक पीरियड श्रम का जोड़ दिया गया और यह मान लिया गया कि यह हो गयी बुनियादी तालीम। तो विनोबा ने इसे 'परिशेष पद्धति' नाम दिया। उस पद्धति से भी कुछ होगा नही। तीसरी पद्धति जो उन्होंने बतायी वह है 'समुच्चय-पद्धति'। जिसमें थोडा उद्योग भी रखो, थोडा ज्ञान भी रखो और दोनों को इकट्ठा कर लो। इसे उन्होंने 'समुच्चय-पद्धति' माना। तो इस पद्धति मे भी शिक्षा के जो मूल तत्त्व हैं उनका आना सम्भव नहीं है। उन्होंने चौथा प्रकार बताया कि उद्योग को शिक्षा का माध्यम बनाना, जैसा बुनियादी शिक्षा में गाधीजी ने बताया था और इसे समवाय पद्धति कहा। समवाय का गलत अर्थ लगाया गया है ऐसा मैं यहाँ कहना चाहता हूँ। मैं अध्यापन मन्दिर का ही एक उदाहरण देता हूँ। एक अध्यापन-मन्दिर में गया। वहाँ पर समवाय पद्धति का पाठ चल रहा था। बताया जा रहा था कि समवाय पद्धति कैसी होती है सभी बच्चे बैठे हुए थे। साथ-साथ अपनी तकली भी चला रहे थे। शिक्षकों ने प्रश्नोत्तर पद्धति का उपयोग पढाने के लिए किया। पूछा—बच्चो! "तुम लोग क्या कर रहे हो?" बच्चों ने उत्तर दिया, "गुरुजी! हम लोग कताई कर रहे हैं।' पहले प्रश्न का उत्तर जो अभीष्ट था वही मिला। "अच्छा बच्चो! तुम कैसा सूत कात रहे हो?' बच्चों कहा, "मोटा सूत कात रहे हैं।' "अच्छी बात है? मोटे सूत से क्या बनता है।"—गुरुजी ने पूछा। किसी ने कहा, 'दरी बनती है, किसी ने कहा चादर बनती है।" तब शिक्षक को पूछना पड़ा, "कोट बनता है या नहीं?" "हाँ, कोट भी बन सकता है।" 'कोट कौन पहनता है?" गुरुजी ने पूछा। "साहब आप पहनते हैं," बच्चों ने कहा। "बच्चों और कौन पहनता है?" 'मेरा बाप पहनता है।" "और कौन पहनता है।" गुरुजी बतलाने लगे, 'राजा पहनता है या नहीं?" "हाँ राजा भी पहनते होंगे।" और गुरुजी ने अपना पाठ प्रारम्भ कर दिया—'एक ऐसे राजा की कहानी तुमको सुनाता हूँ' और फिर कहानी शुरू कर दी।

यह जो शिक्षण की समुच्चय पद्धति है, जिसे लोगों ने गलती से समवाय कहा या नयी तालीम कहा है। समवाय पद्धति उस पद्धति का नाम है जहाँ शिक्षा को तोड मरोड कर उद्योग के साथ नहीं बैठाया जाता। समवाय सहज स्फूर्त होना चाहिए। उस सहज स्फूर्त समवाय में तीन चीजें होगी, उसमें पहली चीज होगी—मुक्ति। मुक्ति का अर्थ है विद्यार्थी और शिक्षक के सम्बन्धों के बीच मुक्त वातावरण का अनुभव हो। आपस का वातावरण ऐसा मुक्त हो, जिससे वह

विद्यार्थी के गुण विकास में सहायक हो सके। दूसरी चीज है—प्रीति, जो इसी मुक्ति के विचार में से विकसित हुई है। विद्यार्थी और शिक्षक का सम्बन्ध प्रीति का हो—परस्पर स्नेह का हो। जहाँ एक दूसरे के दोष के हिस्सेदार एक दूसरे बन जाते हैं, वहाँ प्रीति होती है। गुण के हिस्सेदार तो सब बनना चाहते हैं। लेकिन अगर दोष के हिस्सेदार बनने की तैयारियाँ हों तो वहाँ प्रीति पैदा होती है। अगर मेरा विद्यार्थी फेल हुआ तो मैं फेल हुआ। शिक्षक के मन में जब ऐसी अनुभूति होती है तो आपस में प्रीति का वातावरण बना, ऐसा मानना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि उसे पास करवाने के लिए अवांछित पद्धतियों का उपयोग करना चाहिए। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ। यदि विद्यार्थी का अध्ययन नहीं बढ रहा है तो मुझमें कुछ त्रुटि है, यह अध्यापक महसूस करता है तो उसमें से यह भाव पैदा होता है। जिस प्रीति के भाव में से मुक्ति के भाव को और मुक्ति के भाव में प्रीति के भाव को परस्पर सहायता मिलती है, उसे प्रीति कहते हैं। और तीसरी चीज जो इन्ही दोनो चीजों में से फलित होती है वह है, अभिव्यक्ति। विद्यार्थी की अभिव्यक्ति किसी काम के द्वारा हो सकती है, विचार या दर्शन के द्वारा भी हो सकती है अथवा अनेकों प्रकार से हो सकती है—भावना के क्षेत्र में, कर्म के क्षेत्र में और ज्ञान के क्षेत्र में। इन तीनों में विद्यार्थी की अभिव्यक्ति का अवकाश जहाँ मिले, वहाँ नयी तालीम का समवाय है—मुक्ति, प्रीति और अभिव्यक्ति।

समवाय के तीन पहलू

नयी तालीम के समवाय के तीन पहलू हैं। उनमें से एक विद्यार्थी और शिक्षक के सम्बन्धो का समवाय हुआ जिसके विषय में मैंने अभी कहा। दूसरा है ज्ञान और कर्म का समवाय, यानी कर्म से ज्ञान का प्रादुर्भाव हो। विद्यार्थी को यह अनुभव ही न हो कि कहाँ और कब कर्म समाप्त हुआ और कहाँ और कब ज्ञान प्राप्त हुआ। तीसरा शिक्षा की संस्था और समाज का समवाय। अगर यह नही होता है तो शिक्षा संस्था अपने पाठ्यक्रमो, अपने समय पत्रकों, अपने निरीक्षण के प्रन्थों तथा अपनी परीक्षाओं को लेकर चलती रहेंगी और समाज किसी दूसरे ही मार्ग से चलता रहेगा। यह पता ही नहीं चलेगा कि आज जो शिक्षक ४ घण्टे ६ घण्टे पढायेगा उससे बाकी जो दिन के घण्टे है (और वे स्कूल के घण्टो से बहुत ज्यादा हैं) उन घण्टों में, समाज दूसरी चीजों को पढ़ाता रहेगा। शिक्षा के बहुत सारे माध्यम हैं जिन माध्यमो से विद्यार्थी पढता है।

अगर वह शिक्षक उसके साथ-साथ नहीं रहता है तो उसके पिछड़ जाने का डर रहता है।

मैं रेडियो के सम्बन्ध में जितना जानता हूँ या बिजली के सम्बन्ध में जितना जानता हूँ, मेरा ग्यारह बारह साल का लड़का, उससे कहीं अधिक जानता है। क्योंकि उसने अपने वातावरण में से वह शिक्षा प्राप्त की है। अपनी शिक्षण-संस्थाओं में कभी-कभी इस विचार को भूल जाते हैं कि जीवन गत्यात्मक है। जीवन कोई स्थिर चीज नहीं है, स्टैटिक नहीं है। वह कोई बद्ध चीज नहीं है, और गतिशील चीज के साथ शिक्षा की वस्तु में, शिक्षा की पद्धति में और शिक्षा की परम्परा में भी गतिशीलता आनी चाहिए। इसका अगर ध्यान न रखा जाय तो समाज और शिक्षण संस्था में समवाय होना सम्भव नहीं है।

विद्यार्थी और शिक्षक के सम्बन्धों का समवाय, समाज और शिक्षा का समवाय और विद्यार्थी के कर्म और अनुभव के साथ ज्ञान का समवाय, इसे ही नयी तालीम कहते हैं।

हमारी शिक्षा की बहुत बड़ी कमी है जीवन विमुखता। और जीवन के साथ विमुखता ऐसी हो जाती है कि जिसके कारण एक तरफ जीवन विमुख पूर्वार्द्ध और दूसरी तरफ शिक्षा विमुख उत्तरार्द्ध। इस तरह जीवन के दो विभाग बना लिये गये हैं। हालांकि कुछ लोगों के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि उत्तरार्द्ध में भी शिक्षा का धन्धा करना पड़ता है। जैसा आप लोगों को करना पड़ेगा। आप लोग समझते होंगे कि हमने उत्तरार्द्ध में शिक्षा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। लेकिन वह किस शिक्षा के साथ सम्बन्ध जोड़ा है आपने? इस प्रश्न पर उत्तर निर्भर करता है कि सचमुच शिक्षा विमुख जीवन है या नहीं। वास्तव में तो वह एक पद्धति अभिमुख जीवन है। शिक्षा अभिमुख जीवन तभी समझो जायगी जब जीवन के अंतिम क्षण तक आपको अपनी शिक्षा होती रहेगी। इसलिए आप दावे के साथ कहेंगे कि जब से मैं शिक्षिका अथवा शिक्षक बना हूँ उसके बाद का एक दिन भी मेरा गुण-विकास से नागा नहीं गया है। प्रतिदिन मैं भी सीखता गया। तब आपका शिक्षाभिमुख जीवन होगा। वरना उस पद्धति से अभिमुख आपका जीवन होगा जिस पद्धति के एक पुर्जे के नाते आप लोगों को चलना पड़ता है। जैसे किसी वकील को अपना धंधा करना पड़ता है, और दूसरे को दूसरा धंधा करना पड़ता है। कई लोगों के साथ ऐसा होता है कि और कुछ काम नहीं मिला तो शिक्षक बन गये। वह स्थिति आपकी नहीं है यह मानकर मैं चलता हूँ। तो भी दूसर का जो वह है वही आपका यदि न हो तो भी जीवनाभिमुखता नहीं मानी जानी चाहिए।

इस दृष्टि से यदि हम देखते हैं तो जिस शिक्षा-विचार के बारे में मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ उसमें विद्यार्थी और शिक्षक, जीवन और शिक्षण, समाज और शिक्षा संस्था तीनों का समन्वय होना चाहिए। इन तीनों के समन्वय के लिए 'समवाय' शब्द विनोबा ने अधिक पसन्द किया।

शिक्षा का कण्टेण्ट

शिक्षा की वस्तु (कण्टेण्ट) क्या हो ? इस सम्बन्ध में देखना हो तो किसी सिलेबस कमिटी में देख लीजिए।

विनोबा ने, शिक्षा की जो वस्तु है, जो कण्टेण्ट है, उसको एक शब्द म बता दिया है। वह है—प्राचीन आध्यात्मिक परिभाषा का शब्द—सच्चिदानन्द। सत् चित् आनन्द इन तीनों तत्वों का समावेश यानी शिक्षा का कण्टेण्ट।

सत् से उन्होंने सम्बन्ध जोड़ा है जीवन के व्यवहार के लिए आवश्यक ऐसा सारा कर्म, चित्त के साथ जोड़ा है जीवन की उन्नति लिए के आवश्यक ऐसा सारा ज्ञान और आनन्द के साथ जीवन की सारी आध्यात्मिकता।

कहने का मतलब यह हुआ कि उद्योगशीलता, ज्ञान-परायणता और आध्यात्मिकता इन तीनों को शिक्षा की वस्तु में विनोबा ने जोड़ा है। बाकी जो सारी चीजें हैं वे उसके माध्यम के रूप में आयेंगी। उसके विषय में उनका एक बड़ा आग्रह है। उनका आग्रह यह है कि विद्यार्थियों को सारी चीजें जो आपके पास हैं उसे दिमाग में भरकर स्कूल से छोड़ना नहीं चाहिए। अधूरा रखेंगे तो आपत्ति नहीं। लेकिन मेरे पास जो है उसे ठूँस कर भर दूँ, और मेरा काम शिक्षक के नाते समाप्त हुआ यह मानना गलत है, ऐसा वे मानते हैं। उनका कहना है कि इससे इण्टेलेक्चुअल डिसेण्ट्री अर्थात् 'बौद्धिक पेचिश' हो जायगी। उनका कहना है कि हमारा उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि विद्यार्थी बाहर निकलने के बाद अपनी प्रेरणा, अपने पुरुषार्थ से शिक्षा प्राप्त कर सके, इतना काम कर देना ही हमारा फर्ज है। न कि जो भी हमारे पास है वह हमारी जेब से निकाल कर उसकी जेब भर दिया। जब उसकी जेब खाली हो जायगी तो जैसा हम पहले बता चुके हैं वह बेचारा पगु हो जायगा। क्योंकि फिर वह कहेगा कि जो अपनी जेब म से भरभर कर दे रहा था वह तो अब रहा नहीं। अब तो मैं भवसागर मे कूद रहा हूँ, तैर रहा हूँ। देख तो लिया भवसागर को, लेकिन तैरना नहीं सीख सका। अत आप तैरना सिखा देते हैं वो सागर में क्या क्या है यह दिखाना आपका काम नहीं। हम लोग कभी-कभी मोती देने की उत्सुकता में तैरने का जो मूल काम है वही भूल जाते हैं। यदि हमने तैरना सिखा दिया तो

उतना ही काफी है। वे कहते हैं कि स्वावलम्बन की परिभाषा की सबसे पहली कसौटी यह है कि विद्यार्थी ज्ञान के बारे में स्वावलम्बी हो। वह अपने पैर पर खड़ा रह जाय, यह उसकी दूसरी परिभाषा है। 'स्वावलम्बन' शब्द गांधीजी की परिभाषा में तो बार-बार आता है। विनोबा ने भी इसे स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि मेरी स्वावलम्बन की परिभाषा का मतलब होता है ज्ञान-प्राप्ति के बारे में स्वावलम्बी बनना। जैसे, डिक्शनरी का उपयोग करना जानता हो। (मेरे पास काफी पढ़े लिखे लोग आये हैं, जो कहते हैं कि असम जाने के लिए रेलवे टाईम टेबुल देख दीजिए। मुझे आता नहीं। एक भाई साहब जो काफी पढ़-लिख चुके थे, जब मैं बीमार पड़ा था तो मेरी सेवा में लगे थे। मुझे टाइ-फाइड का ज्वर था। अत. उसे रेकर्ड करना पड़ता था। बहुत देर के बाद मुझे यह समझ में आया कि थर्मामीटर कैसे देखा जाता है यह वह जानता ही नहीं। क्योंकि उसने ग्रेजुएशन तो हिस्ट्री में किया था, साइंस में तो किया नहीं था। तो वह मुझे दिखाने लगा कि टेम्परेचर कितना है। आमतौर पर रोगी को थर्मामीटर नहीं दिखाया जाता है। उस बेचारे को मरीज से शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी।) जीवन को उपयोगी चीजें, इतना ही नहीं, जीवन में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उपयोगी चीजें जैसे डिक्शनरी देखना, इनसाइक्लोपीडिया का उपयोग करना, रेफरेन्स-बुक को कसल्ट करना, लोगों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करना, टेप रिका-र्डिंग का उपयोग करना, इण्टरव्यू की पद्धतियों का उपयोग करना आदि, आज इतनी पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं कि उसका यदि उपयोग किया जाय तो आदमी अपने आप बहुत सारा ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो शायद स्कूल के वर्षों में उसे प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

स्वावलम्बन के तीन पक्ष

सबसे पहले शिक्षा सम्बन्धी स्वावलम्बन, दूसरा जीवन में वह खुद खड़ा हो सके निर्भयता के साथ, इसलिए आर्थिक स्वावलम्बन और तीसरा है चारित्र्य के सम्बन्ध में स्वावलम्बी होना। यह स्वावलम्बन का मैं तीसरा अर्थ समझता हूँ, जिसमें निर्भयता और शील के साथ का सम्बन्ध और विचार-स्वातन्त्र्य इन तीन तत्त्वों को उसमें जोड़ा है। निर्भयता को चारित्र्य के महल का प्रवेश-द्वार विनोबा मानते हैं। सिर्फ विनोबा ही मानते हैं ऐसा नहीं, गीता भी मानती है। दैवी सम्पत्ति का लक्षण जब गीता गाती है तो 'अभय सत्त्वसंशुद्धि' से ही शुरू करती है। 'सत्त्वसंशुद्धि' भी बाद में आ जाती है और जो-जो बताती है वह सब बाद में आती है। लेकिन सबसे पहला अभय है। आप कहिए कि सत्य को तो

मुझे पूजा करनी है, लेकिन भयभीत हूं। वह सत्य की पूजा कर नहीं सकता बिना अभय के। गुण प्रवेश बिना अभय सम्भव नहीं है। इसलिए निर्भीकता गुण विकास की पहली सीढ़ी है। दूसरा उन्होंने जो माना है—'विचार स्वातन्त्र्य। उन्होंने माना है कि शिक्षक के विचार को चुनौती देने का गुण अगर नहीं आयगा तो वह विद्यार्थी उसको सही माने में चेला नहीं हो सकता। अगर चुनौती नहीं देता है और उसने जो कहा, उसकी नकल ही कर लिया अथवा पृष्ठपोषण ही कर लिया तो वह खुशामदी, चापलूस माना जायगा, विद्यार्थी नहीं। 'चुनौती देना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि जिज्ञासा पहला गुण है विद्यार्थी के नाते और जिज्ञासा के बाद, जो उसे बताया जा रहा है उसे जाँच करके देख लेना। जिज्ञासा और परीक्षण इन दोनों का जब मिलन होता है तो उसमें से चुनौती आती है। अत चुनौती देने की उसकी तैयारी होनी चाहिए। अन्त में, विचार-स्वातन्त्र्य उसे कहाँ तक ले जायगा? चाहे जो विचार सुनेगा, सुनने का उसे हक है लेकिन अपना चिन्तन स्वातन्त्र्य रखने का भी उतना ही हक है।

विद्यार्थियों के बारे म जब कभी बोलते हैं तो वह कहते हैं कि लोग हमको कहते हैं कि इस सगठन में हैं उस सगठन में हैं। हम कम्युनिस्ट सगठन म हैं, हम सोशलिस्ट सगठन में हैं और भी अनेक प्रकार के सगठन हैं उसम होने का दावा करते हैं। विनोबाजी का यह कहना है कि अगर आपने यह कबूल कर लिया कि हम कम्युनिस्ट सगठन में हैं, हम सोशलिस्ट सगठन में हैं, हम गाधी-वादी सगठन में हैं या किसी और सगठन मे हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपने-अपने विचार स्वातन्त्र्य को बेच दिया। आपने तो उसके विचार को कबूल कर लिया। अत विद्यार्थी का यह जन्मसिद्ध हक है कि यूनियन का मेम्बर न रहे। हम लोग यह मानते हैं कि विद्यार्थी का जन्मसिद्ध हक है कि वे लोग यूनियन सगठित करें। विनोबाजी का यह विचार है कि अपने विचारों को सगठित करें ताकि उसमें अपना स्वतन्त्र विचार बना सकें। उसके बाद अगर सगठन करने की जरूरत हो तो वह बनायें। दूसरे के विचारों का अनुसरण करने के लिए, भेड़िया-धसान करने के लिए, हमको सगठन म शामिल करना, जो यह कहता है वह अपना विचार-स्वातन्त्र्य खो देता है और गुण-विकास में वह बाधक होता है। उसी में से उन दो गुणों के विकास में, उसके शील का चारित्र्य का विकास हो सकता है।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्य में व्यक्तिगत रूप से गुण विकास, और सामाजिक रूप से

मूल्य विकास ये दो उद्देश्य, विनोबा ने जिस शिक्षण-विचार को दुनिया के सामने रखा है, उसके मूलभूत तत्व हैं। मूल्यो का विकास होते रहना चाहिए। स्वराज्य के पूर्व आजादी का मूल्य इस देश का प्रधान मूल्य था अब स्वराज्य के बाद समता का मूल्य समाज का प्रधान मूल्य बनना चाहिए। आज समता का गुणगान होता है लेकिन उसकी प्रतिष्ठा अभी तक नही हुई है। समत्व का मूल्य समाज में स्थापित करना, शिक्षा के उद्देश्य में शामिल होना चाहिए। सामाजिक मूल्यों की स्थापना समाज की शिक्षा का उद्देश्य न हो तो वह व्यक्तिगत शिक्षा कुछ इने गिने लोगों की वस्तु बन जायगी, और वह सार्वजनिक वस्तु नही बन पायगी। विनोबा की भाषा में अगर कहें तो समाज कुछ लोगों को राहु ही बनाता और कुछ लोगो को केतु ही बनाता कुछ को सिर ही देता और कुछ को शरीर ही देता। लेकिन हरेक आदमी को सिर और शरीर दोनो दिया है। इसका मतलब है कि हरक को बुद्धि का भी उपयोग करना चाहिए और हाथ पैर का भी उपयोग करना चाहिए।

विनोबा की शिक्षा जगत में देन

विनोबा की देन क्या मानी जायगी शिक्षा के सम्बन्ध में ? बहुत-सी सारी चीजें उन्होने नयी कही हैं। मैं आपसे इतना जरूर निवेदन करूँगा कि विनोबा की एक किताब है—शिक्षण विचार। उसमें काफी मौलिक चीजें उन्होंने रखी है। उसमें विनोबा के शिक्षा-सम्बन्धी विचार एकत्रित मिलेंगे। (वह उनकी लिखी हुई पुस्तक नही है। यह उनके अनेक प्रवचनो का सग्रह है। इसलिए जो मर्यादाएँ प्रवचनों के सग्रह में आती है वह उसमें भी है, लेकिन फिर भी शिक्षा की दृष्टि से वह एक अनिवार्य पुस्तक मानी जा सकती है।) उसे आप लोगो को जरूर देखना चाहिए।

अगर लोगों के पास अपनी सामर्थ्य को व्यक्त करने के लिए कोई 'मिशन' रहता है तो व सैनिक नही होते हैं। विनोबा ने देश को एक मिशन दिया—शासनाभिमुखता के बदले लोकाभिमुखता की ओर जाने का।

विनोबा के अनुसार जीवन का लक्ष्य साम्य है और इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन की जिस पद्धति की रचना की है वह है—योग। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विनोबा के शिक्षण का दर्शन साम्ययोग पर आधारित है।

(१४ सितम्बर '७२ को टीचर्स ट्रेनिंग कालेज वाराणसी में दिये गये भाषण से।)

यूरी राइतव्यू

सुदूर उत्तरी सोवियत के स्कूल

[यूरी राईतव्यू सोवियत संघ में एक लेखक के रूप में काफी प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म एक खानाबदोश चुक्चा समुद्री शिकारी के परिवार में चुकोत्का प्रायद्वीप में बेरिंग जलडमरूमध्य के तट पर हुआ था। सोवियत सुदूर उत्तर के बारे में इनकी पुस्तकों का चुक्चा से रूसी तथा सोवियत संघ की अनेक दूसरी कौमी भाषाओं में भी प्रकाशन हुआ है।—सम्पादक]

उत्तरी ध्रुव प्रदेश, सैकड़ों-हजार किलोमीटर तक फैला टुण्ड्रा और ताइगा, नदियाँ और झीलें जहाँ लगभग बारहों महीने बर्फ जमी रहती है, यह प्रदेश जिसकी ध्रुवीय रातें बेहद लम्बी होती हैं, जलवायु अत्यंत कठोर है और जहाँ रहने की परिस्थितियाँ असम्भव जैसी हैं, उत्तर की 'छोटी छोटी कौमों'—चुक्ची और कोरयक, कनाडाई, इण्डियन येस्कप, सामी, केन्स, अल्युत तथा अनेक दूसरे कबीलों का देश है, जो आमतौर पर उत्तरी ध्रुव सागर के तट पर बसते हैं। इस सागर का बर्फ जैसा ठण्डा पानी रूस, कनाडा, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, नार्वे, ग्रीनलैंड और आइसलैंड के तटों को प्रक्षालित करता है। इन अशरण्य तटों पर और उनके निकट सदियों से शिकारी, मछुए और बारहसिंघों का पालन करनेवाले रहते और वहाँ के क्रूर वातावरण से, न्यूनाधिक सफलता से संघर्ष करते आये हैं।

अन्य सभी छोटी कौमों की तरह उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बसनेवाली इन कौमों को भी इस सदी के आरम्भ में एक विरोधाभासपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ा। एक ओर तो वे लोगों की तीव्र दिलचस्पी का कारण बन गये, और उनके रीति-रिवाजों का वैज्ञानिक सोसाइटियों ने अध्ययन करना शुरू कर दिया, और विद्वानों के साथ-साथ साधारण लोगों ने भी उनकी विदेश संस्कृति में दिलचस्पी दिखायी।

दूसरी ओर, कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने इन कौमों के भविष्य के बारे में गम्भीर चिन्ता दिखायी, विशेषकर इस तथ्य के बारे में कि ये प्राचीन लोग, जिनकी जीवन-पद्धति पितृसत्तात्मक थी, अब विश्व अर्थ व्यवस्था में बरबस खींचे जा रहे थे, जिसके लिए वे कतई तैयार नहीं थे, और निरीह थे। यह नहीं कि इस अर्थ-व्यवस्था में वे अपना लिये जायेंगे, बल्कि वे बिलकुल मिट जायेंगे। यह खतरा उनके सामने था। उकागीर जाति, जिसकी जनसंख्या कभी इतनी बड़ी थी कि किवदन्तियाँ प्रचलित हो गयी थी कि उनके असंख्य कैम्पों से उठनेवाली आग की लपटें ध्रुवीय ज्योति को फीका बना देती थी, अब मिटने के करीब थी। सन् १९१७ तक कुल ३०० उकागीर ही बाकी रह गये थे—एस्कीमो जाति का एक कबीला इखालनुत, जो किसी जमाने में कनाडा की बंजर भूमि पर निवास करता था—हमारे अपने जमाने में सन् १९५० के दशक में मिट गया।

नवागतुक गोरों द्वारा लायी गयी शराब और विभिन्न प्रकार की बीमारियों ने, जिनके विरुद्ध उत्तरी ध्रुव प्रदेशों के लोगों में असक्राम्यता नहीं थी, निर्दय व्यापारियों द्वारा उनका क्रूर और निर्मम शोषण, लूट और सरकारों की उदासीनता ने उन्नीसवीं सदी के अन्त तक उत्तरी ध्रुव प्रदेश की अनेक छोटी कौमों को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से तबाह कर दिया था। अस्तित्व रक्षा के अपने दीर्घकालीन संघर्ष में उन्होंने जिन मूल्यों का विकास किया था और अनुभव की जो सम्पदा जमा की थी, वह एकाएक व्यर्थ हो गयी थी। नार्वे के महान अन्वेषक राउल अमडसेन ने, जो इन लोगों को अच्छी तरह जानता था, अपनी एक पुस्तक में कहा है "अपने मित्रो, नेच्चिली ऐस्किमी लोगों के लिए मेरी सबसे बड़ी शुभकामना यही हो सकती है कि 'सभ्यता' उन्हें छुए बगैर ही आगे निकल जाये।"

यह लम्बी भूमिका उन कारणों को पेश करने के लिए जरूरी थी जो एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि में, जहाँ शिक्षा अब तक अज्ञात थी, स्कूल में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की सफलता के अवसरों पर प्रभाव डालते हैं।

इस सदी के आरम्भ तक उत्तरी ध्रुव प्रदेश की छोटी छोटी कौमें कबाइली समाज व्यवस्था के अन्तर्गत ही रहती थी, और कुछ इलाकों में वे आज भी उसी प्रकार रहती हैं। सन् १९२० के बाद जब रूसी अध्यापकों का पहला दल साइबेरिया के ताइगा और टुण्ड्रा क्षेत्र में पहुँचा, तब तक स्थानीय खानाबदोश कबीलों ने कभी स्कूल का नाम तक भी नहीं सुना था। उत्तरी भाषाओं में 'स्कूल' या 'सीखने' आदि के लिए शब्द ही नहीं थे। उदाहरण के लिए चुकची भाषा में

"खोजने' आदि के लिए जो शब्द था वह 'सीखने' के लिए और 'किसी बिन्दु या चब्दे की ओर देखने के लिए जो शब्द था उसका 'पढ़ने' के लिए इस्तेमाल किया गया। वहाँ के लोग शिक्षा को जरूरी चीज नही समझते थे। उन्होंने पूछा, "हम लोग क्यों सीखें ? क्या इससे हमारे बारहसिंघों का रेवड़ बड़ा हो जायेगा ? और अगर नहीं तो हम लोग स्कूल क्यों जायें ? हमें सिर्फ ऐसी तालीम की जरूरत है जो हमारे लड़को को बारहसिंघों के रेवड की और लड़कियों को रग की देखभाल करना सिखा सके।"

उनकी स्कूली शिक्षा के मार्ग में एक दूसरी जबरदस्त रुकावट यह थी कि उत्तरी ध्रुव प्रदेश की कौमों की भाषाएं अनेक दृष्टियो से विकास की आदिम अवस्था म थी और प्राय उनमें से कोई भी भाषा लिखी नहीं जाती थी। यह सब उनके सास्कृतिक पिछडेपन, अधिकाशत मूर्त-चिन्तन और उनके अत्यन्त सीमित विचार क्षितिज के कारण था, जहाँ तक उनके प्राकृतिक परिवश और उनके पेशो से सम्बद्ध क्रियाओ के वर्णन का प्रश्न था, उनका शब्द-भण्डार काफी समृद्ध था। (शिकारी और मछुए सरल अमूर्त सज्ञाओ का प्रयोग करते थे, जैसे 'जगल' और 'नदी' आदि, उनके साथ ही विभिन्न प्रकार के जगलो, नदियो, नदी के तटों, झीलों और दलदलों को परिभाषित करने के लिए अलग शब्द थे), बारहसिंघे पालनेवालों के पास भी बारहसिंघों के नर मादा सेक्स, उम्र, रग और प्रयोजन सूचित करनेवाले शब्द थे।

इन लोगों में सामान्यीकरण तक पहुँचने की असमर्थता की एक दिलचस्प मिसाल *प्योत्र स्कोरिक के संस्मरणों में दी गयी है, जो एक रूसी अध्यापक था* और सन् १९२८ में सुदूर अलास्का से करीब ६० मील की दूरी पर स्थित देज्नेव अन्तरीप के वेल्लेन स्थान पर पढ़ाने के लिए गया था।

'*मुझे गणित का वह सबक याद है जिसे मैंने बड़ ध्यान से तैयार किया था*, विद्यार्थियो के लिए सबक को दिलचस्प बनाने की खातिर मैंने स्थानीय जीवन से मिसालें चुनी थीं। सबक इस तरह शुरू होता था

एक शिकारी से मैंने पूछा, 'पाँच सील मछलियाँ मारी, दूसर शिकारी ने तीन मारी। दोनों ने मिलकर कितनी मछलियाँ मारी ?'

अचानक चारो ओर से मेरे ऊपर प्रश्नों की बौछार शुरू हुई। ,

'उन्होंने सील मछलियों को कब मारा ?'

'कल', मैंने बिना सोचे ही जवाब दिया।

'कल तो शिकार खेलने कोई भी नहीं गया था। मौसम खराब था।

पांच सील मछलियाँ किसने मारी थी ?'

'ल ले न', मेरे दिमाग में जो सबसे बढिया नाम आया, मैंने बताया।

विद्यार्थियो ने जोर के ठहाके लगाने शुरू किये और मैं भी अनायास उनमें शामिल हो गया। शायद उस कैम्प में लेन्ले सबसे असफल शिकारी था।

भौगोलिक अलगाव की स्थिति ने भी इन लोगो की शिक्षा के प्रश्न को अधिक जटिल बना दिया था। उत्तरी ध्रुव के लोग आमतौर पर एक दूसरे से दर्जनों और सैकडो किलोमीटर दूर बसे छोटे छोटे समूहो मे रहते थे। वे अकसर जानवरो का पीछा करते हुए या अपने रेवडो के लिए बेहतर चरागाहों की तलाश में स्थानान्तरण करत रहते थे। इसलिए व्यावहारिक रूप से सुदूर उत्तरी प्रदेशों में, जहाँ प्रकृति इतनी निर्दय थी कि कुछ प्रकार के जानवर वहाँ जीवित तक नही रह सकते थे, शिक्षा के समान अवसर प्रदान करना अत्यन्त कठिन काम था। (जिनकी घोषणा सन् १९१८ में रूसी फेडरेशन के संविधान में की गयी थी)। करीब बीस सालो तक लगातार आर्थिक सगठनात्मक, शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी क्षेत्रो में बडे कदम उठाने के बाद ही वहाँ वांछित परिणाम प्राप्त किये जा सके।

उत्तर के सीमावर्ती इलाकों के लोगो की सहायता के लिए सन् १९२० में एक कमिटी की स्थापना की गयी। इसने उत्तरी ध्रुव प्रदेश की छोटी छोटी कौमों के आर्थिक और सास्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण रोल अदा किया। सन् '३० के बाद चौथे दशक के आरम्भ में ही समूचे साइबेरियाई टुण्ड्रा और ताइगा में राष्ट्रीय क्षेत्र स्थापित किये गये, ताकि राज्य के प्रशासनिक कार्य में स्थानीय निवासी पूरा-पूरा भाग ले सकें। इस प्रकार उत्तरी क्षेत्रो में शिक्षा के विकास के लिए आवश्यक-तावश अनेकविध कार्यक्रम अपनाया गया। कामचलाऊ या आधी अधूरी कार्र-वाइयों से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। सुदूर उत्तरी क्षेत्रों से भेजे गये नौजवानो को मध्य रूस के स्कूलो में दाखिला पाने के लिए सिफारिशी पत्र दिये गये। सन् १९२८ के अगस्त में अनादीर निवासी तव्लियान्तो नाम के एक चुकची नौजवान को निम्न पत्र दिया गया था, जो बाद में सोवियत संसद में चुकची कौम का सबसे पहला प्रतिनिधि चुन कर आया था।

"कम्चत्क क्षेत्रीय क्रांतिकारी कमिटी के प्रस्ताव के अनुसार इस पत्र का वाहक चुकची का अनादीर निवासी तेव्लियान्तो है, जिसे स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए रूस भेजा जा रहा है। आशा की जाती है कि कुछ वर्षों की पढ़ाई समाप्त करने बाद वह लौटेगा तो वह अपना नया ज्ञान अपनी कौम के लोगों को देगा।

"तेल्लियान्तो ने अपना सारा जीवन क्रूर और कठोर टुण्ड्रा में, ऐसी परिस्थितियों में गुजारा है जो सिर्फ उत्तर ध्रुवीय प्रदेश में ही मिलती है। वह अब जिस देश में भेजा जा रहा है वह अनादीर से बिलकुल नहीं मिलता। क्रान्तिकारी कमिटी को डर है कि रूसी भाषा और स्थानीय रीति-रिवाजों से अपरिचित होने के कारण कहीं उसे ऐसी कठिनाइयों का सामना न करना पड़े, जिनको झेलना उसके बस में न हो।

"वह दाखिले के लिए जिनको भी आवेदन पत्र दे, उनसे हमारा आग्रह है कि वे तेल्लियान्तो को हर सम्भव मदद करें। वह उनकी मदद का अधिकारी है। क्योंकि चाहे उसे पढ़ना-लिखना न आता हो, लेकिन इन सारे क्षेत्र के चुक्चा नौजवानों में वह सबसे ज्यादा प्रतिभासम्पन्न और जिज्ञासु नौजवान है। एक रूसी स्कूल तेल्लियान्तो के अन्दर दबी पड़ी प्रतिभा को उभार कर ऊपर ला सकता है जिससे उसको अपनी कौम की उन्नति करने में मदद मिलेगी।"

तीसरे दशक में लेनिनग्राद में स्थित उत्तरी प्रदेशों की कौमों का इंस्टीट्यूट अध्यापन का मुख्य केन्द्र बन गया। १९ विद्यार्थियों का (जो उत्तरी प्रदेशों की ११ कौमों से आये थे) सबसे पहला दल सन् १९२५ में भरती हुआ था। सन् १९३० तक इस इंस्टीट्यूट में विद्यार्थियों की संख्या १९५ हो गयी (जिनमें ५० लड़कियाँ भी थीं), कहना न होगा कि इन सभी विद्यार्थियों को सरकारी वजीफा दिया जाता था।

अपने रूसी साथियों की मदद से उत्तरी क्षेत्र के विद्यार्थियों ने अपनी अपनी भाषाओं के लिए लिपियाँ तैयार कीं, ताकि वे मातृभाषा में लिख सकें।

तीसरे दशक के और चौथे दशक के आरम्भ तक सोवियत के सुदूर उत्तरी क्षेत्रों में सर्वत्र सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किये गये। इन केन्द्रों ने वहाँ की अर्थ-व्यवस्था और लोगों की जीवन-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने के लिए बड़ा काम किया। ये केन्द्र ऐसे स्थानों पर कायम किये गये थे, जो बर्फानी हवाओं से सुरक्षित थे और जहाँ नदी या समुद्र के मार्ग से आसानी से पहुँचा जा सकता था। हर सांस्कृतिक केन्द्र में एक बोर्डिंग, स्कूल, फैक्टरी, अस्पताल, बेकरी, मछली पकड़नेवाले बेड़े के लिए मरम्मत की दूकानें और मानव के गश्ती दल थे।

मैं भी उन बच्चों में से एक था। जब मैं एक नन्हा-सा बालक था और जब मैं सुबह अपना यारंग छोड़कर स्कूल के लिए रवाना होता तो मानों मैं एक काल यंत्र लेकर सुदूर भविष्य में प्रवेश करने के लिए यात्रा पर निकलता था।

शाम को जब मैं घर लौटता तो वह मुझे हजारों साल पीछे खींच ले जाता

था। मैं वहाँ सील मछली की खाल पर बैठकर एक दिन अपना स्कूल का काम कर रहा था, जबकि मेरे रिश्तेदार मेरे पास बैठे समुद्री पानी से भरे एक बर्तन में समूर का टुकड़ा डुबोकर उसकी गतिविधि देख रहे थे, ताकि खाड़ी में समुद्री धाराओं का पूर्वानुमान कर सकें और उथले पानी में सील मछलियों के आने तथा अनेक दूसरी बातों के बारे में भविष्यवाणियाँ कर सकें। वे झाडफूँक के मंत्र बड़-बड़ा रहे थे और उनकी आवाजें मेरी आवाज में घुलमिल गयी थी, क्योंकि मैं उस वक्त जोर-जोर से बोल कर एक कविता कंठस्थ कर रहा था। फिर एक मिनट के लिए अपनी कापी अलग रखकर मुझे अपने बुजुर्गों के आगे सिर झुका कर अपने माथे पर बलि का रक्त मलवाना पड़ा।

सन् १९३० में उत्तर के राष्ट्रीय क्षेत्रों और जिलों में निर्विकल्प सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा लागू की गयी। बारहसिंघे पालनेवाले खानाबदोश लोगों के बच्चों के लिए, 'भ्रमणशील' स्कूलों ने हजारों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान की। सन् १९३० में स्कूलों की संख्या १२३ थी, जो सन् १९३६ में बढ़कर ५०० तक पहुँच गयी। पाँचवें दशक के आरम्भ में स्कूल के पहले और दूसरे वर्षों के लिए उत्तरी ध्रुव प्रदेश की सभी कौमों के लिए अपनी मातृभाषाओं में पूरी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की गयी और कुछ पाठ्यपुस्तकें तीसरे और चौथे वर्षों के लिए भी छापी गयी, साथ ही कुछ सहायक पुस्तकें और बाल पुस्तकें भी प्रकाशित की गयी। इनके अलावा स्थानीय भाषाओं में विभिन्न विषयों पर लगभग ६० और पुस्तकें छापी गयी। बाद में १९४५ और १९४८ के बीच स्थानीय भाषाओं में उत्तरी क्षेत्रों के लोगों के लिए प्रारम्भिक और प्राथमिक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें छापी गयी जिन्हें लिखित भाषा प्राप्त हो गयी थी, और स्थानीय भाषाओं (चुक्चा, एस्किमो, कोरयक तथा अन्य) के अध्ययन का कार्यक्रम तैयार किया गया।

सुदूर उत्तर के माध्यमिक स्कूलों में भी शिक्षा का वही प्रोग्राम है, जो सोवियत यूनियन के किसी अन्य भाग के स्कूलों में है। प्रारम्भिक और प्राथमिक स्कूलों में बच्चों की शिक्षा उनकी अपनी मातृभाषा में होती है, ताकि चुक्चा, एस्किमो, नैनेत्स, मासी तथा अन्य कौमों के बच्चे अपनी-अपनी मातृभाषाओं में पढ़ना और लिखना सीख सकें। अपनी प्राथमिक शिक्षा के अन्तिम चरण में वे अपनी मातृभाषा के साथ साथ रूसी भाषा सीखते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि मातृभाषा में शिक्षा देने से विचार की तर्क-सगत विधि का विकास करने में मदद मिलती है और मातृभाषा में बोलने की आदतें विश्व की एक मौलिक तसवीर बनाती हैं।

अपनी मातृभाषा के इस बुनियादी ज्ञान से विद्यार्थी को लिखने-पढ़ने और गणित में दक्षता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। और, इसी कारण रूसी भाषा बोलने और पढ़ने में भी, जिसकी उसे माध्यमिक शिक्षा के दौरान विभिन्न विज्ञानों के बुनियादी तत्वों की सुव्यवस्थित जानकारी प्राप्त करने के लिए जरूरत पड़ती है। रूसी भाषा सोवियत यूनियन की सभी कौमों के बीच आदान प्रदान की भाषा है। अपने पुराने ऐतिहासिक पिछड़ेपन के कारण उत्तरी क्षेत्रों के लोगों के लिए रूसी भाषा का विशेष महत्व है, क्योंकि वह उनके लिए ज्ञान और सस्कृति का द्वार खोलती है, जिसके बगैर विज्ञान और तकनीक के तेजी से विकास करते हुए वर्तमान युग में जीवन असम्भव हो जायेगा।

("यूनेस्को कूरियर" जुलाई १९७२ से साभार पुनर्मुद्रित)

जे० पी० नायक

स्वाधीन भारत में शिक्षा

आज से २५ वष पूव जब हम स्वतत्र हुए थे तब देश में शिक्षा की क्या दशा थी ? उस समय क्या चुनौतियाँ सामन आयी और राष्ट्र के कर्णधारों ने उन्हें किस दृष्टिकोण से देखा, और उन पर उनकी क्या प्रतिक्रिया हुई ?

इस सन्दर्भ में पहला महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि देश में सभी स्तरो पर शिक्षा के कायक्रमों म बहुत कमी थी, विशेषकर एक स्वाधीन और सर्वप्रभुत्तासम्पन्न गणतत्र के दृष्टकोण से। उस समय साक्षरता मात्र १४ प्रतिशत थी। प्राथमिक शिक्षा का क्षत्र बहुत सीमित था। ६ से ११ की आयु बग के बच्चों में ३ म से केवल एक बच्चा तथा ११ से १४ की आयु—वर्ग के बालकों में ११ में से केवल एक ही बालक स्कूल जाता था। माध्यमिक कक्षाओं में २५ में से केवल एक पढता था और विश्वविद्यालय स्तर पर देश में कुल विद्यार्थियों की सख्या २५६ ००० अथवा इस आयु-वर्ग की सख्या का आधा प्रतिशत थी।

सीमित सुविधाएँ

विज्ञान कृषि, इजीनियरिंग अथवा चिकित्सा की शिक्षा की सुविधाएँ अत्यन्त न्यून थी और कृषि, उद्याग तथा स्वास्थ्य सेवाओ के उचित विकास के लिए अपर्याप्त थीं।

वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा की अल्प सुविधाओं के अतिरिक्त देश में लडकों और लडकियों की शिक्षा, समाज के प्रगतिशील तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे वर्गों शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों, केरल जैसे प्रगतिशील और उडीसा जैसे पिछडे राज्यो तथा उन राज्यों में भी उन्नत और पिछडे जिलों के विकास में अनेक असमानताएँ थी।

प्राचीन काल से ही ज्ञानार्जन के लिए आतुर भारत में उस समय शिक्षा का अभाव था क्योंकि विदेशी सत्ता की लम्बी अवधि के दौरान उस पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया था। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश के सभी भागों

और सभी वर्गों के लोगों की सबसे पहली माँग यह थी कि उन्हें सभी स्तरों पर अधिक-से-अधिक शिक्षा की सुविधाएँ दी जायें। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें भी इस माँग को पूरा करने के लिए उत्सुक थी और इसीलिए देश के सभी हिस्सों में सभी स्तरों की शिक्षा के प्रसार, क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने तथा समाज के पिछड़े वर्गों को शिक्षित बनाने की योजनाओं को अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा प्राथमिकता दी गयी और यह उचित भी था।

दूसरी माँग

इसी के साथ साथ देश में शिक्षा का स्तर उठाने की माँग भी जोर पकड़ रही थी। इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में यह निश्चय किया गया था कि देश में एक विशेष स्तर तक ही शिक्षा-सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी तथा वह लोग जो ऊँचे स्तर की शिक्षा चाहेंगे, उन्हें उन्नतिशील देशों में जाकर शिक्षा ग्रहण करनी होगी। १९२१ तक इस दृष्टिकोण का विरोध बढ़ गया और यह दलील दी जाने लगी कि हम अपने देश में ही उन्नत किस्म के शैक्षिक-संस्थान चला सकने में समर्थ हैं और अपने विद्यार्थियों के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर की शिक्षा-सुविधाएँ प्रदान कर सकते हैं।

शिक्षा में आत्मनिर्भरता की यह माँग १९४७ के बाद अधिक तीव्र हो गयी। ऐसा विशेषकर इसीलिए भी हुआ; क्योंकि अब नवयुवकों को उच्च शिक्षा के लिए विदेशों में भेजना न तो श्रेयस्कर था और न सम्भव ही। यह सच है कि यह दूसरी माँग उतनी दमदार नहीं थी जितनी कि शिक्षा के प्रसार की माँग। जनसाधारण में भी इस माँग के लिए कोई विशेष रुचि न थी। फिर भी देश के कर्णधारों ने शीघ्र ही इसके महत्त्व को समझ लिया और शिक्षा में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दिशा में कुछ ठोस कार्यक्रम जारी किये।

तीसरी माँग

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ४० वर्ष पूर्व से ही वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन की माँग चली आ रही थी। अंग्रेजों द्वारा प्रारम्भ की गयी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में कुछ अच्छी बातें भी थीं जिन्हें समस्त विश्व ने माना था। किन्तु राष्ट्रीय विचारधारा के नेताओं ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया था कि इसमें कुछ बहुत बड़ी कमजोरियाँ भी हैं। ये देश प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाती तथा हमारे राष्ट्रीय चरित्र का हनन करने में भी प्रयत्नशील हैं। अधिक-से-अधिक इस प्रणाली द्वारा ऐसे लोग उत्पन्न किये जा रहे हैं जो रंग और रक्त से तो भारतीय हैं लेकिन शेष सभी बातों में अंग्रेज। देश की उत्पादन-क्षमता से इनका तनिक

भी सम्बन्ध न था और इनका मूलतत्व यह था कि भारत विलायत को कच्चा माल भेजेगा तथा वहाँ का बना तैयार माल खरीदेगा। अंग्रेजो द्वारा प्रदत्त उच्च शिक्षा हमारी मूल मान्यताओं को पनपाने में तथा चरित्र-निर्माण में नितान्त असमर्थ थी। पढ़े-लिखे और बुद्धिजीवियों को इसने भारतीय जनमानस से विरत कर दिया और एक ऐसा छोटा वर्ग तैयार करने की चेष्टा की, जो अपने ही देश-वासियों का शोषण करता रहे।

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की इन मूलभूत कमजोरियों के विरोध में सन १९०६ में राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन का सूत्रपात किया गया, जब टैगोर ने विश्वभारती तथा शान्तिनिकेतन स्थापित किये, जब गांधीजी ने राष्ट्रीय विद्यालयों की शृंखला का सृजन किया तथा बेसिक शिक्षा का प्रचार किया, जब १९२१ के असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत कुछ राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इसीलिए यह माँग मुखर हुई कि स्वाधीन भारत में सरकार अपनी शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करके एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का सृजन करे जो हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं पर आधारित हो और जिसके द्वारा देश संसार में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके।

प्रसार की चुनौती

इस प्रकार देश की स्वाधीनता के प्रथम प्रभात की वेला में यहाँ की जनता और नेतृत्व के सम्मुख शिक्षा सम्बन्धी तीन बड़ी चुनौतियाँ थी। यह चुनौतियाँ थी—(१) शिक्षा का प्रसार, (२) शिक्षा के स्तर में सुधार, तथा (३) शिक्षा के स्वरूप में आमूल परिवर्तन। उपरोक्त तीनों चुनौतियों को अच्छी तरह समझा जा चुका था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सभी चुनौतियों का दृढ़ता से सामना करने की एक उत्कट इच्छा थी।

शिक्षा के प्रसार की चुनौती को सबसे अधिक सफलता के साथ स्वीकारा गया जिसके फलस्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर अवधि में आज हमें चारों ओर शिक्षा की प्रगति दिखलाई पड़ती है। इस लेख के अन्त में चार पचवर्षीय योजनाओं के दौरान शिक्षा-प्रसार के आँकड़े स्वयं ही सत्य को प्रकाशित करेंगे। यदि हम स्वातन्त्र्योत्तर काल के २५ वर्षों की उपलब्धियों पर ही चर्चा करें तो यह बड़े विश्वास के साथ प्रकट हो जायगा कि सभी स्तरों पर शिक्षा का प्रसार अभूतपूर्व एवं ऐतिहासिक रहा है। एक से लेकर पाँच तक की कक्षाओं में सन् १९४७ में जहाँ शिक्षा पानेवाले बालकों की संख्या एक करोड़ ४१ लाख थी वहाँ आज यह संख्या बढ़कर ६११ लाख हो गयी है—२५० प्रतिशत की वृद्धि। छठी से आठवीं

तक की कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या २० लाख से बढ़कर १४९ लाख हो गयी है—६५० प्रतिशत। नवीं से ग्यारहवीं कक्षा के बीच आज संख्या ८'५ लाख से बढ़कर ८४ लाख हो चुकी है—लगभग ९०० प्रतिशत की वृद्धि, तथा विश्वविद्यालय स्तर पर भी लगभग इतनी ही वृद्धि हुई है—२ ५६ लाख से २५ ४५ लाख तक। ये उपलब्धियाँ कुछ इस प्रकार की हैं जिन पर हरेक भारतीय गर्व कर सकता है।

पिछले २० वर्षों के दौरान देश के कमजोर वर्ग को भी शिक्षा की समुचित सुविधाएँ प्रदान की गयी थी जो उसे कभी नहीं मिली थी। उदाहरणार्थ, स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। १९४७ और १९७२ के बीच प्रति १०० बालकों की तुलना में लड़कियों की संख्या ६ से ११ वर्ष के आयुवर्ग में ३५ से बढ़कर ६०, ११ से १४ के आयुवर्ग में १८ में बढ़कर ३८, १४ से १७ के आयुवर्ग में १२ से बढ़कर २८ तथा विश्वविद्यालय स्तर पर ८ से १८ हो गयी है।

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के बीच शिक्षा का प्रसार और भी तेज हुआ है। सन् १९६५-६६ में सबसे पहले इसी वर्ष के आँकड़े उपलब्ध हैं। अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की सभी स्तरों में मिलाकर संख्या ७६ ८६ लाख तथा अनुसूचित जनजातियों की संख्या २९'६५ लाख थी। प्रति सौ बालकों की संख्या ६८ ४ प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों की संख्या ५७ ५ प्रतिशत थी।

यह सच है कि इन कमजोर वर्गों में प्रारम्भिक स्तरों में अपेक्षाकृत कम बालक-बालिकाओं के नाम स्कूलों में दर्ज कराये जाते हैं तथा आगे के स्तरों पर भी वह अधिक संख्या में पढ़ाई छोड़ देते हैं। अतएव साधारण बालको की अपेक्षा उनका अनुपात कम होता जाता है। इस पर विगत २५ वर्षों में उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व विकास किया है वह सराहनीय है और उस पर गर्व किया जा सकता है।

अन्याय और असमानताओं के बारे में भी यही बात लागू है। नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा-प्रसार की खाई उन्नतशील तथा पिछड़े हुए राज्यों की असमानताएँ तथा एक राज्य में विभिन्न जिलों में शिक्षा-सुविधाओं में व्याप्त असमानताओं को बहुत हद तक दूर कर दिया गया है, यद्यपि इस क्षेत्र में अभी काफी कुछ करना शेष है।

शिक्षा के स्तरीकरण की चुनौती का सामना भी बड़े प्रभावशाली ढंग से किया गया है यद्यपि उसे आसानी से आकड़ों द्वारा नही दिखाया जा सकता। लेकिन हम कुछ स्पष्ट उदाहरण ले सकते है। इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव टेक्नालॉजी तथा रीजनल इंजीनियरिंग कालेजो की स्थापना और तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा (पॉलीटेकनिक व इंडियन ट्रेनिंग इंस्टीटयूट) का सम्पूर्ण ढांचा स्वातन्त्र्योत्तर काल की ही देन है। इसीके द्वारा तेजी से औद्योगीकरण सम्भव हो सका है और सुरक्षा के मामले में हम आत्मनिर्भर बने है। नयी दिल्ली स्थित कृषि अनुसधान सस्थान तथा विभिन्न कृषि विश्वविद्यालयो द्वारा भी हरित क्रांति सम्भव हो सकी है। इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव मेडिकल साइंसेज तथा चिकित्सा, शिक्षा-सुविधाओं के अभूतपूर्व प्रसारण के परिणामस्वरूप ही स्वास्थ्य सेवाओं का प्रसार सम्भव हुआ है और हम मृत्यु दर को तेजी से घटाने में समर्थ हुए हैं। हमने कुछ महत्त्वपूर्ण सस्थाओ का सृजन किया है, जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, शैक्षिक अनुसधान तथा प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद एव विभिन्न राज्यो के शिक्षा-सस्थान। शिक्षा के क्षेत्र में अनुसधान का अधिकाश स्वातन्त्र्योत्तर काल की उपलब्धि है।

विज्ञान व औद्योगिक अनुसधान समिति तथा राष्ट्रीय प्रयोगशालाओ, एटॉमिक एनर्जी कमीशन, सामाजिक विज्ञान तथा ऐतिहासिक अनुसधान की भारतीय समितियों और विश्वविद्यालयो ने अपना स्तर इतना ऊँचा उठा लिया है तथा अनुसधान कार्य का इतना विस्तार कर लिया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी। आज देश में सभी स्तरो पर प्रथम श्रेणी की अनेक सस्थाएँ बन गयी है। पिछले २५ वर्षों में अनेक विश्वविद्यालयो में उच्च स्तर के विभाग स्थापित हो गये हैं, जिन पर गर्व किया जा सकता है। इस अवधि में सभी स्तरों पर विज्ञान की शिक्षा के समान क्षेत्रीय भाषाओ के विकास में भी तीव्रता आयी है।

जनता की यह धारणा रही है कि पिछले २५ वर्षों में शिक्षा का स्तर गिर गया है किन्तु यह सत्य नही है। यह सच है कि अच्छी सस्थाओ के साथ साथ सभी स्तरों पर नीचे स्तर की सस्थाएँ बडी तादाद में बढ़ गयी हैं। इन सस्थाओ की भारी सख्या होने के कारण सम्पूर्ण शिक्षा स्तर के ही गिर जाने का आभास होने लगता है। किन्तु जैसा शिक्षा आयोग द्वारा कहा गया है—"स्वातन्त्र्योत्तर काल में शिक्षा के विकास पर की गयी अधिकतर आलोचनाओ में यह कहा गया

है कि इसके स्तर में गिरावट आयी है। इसके समर्थन में दो बात कही जाती है। नीचे स्तर की शिक्षा संस्थाओं की संख्या में बढ़ोत्तरी और कम योग्यतावाले विद्यार्थियों की अधिक संख्या। इनमें पहली बात बहुत अधिक गम्भीर है और दूसरी बीमारी की जन्मदायिनी है। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा के विषय में की जानेवाली इस आलोचना में काफी वजन है और हम इसकी गुरुता को घटाना नहीं चाहते, किन्तु इसके दूसरे पहलू की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस बात को याद रखना है कि—

कम योग्यतावाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धोत्तरी की एक वजह यह थी कि अपने वंश में पढ़नेवाली यह पहली पीढ़ी है, जिसके कारण कुछ हद तक शिक्षा के स्तर में गिरावट हुई है, किन्तु इनका बड़ी संख्या में माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तर की कक्षाओं में प्रवेश, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रगति का द्योतक है।

अभी हाल के कुछ वर्षों के भीतर कुछ विषयों की पढ़ाई में बड़ा विकास किया गया। अच्छे विद्यालय और प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी अब बहुत बड़ी संख्या में तथा इनका स्तर वैसा ही है, यदि अधिक श्रेष्ठ नहीं, जैसे पहले कभी हुआ करता था।

समाज में शिक्षा का कुल खाता पहले से किसी भी समय से अब बहुत बढ़ा हुआ है।

कुल मिलाकर जो स्थिति है वह सफलताओं और त्रुटियों की, सुधार और गिरावट की, तथा कुछ स्थानों में शिक्षा के स्तर में उन्नति तो दूसरी ओर कुछ क्षेत्रों में अवनति की मिली जुली तसवीर है। जहाँ एक ओर हम शिक्षा के स्तर में सुधार की आवश्यकता तथा तत्कालिकता के प्रबल समर्थक हैं वहाँ दूसरी ओर हम यह भी चाहेंगे कि विगत कुछ वर्षों के दौरान उच्च स्तर की शिक्षा की हमारी जो उपलब्धियाँ हैं उन्हें भी स्वीकार किया जाय। वह हमारे लिए प्रेरणा-स्वरूप है तथा मार्गदर्शन भी करती है। वह हमें और साहस के साथ सामने आनेवाली चुनौतियों का सामना करने में सहायक होगी।

शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन

शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन की जो तीसरी चुनौती थी उस ओर सम्भवत सबसे कम काम हुआ है। आज भी, बावजूद इसके कि स्वरूप में आमूल चूल परिवर्तन के लिए लम्बी-लम्बी बातें होती रहती हैं, शिक्षा का वही स्वरूप बना हुआ है, जो ब्रिटिश शासन काल के दौरान था। पाठ्यक्रम समयानुकूल नहीं है तथा हमारी सामाजिक आवश्यकताओं-आकांक्षाओं से उनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है,

पढ़ाने का तरीका वही पुराना और परम्परागत है परीक्षा प्रणाली अपरिवर्तित रही है तथा उसमें व्याप्त अनेकानेक बुराइयों के कारण वह लड़खड़ा कर ढहने वाली है। माध्यमिक स्तरों में पाठ्य पुस्तकें निम्नकोटि की हैं तथा विश्वविद्यालय पर विदेशी पुस्तकों की अनिवार्यता को हम दूर नहीं कर सके हैं। हमारी शिक्षा-प्रणाली अभी भी हमारी मूलभूत मान्यताओं को उचित प्रकार से प्रकाशित नहीं करती और न हमें अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति सजग ही करती है। यह अभी तक उत्पादकता के साथ तनिक भी सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पायी है और न यह बुद्धिजीवियों को जनमानस के समीप लाने में समर्थ है। शिक्षा के स्वरूप में आमूल चूल परिवर्तन के लिए यदि १९४७ में ही क्रांतिकारी उपाय किये गये होते तो काम अपेक्षाकृत सरल हो जाता क्योंकि उस समय इसका ढांचा इतना विशाल न था। अब यह काम अत्यन्त कठिन हो गया है तथा प्रतिदिन कठिनतर ही होता जा रहा है। इस बीच, बिना स्तर उठाये या स्वरूप में परिवर्तन किये, शिक्षा के प्रसारण के कारण उग्र विद्यार्थी आन्दोलन, शिक्षित युवकों में बढ़ती हुई बेरोजगारी तथा शिक्षा पद्धति के प्रति विद्यार्थी वर्ग का विराग ऐसी व्याधियाँ उत्पन्न हो गयी हैं।

भविष्य के लिए सम्बल

स्वतंत्रता की रजत जयन्ती का यह वर्ष केवल लेखा अथवा समीक्षा करने का ही वर्ष नहीं है। यह ऐसा समय भी है जब हम विश्लेषण करें, अपनी सफलताओं असफलताओं के कारणों का अध्ययन करें और भविष्य की कार्यवाही के लिए कुछ साहसपूर्ण निश्चय करें। अतएव पिछले २५ वर्षों के दौरान शिक्षा के विकास के हमारे जो अनुभव हैं उनके आधार पर अपनी शिक्षा के स्वरूप के पुनर्गठन के भावी कार्यक्रमों के विषय में हम क्या कह सकते हैं ?

जो पहला बड़ा प्रश्न उभर कर आता है वह यह है १९४७ में शिक्षा के क्षेत्र में हमारे सामने जो विभिन्न चुनौतियाँ थीं उनको कुछ क्षेत्रों में हमने सफलता के साथ सामना किया है। यद्यपि यह स्पष्ट ही है कि हमारी सफलताएँ आसान चुनौतियों के क्षेत्रों में अधिक हुई हैं। कठिनतर समस्याओं के क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत कम हैं। उदाहरण के लिए तीन मुख्य चुनौतियों में से शिक्षा के प्रसार की समस्या सबसे अधिक आसान थी और इसी क्षेत्र में हमारी सर्वाधिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं। इस क्षेत्र में भी जो अधिक कठिन कार्य था कि हम ६ से १४ वर्ष की आयु के बच्चों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक की शिक्षा को व्यापक बनाने तथा प्रौढ़ों में निरक्षरता का समूल नष्ट करते, उसमें हम सफल नहीं हो पाये।

शिक्षा के स्तर में सुधार करने का काम और अधिक कठिन था तथा इस क्षेत्र में हमारी उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली रही हैं। यहाँ यह बता देना उचित ही है कि इस क्षेत्र में भी हमारी सफलता केवल कुछ अच्छे शिक्षा संस्थानों के सृजन तक ही सीमित है (यह अपेक्षाकृत उसी प्रकार सरल है जिस प्रकार एक पुराने नगर का विकास करना)। तथा हम शिक्षा के स्तरों में सुधार नहीं कर पाये (वह इस प्रकार है जैसे कि एक पुराने नगर का पूरी तरह से पुनर्निर्माण)। शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन सबसे अधिक कठिन समस्या थी। इस क्षेत्र में भी हमारी उपलब्धियाँ अत्यन्त निम्न रही हैं। विशाल किन्तु अपेक्षाकृत सरल चुनौतियों की समस्याओं के क्षेत्र के महान सफलताओं ने छोटी किन्तु कठिन समस्याओं के क्षेत्र में हमारी असफलताओं को लगभग बराबर कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सारे के सारे शिक्षा क्षेत्र में व्याधियाँ बढ़ गयी हैं।

कठिन दौर

इस प्रकार अब हम अपने शिक्षा के इतिहास के सबसे कठिन दौर से गुजर रहे हैं। विगत २५ वर्षों में, इसमें कोई सन्देह नहीं, हमने अभूतपूर्व काम किये हैं। किन्तु हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि ऐसा हम केवल अपेक्षाकृत सरल क्षेत्रों में ही कर सके हैं। अब कठिन समस्याओं से जूझने का समय आ गया है शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन, ६ से १४ वर्ष की आयु के बच्चों के लिए व्यापक रूप से शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध, निरक्षरता को समूल रूप से नष्ट करना तथा सभी ओर शिक्षा-स्तर में सुधार। निश्चय ही इसके लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु यह तो उस कहानी का छोटी-सा भाग ही है। हमें अन्य जो आवश्यकताएँ होंगी अपने शिक्षा के क्षेत्र में वह है। नियोजन तथा प्रशासन की क्षमता, कठिन परिश्रम, उत्सर्ग की भावना से ओतप्रोत अध्यापक वर्ग, विद्यार्थी तथा प्रशासकजन एवं आदर्शवाद तथा सचेष्टता का वातावरण।

शिक्षा के क्षेत्र से बाहर सशक्त और स्थायी सरकारी तथा निरन्तर आर्थिक प्रगति की आवश्यकता भी है। श्रीमती इंदिरा गाँधी के शक्ति में आ जान तथा उनके महान् और सुधारवादी नेतृत्व के कारण उपरोक्त नयी समस्याएँ सुलझ हो जायेंगी। शिक्षा के क्षेत्र में लगे कार्यकर्ताओं के सामने अब पहला मुख्य प्रश्न यह है कि वह शिक्षा के स्वरूप के परिवर्तन के लिए प्रथम प्रयास कहाँ, कब और कैसे करें। यह हमारे लिए चुनौती भी है और अवसर भी। पाँचवी पंचवर्षीय योजना इस बात की कसौटी होगी कि हम समस्या के अनुरूप अपने आपको ढालकर इसका निवारण कर सकते हैं। ●

चम्बल घाटी में

आचार्य कुल की गतिविधि

चम्बल घाटी में डाकू-समर्पण और उसके बाद की परिस्थिति के आकलन की दृष्टि से वहाँ एक नयी बुनियाद पर काम आरम्भ करना होगा। लगभग ५०० डाकुओं ने जिस तरह से आत्म-समर्पण किया है वह अपने आपमें दुनिया के इतिहास की बेजोड़ घटना हुई है और उसके उत्तर-प्रभाव अत्यन्त गहरे हुए हैं। उन प्रभावों का रचनात्मक संगठन और दिशा-निर्देशन होना अत्यावश्यक है, वरना वे समाज पर अनेक नकारात्मक प्रभाव भी पैदा कर सकते हैं। इस एहसास के कारण ही मध्य प्रदेश सर्वोदय मण्डल और अन्य रचनात्मक संस्थाओं ने यह निश्चय किया कि इस क्षेत्र में सर्वोदय की प्रवृत्तियों को सघन और सक्रिय किया जाय।

मध्य प्रदेश आचार्यकुल ने भी इस सन्दर्भ में अपनी भूमिका निभाने की दृष्टि से कुछ कार्य आरम्भ करने का निश्चय किया है। सर्वोदय मण्डल और आचार्यकुल के आमंत्रण पर मैं गत ८ अगस्त से २९ अगस्त तक उस क्षेत्र के ग्वालियर और शिवपुरी जिलों में श्री दादा भाई की यात्रा में साथ घूमा। मेरी यह यात्रा एक छात्र की अध्ययन-यात्रा ही थी। अपने अध्ययन के आधार पर आगे के काम की दृष्टि से कुछ बातें मैं सुझाव के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ :

१. सतत पदयात्रा का कार्यक्रम जारी रहना चाहिए। इन यात्राओं में राहत कार्यों के बजाय ग्रामस्वराज्य (ग्रामसभाओं तथा ग्रामकोष और शान्तिसेना के गठन के) कार्य पर जोर दिया जाना चाहिए। हर गाँव में ऐसी तदर्थ ग्राम सभाएँ बनें और हर प्रकार के राहत-कार्य उसके ही माध्यम से हों, सरकार यह मान्य करे।

२. शिक्षकों, पंचायत सेवकों, ग्रामसेवकों, सरपंचों और प्रमुख नागरिकों की पंचायत या दो पंचायतस्तरीय त्रिदिवसीय शिविर शृंखलाएँ चलायी जायें।

क्षेत्र के विद्यालयों में आचार्यकुल और तरुण-शान्तिसेना का गठन करने और उनके भी शिविर लगाने का एक शृंखलाबद्ध कार्यक्रम आचार्यकुल और शान्ति सेना मण्डल चलाये। फिर आचार्यकुल के माध्यम से गाँवों में रात्रि पाठशालाएँ चलाने का पहला काम हाथ में लिया जाय।

३. क्षेत्र के हर जिले में कम-से-कम एक प्रखण्ड लेकर ग्रामस्वराज्य का सघन कार्य किया जाय और उसे प्रखंड स्वराज्य संगठन तक पहुँचाये बिना न छोड़ा

जाय। जौरा स्थित माई श्री सुब्बारावजी का आश्रम यह काम उठाये। सर्व सेवा संघ इस कार्य को भी राष्ट्रीय स्तर पर उठाये। मध्य प्रदेश गांधी निधि के पास बहुत अच्छे अनुभवी कार्यकर्ताओं की एक बडी टीम है वह, इस काम में लगे। सम्भवतः घाटी शान्ति मिशन अब राहत कार्यों में अधिक न फँसकर इस बुनियादी कार्य में लगे। राहत कार्य तो सरकार भी कर सकती है और उसने उसके लिए ही विशाल बोर्ड बना लिया है। मिशन के कार्यकर्ताओं को इस प्रकार के प्रशिक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। वह किया जाना चाहिए।

४ डाकू लोगों को आज जो प्रशिक्षण दिया जा रहा है वह जारी रहे। श्रद्धेय सरला बहन और श्री काशीनाथजी त्रिवेदी ने इस दिशा में अत्यन्त ही मूल्यवान भूमिका निभायी। किन्तु जेल से छूटने के बाद भी उनसे सम्पर्क बना रहे, यह आवश्यक है। उन्हें जेल में और बाहर भी पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था बने और उन्हें सर्वोदय मित्र, सहयोगी, लोकसेवक आदि के रूप में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

मुझे आशा है कि इन कार्यक्रमों के आधार पर डाकू-समर्पण से उत्पन्न सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक परिस्थिति का रचनात्मक उपयोग किया जा सकेगा।

—कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा

उत्तराखण्ड सर्वोदय मण्डल का निर्णय

पिछले वर्षों में यद्यपि सभी साथी अपने अपने क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से कार्य करते रहे हैं, परन्तु सम्मिलित पुरुषार्थ से कोई काम नहीं हो पाया, अत: पूरे उत्तराखण्ड में ग्रामस्वराज्य के काम को फिर से गति देने के लिए पहले कदम के रूप में आचार्यकुल व तरुणशांति सेना के संगठन के काम को हाथ में लेने की आवश्यकता महसूस की गयी। तय किया गया कि पूरे उत्तराखण्ड क्षेत्र में इस काम की जिम्मेदारी श्री योगेश चन्द्र बहुगुणा लें। इस निर्णय के आधार पर दिसम्बर '७२ तक का कार्य क्रम इस प्रकार बनाया गया है :

२ अक्टूबर से ९ अक्टूबर—जिला टिहरी
२० अक्टूबर से २८ अक्टूबर—जिला देहरादून
७ नवम्बर से १५ नवम्बर—जिला अल्मोड़ा
३१ अक्टूबर से ६ नवम्बर—जिला पौड़ी

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार प्रधान सम्पादक
श्री वशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : ३
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

अक्टूबर, '७२

•

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
● पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
अनुपम प्रेस, के १९/३० दुर्गाघाट, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : अक्टूबर, '७२
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

आठवें दर्जे से अनिवार्य अंग्रेजी हटाओ

मैं गत २७ सितम्बर १९७२ को कलकत्ता से जब पटना आया तो बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामदयाल पाण्डेय ने मिलकर मुझे सूचित किया कि बिहार सरकार ने अंग्रेजी की शिक्षा एवं उत्तीर्णता आठवें दर्जे से लेकर माध्यमिक उच्च विद्यालय परीक्षा तक पुन अनिवार्य कर दी है।......

मैं इस प्रश्न पर काफी विचार करने के पश्चात यह वक्तव्य प्रकाशित कर रहा हूँ। मेरा यह निश्चित मत है कि स्वतंत्र देश में कोई विदेशी भाषा अनिवार्य नहीं की जानी चाहिए।......

शायद मुख्य मंत्री और उनकी सरकार का यह तर्क है कि अखिल भारतीय सेवाओ तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो में बिहार के शिक्षितो को स्थान दिलाने के लिए शिक्षा में त्रिभाषा सिद्धान्त को लागू करने के लिए अंग्रेजी की शिक्षा को अनिवार्य करना आवश्यक है। परन्तु मैं इस तर्क से सहमत नही हूँ, क्योकि अनिवार्यत अंग्रेजी पढने से ही उक्त सेवाओं में स्थान मिलने की अनिवार्यता नही हो जायेगी।...

जहाँ तक त्रिभाषा-सिद्धान्त को लागू करने की बात है मातृभाषा तथा राज्यभाषा की शिक्षा के साथ कुछ भाषाओं का एक वर्ग निर्धारित किया जा सकता है, जिसमें से तीसरी भाषा का चयन शिक्षार्थी तथा उनके अभिभावक अपनी इच्छा के अनुसार कर सकते हैं। हाँ, इस तीसरे वर्ग की भाषाओ मे अंग्रेजी का भी स्थान हो सकता है।. ....

मेरा यह सुनिश्चित मत है कि विदेशी भाषा के अनिवार्य रहने पर हमारे शिक्षार्थियो में राष्ट्रीय स्वाभिमान का विकास नही हो सकता। स्वतंत्र भारत मे अंग्रेजी का अनिवार्य करना वस्तुत राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रतिकूल है। ...

—जयप्रकाश नारायण

आवरण मुद्रक : खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी १

वर्ष : २१
अंक : ४

नवम्बर, १९७२

राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन : सेवाग्राम
विशेष अंक

शिक्षकों, प्रशिक्षकों एवं समाज शिक्षकों के लिए

राष्ट्र की शिक्षा राष्ट्र की जिम्मेदारी

वर्ष : २१
अंक : ४
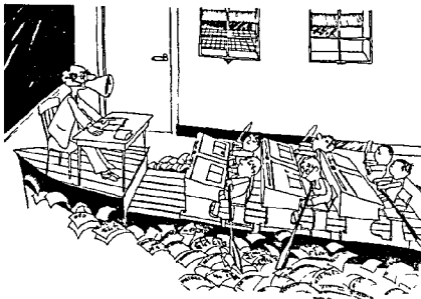
जिस सेवाग्राम में बापू ने गुलामी के दिनों में नयी तालीम बुनियादी शिक्षा का विचार देश और दुनिया को दिया था उसी सेवाग्राम में फिर एकबार स्वतंत्र भारत के लिए राष्ट्रीय शिक्षा का नारा बुलन्द हुआ है। यह बात अब कहने का नहीं रह गयी है कि हमारे देश मे जो शिक्षा है उसे किसी अर्थ में राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्र राष्ट्र को राष्ट्रीय शिक्षा चाहिए।

हम राष्ट्रीय शिक्षा किसे कहेंगे ? १४, १५, १६ अक्टूबर को सेवाग्राम में राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन का उद्‌घाटन करते हुए प्रधान मन्त्री ने स्वय कहा कि हमारी शिक्षा हमारे राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से जुडी हुई होनी चाहिए। यह हर एक जानता है कि प्रचलित शिक्षा वास्तविकताओं से जुड़ी हुई नहीं है। इस शिक्षा से देश का मामूली अहित नहीं हुआ है। नये गुणों का विकास तो दूर, जो गुण तथा जो क्षमताएँ मनुष्य सहज रूप से अपने परिवार, समाज, देश की परम्पराओं से प्राप्त और विकसित करता है, भले ही वह कभी किसी स्कूल में न गया हो, उन्हें भी यह शिक्षा कायम नहीं रहने देती। देश के करोड़ों युवकों युवतियों को यह शिक्षा अभारतीय, अमानवीय अवैज्ञानिक बना रही है। न उनका चित्त भारतीय रह पाता है, न उनकी प्रेरणाएँ मानवीय हो पाती हैं और न उनका मस्तिष्क ही वैज्ञानिक बन पाता है। ऐसी शिक्षा को लेकर राष्ट्र क्या करेगा ?

राष्ट्रीय शिक्षा वह है जिसका राष्ट्र की परंपरा,

राष्ट्र की प्रतिभा, और राष्ट्र की परिस्थिति से मेल हो। हमारी देश की परंपरा सह-अस्तित्व की है। भारत ने जाति या धर्म के नाम में कभी किसी समूह का सहार नहीं किया है। उसने समाज के व्यापक वृत्त में हर एक को स्थान दिया है। हमारी प्रतिभा ने हमेशा अनेकता में एकता की खोज की है। अनेकता को कभी उसने वर्जित नहीं किया है। आज हमारे देश की परिस्थिति यह माग कर रही है कि हम समता और समृद्धि का समाज बनायें, देश के जन जन को अभाव, अज्ञान और अन्याय से मुक्त करें।

गाधीजी ने कहा था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उत्पादन, प्रकृति, और समाज से अनुबंधित हो। यह अनुबंध जीवन का है। जीवन के इस अनुबंध को छोड़कर शिक्षा तोता-रट के सिवाय दूसरा क्या रह जाती है? आज इतने वर्षों के बाद हम राष्ट्रीय शिक्षा के नाम में उसी सत्य को दोहरा रहे हैं जिसे पैतीस वर्ष पहिले गांधीजी ने नयी तालीम क नाम से हमारे सामने प्रस्तुत किया था। लोकतंत्र और समाजवाद जैसे लक्ष्य घोषित करनेवाले भारत के लिए नयी तालीम तो चाहिए ही बल्कि नित्य नया तालीम चाहिए। नित्य नयी तालीम के बिना हमारे-जैसा पिछड़ा देश दुनिया के साथ नहीं चल सकेगा। हमारे और उन्नत संसार के बीच बहुत बड़ी दूरी है जिसे हमें तय करना है। अब भारत दुनिया का लगभग सबसे गरीब देश है। इस दयनीय स्थिति को हम कबतक बर्दाश्त करेंगे?

एक गरीब देश जिसकी आधी जनता कगालियत की जिन्दगी बिता रही हो, और उस अनुत्पादक शिक्षा: भला इन दोनों का मेल बैठ सकता है? जिस देश की तीन-चौथाई जनता खेती पर जीती हो उसमें लोगों को क्या काम मिलेगा, क्या दाम मिलेगा और क्या आराम मिलेगा? विज्ञान ने जीविका के जो असंख्य साधन बनाये हैं वे सब विवेक के साथ, अपनी परिस्थिति के अनुसार हमें अपने लिए प्राप्त करने हैं। यह तब सम्भव होगा जब शिक्षा में नीचे से ऊपर तक हर विद्यार्थी किसी-न किसी उत्पादक हुनर में निपुण हो। इतना ही नहीं, जैसाकि प्रधान मंत्री ने सेवाग्राम में कहा, हर फार्म, हर कारखाना, तथा निर्माण का हर प्रोजेक्ट शिक्षण का केन्द्र और माध्यम हो। एक बार शिक्षण को यह मोड़ दे दिया जाय तो उत्पादन बढ़ाने के लिए अलग कोशिश नहीं

करनी पड़ेगी, न शरीर-श्रम का महत्त्व सिखाना पड़ेगा; न ऊँच नीच का भेद मिटाने के लिए भाषण देने पड़ेंगे और, न नौकरी पाने के लिए किसी तरह डिग्री बटोरने की होड़ रह जायेगी। शिक्षा अपने पैर पर खड़ा होने के लिए है, प्रबुद्ध नागरिक बनने के लिए है; मात्र नौकरी के लिए नहीं है। इन गुणों की शिक्षा से जो समाज बनेगा वह उत्पादकों का भाईचारा होगा, शोषकों और शोषितों का संघर्ष क्षेत्र नहीं रहेगा। नयी शिक्षा और नया जीवन दोनों एक हो जायेंगे।

ज्ञान शिक्षक की वाणी या विद्वान के ग्रन्थ में नहीं है। इनमें भी है, लेकिन इनमें ही नहीं है। ज्ञान अनुबन्ध के उस वृत्त में है जिसमें मनुष्य की क्रियाएँ, मुख्य रूप से जीविका की क्रियाएँ, तथा उसके चारों ओर की प्रकृति और समाज है। यह त्रयी ही ज्ञान का मूल स्रोत है। सारे ज्ञान विज्ञान इसी स्रोत से निकले हैं। शिक्षा का काम है शिक्षार्थी को सहज रूप से उत्पादन, प्रकृति और समाज के अनुबंध (कोरिलेशन) ज्ञान के इस में अक्षय स्रोत तक पहुचने देना, न कि विषयों, पुस्तकों और परीक्षाओं के चक्कर में फँसाकर उसकी शक्तियों को समाप्त करना। विज्ञान खुद विषयों और पुस्तकों में फँसकर नहीं रहता। वह सीमाओं को तोड़कर ज्ञान तक पहुँचता है। इसके विपरीत हमारी शिक्षा ने हमारे और हमारे ज्ञान के बीच नयी-नयी दीवालें खड़ी कर दी हैं। जीवन समग्र है, समस्याएँ समग्र हैं, उनके समाधान समग्र हैं। तो शिक्षा समग्र हुए बिना रह सकती है?

हमारे देश की शिक्षा ऐसे बिन्दु पर है जहाँ वह या तो देश की वास्तविकता के साथ जुड़कर उसके विकास और नव-निर्माण का साधन बनेगी या सत्ता से जुड़कर उसकी दासी रहेगी। बीच की कोई स्थिति नहीं है। सेवाग्राम-सम्मेलन ने घोषणा की है कि शिक्षा में सरकार का कम से कम हस्तक्षेप हो। हस्तक्षेप थोड़ा भी क्यों हो? अगर अभ्यास क्रम में आवश्यक सुधार हो जायँ तो कोई कारण नहीं कि व्यवस्था के लिए हर विद्यालय शिक्षक-शिक्षार्थी-अभिभावक की एक स्वायत्त इकाई न बन सके। अगर लोकतन्त्र का अभ्यास स्वायत्त विद्यालय में नहीं होगा तो और कहाँ होगा? सहकारी व्यवस्था, सर्वसम्मत निर्णय, असहमति, विरोध, यहाँ तक कि शान्तिपूर्ण प्रतिकार के भी शिक्षण और अभ्यास की सुविधा विद्यालय में होनी चाहिए। सरकार के शिक्षा में

राष्ट्र की प्रतिभा, और राष्ट्र की परिस्थिति से मेल हो। हमारी देश की परंपरा सह-अस्तित्व की है। भारत ने जाति या धर्म के नाम में कभी किसी समूह का संहार नहीं किया है। उसने समाज के व्यापक वृत्त में हर एक को स्थान दिया है। हमारी प्रतिभा ने हमेशा अनेकता में एकता की खोज की है। अनेकता को कभी उसने वर्जित नहीं किया है। आज हमारे देश की परिस्थिति यह माग कर रही है कि हम समता और समृद्धि का समाज बनायें, देश के जन जन को अभाव, अज्ञान और अन्याय से मुक्त करें।

गांधीजी ने कहा था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उत्पादन, प्रकृति, और समाज से अनुबंधित हो। यह अनुबंध जीवन का है। जीवन के इस अनुबंध को छोड़कर शिक्षा तोता-रट के सिवाय दूसरा क्या रह जाती है? आज इतने वर्षों के बाद हम राष्ट्रीय शिक्षा के नाम में उसी सत्य को दोहरा रहे हैं जिसे पैंतीस वर्ष पहिले गांधीजी ने नयी तालीम के नाम से हमारे सामने प्रस्तुत किया था। लोकतंत्र और समाजवाद जैसे लक्ष्य घोषित करनेवाले भारत के लिए नयी तालीम तो चाहिए ही बल्कि नित्य नया तालीम चाहिए। नित्य नयी तालीम के बिना हमारे-जैसा पिछड़ा देश दुनिया के साथ नहीं चल सकेगा। हमारे और उन्नत संसार के बीच बहुत बड़ी दूरी है जिसे हमें तय करना है। अब भारत दुनिया का लगभग सबसे गरीब देश है। इस दयनीय स्थिति को हम कबतक बर्दाश्त करेंगे?

एक गरीब देश जिसकी आधी जनता कंगालियत की जिन्दगी बिता रही हो, और उस अनुत्पादक शिक्षा : भला इन दोनों का मेल बैठ सकता है? जिस देश की तीन-चौथाई जनता खेती पर जीती हो उसमें लोगों को क्या काम मिलेगा, क्या दाम मिलेगा और क्या आराम मिलेगा? विज्ञान ने जीविका के जो असंख्य साधन बनाये हैं वे सब विवेक के साथ, अपनी परिस्थिति के अनुसार हमें अपने लिए प्राप्त करने हैं। यह तब सम्भव होगा जब शिक्षा में नीचे से ऊपर तक हर विद्यार्थी किसी-न किसी उत्पादक हुनर में निपुण हो। इतना ही नहीं, जैसाकि प्रधान मंत्री ने सेवाग्राम में कहा, हर फार्म, हर कारखाना, तथा निर्माण का हर प्रोजेक्ट शिक्षण का केन्द्र और माध्यम हो। एक बार शिक्षण को यह मोड़ दे दिया जाय तो उत्पादन बढ़ाने के लिए अलग कोशिश नहीं

करनी पड़ेगी, न शरीर श्रम का महत्व सिखाना पड़ेगा, न ऊँच नीच का भेद मिटाने के लिए भाषण देने पड़ेंगे और, न नौकरी पाने के लिए किसी तरह डिग्री बटोरने की होड़ रह जायेगी। शिक्षा अपने पैर पर खड़ा होने के लिए है, प्रबुद्ध नागरिक बनने के लिए है; मात्र नौकरी के लिए नहीं है। इन गुणों की शिक्षा से जो समाज बनेगा वह उत्पादकों का भाईचारा होगा, शोषकों और शोषितों का संघर्ष क्षेत्र नहीं रहेगा। नयी शिक्षा और नया जीवन दोनों एक हो जायेंगे।

ज्ञान शिक्षक की वाणी या विद्वान के ग्रन्थ में नहीं है। इनमें भी है, लेकिन इनमें ही नहीं है। ज्ञान अनुबन्ध के उस वृत्त में है जिसमें मनुष्य की क्रियाएँ, मुख्य रूप से जीविका की कियाएँ, तथा उसके चारों ओर की प्रकृति और समाज है। यह त्रयी ही ज्ञान का मूल स्रोत है। सारे ज्ञान विज्ञान इसी स्रोत से निकले हैं। शिक्षा का काम है शिक्षार्थी को सहज रूप से उत्पादन, प्रकृति और समाज के अनुबंध (कारिलेशन) ज्ञान के इस से अक्षय स्रोत तक पहुँचने देना, न कि विषयों, पुस्तकों और परीक्षाओं के चक्कर में फँसाकर उसकी शक्तियों को समाप्त करना। विद्वान खुद विषयों और पुस्तकों में फँसकर नहीं रहता। वह सीमाओं को तोड़कर ज्ञान तक पहुँचता है। इसके विपरीत हमारी शिक्षाने हमारे और हमारे ज्ञान के बीच नयी-नयी दीवालें खड़ी कर दी हैं। जीवन समग्र है, समस्याएँ समग्र हैं, उनके समाधान समग्र हैं। तो शिक्षा समग्र हुए बिना रह सकती है?

हमारे देश की शिक्षा ऐसे बिन्दु पर है जहाँ वह या तो देश का वास्तविकता के साथ जुड़कर उसके विकास और नव निर्माण का साधन बनेगी या सत्ता से जुड़कर उसकी दासी रहेगी। बीच की कोई स्थिति नहीं है। सेवाग्राम-सम्मेलन ने घोषणा की है कि शिक्षा में सरकार का कम से कम हस्तक्षेप हो। हस्तक्षेप थोड़ा भी क्यों हो? अगर अभ्यास क्रम में आवश्यक सुधार हो जायँ तो कोई कारण नहीं कि व्यवस्था के लिए हर विद्यालय शिक्षक-शिक्षार्थी-अभिभावक की एक स्वायत्त इकाई न बन सके। अगर लोकतन्त्र का अभ्यास स्वायत्त विद्यालय में नहीं होगातो और कहाँ होगा? सहकारी व्यवस्था, सर्वसम्मत निर्णय, असहमति, विरोध, यहाँ तक कि शांतिपूर्ण प्रतिकार के भी शिक्षण और अभ्यास की सुविधा विद्यालय में होनी चाहिए। सरकार के शिक्षा में

दो ही मुख्य काम हैं—आर्थिक सहायता, और 'कोआर्डिनेशन'। सच्चे लोकतन्त्र और समाजवाद को मानने वाली सरकार को इतने से संतोष मानना चाहिए। इसके बाद समाज का दायरा है, सरकार का नहीं। शिक्षा के सरकारीकरण का अर्थ है दिमाग का सरकारीकरण। दिमाग भी सरकार का हो जाये तो समाज के पास दूसरा रह क्या जाता है ?

सेवाग्राम का सम्मेलन हो चुका। यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय शिक्षा के बुनियादी मुद्दों पर मतों की काफी एकता है। जिस सम्मेलन में अनेक शिक्षामन्त्री थे, विश्वविद्यालयों के उप कुलपति थे, शिक्षक और समाजसेवक थे उसकी सिफारिशों पर अमल होना चाहिए—अविलम्ब होना चाहिए। यह देश के विद्यार्थियों, शिक्षकों और अभिभावकों के देखने का काम है कि अमल हो। निकम्मी शिक्षा लेने से विद्यार्थियों को, देने से शिक्षकों का, दिलाने से अभिभावकों को इनकार करना चाहिए। अगर विद्यालय महीनों यों ही हड़ताल में बन्द रह सकते हैं तो राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उन्हें कुछ दिन तक बद रहना पड़े तो क्या बिगड़ जायेगा ! सरकार अपनी है इसीलिए समाज उसे गलत-सही कुछ भी करने का अधिकार नहीं दे सकता। देश का भविष्य देश के लाखों गाँवों और शहरों में है, इनी-गिनी राजधानियों में नहीं। राष्ट्र की शिक्षा राष्ट्र की जिम्मेदारी है।   —राममूर्ति

बुनियादी शिक्षा का क्रमिक विकास

आज से करीब ३५ साल पहले मद्य-निषेध की आर्थिक दृष्टि से आलोचना करते हुए महात्मा गांधीजी ने राष्ट्र से कहा था, 'प्रत्येक बालक में जो श्रेष्ठ तत्व हैं उनकी सहायता से ही उसका सर्वांगीण यानी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करना, यही शिक्षा का एकमात्र ध्येय होना चाहिए।' यह कहते समय महात्माजी के मन में पक्की श्रद्धा थी कि मानव के मन का उच्चतम विकास तभी शक्य है जब बालक को यंत्रवत नहीं, किन्तु वैज्ञानिक ढंग से ही हस्तोद्योग सिखाया जाय। बाद में 'हरिजन' के अपने सम्पादकीय लेख में भी उन्होंने शिक्षा के क्रांतिकारी सिद्धान्त की विशदतापूर्ण स्पष्टता की थी और कहा था, 'ऐसी शिक्षा एक ऐसे शान्त सामाजिक परिवर्तन का आधारबिन्दु है जो न्यायपूर्ण और शोषण-विहीन समाज रचना की आधारशिला बन सकती है।'

अखबारों में और अनेक सभाओं में गांधीजी के इन विचारों की काफी चर्चा हुई। जनता ने इसके बारे में आलोचनाएँ की। इन सभी बातों पर गांधीजी ने बहुत शांति से ध्यान दिया और हर एक को अपनी स्वभावगत गम्भीरता से उत्तर भी दिये। इस विषय पर विशेष विचार हो सके इसलिए उन्होंने अक्तूबर १९३७ में वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन बुलाया। राष्ट्र के विद्वान एवं पारंगत शिक्षा-शास्त्री, विविध राज्यों के शिक्षामंत्री और शिक्षा जगत के सक्रिय कार्यकर्ता इस सम्मेलन में उपस्थित हुए थे। गांधीजी स्वयं इस सम्मेलन के सभापति थे। बहुत कुछ विचार-विमर्श के बाद सभा ने गांधीजी के विचारों को अनुमोदन दिया और स्व० डा० जाकिरहुसेन की रहबरी के नीचे अभ्यासक्रम निर्माण समिति बनायी गयी। फरवरी १९३८ में समिति ने गांधीजी को अपनी रिपोर्ट दी और बापू ने उसे मान्यता देकर हरिपुरा कांग्रेस की बैठक में स्वीकृति के लिए पेश किया। महासभा ने समिति की सभी सिफारिशों को स्वीकृति दी। कांग्रेस ने अपनी शिक्षा की नीति के रूप में उसको स्वीकार करके तत्काल अमल के लिए गांधीजी के मार्गदर्शन में अखिल भारत समिति की नियुक्ति कर दी। इस समिति के अध्यक्ष डा० जाकिरहुसेन थे और मंत्री थे श्री आर्यनायकम्।

इसी तरह अप्रैल १९३८ में सेवाग्राम, वर्धा में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' की स्थापना हुई। प्रयोगों के द्वारा इस नये विचार के सिद्धान्तों को प्रस्थापित करना उसका पहला काम था। सेवाग्राम में 'नयी तालीम' संस्था की स्थापना हुई। उसके बाद कई प्रान्तों में भी उसका अनुकरण हुआ और नयी तालीम के क्षेत्र में प्रयोग होने लगे। प्रांतीय सरकारों ने अपने अपने प्रदेश में बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ किया और काश्मीर, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और मद्रास में गैर-सरकारी संस्थाओं ने बुनियादी शालाएं शुरू की।

सन् १९३९ में जब पहला सम्मेलन पूना में हुआ तो अध्यक्ष ने कहा, 'शिक्षा का यह नया आदर्श न्याय, सहकार, उत्पादक श्रम और प्रत्येक मानव की ओर सम्मान की भावना पर आधारित है और ऐसी ही शिक्षा शान्ति, न्याय एवं मानवता की सबसे अधिक प्रत्याभूति (गारण्टी) है।' सन् १९४० में जामिया नगर के द्वितीय सम्मेलन के समय गांधीजी ने यही बात कही कि हमारे इन प्रयत्नों की सफलता का आधार आत्मनिर्भरता है, सरकारी सहायता नहीं। इस सिद्धान्त से इस दिशा में कई प्रान्तों में जो प्रयत्न शुरू किये गये थे वे बन्द हो गये। केवल बिहार के चम्पारण जिले में यह प्रयोग जारी रखा गया, क्योंकि इसका लक्ष्य के बहुत ही नजदीक था। १९४२ का समय सारे राष्ट्र के लिए

]

अस्थिरता का काल था। इसका गहरा असर नयी तालीम के क्षेत्र में भी हुआ। संस्थाएँ बन्द हुईं, हमारे कई कार्यकर्ता भाई-बहन कारागृह में थे और कुछ समय के लिए तो ऐसा ज्ञात होता था मानो हमारे राष्ट्रीय जीवन में नयी तालीम का चित्र धुंधला पड गया है।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह थी कि ऐसी अग्नि-परीक्षा से नयी तालीम विशेष शक्ति सम्पन्न बनकर बाहर आयी। उसी समय नये दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर गांधीजी ने कहा कि "नयी तालीम माँ-बाप को शिक्षित करने के लिए घर घर पहुँचनी चाहिए।" उनका कहने का तात्पर्य यह था कि नयी तालीम अवश्य जीवन की तालीम बन जानी चाहिए। अपना यह मतव्य विशेष स्पष्टता से समझाते हुए गांधीजी ने बाद में कहा था कि एक ऐसी तालीम होनी चाहिए जो जीवन के लिए, जीवन व्यवहार द्वारा प्राप्त हो सके। इसलिए इस शिक्षा-पद्धति में जीवन की प्रत्येक अवस्था में हर एक व्यक्ति की शिक्षा का विचार एवं आयोजन होना अत्यन्त आवश्यक है।

सेवाग्राम में और कई अन्य स्थानों पर इस नये सिद्धान्त पर आधारित प्रयोग किये गये और जब अधिक स्पष्टता की जरूरत हुई तो १९४५ में सेवाग्राम के सम्मेलन में उन्होंने कहा, 'नयी तालीम का केन्द्र ग्राम्य विस्तार और उसका माध्यम ग्रामोद्योग होना चाहिए। उसमें बालक के गर्भाधान से लेकर उसकी मृत्यु तक की शिक्षा का प्रबन्ध होना जरूरी है।' गांधीजी के इस मतव्य का अर्थ यही हुआ कि नयी तालीम के क्षेत्र में काम करनेवाला शिक्षक ग्राम जनता का सच्चा सेवक हो और इस तालीम का खर्च इसके सामने कितना ही विरोध क्यों न हो, शिक्षा में से ही निकलना चाहिए। गांधीजी की श्रद्धा थी कि अगर यह शिक्षा सुयोग्य ढंग और पद्धति से दी जाय तो भारत के सात लाख गाँव, जो आज गरीबी में डूबे हुए हैं वे स्वमेव सम्पत्तिवान होंगे। उनकी यह सम्पत्ति बाहरी नहीं किन्तु भीतरी होगी। हमारे सामने नयी तालीम के दर्शन की जो नयी दृष्टि रखी गयी इससे तालीम के समग्र कार्यक्रम को निम्नलिखित चार विभागों में बाँटा गया है—पूर्व बुनियादी, बुनियादी, उत्तर बुनियादी और प्रौढ़ शिक्षा।

शिक्षा की इस नयी संकल्पना को ध्यान में रखकर उसी समय चार समितियाँ नियुक्त कर दी गयीं और नयी तालीम के सम्पूर्ण कार्यक्रम के अमल के लिए सेवाग्राम को पसन्द किया गया। यहाँ पूर्व बुनियादी शाला शुरू की जिसके साथ प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम भी शुरू हुआ। यह प्रौढ़ शिक्षा न केवल निरक्षरता निवारण के लिए थी किन्तु प्रौढ़ नर-नारियों को ग्रामीण पेशे और मनोरंजन के जरिये उच्चतर जीवन के लिए तैयार करने के लिए भी थी।

१९४५ में सेवाग्राम में अखिल भारत नयी तालीम सम्मेलन हुआ। इस समय सभी के मन में यही प्रश्न था कि सम्पूर्ण बुनियादी अभ्यासक्रम के बाद क्या? उत्तर बुनियादी शिक्षा के कार्यक्षेत्र और पद्धति के बारे में खास नियुक्त की गयी समिति ने एक घोषणापत्र तैयार किया। इस समिति के सदस्यों को गांधीजी जी के साथ विचार विमर्श करने का मौका मिला और चर्चा के बाद उत्तर बुनियादी तालीम के बारे में कई निष्कर्ष निकाले गये। नयी तालीम का उद्देश्य और कार्यक्रम निश्चित किया गया। अब सेवाग्राम उत्तर बुनियादी शिक्षा का शालाग्राम (स्कूल विलेज) में विकास हुआ। यहाँ छात्रगण और शिक्षकगण ग्राम समदाय के अंग बनकर निवास करते थे। कृषि, गोपालन और ग्रामोद्योग पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया। शाला समाज में जो शिक्षा दी जाती थी उसमें हाथ और मस्तिष्क की तालीम के साथ जिम्मेदारी के स्वीकार और भावनाओं के सम्पूर्ण विकास का मौका भी मिलता था। इसी समय हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने राजपुरा और फरीदाबाद शहरों को पुनर्वास का अति महत्त्व का राष्ट्रीय कार्य अपने हाथ म लिया उसका निर्देश करना यहाँ पर उचित होगा।

उत्तर बुनियादी शिक्षा के बाद क्या नयी तालीम पूरा हो जाती है? इस प्रश्न का विचार करने के बाद सन् १९५१ में उच्चकना की बुनियादी तालीम शुरू करने का कदम उठाया गया। इसके लिए जिस समिति की रचना हुई उसने नयी तालीम के आदर्शों पर निर्भर विश्वविद्यालय शुरू करने की सिफारिश की। कृषि, पशुपालन, सामाजिक स्वास्थ्य, ग्रामयंत्रविद्या इत्यादि विद्याशा-खाओं की शिक्षा की सुविधा के साथ एक वर्ग शुरू किया। इस वर्ग में उत्तर बुनियादी शिक्षा समाप्त करनेवाले छात्र थे। १९५१ में हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने वर्धा के जनपद की इच्छानुसार पडोस की २० ग्रामशालाओं की शिक्षा और निरीक्षण-काय की जिम्मेदारी भी उठाई। ७ से ८ मील का यह शालाओं का प्रदेश एक घनिष्ठ विस्तार बना और उसमें सर्वांग सम्पूर्ण शिक्षा का आयोजन तैयार किया गया। यहाँ के छात्रों की परीक्षा लेने की और उनको प्रमाण पत्र देने की व्यवस्था संघ को सौंपी गयी।

बाद में ग्राम पुनरचना के कार्य के शिक्षक, अधिकारी और कार्यकर्तागण तैयार करने के लिए सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं ने सेवाग्राम में हजारों की संख्या में शिक्षार्थी भेजे। संघ ने विदेशी छात्रों और शिक्षाविशारदों के साथ भी अपना सम्बन्ध जारी रखा जिसके कारण सेवाग्राम अभ्यास एवं संशोधन का राष्ट्रीय केंद्र बन चुका। अब तो संघ के सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से भी भाग लेने लगे हैं।

तालीम विषयक संकल्पना के क्षेत्र में संघ का अति महत्व का और अन्तिम विकास तब हुआ जब उसने पू० विनोबा प्रेरित सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसक क्रान्ति को अपना ध्येय के नाते स्वीकार किया। विनोबाजी ने अपने भूदान-ग्रामदान के कार्य में संघ के कार्यकर्ताओं को जोड़ा और संघ राष्ट्र की सामाजिक क्रान्ति की एक महत्वपूर्ण संस्था बन गयी।

हजारों की संख्या में संघ के कार्यकर्त्ता न केवल इस नयी क्रान्ति का सन्देश पहुँचाने के लिए, किंतु राष्ट्र के दूर-दूर कोनों के ग्राम विस्तारों में सामाजिक और शिक्षा के नये आदर्श को संगठित करने के विचार से पहुँच गये।

१९५९ के पठानकोट के सम्मेलन से इस दिशा में एक नया परिवर्तन आया। विनोबाजी ने कहा कि नयी तालीम संघ और सर्व सेवा संघ मिलकर एक ही संस्था बन जाय और उन्होंने नयी तालीम के कार्यकर्ताओं को ग्रामदान, ग्रामोद्योग, खादी और शान्ति-सेना के क्षेत्र में काम करने की प्रेरणा दी। अब तो सभी सर्वोदय और रचनात्मक संस्थाओं को नयी तालीम का चालक बनाना था। आज तक नयी तालीम का क्षेत्र एक छोटी-सी खाडी जैसा था, मगर अब महासागर बन गया और सर्व सेवा संघ, जो इन सभी संस्थाओं की मातृ-संस्था थी, उसने नूतन-क्रान्ति की विविध रचनात्मक प्रवृत्तियों में सभी संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के लिए नयी तालीम का काम शुरू किया, और इन प्रश्नों के निराकरण के लिए वह शैक्षणिक संस्थाओं के सम्पर्क में रहने लगा।

१५,१६ अप्रैल १९६५ में श्री उ० न० ढेबर की अध्यक्षता में नयी दिल्ली में अखिल भारत नयी तालीम सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें केंद्र सरकार के मंत्रियों को तथा शिक्षा विभाग के अधिकारियों को और सर्वोदय प्रवृत्तियों में प्रवृत्त शिक्षाविशारदों को भाग लेने का निमंत्रण दिया गया था। राष्ट्र की वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्थिति को ख्याल में रखकर सम्मेलन ने नयी तालीम के बारे में विचार-विमर्श किया और इस तालीम के आधारभूत प्रश्नों को ध्यान में रखकर तालीम का भावी अभ्यासक्रम, शिक्षकों की तालीम और कारोबार इत्यादि प्रश्नों की चर्चा की। इसी सम्मेलन की एक महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि सर्व सेवा संघ नयी तालीम की एक ऐसी समिति का निर्माण करे जो इनकी योजना का अमल चालू रखने का सतत कार्य करती रहे। इस प्रस्ताव के अनुसार सर्व सेवा संघ ने समिति की रचना की, जिसमें ४१ सदस्य थे। श्री मनुभाई पचोली इस समिति के अध्यक्ष और श्री अरुणाचलम् एवं श्री आचार्लू इसके संयोजक बने। समिति का कार्य निम्नलिखित रहा :

(१) नयी तालीम के साथ सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओ एव व्यक्तियो के साथ सम्पर्क.

(२) इस तालीम के क्षेत्र में उपलब्ध ज्ञान और अनुभव का विविध राज्यो में वितरण।

(३) देश के विविध प्रदेशो में और विदेशो में जो प्रयोग होते हैं उनकी जानकारी।

(४) जनसमुदाय को शिक्षा की नीति की चर्चा के लिए परिसवाद और सम्मेलन का आयोजन।

(५) शिक्षा क्षेत्र में मार्गदर्शनीय प्रयोग को प्रोत्साहन।

इसी समय भारत सरकार ने डा० कोठारी के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की। नयी तालीम समिति ने उस कमीशन को एक आवेदन-पत्र दिया। कमीशन ने इस आवेदन-पत्र के आधार पर समिति और सर्वोदय-विचार धारा के शिक्षा-विशारदों को अपने विचार तथा सुझाव देने के लिए निमंत्रित किया। जब कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो देखा गया कि कमीशन ने बुनियादी शिक्षा का नाम राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में से निकाल दिया था। हमारे राष्ट्रपिता ने एक विशिष्ट शिक्षा-पद्धति को जो नाम प्रदान किया था उस नाम के लिए ही केवल नही परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा के मूल में बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्तो को प्रस्तावित करने के लिए समिति ने पत्र, तार और सभाओ के द्वारा बडा आन्दोलन शुरू किया और नवम्बर २२,२३ को मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जिले के कुण्डेश्वर में कमीशन की सिफारिशो पर सोच-विचार के लिए एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने नयी तालीम की शिक्षा-पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त और ध्येय के बारे में अपनी श्रद्धा व्यक्त की और कार्यानुभव 'वर्क एक्सपीरिएन्स', कृषि-शिक्षा, भाषा-नीति, प्रौढ शिक्षा आदि की समालोचना की। व्याख्यानो, सभाओ, अखबारों और परिसंवादो के द्वारा सम्मेलन का सन्देश कमीशन और सरकार को पहुँचाने की त्वरित कार्रवाई शुरू हुई। अपने प्रस्ताव के समर्थन में समिति ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन शुरू किया।

दूसरी ओर ग्रामदान आन्दोलन में जो तात्त्विक सिद्धि प्राप्त हुई थी इससे इस क्षेत्र में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता हुई। शिक्षित बेरोजगारो, छात्रो के व्यवहार में परिवर्तन और सामान्य जनता में बच्चों, युवकों और प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए बौद्धिक समानता के विकास की आवश्यकता तथा शिक्षा में नये विचार, नयी क्रान्ति के सचार के लिए जागृति का निर्माण करना। इन सभी

बातों के लिए सर्व सेवा संघ तत्पर हुआ और उसने नव-निर्माण कार्य की सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक कार्यवाही कर सके, ऐसी नयी तालीम समिति की रचना की।

१९७० में नयी तालीम संघ की पहली सभा नयी दिल्ली में हुई। समिति ने अन्य कार्रवाई के साथ १९७०-७२ के लिए समिति ने निम्नलिखित पदाधिकारी नियुक्त किया :

श्री श्रीमन्नारायण—अध्यक्ष
श्री मनुभाई पंचोली—उपाध्यक्ष
श्री के० अरुणाचलम्—मंत्री
श्री के० एस० आचार्लू—मंत्री

नयी तालीम समिति की तीन सभाएँ क्रमानुसार अहमदाबाद, भावनगर और सेवाग्राम में हुई। समिति की प्रवृत्तियों के मुख्य लक्ष्य ये हैं

(क) राज्यों की विविध संस्थाओं को सहकार देकर प्रोत्साहित करना।

(ख) शिक्षा के विविध प्रश्नों की चर्चा के लिए विद्यार्थी, अध्यापक और समाज के इस क्षेत्र के अधिकारियों के परिसंवाद और सम्मेलनों का आयोजन करना।

(ग) आचार्यकुल और तरुणों के बीच सहकार का निर्माण करना।

(घ) शान्तिसेना के कार्य का संगठन करना।

(ङ) शैक्षणिक क्रान्ति में सक्रिय भाग लेना।

(च) शिक्षा की नीति और प्रवृत्तियों के अभ्यास के लिए अध्यापकों, शिक्षा-विशारदों और अन्य नेताओं को एक मंच पर एकत्र करना।

●

शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक

इन्दिरा गांधी

शिक्षा एक ऐसा विषय है, जो व्यक्ति और देश के जीवन में बुनियादी महत्त्व रखता है। लेकिन हमने तो आजाद होने के बाद भी शिक्षा में विदेशी राज का बनाया हुआ ढाँचा ही कायम रखा। थोड़े से सुधार हुए, लेकिन वे भी नाम मात्र के। यद्यपि देश में शिक्षा का फैलाव तो बहुत हुआ, तकनीकी शिक्षण से देश के विकास कार्यक्रमों में मदद मिली, फिर भी राष्ट्र-जीवन में शिक्षा का जो महत्त्वपूर्ण योगद न होना चाहिए वह हमारे यहाँ नहीं है, और मुझे लगता है कि दुनिया में कहीं नहीं है। इसलिए इस बारे में आज सब जगह मथन चल रहा है।

यहाँ अभी कहा गया कि मैं आप लोगों को कुछ प्रेरणा दूँ। अब मैं क्या प्रेरणा दूँगी? आप सब लोग इस क्षेत्र के इतने अनुभवी हैं कि मुझसे प्रेरणा की अपेक्षा रखना उचित नहीं है। मैं तो आप लोगों के सामने थोड़े से सुझाव रखूँगी।

आज का शिक्षण जीवन से, भारत की परिस्थिति से अलग

भारत के सभी महापुरुषों ने शिक्षा के बारे में कुछ-न-कुछ कहा ही है। उन्होंने एक बात यह कही है कि आप क्या 'सीखते' हैं, यह मुख्य नहीं है, लेकिन आप क्या 'बनते' हैं, यह मुख्य है, महत्त्वपूर्ण है। केवल जानकारी प्राप्त कर लेना पूरा शिक्षण नहीं है। जीवन जीने के लिए आपको तैयार करे, दूसरों के अनुभवों का लाभ उठाना सिखाये, यह शिक्षा का मुख्य ध्येय है। परन्तु आज तो हमारी शिक्षा हमारे जीवन से अलग है, भारत की परिस्थिति से दूर है, दुनिया की प्रगति से अलग है, भारत की जनता से दूर है।

हमें लगता है बीता हुआ जमाना बहुत शान्ति का था, यद्यपि उस जमाने में लोगों को ऐसा नहीं लगता होगा। हरेक युग में समाज में कुछ-न-कुछ तनाव और तगदिली रहती ही है। और यह स्थिति बनी रहनेवाली है। शिक्षा उसमें

सतुलन लाती है। वैसे तो हमारी शिक्षा में अन्य बहुत-सी कमियाँ हैं, लेकिन मुख्य कमी यह है कि आज की यथास्थिति कैसे कायम रहे और मजबूत बने, ऐसी उसकी दिशा है। इस स्थिति में कैसे परिवर्तन आये, इस ओर उसका ध्यान नहीं है। सचमुच में तो शिक्षा को बच्चों को इस तरह तैयार करना है कि चाहे जैसी बदली हुई परिस्थिति में भी अपने पैरों पर खड़े रह सकें और विविध धाराओं को जान सकें, पहचान सकें, उनके बीच अपना सतुलन कायम रख सकें।

स्कूल-कालेज में कैद शिक्षा

परन्तु आज तो हमलोगों ने शिक्षा को कैद कर दिया है स्कूल और कालेज की चहारदिवारी में। मैं तो यह महसूस कर रही हूँ कि मेरी जो कुछ भी शिक्षा हुई है, वह स्कूल-कालेज से बाहर के जीवन के अनुभवों से हुई है। मैं ऑक्सफोर्ड में पढ़ने गयी। मेरा खास विषय था इतिहास। इसलिए मैं तो इतिहास के बारे में सब कुछ रट कर गयी थी, लेकिन इन्टरव्यू मुलाकात में उसमें से कुछ भी नहीं पूछा गया। अन्य तरह-तरह के विविध प्रश्न पूछे गये। मुझे आश्चर्य हुआ। मुलाकात के आखिर में प्राध्यापकों से मैंने पूछा भी कि ऐसा क्यों? तब उन्होंने कहा कि आपको कितनी जानकारी है आप कितना रट सकती हैं, यह हमको नहीं जानना था, लेकिन आप कितना सीख सकती हैं, आपको कितनी रुचि है, यह हमें जानना था।

खैर, मैं यह कह रही थी कि शिक्षा द्वारा विद्यार्थी को इस तरह तैयार करना है कि वह दूसरों के पास से, समाज से बराबर सीखने की, जन्म से मरण तक सीखने की, शक्ति प्राप्त करे। शिक्षा प्राप्त करके आदमी को एक युग से दूसरे युग तक छलांग मारने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त कर लेना, यह कोई शिक्षा नहीं है।

गांधी जी ने तो सभी नये रास्ते दिखाये और पुराने में भी नये अर्थ भरे। उन्होंने बुनियादी तालीम का जो विचार रखा है, उसमें बहुत गुण थे और आज भी हैं। उसको थोड़ा और भी विशाल करना है। उसमें थोड़ी सकुचितता आ गयी थी। मुख्य बात यह है कि शिक्षा का जीवन के प्रत्येक विषय के साथ, प्रत्येक पहलू के साथ कैसा सम्बन्ध है? बालक को शुरू से ही यह समझाना है कि वह समाज का एक अग है।

जीवन की चुनौतियों का जवाब प्रस्तुत करनेवाली शिक्षा

दूसरी बात यह कि बड़े आदमियों को जो काम लगता है, वह बच्चों के लिए खेल होता है। खेल और काम को अलग क्यों करना है? दोनों साथ साथ

चखना चाहिए । ऐसा होगा तो शिक्षा में रुचि पैदा होगी । आज तो शिक्षा की ओर ज्यादातर नौकरी की दृष्टि से देखा जाता है । लड़कियों के पास डिग्री होगी तो अच्छा वर मिलेगा, इसी तरह का अधिकतर चिन्तन चलता है । लेकिन शिक्षा तो वह चीज है, जो बच्चों के शरीर और मन को तैयार करे और जीवन में जो कुछ चुनौतियाँ आयें, उनका सामना करने के लिए समर्थ बन ये । इस तरह आज की शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन लाना है । लेकिन यह आसान नहीं है । सब जगह की तरह यहाँ भी निहित स्वार्थ हैं । उनका सामना करते हुए हमें क्रांति करनी है ।

आज की शिक्षा : जातिवाद बढ़ानेवाली

स्कूल कालेज की शिक्षा से आज एक प्रकार का जातिवाद भी बढ़ रहा है । शिक्षित आदमी अपने को कुछ ऊँचा मानने लगा है । यद्यपि पढ़ने से कुछ गुण तो आदमी में आते ही है, लेकिन इस तरह देखने लगें तो खेती का काम करने से भी थोड़ गुण आते ही हैं । इसलिए शिक्षित आदमी सबसे बढ़कर है, ऐसा भाव नहीं रहना चाहिए ।

पहले आम चुनाव के समय की बात है । उस समय प्रचार के लिए हमने इलाहाबाद में अपना कार्यालय खोला था । कुछ शिक्षित बहनें मेरे पास आयी और कहने लगी कि हमको गाँवों में जाना है । मैंने उनसे पूछा कि गाँव की परिस्थिति का आपलोगों का कोई अभ्यास या अनुभव है ? अनुभव तो उनको कोई था नहीं, लेकिन व गयी । उनके मन में ऐसा होगा कि हम तो पढी लिखी हैं, इसलिए हम को सब कुछ आता है । गाँव के तो गरीब, गँवार लोग, उनको हम सब कुछ सिखा सकेंगी । व बहन गाँव में गयी, बहुत तरह की जानकारियाँ गाँव के लोगों को दी, लेकिन गाँव के लोगों ने उनसे सवाल पूछे । उन्होंने पूछा कि "हमारी यह समस्या है, इसका समाधान आपके पास क्या है ?" उन बहनों के पास इसका तो कुछ अनुभव था नहीं, इसलिए वे गाँव के लोगों को समाधानकारक जवाब नहीं दे सकीं ।

मेरा कहना यह है कि प्रत्येक आदमी के पास, चाहे वह गरीब हो, आदिवासी हो, कुछ-न कुछ योग्यता, जीवन के अनुभव आदि होते ही हैं । हम शहरवाले और शिक्षित हैं, इसलिए उनसे ऊँचे और ज्यादा समझदार हैं, ऐसा भाव रखना उचित नहीं है । हमें भी उन लोगों से कुछ-न-कुछ सीखना है ।

बाबूगिरी बढ़ानेवाली शिक्षा

आज तो लड़का पढ़ लिया तो गाँव में रहना नहीं चाहता । कृषि का स्नातक भी गाँव में काम करना नहीं चाहता । श्रम के काम से नफरत करता है । इस

तरह के दृष्टिकोण से कितना नुकसान होता है ? कोई भी काम नीचा नहीं है, कम महत्व का नहीं है। लेकिन हमारे यहाँ शिक्षा के साथ बाबूगिरी बढ रही है। शिकार मैं खुद भी इसका शिकार बनी हूँ। मैं कोई फाईल या कुछ उठाने जाऊँ तो दो तीन आदमी दौड आते है, और मुझे उठाने नही देते। अरे भाई इतनी छोटी सी फाईल मैं खुद क्यों नही उठा सकती ?

शिक्षण में क्रान्ति करनी हो तो

मैं तो क्रांति में विश्वास करती हूँ। और क्रान्ति को कोई नहीं रोक सकता है। गांधीजी काफी परिवर्तन लाये, लेकिन एक क्रान्ति ही पर्याप्त नही है, परिवर्तन तो हरपल होते रहना चाहिए, शान्ति की क्रान्ति निरंतर चलती रहनी चाहिए। शिक्षा में भी कोई चीज अन्तिम नहीं है। नये-नये प्रयोग चलते रहने चाहिए। मुझे कोई आदेश देने की आदत नही। मैंने तो आप लोगों के सामने ये कुछ प्रश्न रखे हैं।

शिक्षा में परिवर्तन लाना है तो अभिभावकों को भी साथ लेना होगा। तभी कोई भी सही सुधार हो सकेगा। अपने बच्चो की शिक्षा के बारे म अभिभावकों की रुचि बढ़ानी होगी। उनको मालूम होना चाहिए कि उनके बच्चे क्या कर रहे हैं। मैं तो आज देख रही हूँ कि मेरे बच्चों को जितनी जानकारी है, उतनी मुझे भी नहीं है, खासकर विज्ञान की नयी नयी खोजों के बारे में। क्योंकि विज्ञान के क्षत्र में बडी बडी जो खोजें हुईं, वे मेरी औपचारिक शिक्षा पूरी हुई, उसके बाद की हैं।

अन्त में मुझ इतना ही कहना है कि चारों ओर की हवाओं से हमलाग परिचित रहें, लेकिन जैसा गाधीजी ने कहा था, ' ये हवाएँ हमारे घर को ही अपनी जमीन पर से उखाड न दें, यह देखना होगा।" हम अपनी शिक्षा का ढाचा इस तरह बनायें कि जिससे नया समाज बनाने में सफलता मिले।●

राष्ट्रीय शिक्षा और विकास व सामाजिक न्याय

श्रीमन्नारायण

पचीस वर्ष पूर्व स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद भारत अनेक दिशाओं में उल्लेखनीय प्रगति कर रहा है जिसके लिए हमें गौरव अनुभव करना स्वाभाविक है। फिर भी, हमें मानना होगा कि अनेक समितियों और आयोगों की सिफारिशों के बावजूद हमारी प्राथमिक से विश्वविद्यालय के स्तरों की शैक्षणिक पद्धति में कोई खास प्रगति नहीं हुई है, और वह राष्ट्र की जरूरतों को पूरा करने में कारगर नहीं है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि स्वाधीनता के रजत-जयन्ती वर्ष में हम अपने शैक्षणिक सुधारों के विभिन्न पहलुओं पर गहराई और गम्भीरता से विचार करें, ताकि समय की आवश्यकताओं के अनुकूल अपनी विद्यमान शैक्षणिक पद्धति को ढालने की दृष्टि से कुछ ठोस कदम उठाये जा सकें। संक्षेप में, हमें अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में शिक्षा को एक अत्यन्त उच्च प्राथमिकता देनी होगी और समय-समय पर विभिन्न समितियों द्वारा दिये गये कुछ विशेष सुझावों को अविलम्ब अमल में लाना होगा।

स्वर्गीय जमनालाल बजाज द्वारा स्थापित शिक्षा मण्डल की रजत जयन्ती के अवसर पर पैंतीस वर्ष पहले, वर्धा में अक्टूबर १९३७ में एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया था। उस बैठक की अध्यक्षता स्वयं महात्मा गांधी ने की थी और परिणामस्वरूप बुनियादी शिक्षा का जन्म हुआ, जिसे गांधीजी ने राष्ट्र को अपना "अन्तिम और उत्कृष्ट उपहार" कहा था। इस पद्धति में रचनात्मक और उत्पादक प्रवृत्तियों द्वारा बच्चों को सर्वांगीण शिक्षा देने पर सबसे अधिक महत्त्व दिया गया था, जो उनमें स्वावलम्बन तथा श्रम की गरिमा के सद्गुणों का सम्पादन करे। बुनियादी शिक्षा की योजना भारत के लगभग सभी प्रांतों में कहीं सफलता और कहीं विफलता के साथ लागू की गयी थी। यह समय एक दूसरे पर दोष डालने या मनमुटाव पैदा करने का नहीं है। लेकिन यह तो जाहिर है कि कई कारणों की वजह से बुनियादी शिक्षा को अभी तक देश में उचित स्थान नहीं दिया जा सका है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८-४९) ने सिफारिश की थी कि इस पद्धति को न केवल प्राथमिक व माध्यमिक स्तरों पर, बल्कि विश्वविद्यालयों में भी लागू किया जाय। माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२-५३) ने भी सिफारिश की थी कि स्कूलों में अध्यापन के तरीके इस तरह के होने चाहिए जिससे कार्य के प्रति वास्तविक लगन तथा उसे अत्यन्त कुशलता, ईमानदारी और भरसक पूर्णता के साथ करने की इच्छा पैदा हो सके। शिक्षा आयोग (१९६४-६६) ने भी यह बात स्पष्ट कर दी थी कि उनके विचार में बुनियादी शिक्षा के मूल तत्त्व इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वस्तुतः उन्हें शिक्षा के सभी स्तरों पर लागू कर देना चाहिए। लेकिन फिर भी इन विचारों को वास्तविक व्यवहार में अमली बनाने के लिए वर्षों से नगण्य-सा ही कार्य हुआ है। हाँ, बुनियादी (Basic) शब्द के स्थान पर 'कार्य-अनुभव' (Work experience) और 'व्यवसायीकरण' (Vocationalisation) जैसे नये शब्द जरूर तैयार किये गये हैं। गांधीजी ने बड़े साफ शब्दों में कहा था कि 'नयी तालीम' का अमल जन्म से मृत्यु पर्यन्त होना चाहिए। मैं यहाँ शब्दों के बारे में विवाद खड़ा नहीं करना चाहता, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि हमें 'बुनियादी तालीम' शब्द इस्तेमाल करने में क्यों झिझक महसूस होती है। डॉ० जान डयूई ने इस पद्धति को सभी अन्य पद्धतियों से एक कदम आगे बताया है। प्रो० गुनार मिरडाल ने अपनी महान रचना *'एशियन ड्रामा'* में स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि "बुनियादी शिक्षा भारतीय प्राथमिक स्कूलों में

अध्यापन और पाठ्यक्रमो के परम आवश्यक सुधार की दृष्टि से आदर्श हल हो सकती है।"

बुनियादी शिक्षा के मूल सिद्धान्तों का आज भी उतना ही औचित्य है जितना कि पैंतीस वर्ष पहले था। हाँ, अध्यापन के ढंग और साधनों में आवश्यक परिवर्तन जरूर हो सकता है। सन् १९३७ में भारत स्वतंत्र राष्ट्र नहीं था; उस समय कोई पंचवर्षीय योजनाएँ भी नही थी। अब हमारा देश स्वाधीन है। शहरी व देहाती इलाकों में अनेक कार्यक्रमों व परियोजनाओ को पूरा करने के उद्देश्य से हजारों करोड रुपयो की लागत से पाँचवी पंचवर्षीय योजना आरम्भ करने की तैयारियाँ हो रही है। ऐसी स्थिति में, बुनियादी और उत्तर बुनियादी स्कूलो में, बुनाई और कताई पर जोर देने के अलावा अपने पडोस में सभी विकास योजनाओ के साथ अपने अध्ययन के विषयो को सम्बद्ध किया जा सकता है। प्रशिक्षण-केन्द्रो को छोडकर इन शिक्षा-संस्थाओं के लिए यह जरूरी नही है कि उनके पास अपने खेत और वर्कशाप हो। हाँ, उसके पास बुनियादी औजार और उपकरण होना चाहिए। लेकिन अनुबन्ध के लिए समस्त प्राकृतिक व सामाजिक परिवेश उनकी बुनियादी प्रवृत्ति बन सकती है। छात्र समुदाय का विकास कार्य के साथ इस प्रकार का तालमेल बैठाने से शिक्षा और नियोजन दोनो को ही लाभ पहुँचेगा। गुजरात सरकार ने हाल ही मे इस प्रकार की विकास लक्ष्यीय शिक्षा-योजना राज्य भर में दाखिल की है। आशा है सभी सम्बन्धित लोगो के सहयोग से पाँचवी योजनावधि मे वह एक ठोस शैक्षणिक सुधार का मार्ग प्रस्तुत करेगी।

शैक्षणिक ढाँचा

विभिन्न स्तरो के शैक्षणिक ढाँचे के बारे में शिक्षा आयोग और भारत सरकार के राष्ट्रीय शिक्षानीति प्रस्ताव (१९६८) ने १० + २ + ३ की पद्धति की सिफारिश की थी। मेरे विचार से सभी राज्य सरकारो को अब इस पद्धति को बिना अधिक चर्चा के स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रथम १० वर्षो को दो हिस्सो में विभाजित किया जा सकता है। पहले ७ वर्षों की बुनियादी शिक्षा और उसके बाद के ३ वर्षों को उत्तर बुनियादी शिक्षा। बेसिक स्कूलो में बच्चो को रचनात्मक प्रवृत्तियों के जरिये आम शिक्षा तथा सामाजिक परिवेश की अच्छी जानकारी देनी चाहिए। उत्तर बुनियादी स्कूलो से अपेक्षा की जाती है कि वे सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद तथा उत्पादक दस्तकारियो का प्रशिक्षण दें, जो स्थानीय जरूरतों और जनशक्ति की आवश्यकताओ के अनुरूप हो।

हायर सेकेण्डरी शिक्षा के दो वर्षों में विद्यार्थियों को तकनीकी किस्म के

अनेक विशिष्ट पाठ्यक्रमों की तालीम लेना चाहिए जो उन्हें अपनी जीविका कमाने तथा स्वावलम्बी बनने में मददरूप हो। किन्तु ऐसे छात्रों के लिए भविष्य में कभी भी उच्चतर अध्ययन करने का मार्ग खुला रहना चाहिए। इस प्रकार के डिप्लोमा पाठ्यक्रमों में कृषि, पशुपालन, डेयरी-उद्योग, देहाती इंजीनियरिंग, एकाउण्टेन्सी, बैंकिंग और बीमा, सहकार, प्रबन्ध, बिक्री व्यवसाय, अध्यापन, इमारतों का निर्माण, लोहारगीरी, कपड़ों की धुलाई, बढ़ईगीरी, रेडियो तथा मोटरों की मरम्मत, नर्सिंग आदि अनेक विषयों का समावेश किया जा सकता है। यह सूची केवल नमूने के तौर पर दी गयी है। उसे नगरों और गाँवों में उपलब्ध रोजगारों के अवसरों को दृष्टि से निरन्तर बढ़ाया जा सकता है। सरकार के विभिन्न विभाग भी अपनी जरूरतों के अनुरूप डिप्लोमा पाठ्यक्रम शुरू कर सकते हैं। इस प्रकार के द्विवर्षीय पाठ्यक्रमों को कालेजों की अपेक्षा हायर सेकण्डरी स्कूलों में रखना ठीक रहेगा, हालाँकि इस बारे में कुछ लचकीलापन रखना शायद आवश्यक हो।

विश्वविद्यालयों में डिग्री का पहला पाठ्यक्रम तीन वर्षों का होना चाहिए। उसके बाद विभिन्न अवधि के पोस्ट ग्रेजुएट और रिसर्च पाठ्यक्रम होने चाहिए। यहाँ भी कृषि, विज्ञान, टेक्नालॉजी मेडीकल, वाणिज्य और व्यापार के पाठ्यक्रमों पर अधिक जोर देना उपयोगी होगा।

अध्ययन के पाठ्यक्रम

सभी स्तरों के अध्ययन-पाठ्यक्रमों में इन तीन मूलतत्वों पर बल देना चाहिए

(१) शैक्षणिक कार्यक्रम के रूप में शारीरिक श्रम की गरिमा,

(२) सामुदायिक सेवा के सार्थक कार्यक्रमों में छात्रों और शिक्षकों की सक्रियता के जरिये सामाजिक जागरूकता और जिम्मेदारी की भावना, और

(३) सर्व धर्म समभाव के दृष्टिकोण का प्रसार।

पाठ्यक्रमों में इन मूल तत्वों के समावेश के लिए निम्न कार्यक्रम अपनाये जा सकते हैं -

(क) अहाते की सफाई और देखरेख,

(ख) स्कूलों, पारिवारिक या पड़ोस के खेतों में कृषि से सम्बन्धित उत्पादक काम में हाथ बँटाना। इसके लिए छुट्टियों के समय में उचित परिवर्तन किया जा सकता है,

(ग) सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद और उत्पादक दस्तकारियाँ सिखाना,

(घ) छात्रों में रुचियों (हॉबीज) का प्रसार,

(ङ) शिक्षा के नये ऐसे तरीके अपनाना, जो प्रत्येक विषय में हाथ से काम करने के अवसर देते हों,

(च) पारस्परिक सेवा के कार्यक्रमों के जरिये शैक्षणिक संस्थाओं और समुदाय के बीच निकट का सम्पर्क स्थापित करना,

(छ अकाल, बाढ़, संक्रामक रोगों और प्राकृतिक आपत्तियों के निवारण कार्यक्रमों में भाग लेना, तथा

(ज) प्रौढ़ शिक्षा के उपयुक्त कार्यक्रम आयोजित करना।

अध्ययन के विषयों में विज्ञान गणित कृषि और टेकनालॉजी के अध्यापन पर विशेष जोर देना चाहिए। पाठ्यक्रमों में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास, राष्ट्रीय एकता अहिंसा सामाजिक न्याय और हमारे संविधान के अनुसार सब धर्म समभाव का समावेश होना चाहिए। स्वाधीनता के बाद की अवधि में विभिन्न क्षेत्रों में हुई उल्लेखनीय प्रगति की भी पर्याप्त जानकारी देना चाहिए।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विद्यार्थियों को अच्छी किस्म की पाठ्य-पुस्तकें देनी चाहिए। N C E R T इस दिशा में काफी अच्छा कार्य कर रहा है; उसे अधिक व्यापक और उपयोगी बनाया जाय। साथ ही साथ, अध्ययन के नये तरीकों के बारे में जानकारी देनेवाली उपयुक्त पुस्तकें शिक्षकों के लिए भी तैयार की जानी चाहिए।

उच्च माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तरों पर अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और दर्शन जैसे विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों में गांधी विचारधारा के अध्ययन का समावेश होना चाहिए।

आंशिक समय की शिक्षा

देश के स्कूलों और कालेजों में शिक्षा के स्तरों को ऊंचा उठाने की भरसक कोशिश के साथ साथ आंशिक समय की शिक्षा और पत्र व्यवहार पाठ्यक्रमों को भी बड़े पैमाने पर प्रोत्साहित किया जाना जरूरी है खासकर विश्वविद्यालयों में जिससे कि निजी व सरकारी सेवाओं में अथवा कृषि, उद्योग या अन्य व्यवसायों में काम करनेवाले लोगों को लाभ मिल सके। इस प्रकार की सुविधाएँ ऐसे कमजोर वर्गों के छात्रों को विशेष रूप से मददरूप होंगी जो पूरे समय की शिक्षा का फायदा नहीं ले सकते हैं। लेकिन मुझे संदेह है कि इस प्रकार के

आंशिक समय के पाठ्यक्रमों की शिक्षा को पूर्ण समय की शिक्षा के समान मान्यता प्रदान करना कहाँ तक उचित होगा। इस प्रकार की आंशिक समय की शिक्षा के लिए प्रेस, फिल्म, रेडियो और टेलीविजन जैसी ग्राम संचार की आधुनिक सुविधाओं का भी समुचित उपयोग किया जा सकता है।

प्रवेश की आयु

बुनियादी स्तर पर कक्षा १ में भर्ती की आयु सामान्यतया ६ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार किसी भी छात्र को हाईस्कूल परीक्षा में तब तक नहीं बैठने देना चाहिए जब तक कि वह १६ वर्ष की आयु पूरी नहीं कर लेता। १३ और १४ वर्षों की आयु में ही छात्रों को मैट्रिक की परीक्षा में बैठने देने की वर्तमान व्यवस्था बच्चों के स्वास्थ्य और मानसिक विकास के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

छात्रों को अपने दो वर्ष के डिप्लोमा पाठ्यक्रमों को १८ वर्ष की उम्र में पूरा करना चाहिए। इसी उम्र के छात्रों की सीमित संख्या में विश्वविद्यालय के वर्गों में प्रवेश देना चाहिए।

हमारा अनुमान है कि हाई स्कूल परीक्षा पास करनेवाले नवयुवक काफी संख्या में इस प्रकार के द्वि-वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रमों में नहीं भर्ती होंगे। वे उपयुक्त रोजगार प्राप्त करने और जीवन में स्थिर होने के लिए सहायक होंगे।

उच्च शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए यह जरूरी है कि योग्यता और प्रतिभा के आधार पर विभिन्न छात्रों में उपलब्ध रोजगार के अवसरों को ध्यान में रखते हुए छात्रों की एक सीमित संख्या चुनकर विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट करायी जाय। इसके लिए प्रत्येक क्षेत्र में, कृषि, उद्योग, मेडिसिन, व्यापार, सरकारी सेवा, आदि में आवश्यक जनशक्ति का एक सावधानीपूर्वक सर्वेक्षण करना बहुत आवश्यक होगा।

शिक्षा और आर्थिक विकास

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, शिक्षा और आर्थिक विकास के बीच निकट का सम्बन्ध होना जरूरी है। प्राथमिक या बुनियादी स्तर पर बच्चों को भौतिक और सामाजिक दशाओं के अनुरूप सरल दस्तकारियों और रचनात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा शिक्षा देनी चाहिए। इसे दोनों, देहाती और शहरी, क्षेत्रों के स्कूलों में बिना भेदभाव के लागू करना चाहिए।

माध्यमिक या उत्तर बुनियादी अवस्था में टेकनिकल और व्यावसायिक शिक्षा

की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थी उत्पादक प्रवृत्तियों और अध्ययन के साथ कमाने में अपने को लगा सकें और आत्मनिर्भरता की भावना बढ़ा सकें। उन्हें अपने निकट के विस्तारों की विभिन्न विकास प्रवृत्तियों, खासकर देहाती विस्तार में कृषि, पशुपालन, डेयरी और वृक्षारोपण तथा शहरी विस्तारों में उद्योग, निर्माण, व्यवसाय और वाणिज्य में भाग लेने के अवसर मिलने चाहिए।

द्विवर्षीय उच्च माध्यमिक स्तर पर भी विद्यार्थियों को शहरों और गाँवों के अनुकूल विविध व्यावहारिक अभ्यासक्रमों में प्रशिक्षित कराना चाहिए, ताकि उसके बाद वास्तविक आवश्यकतानुसार उनको विभिन्न व्यवसायों में लगाया जा सके।

विश्वविद्यालयों में कृषि फार्मों विभिन्न आकार की औद्योगिक इकाइयों तथा विविध विकास योजनाओं को अनेक कालेजों तथा उच्चशिक्षा केन्द्रों के साथ जोड़ा जा सकता है। N C C तथा N S S कार्यक्रमों को रचनात्मक एवं उत्पादक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करना चाहिए। इस स्तर पर अध्ययन के साथ अर्जन सिद्धान्त को अधिक व्यवस्थित ढंग से किया जा सकता है।

शिक्षा और सामाजिक न्याय

भारत में जनतांत्रिक, समाजवादी तथा धर्मनिरपेक्ष जनतंत्र को स्थापित करने के लिए यह जरूरी है कि प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तरों तक के सभी विद्यार्थियों में राष्ट्रीय एकता सामाजिक भाईचारा तथा समाज-सेवा की भावना उत्पन्न की जाय। समान अवसर और सामाजिक न्याय पर आधारित जातिविहीन, बहुधर्मी तथा बहुभाषी समाज की स्थापना करने से ही वास्तविक राष्ट्रीय एकीकरण दृढ़ किया जा सकता है। इस दृष्टि से स्कूलों और कालेजों में सभी धर्मों के प्रति समान आदर तथा सामाजिक समानता का वातावरण पैदा किया जाना वाछनीय है।

यह केवल तभी सम्भव हो सकेगा जब सार्वजनिक शिक्षा की एक सामान्य स्कूल पद्धति अपनायी जाय और आगामी पाँच वर्षों में उसे कारगर ढंग से नगरों और गाँवों में अमल में लाया जाय, जैसा कि शिक्षा आयोग ने सिफारिश की है। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल सभी बच्चों के लिए समान तौर पर खुले होने चाहिए, चाहे उनकी जाति, भाषा, धर्म या आर्थिक-सामाजिक स्तर कुछ भी हो। परिणामस्वरूप वर्तमान पब्लिक स्कूल और अन्य निजी संस्थाएँ, जो अधिक ट्यूशन फीस लेती हैं और मुख्यतया धनवान वर्गों के बच्चों को दाखिल करती हैं, उन्हें अपनी फीस और अन्य खर्चों को आम स्कूल-पद्धति के अनुरूप बना लेना चाहिए।

इन स्कूलों को भी, अन्य संस्थाओं की तरह सरकारी अनुदान प्रदान किये जा सकेंगे। वर्गों और आम जनता के बीच मौजूदा अन्तर को कम करने का यही व्यावहारिक तरीका है।

इसके अलावा विभिन्न जातियों, समुदायों और धार्मिक संस्थानों द्वारा संचालित संस्थाओं को भी देश के वृहद् हितों की दृष्टि से सार्वजनिक शिक्षा की आम पद्धति के अनुरूप बन जाना चाहिए। कालेज और विश्वविद्यालय स्तरों पर इन संस्थाओं के नामों से 'हिन्दू', 'मुस्लिम', 'क्रिश्चन', 'खालसा', 'जाट', 'कायस्थ और 'वैश्य', जैसे शब्द निकाल देने चाहिए। समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष समाज में इन शब्दों का तालमेल नहीं बैठता है।

खासकर कमजोर वर्गों के छात्रों को पर्याप्त अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से शिक्षा की सभी अवस्थाओं में योग्यता-छात्रवृत्तियां काफी संख्या में उपलब्ध करायी जायें। देश में उपलब्ध उच्चतम शिक्षा से कोई भी छात्र सिर्फ इसलिए वंचित न रह जाय कि उसके माता पिता गरीब हैं और वे उसे स्कूल या कालेज में नहीं भेज सकते।

नये प्रयोगों की गुंजाइश

सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से स्कूल की एक आम पद्धति वांछनीय है, फिर भी राज्य सरकारों को चाहिए कि वे विभिन्न सतहों की शैक्षणिक संस्थाओं को अध्ययन तरीकों, परीक्षा पद्धति, पाठ्यक्रम म ।षय के संकलन पाठ्य पुस्तकों की तैयारी और शिक्षकों को तालीम की दिशा में नये प्रयोगों को सक्रिय प्रोत्साहन प्रदान करें। एकरूपता पर दिये जानेवाले भार को शैक्षणिक क्षेत्र में नवीन प्रयोगों और अनुसंधान की दिशा में बाधक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग करनेवाले स्कूलों या कालेजों को विभिन्न दिशाओं में, शिक्षा विभाग के हस्तक्षेप के बिना, अनुभव प्राप्त करने देना चाहिए। 'स्वायत्त कालेजों' की कल्पना को अब एक निश्चित रूप देना चाहिए। इन संस्थाओं के सफल विद्यार्थियों को प्रबन्धकों की सिफारिशों पर राज्य शिक्षा बोर्डों द्वारा नियमित रूप से प्रमाण-पत्र देना होगा। हाँ, शिक्षा विभागों को चाहिए कि वह कुशलता और ऊँचे स्तरों को बनाये रखने के हित में समय-समय पर इस प्रकार की प्रयोग-संस्थाओं के कार्य की समीक्षा करते रहें।

माध्यमिक स्कूलों और कालेजों के भी राष्ट्रीयकरण के लिए शिक्षकों की चल रही माँगें शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के संतुलित दृष्टिकोण पर आधारित दिखाई नहीं देती हैं। यद्यपि निजी संस्थाओं में मौजूद अनेक बुराइयों को हटाने के भरसक

प्रयत्न होने चाहिए, लेकिन राज्य सरकारों को समाजवाद के नाम पर इन स्कूलों को चलाने की समस्त जिम्मेदारी उठा लेने के दबाव में नहीं आ जाना चाहिए। हम यह नहीं भूल जाना है कि हमारे देश में अनेक निजी संस्थाओं ने दशाब्दियों से शैक्षणिक सुधार की दिशा में अनेक कदम उठाये हैं। इसलिए हमें इस क्षेत्र में निजी पहल और उद्यम को कुण्ठित बनाने में किसी प्रकार की जल्दबाजी नहीं करना है। जाहिर है कि राज्य के वृहत राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से इस प्रकार की संस्थाओं पर नियमन, देखरेख और नियंत्रण रखना है।

समुदाय-सेवा

शिक्षा की सभी संस्थाओं में सामाजिक और राष्ट्रीय सेवा को उसका एक अविभाज्य अंग बनाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब स्कूल और कालेज के अहाता में और अड़ोस पड़ोस की विभिन्न प्रकार की विकास योजनाओं में छात्रों के सक्रिय सहयोग की व्यवस्था हो।

शैक्षणिक संस्थाओं के अहातों के अन्दर छात्रों को कमरों और इमारतों की सफाई, खेल के मैदान को समतल बनाना, बागवानी, फर्नीचर की मरम्मत करना दीवालों की पुताई और दरवाजों व खिड़कियों की रंगाई जैसे कार्यों में हिस्सा ले सकते हैं। छात्रावासों में सामूहिक जीवन पर विशेष बल देना चाहिए ताकि विद्यार्थी अपनी जरूरतों को नौकरों के बिना पूरा कर सकें। विकास प्रवृत्तियों में नियमित रूप से भाग लेने की दिशा में सार्वजनिक सफाई, भू संरक्षण, वृक्षारोपण छोटी सिंचाई योजनाएँ, सड़क निर्माण और प्रौढ़-शिक्षण जैसे कार्यक्रमों का समावेश होना हितकर होगा।

प्रत्येक स्कूल और कालेज को सामुदायिक विकास खण्डों और राज्य सरकारों के सम्बन्धित विभागों से निकट का सम्पर्क स्थापित कर समाज की सेवा की अपनी योजनाएँ तैयार करनी चाहिए। सामुदायिक सेवा के इस प्रकार के कार्यक्रमों को निर्धारित पाठ्यक्रमों के साथ जुड़ा होना चाहिए, उन्हें केवल कोई बाहरी प्रवृत्ति न माना जाय। इस प्रकार की विकास परियोजनाओं में छात्रों द्वारा किये गये काम की ठीक ढंग से समीक्षा की जाय और उसका सम्बन्ध परीक्षा पद्धति से जोड़ा जाना चाहिए।

इसके अलावा प्रत्येक जिले में छुट्टी के समय हर वर्ष श्रम और सामाजिक सेवा शिविरों का आयोजन होना चाहिए। इसके लिए जिले की एजन्सियों के परामर्श से किसी खास विकास परियोजना का चयन किया जा सकता है। इस

प्रकार के शिविरों के लिए आवश्यक निधियों के कुछ भाग को स्थानीय देहाती निर्माण कार्यक्रमों से प्राप्त कर सकते हैं।

शिक्षा का माध्यम

(क) अब यह बात सभी मानते हैं कि शिक्षा का माध्यम हरेक स्तर पर मातृ भाषा या क्षेत्रीय भाषा होना चाहिए। लगभग सभी राज्यों में प्राथमिक और माध्यमिक अवस्थाओं में तो इस प्रकार की व्यवस्था है। अब भारतीय विश्व-विद्यालयों में, टेकनिकल और मेडिकल शिक्षा देनेवाली कुछ अखिल भारतीय संस्थाओं को छोड़कर शिक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाने की दिशा में योजनाबद्ध कदम शीघ्र उठाने चाहिए। जहाँ तक हो सके सभी भारतीय भाषाओं में टेकनिकल शब्द एक प्रकार के हों। जहाँ आवश्यक हो वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों का उपयोग किया जा सकता है। जिन शहरों में भाषाई अल्पसंख्यकों की गणना काफी हो, वहाँ कुछ संस्थाओं में हिन्दी व अंग्रेजी माध्यम चालू रखा जा सकता है।

(ख) देश में अभी भी ऐसे अनेक अंग्रेजी माध्यमवाले निजी माध्यमिक स्कूल हैं जिनका संचालन मुख्यतया विदेशी ईसाई मिशनों द्वारा होता है। इन स्कूलों को अब शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति के अनुरूप बन जाना चाहिए तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग और समान पाठ्यक्रम अपनाना चाहिए। राज्य सरकारों को चाहिए कि वे इस प्रकार के सभी निजी स्कूलों के लिए 'रजिस्टर' कराना अनिवार्य बनायें और उनमें निर्धारित पाठ्यक्रमों को दाखिल करें। इस प्रकार के मिशन स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम को जारी रखना न केवल राष्ट्रीय शिक्षा के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है, बल्कि उससे वर्गभेद भी बढ़ता है और राष्ट्रीय एकता में बाधा पड़ती है। हाँ, आम पद्धति को अपनाते हुए भी ये संस्थाएं अनुशासन, स्वच्छता और अध्यापन-तरीकों की अपनी विशिष्टता कायम रख सकती हैं।

(ग) यह बात स्वीकार करनी होगी कि अंग्रेजी माध्यमवाले स्कूल अभी भी काफी छात्रों के लिए आकर्षण बने हुए हैं, खासकर इसलिए कि अखिल भारतीय सिविल तथा मिलिटरी सेवाओं की परीक्षाओं का माध्यम अभी तक केवल अंग्रेजी भाषा बनी हुई है। इसलिए यह जरूरी है कि इस प्रकार की प्रतियोगिक परीक्षाओं को क्षेत्रीय भाषाओं में लिया जाय और उम्मीदवारों को प्रत्येक राज्य के लिए नियत कोटा के अनुसार तर्कयुक्त आधार पर चुना जाय, न कि केवल

आबादी के आँकडो पर। इन सेवाओं या अखिल भारतीय स्वरूप कायम रखने के लिए चुने गये उम्मीदवारो को हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओ का अच्छा ज्ञान कराया जाय तथा उन्हें राष्ट्रीय इतिहास, संस्कृति, भारतीय संविधान और आर्थिक संयोजन की भी जानकारी दी जाय।

भाषाओं का अध्ययन

माध्यमिक स्तर पर, शिक्षा मन्त्रालय द्वारा निर्दिष्ट 'तीन-भाषा फार्मूला' को सभी राज्य सरकारों द्वारा तेजी से अमल में लाया जाना चाहिए। शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा रहे, लेकिन भारतीय संघ की राजभाषा के रूप में हिंदी के अध्ययन पर उचित ध्यान दिया जाय। साथ-साथ, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का भी कामचलाऊ ज्ञान जरूरी है। जिन छात्रो की मातृभाषा हिंदी हो उनके लिए पाठ्यक्रम में खासकर दक्षिण की एक आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन शुरू किया जाय। यह भी वांछनीय है कि अंग्रेजी के अलावा विश्वविद्यालयों में फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, रशियन, चीनी, जापानी और हमारे एशियाई पडोसियों की दूसरी अनेक भाषाओ को प्रोत्साहन मिले।

भारतीय भाषाओ की अभिवृद्धि और विकास की दृष्टि से संस्कृत का विशेष महत्त्व है। इसलिए राज्य सरकारो को अधिक उदारता के साथ स्कूलों और विश्वविद्यालयो मे उसके अध्यापन के लिए सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए।

नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा

राधाकृष्णन् तथा कोठारी आयोगो की सिफारिश के अनुसार स्कूलो तथा कालेजो में विद्यार्थियो को नैतिक और धार्मिक शिक्षा देने के लिए एक क्रमिक और योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर, सभी शैक्षणिक संस्थाओं का कार्य कुछ समय की सामूहिक अथवा मौन प्रार्थना तथा ध्यान से आरम्भ हो। सभी धर्मों में एकता लाने के लिए स्वस्थ वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से सप्ताह में एक या दो घण्टे ऐसी शिक्षा के लिए टाइम टेबुल मे सुरक्षित रखना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे छात्रो को महान धार्मिक नेताओ की जीवनी, उनकी सुविदित कृतियो तथा ऐसे बुनियादी उपदेशो से परिचित कराना चाहिए, जो सभी धर्मों मे प्रचलित हो। ऊँची कक्षाओ में विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहिए। भारत में तथा एशिया और अफ्रीका के अन्य विकासशील देशो में एक बहु धर्मी समाज की रचना के लिये ऐसा करना बहुत जरूरी है।

कक्षाओ में दी जानेवाली शिक्षा के अलावा हमारी शैक्षणिक सस्थाओ का आम वातावरण तथा बाहरी प्रवृत्तियाँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे धार्मिक समन्वय और एकता को बढ़ावा मिल सके। भारत के सामने आज चरित्र निर्माण की समस्या प्रमुख है और हमारे नवयुवक और नवयुवतियो में नैतिक मूल्यो को जगाना बड़ महत्व का है। यह जिम्मेदारी सभी शिक्षको की होनी चाहिए, न कि केवल उनकी जो विभिन्न धर्मों या विषयो को पढाते हो।

परीक्षा पद्धति मे सुधार

जैसा कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने उचित बल दिया है, विश्व विद्यालयो में यदि कोई अकेला सुधार करना है तो वह परीक्षाओ के बारे में होना चाहिए। यही बात प्राथमिक और माध्यमिक अवस्थाओ की परीक्षा-पद्धति को भी लागू होती है। परीक्षा के वर्तमान ढग से छात्रो की शारीरिक मानसिक और नैतिक क्षमताओ पर बडा बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे शैक्षणिक स्तरों में गिरावट हुई है, अनुशासन कमजोर हुआ है और सर्टिफिकेट, डिप्लोमा और डिग्रियो को प्राप्त करने के लिए अनुचित और अनैतिक तरीको का इस्तेमाल होने लगा है।

इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि परीक्षा-पद्धति म अविलम्ब आमूल सुधार किय जाय। इस विषय पर समय समय पर अनेक समितियो और आयोग ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है और कई व्यवहारिक सुझाव दिये हैं। उनमें से कुछ सिफारिशो को तुरन्त लागू कर देना चाहिए। सक्षप में, निम्न सुझावो को स्वीकृत कर देना चाहिए

(क) बाहरी परीक्षाएँ अधिक वस्तु निष्ठ (Objective) तथा तर्क-सगत हो, प्रश्न पत्र ऐसे हो जो रटने की क्रिया को प्रोत्साहन न दें बल्कि स्वतत्र विचार और मौलिकता का सर्जन करें। जैसाकि विश्वविद्यालय आयोग न सुझाव दिया है, बाहरी परीक्षाओ के प्रत्यक प्रश्न-पत्र को जाँचन के लिए दो परीक्षको की नियुक्ति की जाय। छात्रो को अको क आधार पर आकन के बजाय परीक्षक उन्हें प्रथम और द्वितीय ऐसी दो श्रेणियो में विभाजित करें।

(ख) कई सामयिक परीक्षाओ द्वारा आन्तरिक मूल्याकन पर अधिक बल देना उचित होगा जिससे कि सिर्फ अन्तिम परीक्षा के अनुचित महत्व को कम किया जा सके। पूर्णांको म से आध नही, तो कम-से-कम एक तिहाई अकों का आन्तरिक मूल्याकन के लिए निर्धारित करना चाहिए। यह मूल्याकन छात्रों के शैक्षणिक अध्ययन, बाहरी प्रवृत्तियो, उपस्थिति में नियमितता, काय-

परियोजनाओं में परिश्रम तथा सामान्य आचरण के आधार पर किया जाय। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे आन्तरिक मूल्यांकन लगातार तथा वस्तुस्थिति पर आधारित रहें, शिक्षकों की वैयक्तिक पसन्दगी या नापसन्दगी पर नहीं।

(ग) छात्रों के सर्वांगीण व्यक्तित्व तथा बौद्धिक सिद्धि को आँकने के लिए मौखिक परीक्षाओं पर अधिक बल देना होगा।

हालाँकि, परीक्षकों को मेहनताना देना बन्द कर देने सम्बन्धी शिक्षा आयोग का सुझाव अमल में लाना शायद सम्भव न हो, लेकिन शिक्षकों में ज्यादा-से ज्यादा विषयों के परीक्षक बनने की अस्वस्थ खींचतान को कारगर ढंग से कम करना होगा। इस उद्देश्य से उपयुक्त नियम बनायें जायें। जो शिक्षक लापरवाही, अकुशलता और आचारहीनता के लिए दोषी पाया जाय उसको यदि स्थायी तौर पर नहीं तो दीर्घ समय के लिए परीक्षक बनने से रोका जाना चाहिए।

परीक्षा-पद्धति न केवल विद्यार्थियों की बौद्धिक सिद्धि की जाँच करे, बल्कि उत्पादक प्रवृत्तियों और खेल-कूद, व्यायाम, समाज-सेवा जैसी सह-प्रवृत्तियों में उनके सक्रिय सहयोग और उनकी चारित्रिक श्रेष्ठता पर भी ध्यान दे।

नौकरियों से डिग्रियों का सम्बन्ध तोड़ना

अभी विभिन्न सरकारी विभाग उम्मीदवारों को लोक सेवा आयोगों के जरिये भर्ती करते हैं। इस प्रकार की भर्ती मुख्यतया विश्वविद्यालय की डिग्रियों के आधार पर की जाती है। परिणामस्वरूप इस प्रकार की डिग्रियाँ प्राप्त करने के लिए छात्रों में उचित या अनुचित तरीकों से परीक्षाएँ पास करने की वृत्ति पैदा हो गयी है। कुछ वर्ष पहले केन्द्र सरकार ने इस विषय का गहराई से अध्ययन करने के लिए प्रो० हुमायूँ कबीर की अध्यक्षता में एक विशेष समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने सिफारिश की थी कि आई० ए० एस० जैसी कुछ अखिल भारतीय सेवाओं को छोड़कर शेष नौकरियों के लिए सरकारी विभागों को अपने स्वतंत्र पाठ्यक्रम निर्धारित करने चाहिए और भर्ती के लिए विश्वविद्यालय की डिग्रियों को अनिवार्य मानें बिना अपनी परीक्षाएँ आयोजित करनी चाहिए। इस प्रकार के पाठ्यक्रम उच्च माध्यमिक शालाओं में १० + २ + ३ की प्रस्तावित योजना के अन्तर्गत संचालित किये जा सकते हैं।

सरकारी नौकरियों में डिग्रियों का सम्बन्ध-विच्छेद कर देने से न केवल विश्वविद्यालयों में भर्ती की भीड़ और परीक्षाओं में आचारहीनता कम हो जायगी,

बल्कि सरकार को अपने विभागीय कार्यों के लिए अधिक अच्छे उम्मीदवार मिल सकेंगे। इस कदम से कई प्रगतिशील संस्थाओं को शैक्षणिक क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा।

शिक्षकों का कर्तव्य

जाहिर है कि शिक्षा पद्धति में शिक्षकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सघन प्रयासों के द्वारा शिक्षकों की गुणवत्ता म सुधार लाये बिना हमारी शैक्षणिक संस्थाओं को अधिक उपयोगी बनाना सम्भव न हो सकेगा। शिक्षकों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए गांधीजी बहुत उत्सुक थे। वे चाहते थे कि हमारा समाज शिक्षकों के महत्त्व को केवल उनके वेतन से नहीं बल्कि समाज के प्रति किये जानेवाले उनके धर्म के आधार पर आंके। शिक्षकों का कर्तव्य है कि जिस युवा पीढ़ी को जिम्मेदारी उन्हें सौंपी गयी है उसके चरित्र निर्माण में वे अपना योगदान दें। वास्तविक अर्थ में वे राष्ट्र के सच्चे निर्माता हैं। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे छात्रों को राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने के लिए प्रशिक्षित करने का भरसक प्रयास करें। लेकिन सरकार का भी यह फर्ज है कि वह शिक्षकों की सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाये और उन्हें दैनिक आर्थिक चिंताओं से मुक्त करे। जनतांत्रिक तथा समाजवादी व्यवस्था की प्रक्रिया में एक असन्तुष्ट शिक्षक निश्चित ही अभिशाप बन जाता है।

शिक्षक भी अपनी शिकायतों को दूर कराने के लिए हड़ताल तथा आम आन्दोलनों में भाग लेकर संकीर्ण दलगत राजनीति तथा सस्ते श्रमिक संघवाद में अपने को न उलझायें। वे अपनी कठिनाइयों को संयम और अनुशासन से सम्बन्धित अधिकारियों के सामने पेश कर सकते हैं। शिक्षा विभाग भी उनकी शिकायतें ध्यान से सुने और हल करे। देश के राजनैतिक दल एक आचार-संहिता अपनायें जिसके अनुसार शैक्षणिक संस्थाओं के कामकाज में दखलंदाजी न की जाय और वहाँ का वातावरण दूषित न हो।

माता-पिता का सहयोग

भारत में शैक्षणिक पुनर्रचना के महत्त्वपूर्ण कार्य में सभी संस्थाओं के लिए छात्रों के माता पिता का सहयोग प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। प्रारम्भिक अवस्थाओं से ही माता-पिता अपने बच्चों की घर तथा स्कूल में हुई प्रगति पर उचित ध्यान दें तथा उनके व शिक्षकों के बीच निकट का सम्बन्ध कायम हो। इस उद्देश्य से हमारी शैक्षणिक संस्थाओं में पालक-शिक्षक मण्डल की एक सामान्य व्यवस्था बन

जानी चाहिए। दोनों में इस प्रकार के सम्पर्क से शैक्षणिक स्तरों में सुधार और छात्रों के व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलेगी। विद्यार्थियों में अनुशासन जगाने और उनके आम बर्ताव में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से भी संस्थाओं के प्रमुखों को उनके पालकों का सहयोग लेना चाहिए। वास्तव में प्रत्येक परिवार को सही अर्थ में एक बुनियादी शिक्षा की इकाई के रूप में विकसित होना चाहिए।

छात्रों का सक्रिय योग

मौजूदा शैक्षणिक पद्धति में विभिन्न स्तरों की पुनर्रचना करने के लिए स्कूलों और कालेजों में छात्रों का सहकार लेना जरूरी है। स्वतंत्र भारत में पैदा हुए बच्चे अब प्रौढ और देश के जिम्मेदार नागरिक बन रहे हैं। उनमें नयी उमंग और महत्वकांक्षाएँ हैं और वे चाहते हैं कि बेरोजगारी और निराशा का सामना किये बिना ही वे एक प्रतिष्ठा-प्राप्त नागरिक के रूप में अपना जीवन बितायें। इसलिए अध्ययन के पाठ्यक्रमों को बदलने, पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने, सामुदायिक सेवा और विकास प्रवृत्तियों में उनके सहयोग, परीक्षा सम्बन्धी सुधार तथा अध्ययन के तरीकों में फर्क लाने के बारे में छात्रों के विचारों पर उचित ध्यान देना होगा। उनका सहयोग न केवल विभिन्न छात्र कल्याण कार्यक्रमों को अमल में लाने, बल्कि शैक्षणिक सुधारों में निर्णय लेने की प्रक्रिया में भी प्राप्त करना चाहिए। छात्र-संघों का उपयोग आत्मसंयम लागू करने और तरुणों में अधिक जिम्मेदारी की भावना जाग्रत करने की दृष्टि से किया जाय। विश्वविद्यालयों में छात्रों के कुछ प्रतिनिधियों को सिनेट और एकेडेमिक कौन्सिल में भी शामिल किया जा सकता है।

नवयुवकों को यह बात समझायी जाय कि हिंसा और जनता की सम्पत्ति को नाश करने के वर्तमान तरीकों से देश के लोकतांत्रिक ढाँचे को अपार हानि पहुँचेगी। हिंसा ने अनिवार्य रूप में प्रतिहिंसा की भावना जागती है और वस्तुतः एक गृहयुद्ध की स्थिति पैदा हो जाती है जिससे राज्य प्रशासन में फासिस्ट प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। डा० आरनोंल्ड टायनबी ने अपनी नवीनतम कृति 'सर्वाईविंग दी फ्यूचर' में नयी पीढ़ी को इस प्रकार की महत्वपूर्ण सलाह दी है : "सबसे महत्व की बात यह है कि धैर्यवान बनो और हिंसा से दूर रहो। महान दर्शनों और धर्मों के नेताओं से सबक सीखो। भगवान बुद्ध, ईसा और हमारे समय में ही पैदा हुए महात्मा गांधी जैसी महान आत्माओं की शालीनता, धैर्य, और दीर्घकालीन सहनशीलता का अनुसरण करो।"

देश के अन्दर और बाहर भारत खेलकूद के क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ है। म्युनिख ऑलिम्पिक में हुए हाल ही के अनुभव से इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में हमारी खामी स्पष्ट रूप से दिखायी दी है।

इसलिए यह वाञ्छनीय है कि स्कूलों और कालेजों में खेलकूद का बड़ पैमाने पर विकास किया जाय और हम प्रतिभाशील नवयुवकों का भलिभांति चयन कर उन्हें हर तरह से प्रोत्साहित करें। देहाती और शहरी विस्तारों में खेल के मैदानों तथा अन्य शारीरिक शिक्षा सम्बन्धी प्रवृत्तियों के लिए उदारता से सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

प्रौढ़ शिक्षा

यह बड़ी चिन्ता की बात है कि पिछले २५ वर्षों में किये गये अनेक प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद हमारी आबादी का ७० प्रतिशत भाग निरक्षर बना हुआ है। महिलाओं में निरक्षरता का प्रमाण स्वभावतया अधिक है। महात्मा गांधी का यह स्पष्ट मत था कि प्रौढ़ शिक्षा का आधार बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों पर ही हो। पढ़ाई लिखाई सम्बन्धी थोड़ा सा ज्ञान देने की अपेक्षा यह जरूरी होगा कि भूमिहीन श्रमिकों, किसानों, कारीगरों और कामगारों की उत्पादक कुशलताओं को बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक प्रयत्न किये जायें। दूसरे शब्दों में हमारा उद्देश्य 'फंक्शनल', साक्षरता का होना चाहिए। इस प्रकार की कार्य प्रेरित शिक्षा से विभिन्न व्यवसायों में निःसन्देह कार्य-कुशलता बढ़ेगी। ऐसी साक्षरता से जनता में अच्छी नागरिक जागरूकता पैदा होगी जो उनके व्यक्तिगत, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन को समृद्ध बनायगी।

शिक्षकों व विद्यार्थियों की समाज-सेवा प्रवृत्तियों को प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों में लगाना जरूरी है। इस आन्दोलन के लिए पूरे समय के वतन प्राप्त कार्यकर्ताओं को रखना बहुत महँगा पड़ेगा और शायद वैसा सम्भव भी न हो सके। इसलिए इस राष्ट्रीय अभियान की सफलता के लिए ऐच्छिक संगठनों, सरकारी कर्मचारियों, वकीलों, डाक्टरों, इंजीनियरों तथा अन्य लोगों की मुफ्त सेवाएं ली जायें। रेडियो और टेलीविजन सहित दृश्य-श्राव्य उपकरणों का भी समुचित उपयोग किया जाना चाहिए। जब तक इस प्रकार का एक व्यापक और मुख्यतया ऐच्छिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू नहीं किया जायगा, तब तक भारत से निरक्षरता हटाना बहुत कठिन और खर्चीला साबित होगा।

मैंने यहां ऐसी अनेक समस्याओं का उल्लेख किया है जिन पर हमें गम्भीरता-पूर्वक और अविलम्ब विचार करना चाहिए। इनके अलावा पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों का प्रशासनिक ढांचा, वित्तीय साधनों की प्राप्ति और शिक्षा-विभागों की पुनर्रचना आदि अनेक समस्याएँ हैं। यद्यपि इनका महत्व कम नहीं है, फिर भी अच्छा होगा यदि हम कुछ चुने हुए विषयों पर ध्यान केंद्रित करें और उन्हें शीघ्रता से अमल में लाने के उद्देश्य से किसी सर्व-सम्मति पर पहुँचें। मेरा विश्वास है कि यदि हम स्वराज्य की रजत-जयन्ती वर्ष में अपनी शिक्षा पद्धति को ठोस आधार पर मोड़ देने में कामयाब रहें तो निःसंदेह मातृभूमि के प्रति एक बड़ी जिम्मेदारी निभा सकेंगे। यदि हमारी शिक्षा प्रणाली में कोई स्पष्ट और ठोस सुधार होता है तो बेरोजगारी, अल्प अथवा निम्न श्रेणी का उत्पादन, अनुशासनहीनता और नागरिक अव्यवस्था जैसी मौजूद अनेक समस्याएँ लगभग अपने आप ही हल हो जायेंगी और भारत एक अधिक सुखी देश बन सकेगा।●

शिक्षा की तीन बुनियादें

विनोबा

इन दिनों बाबा के शरीर में कई रोग हैं। उनमें एक रोग है चक्रम्। बाबा को चक्कर आता है, वह शारीरिक चक्र है ही, लेकिन मानसिक चक्रम् भी है। उस हालत में आपके सामने क्या कहूँ, बड़ा मुश्किल है। एक ऐसे ही चक्रम् आये थे और उन्होंने बाबा से प्रश्न पूछा, 'आपको अगर दूसरा जन्म मिले, पुनर्जन्म, तो आप क्या करेंगे ?' मैंने कहा, 'पुनर्जन्म का मेरा विचार तो नहीं है, बहुत जन्म लिये, बहुत हो गया, लेकिन फिर भी अगर भगवान जबरदस्ती करके भेजेगा, तो जाना ही पड़ेगा। तो मैं क्या करूँगा ? जो गलतियाँ इस जन्म में की, वह नहीं करूँगा।' तो पूछ बैठे, 'कौन-सी गलतियाँ आपने इस जन्म में की ?' मैंने थोड़े में कहा, 'मुख्य गलती तो यह हुई कि मैं स्कूल में गया। मैं सिर्फ फैट्रिक की परीक्षा पास हूँ। फैट्रिक क्या है आप लोग जानते नहीं होंगे। यह बाबा का बहुत पुराना शब्द है। मैट्रिक के बाद कालेज का फर्स्ट इयर (प्रथम वर्ष) होता है, उसे बाबा ने फैट्रिक नाम दिया है। उतनी परीक्षा पास कर बाबा निकला। लेकिन उतना भी स्कूल में जाना ठीक नहीं रहा। दूसरी गलती यह की पढ़ना-लिखना सीखा। अगर पढ़ना-लिखना न सीखा होता, तो जो अनुभव लेने में इस जन्म में बहुत श्रम पड़ा, कम श्रम में वह अनुभव आ जाता। ऐसे विचित्र मेरे विचार हैं। इसलिए आपकी सभा के लिए मैं बिलकुल बेकार हूँ।

मुझे अभी याद आ रहा है उदाहरण मुहम्मद पैगम्बर का। पैगम्बर भगवान का ध्यान कर रहे थे। भगवान ने अव्यक्त रूप में एक पर्चा उनके सामने रखा और कहा, 'पढ़।' पैगम्बर ने अल्लाह से कहा, हे भगवान, मैं पढ़ना-लिखना नहीं जानता।' इस वास्ते भगवान को सामने आना पड़ा और बातचीत करनी पड़ी। अपना संदेश सुनाना पड़ा। बहुत प्रसिद्ध है यह कहानी। कुर्आन में उसका जिक्र है। नबीयुन् उम्मीयुन् ' अनपढ़ प्रोफेट ' तो पैगम्बर हमेशा कहते थे लोगों को कि अगर मैं पढ़ा-लिखा होता, तो भगवान का शब्द सुनने को मिलता नहीं और पर्चे पर समाधान मानना पड़ता। शिक्षित लोगों की यह हालत है कि उनके और परमात्मा के बीच पर्चा खड़ा होता है। पुस्तक दीवार बन जाती है और सृष्टि और आत्मा के बीच पुस्तक खड़ी होती है। मेरे सामने अनेक लेखक, अनेक विद्वान बैठे हैं, उनसे मैं इतना ही कहूँगा कि आगे 'अन-लर्निंग' का 'प्रोसेस'

करिएगा। जितना आपका 'लर्निंग' हुआ होगा उतना भूलने की प्रक्रिया शुरू करिए, तो अच्छा ज्ञान होगा।

'मूले कुठार'

एक बात मेरे मन में आती है, जो 'मूले कुठार' है, वह यह कि शिक्षा सरकारी तंत्र से मुक्त होनी चाहिए। शिक्षा पर सरकार का कोई वरदहस्त नहीं होना चाहिए। शिक्षकों को तनख्वाह सरकार जरूर दे। वह सरकार का कर्तव्य है। परन्तु जैसे न्याय विभाग—ज्युडिशिरी—स्वतंत्र है, और सुप्रीम कोर्ट में सरकार के खिलाफ भी फैसले दिये जा सकते हैं, और दिये गये हैं, अगरचे उस न्यायाधिपति को तनख्वाह सरकार से मिलती है, वैसे शिक्षा-विभाग स्वतंत्र होना चाहिए। यह अगर नहीं होगा तो बहुत बड़ा खतरा अपने देश के लिए है।

डिमोक्रेसी में यानी लोकशाही में हर एक को आजादी है, विचार की स्वतंत्रता है। एक बाजू से डिमोक्रेसी का दावा करना और दूसरी बाजू से विद्यार्थियों का दिमाग एक ढाँचे में ढालना, यह डिमोक्रेसी के मूलभूत विचार के खिलाफ है। ऐसी कोशिश रशिया में हुई। ऐसी कोशिश चायना में हुई। उसका परिणाम क्या आया, आप लोग देखते हैं। रशिया में दो-दो, तीन-तीन दफा इतिहास लिखे गये। नये-नये इतिहास। इतिहास यानी क्या है? 'इति ह आस'—वास्तव में ऐसा हुआ। परन्तु इन दिनों इतिहास का अर्थ है 'इति हास'—ऐसे हँसना, हास्यास्पद। इतिहास यानी हास्य का विषय। जिस प्रकार का विद्यार्थियों का दिमाग बनाना चाहते हैं, उसके अनुकूल इतिहास बनाते जायेंगे। परिणाम क्या आता है? शिक्षा अधिकारी के हाथ में ऐसी सत्ता आती है, जो सत्ता आपने न शंकर को दी, न रामानुज को दी, न तुलसीदास को दी, न कबीर को दी।

आज शायद उत्तर भारत में तुलसीदास की रामायण जितनी पढ़ी जाती है लोगों में, आम जनता में, भाइयों और बहनों में, उतनी दूसरी कोई किताब पढ़ी नहीं जाती। मैंने देखा बिहार में। बिहार की बहनें श्री अरविंद से बढ़कर योगी हैं। श्री अरविंद बीस-पचीस साल एक कोठरी में रहे। बिहार की बहनें जिंदगी भर एक कोठरी में रहती हैं। बाहर के आगन में भी नहीं आतीं। शादी के बाद घर में प्रवेश किया, उसके बाद, मृत्यु के बाद ही बाहर आयेंगी। अगर दफनाने का रिवाज होता तो उन्हें घर में ही दफनाते, लेकिन जलाने का रिवाज है, इसलिए उन्हें बाहर निकाल कर जलाना पड़ता है। लाचारी है। हमने उन बहनों से पूछा कि कुछ पढ़ती हो क्या? तो बोलीं, 'पढ़ना-लिखना तो जानती नहीं, थोड़ा पढ़ना सीखा है इसलिए तुलसीदास की रामायण पढ़ती हैं।' आज भी जो

धर्मभावना उत्तर प्रदेश, बिहार वगैरह में है, वह तुलसीदास की कृति है। लेकिन तुलसीदास को आपने वह अधिकार नहीं दिया, जो आज शिक्षा अधिकारी को है। शिक्षा अधिकारी आज जो किताब तय करेगा, वह हरएक बच्चे को पढ़ना ही पड़ेगा। उसकी परीक्षा देनी पड़ेगी, और परीक्षा में फेल होगा, तो आगे उसकी प्रगति होगी नहीं। तुलसीदास की किताब लोग खूब पढते हैं इच्छा से पढते हैं, लेकिन जबरदस्ती अपनी पुस्तक बच्चे पढ़ें, यह शक्ति तुलसीदास को नहीं। वह अधिकार आपने दे रखा है शिक्षा-अधिकारी को। शिक्षा अधिकारी के दिमाग में आपने ऐसी कौन-सी बुद्धिमत्ता पायी, जो तुलसीदास, कबीर, शंकर और रामानुज से बढ़कर है? इस वास्ते यह जो अधिकार दिया जाता है वह नहीं होना चाहिए। उससे बहुत नुकसान होता है देश का। तो ये मेरे शिक्षा के बारे में विचार 'मूले कुठार' है। लेकिन, फिर भी शिक्षा के बारे में, वह जब तक आपके हाथ में है, तब तक अच्छी से अच्छी योजना आप सब मिलकर करें यह ठीक ही है। उसमें तीन चीजें सिखानी चाहिए। एक है योग, दूसरा उद्योग और तीसरा सहयोग। ये शिक्षा के मुख्य तीन विषय हैं।

योग

योग का अर्थ आसन लगाना, व्यायाम करना यह नहीं है। योग यानी चित्त पर कैसे अंकुश रखना, इंद्रियों पर कैसे सत्ता रखना, मन पर कैसे काबू पाना, जुबान पर कैसे अपनी सत्ता पाना, यह योग का सच्चा अर्थ है। इन दिनों चित्त पर सत्ता रखना, चित्त अंकुश म रखना, स्थिर रखना जिसको गीता स्थितप्रज्ञा कहती है, ऐसी स्थितप्रज्ञा की बहुत आवश्यकता है। पहले कभी जितनी नहीं थी, उतनी आज है। क्यों है? क्योंकि आज रोजमर्रा की सैंकड़ों घटनाएँ कान पर पड़ती हैं, आँख पर पड़ती हैं। चारों ओर से विचारों का आक्रमण होता है। जितना आक्रमण मनुष्य के दिमाग पर आज होता है, उतना पहले कभी नहीं होता था, क्योंकि साइंस का जमाना आया है। ऐसी हालत में चित्त को शांत रखना, स्थिर रखना, काबू में रखना अत्यन्त महत्त्व का विषय है। इस वास्ते स्थितप्रज्ञ-दर्शन की आज जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। तो प्रज्ञा स्थिर करना योग का मुख्य विषय है।

उसके लिए कुछ आध्यात्मिक ग्रंथों की मदद हो सकती है। लेकिन हम लोगों में 'सेक्युलरिज्म' के नाम से एक गलत विचार पैठ गया है।

'सेक्युलरिज्म' का अर्थ वास्तव में, गांधीजी की भाषा इस्तेमाल करूँ तो 'सर्व धर्म समभाव' है। परन्तु 'सेक्युलरिज्म' का अर्थ हमने समझ लिया है 'सब

धर्म सम अभाव'। अब परिणाम उसका यह है कि उन आध्यात्मिक ग्रंथों का विद्यार्थियों को स्पर्श होने देते नहीं। लेकिन इनको लाचारी है कुछ। क्या लाचारी है? जो आध्यात्मिक ग्रंथकार हमारे कुछ हो गये, वे दुर्दैव से यानी इन सेक्युलरिज्म लोगों के दुर्दैव से साहित्यिक भी थे। इस वास्ते साहित्य की दृष्टि से उनके साहित्य का कुछ 'पीस' (छोटा हिस्सा) रखना ही पड़ता है। उसे कहते हैं, 'पीस' (टुकड़ा)। अब, बी० ए० तक सीख लिये और ज्ञानेश्वरी से सम्बन्ध नहीं, तो कैसे चलेगा? इस वास्ते ज्ञानेश्वरी का एक छोटा सा अध्याय रख लेते हैं बी० ए० में। बी० ए० के पहले तो कुछ था ही नहीं, बी० ए० में एक अध्याय ज्ञानेश्वरी का रख लिया। ऐसा इन लोगों का—सेक्युलरिस्ट लोगों का—ज्ञानेश्वर्य है। जिस ग्रंथ से महाराष्ट्र का हृदय बना, उस ग्रंथ का परिचय न हो ऐसी कोशिश करते हैं और लाचारी से साहित्य के तौर पर कुछ 'पीस' रख लेते हैं। यही हाल तुलसीदास के हैं।

यह ठीक है कि इन ग्रंथों में ऐसी कुछ चीजें हैं, जो इस जमाने के ख्याल से 'आउट डेटेड' (कालबाह्य) हैं। तो उतना अंश निकालना होगा। ऐसी कोशिश बाबा ने की है। बाबा ने कई धर्मग्रंथों का उत्तम-से-उत्तम अंश निकाल कर लोगों के सामने रखा है। जैसे कुरान सार है, ख्रिस्त धर्मसार है, भागवत धर्मसार है, मनुशासनम् है, इत्यादि, इत्यादि। ऐसे पन्द्रह बीस ग्रंथ बाबा ने निकाले हैं, जिनमें उन उन ग्रंथों का सार रख दिया है। तो उन ग्रंथों का उपयोग भी आप कर सकते हैं। उससे पुराने ग्रंथों के गलत विचारों से हम बचेंगे और जो अच्छे विचार हैं, उनको ग्रहण करेंगे।

सवाल यह है हमारे सामने कि पुराने जमाने के लोगों के आध्यात्मिक विचार रखें, इसकी जरूरत क्या है? आधुनिक जमाने के विद्वानों की किताबें रखने के बजाय पुराने ग्रंथकारों के विचार क्यों रखे जायें? इसका उत्तर है, होमियोपैथी। होमियोपैथी में क्या होता है? घोटा जाता है—घोट···घोट···घोटते हैं तो पोटेन्सी (शक्ति) बढ़ती है। तो जो आध्यात्मिक प्राचीन ग्रंथ हैं, उनकी पोटेन्सी बढ़ी हुई है। आज तक लाखों लोगों ने, अनेक महापुरुषों ने पढ़ पढ़कर उन्हें घोटा है। इस वास्ते उन ग्रंथों की पोटेन्सी बढ़ी है।

असम में दो महापुरुष हो गये—शंकरदेव और माधवदेव, जिनका नाम वहाँ के घर-घर में है। लेकिन यहाँ हम लोग जानते नहीं। हमको ऐसी तालीम मिली है कि हम पोप, बायरन, टेरन-यारन ऐसे अनेक 'रन' जानते हैं, परन्तु असम के घर-घर में जो नाम चलते हैं, वे नाम हम जानते नहीं। माधवदेव ने कहा है—

"विष्णुसहस्रनाम सदा—अरे मूरखो, 'विष्णु का सहस्र नाम तुम्हारे पास है, फिर भी—विरोध वचन मात्र रटत—विरोधी वचन रटते हो, विरोधी भाषा बोलते हो !' तो उन्होंने विष्णुसहस्रनाम को अविरोध साधक माना। यानी हमारे सबके हृदयों को जोड़नेवाला, विरोध मिटानेवाला ! और वही विष्णुसहस्रनाम चलता है केरल में । और वही विष्णुसहस्रनाम चलता है सौराष्ट्र में। हिन्दुस्तान के त्रिकोण में विष्णुसहस्रनाम चलता है । इतना घोटा हुआ होने के कारण उसकी पोटेन्सी बढ़ गयी है। तो, जो पोटेन्सी वेद की है, कुरान की है, बाइबिल की है, ज्ञानेश्वरी की है, तुलसीदास की है, वह पोटेन्सी हमारे आज के विद्वानों के ग्रंथों में नहीं हो सकती, अगरचे विद्वानों के ग्रंथ अच्छे भी होंगे। इस वास्ते पुराने ग्रंथों का विद्यार्थियों को स्पर्श होना चाहिए।

दूसरी भी एक बात है । कालपुरुष है। वह कालपुरुष परीक्षा करता है। कालपुरुष की परीक्षा में जो निकम्मी चीज है, वह पचास साल में, सौ-दो-सौ साल में गिर जाती है। और जो अत्यन्त उत्तम है, वह कालपुरुष की परीक्षा में टिकती है। सो परीक्षा वेद की हो गयी। दस-बारह हजार साल से कालपुरुष ने उसकी परीक्षा की। अगर वह चीज काम की नहीं होती, तो दस-बारह हजार साल टिकती नहीं। आज, हमारे ग्रंथों में से कितने ग्रंथ सौ साल के बाद पड़े जायेंगे ? मैं आपको मिसाल दूँ।

लोकमान्य तिलक का केसरी। हमारे बचपन में हम हर हफ्ते राह देखते थे कि केसरी कब आयेगा और कब पढ़ेंगे ! उसके लेख पढ़ते थे। उससे हमको बहुत ही प्रेरणा मिली। आज क्या है ? पचास साल हो गये उनको, उनके लेखों में से एक भी पढ़ा नहीं जाता। वे केवल गीतारहस्य के कारण जीवित हैं। अगर गीतारहस्य न लिखा होता, तो लोकमान्य का एक भी लेख हमारे पास पढ़ने के लिए नहीं होता। पचास साल के बाद वे लेख आउटडेटेड हो जाते हैं।

हमारे बचपन में त्रिमूर्ति थी—*भगवान शंकर, भगवान विष्णु और भगवान ब्रह्मदेव*। इस त्रिमूर्ति के जैसी त्रिमूर्ति लाल-बाल-पाल ! लाल यानी लाला लाजपतराय, बाल यानी बाल गंगाधर तिलक और पाल यानी विपिनचंद्र पाल। आज विपिनचंद्र पाल का नाम हमारे पास है, परन्तु उनकी कोई चीज पढ़ी नहीं जाती। लाला लाजपतराय ने अनेक ग्रंथ लिखे, लेख लिखे, एक भी लेख उनका आज पढ़ा नहीं जाता। उनका नाम आज इसलिए है कि पीपुल्स सोसायटी नाम की एक सोसायटी उन्होंने बनायी और वह आज कुछ सेवाकार्य कर रही है। लेकिन ग्रंथ उनका एक भी पढ़ा नहीं जाता। लोकमान्य के हालात आपको सुनाये। यह मैंने

आपको इसलिए कहा कि जिन ग्रंथों की काल ने परीक्षा की—और जो ग्रंथ हजार-हजार, पाँच पाँच, दस-दस हजार साल की परीक्षा में बचे हुए हैं उनकी परीक्षा हो चुकी—उन ग्रंथों में से हमको मदद लेनी पड़ती है, इतनी अक्ल हमको सेक्युलरिज्म में होनी चाहिए। तो यह बात मैंने कही योग के बारे में।

उद्योग

शिक्षा का दूसरा विषय है उद्योग। उद्योग में केवल चरखा हो या तकली हो, यह मेरा विचार नहीं। आधुनिक यंत्र भी हो, वर्कशाप भी हो। कुछ भी हो, लेकिन खेती तो होनी ही चाहिए। वेद में शब्द आया है पंचजना। अब भगवान का शंख पाँचजन्य है। यानी पाँच जनों के लिए भगवान का शंख है। वेद कहता है, पंचजन। कौन से पंचजन? रक्त, श्वेत, पीत, कृष्ण, भिन्न श्याम। हमारे देश के लोग श्याम हैं। कुछ लोग हैं रक्तवर्ण के रेड इंडियन्स वगैरह। कुछ लोग हैं काले, सिद्दी, हबशी वगैरह। कुछ लोग हैं गोरे, सफेद, यानी यूरोपियन वगैरह। कुछ पीत, बर्मा, चीन, जापान वगैरह के लोग। तो रक्त, श्वेत, पीत, कृष्ण, भिन्न श्याम, ऐसी पंच प्रजा दुनिया में है। श्याम हिंदुस्तान का खास वर्ण है। हम श्यामवर्ण लोग हैं। भगवान कृष्ण का वर्ण श्याम था। श्यामसुंदर वगैरह शब्द प्रचलित हैं ही। कृष्ण शब्द का अर्थ है किसान, खेती करनेवाला। खेती करनेवाले शरीर का जो रंग होता है वह कृष्ण का वर्ण है। ऐसे पंचजनों का जिक्र वेद में आता है। और भगवान का शंख पाँचजन्य है, इन पाँच जनों के लिए है यानी कुल दुनिया के लिए है।

जैसे पंचजन शब्द है, वैसे दूसरा एक शब्द वेद में आया है बार-बार पंचकृष्टि यानी पाँच किसान। उसका अर्थ यह है कि हरएक मनुष्य किसान है। खेती के साथ वह दूसरा काम करे। मान लीजिए, वह बुनकर है, उसे कहना कि आठ घंटे बैठे बैठे तुम बुनते रहो। यह बिलकुल जुल्म है उस पर। आठ घंटे एक जगह बैठकर बुनते रहने को कहना यानी उसकी शक्ति को क्षीण करना है। लेकिन, मान लीजिए, दो घंटे वह खेत में काम करे और छ घंटे बुने, तब तो उसका जीवन अच्छा होगा। ऐसे ही ब्राह्मण होगा। वह मुख्यतः अध्ययन करे। लेकिन वह भी दो घंटे खेती करे और बाकी समय अध्ययन करे, तो उसका जीवन अच्छा होगा। प्रधान मंत्री होंगे आपके, तो वह भी दो घंटा खेती में लगायें और बाकी समय अपना काम करें प्रधानमंत्री का, तो क्या होगा? उनका दिमाग ताजा रहेगा। और खेती के साथ सम्बन्ध होगा तो उनकी प्रतिमा उज्ज्वल होगी। फिर, आज जितना सूझता है, उससे बहुत कुछ अधिक भी सूझ सकता है। इस वास्ते वेद में

शब्द है पवकृष्टि । पाँच प्रकार के किसान । इसलिए मैंने कहा कि हमारी समाज रचना, शिक्षा की रचना, व्यूह रचना ऐसी होनी चाहिए, शहर में विद्यालय हो तो भी, कि विद्यालय के साथ दो-तीन एकड का खेत जुडा होना ही चाहिए। बच्चों को और शिक्षको को थोडी देर इकट्ठा होकर खेत म काम करना चाहिए।

इस सिलसिले में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक वाक्य मुझे कहा था। वह वाक्य एक मत्र के समान मुझे याद रह गया। उन्होंने अंग्रेजी में कहा था, इस वास्ते अंग्रेजी में आपके सामने रखूंगा, 'नेशन्स डीके व्हेन दे लूज कांटेक्ट विथ नेचर'—जिन राष्ट्रों का आसपास की कुदरत के साथ सम्बन्ध नही रह जाता व राष्ट्र क्षीण होते है, उनका क्षय होता है। इस वास्ते खेती के साथ, प्रकृति के साथ, सम्बन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में वेद में एक वाक्य आया है कि सृष्टि में होना चाहिए सौंदर्य और समाज में सौजन्य। समाज का सौजन्य और सृष्टि का सौंदर्य दोनों मिलकर जीवन परिपूर्ण है। सौजन्य को वद में वसु नाम दिया है। वसु यानी सौजन्य। सौंदय को वामम नाम दिया है। वामम यानी सौंदर्य। तो कहा गया, जो पृथ्वी पर काम करेगा, उसके लिए जरूरी है वसु, यानी अडरस्टिंग नेचर (मेलजोल की वृत्ति), वस धातु का यह अर्थ है। सौजन्य भावार्थ हुआ। और दिव्यधाम यानी सृष्टि होनी चाहिए वामम्—सुदर वामधाम वो दिव्याय धामे। वसुवसु व पार्थिवाय सुन्वते। दो चीजें एक होनी चाहिए। इस वास्ते खेती के साथ हर मनुष्य का सम्बन्ध होना ही चाहिए, यह मेरा आग्रह है।

सहयोग

एक हो गया योग। दूसरा हो गया उद्योग। तीसरा है सहयोग। इस सहयोग के अदर सारा समाजशास्त्र, मानसशास्त्र इत्यादि आ जायेगा। लेकिन मुख्य वस्तु क्या होगी? हमको सबको इकट्ठा जीना है। सहजीवन जीना है। सहजीवन में अनेक भाषाएँ, अनेक प्रांत, भेद इत्यादि इत्यादि सब सनम होने चाहिए। कल हमको किसी ने कहा, 'हम भारतीय है' ऐसी भावना होनी चाहिए, नकि हम 'महाराष्ट्रीय हैं,' 'गुजराती है' 'तमिल है,' इत्यादि इत्यादि। 'सन्तमिष्ट नाडेनुम् पोदिनिले जिन्ब तेन् वन्दु पायुदु कादिनिले, अप्पण् तन्दैयर नाडेन्न पेच्चिनिले ओरू शक्ति पिरक्कुदु मूच्चिनिले।' 'ऍगळ्' यानी 'हमारा' उच्चारण करते हुए उत्साह आता है। सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां, 'हमारा' कहते हर्ष होता है। 'हमारा' इसलिए हर्ष, 'आमार सोनार बागला'—अरे 'आमार' इसलिए सोनार। हम बचपन में बोलते थे—'वारा तुझ्या स्पर्शाने शुद्ध झाला मला लाभला भाग्य हे

केवढे ?' राष्ट्रों के राष्ट्रगीत होते हैं। मेरे पास राष्ट्रगीतों का संग्रह था। उसमें झाविया का राष्ट्रगीत था—मेरा कितना भाग्य, तेरी सुंदर हवा मिली, तेरा प्रकाश मिला इत्यादि-इत्यादि! इसका प्रमाण कौन है? 'मैं' हूँ मुख्य। वायु से पूछा जाये, अरे वायु, तू कहाँ का है? झाविया का है कि भारत का तो वह क्या जवाब देगा? लेकिन हमारे देश की हवा का मतलब क्या है? 'हमारा' यह है। अहम्—अहंगंड। तो उन्होंने कहा कि महाराष्ट्रीय, गुजराती, ये सब जाना चाहिए, हम भारतीय हैं। मैंने कहा, यह सबसे छोटी माँग है। मैक्सिमम (अधिक से अधिक) नहीं, और अष्टिमम् (इष्टतम) भी नहीं, यह कम-से-कम। तो क्या जरूरी है? जरूरी है विश्वमानव। हम विश्वमानव हैं।' ऐसी भावना चाहिए।

हम आज गाते हैं भारत के गीत, प्रांतों के गीत। लेकिन वेद में पृथ्वीसूक्त है, भारतसूक्त नहीं। नाना धर्माणं पृथिवी विवाचसम्। यह पृथ्वी हमारी मातृभूमि, इसमें अनेक धर्म हैं और विवाचसम् अनेक वाणियाँ, अनेक भाषाएँ हैं। तो अनेक भाषाओं से भरी अनेक धर्मों से भरी हमारी यह पृथ्वी! इस वास्ते हमको समझना चाहिए कि हमको विश्वमानुष बनना चाहिए। इसी वास्ते बाबा ने उद्घोष निकाला 'जय जगत्।' जय जगत् से कम चीज अब नहीं चलेगी। लेकिन मिनिमम अगर रखना है कम-से-कम रखना है, तो हम भारतीय हैं, यह ठीक है, साफ है।

यह सारा मैं आपको कह रहा हूँ सहयोग के सिलसिले में। सहयोग में मानना होगा कि सारी पृथ्वी एक है। पृथ्वी के सारे मानव एक हैं और केवल मानव ही नहीं, आसपास के पशु, पक्षी, प्राणी, वनस्पति सब एक हैं। क्रौंच का वध देखा तो कविता स्फुरित हुई। तो आसपास की सृष्टि के साथ भी एक होना चाहिए। ये चिड़िया हैं, सुंदर गाती हैं, उनकी रक्षा होनी चाहिए। ये कौएँ हैं उनकी रक्षा होनी चाहिए, ये गायें हैं उनकी भी रक्षा होनी चाहिए। वटवृक्ष की भी रक्षा होनी चाहिए। तुलसी की भी पूजा होनी चाहिए। यह भारत का पागलपन है। यह भारतीय पागलपन अत्यन्त महत्त्व का है, कि कुल के कुल मानव हम हैं और उनके अलावा आसपास के जो प्राणी हैं, वनस्पति हैं, सब हम ही हैं, इतनी एकरूपता हमको आसपास की सृष्टि के साथ होनी चाहिए। यह आज के जमाने की, विज्ञान के जमाने की माँग है। क्योंकि विज्ञान ने क्या किया है? सबको नजदीक नजदीक लाया है। इसलिए सहयोग में सबका सहयोग—प्राणियों का, मानवों का, सबका सहयोग अपेक्षित है।

सहयोग के लिए क्या चाहिए? गुण ग्रहण करना चाहिए। हम जितने यहाँ

बैठे हैं, उनमें से हरएक में अपरत्र दोष और एकाध गुण भगवान ने रखा है। दोष है देह के साथ जुड़ हुए और गुण है आत्मा के साथ। देह तो जलनेवाली है, मरनेवाली है, तो दोष सारे उसके साथ जल जायेंगे। मनुष्य के जो गुण हैं, वही उसको आत्मा का मुख्य स्वरूप है। इस वास्ते हमेशा गुण ग्रहण करना चाहिए। इस सिलसिले में माधवदेव का वाक्य प्रसिद्ध है। उन्होंने मनुष्यों के चार वर्गों की कल्पना की। मनुष्य के चार वर्ग होते हैं—अधम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम।

अधमे केवल दोष लवय

अधम होता है वह केवल दोष लेता है। दूसरों के दोष देखता है।

मध्यमे गुण-दोष लवे कारिया विचार

मध्यम गुण-दोष दोनों देखकर विचार करता है। गुणदोष दोनों देखता है। अकबर राजनीति में लोगों को गुण, दोष दोनों देखना पड़ता है। वे मध्यम श्रेणी में आ जाते हैं।

उत्तमे केवले गुण लवय

उत्तम केवल गुण ग्रहण करता है। उत्तमोत्तम क्या करता है।

उत्तमोत्तमे अल्प गुण करय विस्तार

अल्प गुण का विस्तार करता है। किसी में थोड़ा सा गुण देखा तो पहाड़ करके देखता है, बढ़ाकर देखता है वह उत्तमोत्तम पुरुष है। इस प्रकार हमको एक दूसरे के गुण बढ़ाना चाहिए। हमेशा गुणगान ही करना चाहिए। मेरे राणाजी मैं गोविन्द गुण गाना। मीराबाई कहती हैं मुझे केवल गोविन्द के गुण गाना है और कुछ नहीं। गोविन्द हरएक में भरा हुआ है। इसलिए हर एक के गुण गायें। नानक भी यही कहते हैं, 'बिन गुण के कीते भकति न होई।' जब तक गुण ग्रहण नहीं करते तब तक आपको भक्ति का स्पर्श होगा नहीं। तो नानक की वही राय है। मीरा की वही राय है। और माधवदेव की भी वही राय है।

बचपन में बाबा हरएक की अकल की परीक्षा करता था। इसमें यह दोष है, उसमें यह दोष है। फिर बाबा ने यह धन्धा छोड़ दिया। बाबा ने सोचा, बिना दोषवाला आदमी दीखता नहीं। फिर अपना दोष देखना शुरू किया। तो वहाँ भी काफी दोष दीखे। लेकिन यह सबके दोष देखने के बाद दीखे। पहले देखा होता तो दूसरे के देखने की इच्छा न होती। सन्त तुकाराम ने कहा है— 'काय्रमा गुणदोष बाणू आणिकांचे। मज काय त्याचे उणें असे।' दूसरों के दोष

क्यों देखूं, अपने क्या कम पड़े हैं, इस वास्ते अपना ही दोष देखना अच्छा रहेगा। फिर गांधीजी के पास आये। तो उन्होंने कहा, 'दूसरों के गुण बढ़ाकर देखें और अपने दोष बढ़ाकर देखें।' मैंने कहा, 'आप तो सत्यनिष्ठ हैं, सत्य को महत्त्व देते हैं, क्यों बढ़ा चढ़ा कर देखना चाहिए, जो हैं सो देखें। गणित में बढ़ाना-चढ़ाना बैठता नहीं।' मैं तो गणितशास्त्र का विद्वान था। सो बोले, 'तेरी बात ठीक है, परन्तु सोचने की बात है, यह स्केल बढ़ाने की बात है। अपना जो दोष होता है, वह छोटा दीखता है, इसलिए बढ़ाकर देखें तो 'प्रापर पारस्पेक्टिव' (सही दर्शन) आ जाता है। ऐसे ही दूसरों के गुणों की बात। वह कम दीखता है। उसे बढ़ाकर देखेंगे तो ठीक परस्पेक्टिव आ जाता है।' तो वह प्रक्रिया हमने शुरू कर दी।

उसके बाद तीसरी अवस्था आयी, जिसमें आज बाबा है। वह अवस्था है, दूसरे के भी गुण देखें और अपने भी गुण देखें। गुण अलावा देखना ही नहीं। बाबा से पूछते हैं, सातत्ययोग कैसे सधना चाहिए। बाबा जवाब देता है, जैसे बाबा को सधता है वैसा। बाबा ने एक विचार मन में तय किया, तो सतत, निरंतर करता रहेगा। यह बाबा का गुण है। और क्या गुण है बाबा का ? दोनों के लिए करुणा है। और क्या है ? सन्तों के वाक्यों पर श्रद्धा है। एक है श्रद्धा, दूसरा है करुणा और तीसरा है सातत्ययोग। और बाकी हैं असंख्य दोष। लेकिन उन दोषों का बाबा विचार करता नहीं। तीन गुण हैं, उनको आपके सामने रखता है। उसी प्रकार दूसरों में भी अनेक गुण हैं। तो अपने भी गुण गाना और दूसरों के भी गुण गाना। मेरे राणाभी मे गोविन्द गुण गाना। यह आगे की, तीसरी अवस्था अभी बाबा को प्राप्त हुई है। वही बाबा ने आपके सामने रखी। सहयोग के लिए यह आवश्यक, लाभदायी है गुण-ग्रहण वृत्ति।

इसको बाबा ने नाम दिया है गुणचुम्बक वृत्ति। लोहचुम्बक होता है। वह क्या करता है ? मिट्टी के अनेक कणों में लोहे के कण हों तो उनको खींच लेता है। उसका नाम है लोहचुम्बक। वैसे हमको बनना चाहिए गुणचुम्बक। मनुष्य में जो गुण दोष पड़े होंगे, उनमें से गुण एकदम खींच लेना चाहिए। यह शक्ति अगर हममें हो तो सहयोग अच्छी तरह सधेगा।

ब्रह्मविद्या मंदिर, पवनार : १४ १० ७२

सेवाग्राम का राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन

कान्ति शाह

अखिल भारत राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में गत १४-१५-१६ अक्टूबर '७२ को सेवाग्राम में सम्पन्न हुआ। सर्व सेवा संघ की नयी तालीम समिति द्वारा यह आयोजन हुआ था। देशभर से लगभग ३०० प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। शिक्षणशास्त्रियों और समाज-सेवकों के अलावा दो-चार विद्यार्थी प्रतिनिधियों करीब २० उप कुलपतियो दो राज्यों को छोडकर शेष सभी राज्यों के शिक्षामन्त्रियों, आन्ध्र के मुख्य मन्त्री और केन्द्र के उपशिक्षा मन्त्री ने इस सम्मेलन में भाग लिया। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री श्री नुरुल हसन भी इस सम्मेलन में भाग लेने वाले थे, लेकिन चूंकि उन्हें यूनस्को की एक बैठक में भाग लेने जाना था अतः आ नहीं सके। यह सफाई स्वयं प्रधानमन्त्री ने अपने उद्घाटन भाषण में दी। इस प्रकार पूरे देश की शिक्षण व्यवस्था का दायित्व जिन मुख्य लोगों पर है, लगभग वे सभी लोग इस सम्मेलन में उपस्थित थे। इसलिए सहज ही यह अपेक्षा होती है कि जो कुछ विचार-विमर्श हुआ, उसके अनुसार कुछ नया प्रभावकारी परिवर्तन वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था में शायद हो सकेगा।

यद्यपि सम्मेलन में चर्चा कोई बहुत उच्चस्तरीय और संतोषकारक नहीं रही। इसका मुख्य कारण हम लोगों की भाषणबाजी की आदत है। थोडे में विषय-केन्द्रित विचार व्यक्त करने के बदले आधे-आधे, पौन पौन घण्टे के भाषण हुए। सेवाग्राम की पवित्र भूमि बापूजी की प्रेरणा, श्री श्रीमन् जी का आभार वगैरह औपचारिक और भावपूर्ण भूमिकाओं में ही वक्ताओं ने अच्छा खासा समय खर्च किया। नतीजा यह हुआ कि बहुत थोडे लोग बोल सके और चर्चा किन्हीं खास विषयों पर केन्द्रित नहीं रह सकी। श्री श्रीमन् जी का झुकाव कुछ सत्ता की तरफ है, इसलिए इन थोडे वक्ताओं में भी सरकारी अधिकारियों की ही संख्या

अधिक रही। कुछ 'राजकीय धर्मचार्यों' के गैर-जरूरी भाषणों को रोका जा सकता था।

सम्मेलन का उदघाटन प्रधान मंत्री ने किया। बैठक शुरु होने पर 'सा विद्या या विमुक्तये' मंत्र का अच्छा खासा उपहास मंच के ऊपर देखने को मिला। वक्ताओं ने अपने सम्बोधनों में वहाँ उपस्थित राज्यपालों, मुख्य मंत्रियों, शिक्षा-मंत्रियों, उप-कुलपतियों वगैरह का लम्बा उल्लेख जरूरी माना, लेकिन इनके अलावा भी शिक्षा जगत के अनेक साधक वहाँ उपस्थित थे, तो भी उनका जिक्र तक लोगों ने उल्लेखनीय नहीं समझा। मेरे पास बैठा एक विद्रोही मेरे कान में फुसफुसाया, ' और काका साहब जैसे कुछ छिटपुट '' इतना और जोड़ देते तो अच्छा रहता।

'प्रधानमंत्री ने गरीबी हटाओ मंत्र दिया है। इसी प्रकार शिक्षण में भी सुधार का मंत्र दें।' 'प्रधानमंत्री इस सम्मेलन को प्रेरणा दें।' इस प्रकार बहुत सी बातें कही गयी, जिनमें विवेक और सुरुचि का दर्शन नही होता था, बल्कि चारण-वृत्ति की झलक मिलती थी और खुशामद की बू आती थी। यद्यपि प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में विवेक का परिचय दिया। उन्होंने साफ कहा 'मैं क्या प्रेरणा दे सकती हूँ ? मैं तो कुछ सुझाव आपके सामने रखूंगी।' शुरुआत भी आपने इस प्रकार की, यहाँ गांधीजी के बहुत सारे साथी और शिक्षण शास्त्री बैठे हैं, किनके-किनके नाम का उल्लेख करूँ, इसलिए सबके लिए एक साथ ही भाइयो और बहनों का सम्बोधन करती हूँ।'

इंदिराजी का भाषण सरल, सामान्य सूझबूझ और सत्तात्मक ऐंठ और आडम्बर से रहित था। सुनकर ऐसा लगा कि अगर कोई सूझबूझ वाला आदमी आज की शिक्षा-व्यवस्था में नया मोड़ लाना चाहता है, तो उसको इंदिराजी की ओर से पूरा समर्थन ही मिलेगा। लेकिन तब एक सवाल यह जरूर उठता है कि आज की शिक्षण-पद्धति में इतने दोष स्वयं प्रधान मंत्री गिना रही हैं तो इसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं या नही ? या फिर सत्ता खुद ही आज कितनी असमर्थ हो गयी है, इसका यह आँख खोल देनेवाला उदाहरण है।

सम्मेलन की एक बैठक पवनार में विनोबा के पास रखी गयी थी। यह पूरी बैठक बहुत ही स्फूर्तिदायक थी। विनोबा ने पूरे एक घंटे के प्रवचन में निर्दोष शिक्षण प्रक्रिया के मार्गदर्शक तत्वों को अपनी अनोखी शैली में प्रस्तुत किया। उनके सारगर्भित सूत्र, मार्मिक विनोद हृदयस्पर्शी सूक्ष्म दृष्टि, मधुर शैली से

जादू का असर पैदा किया। प्रवचन के बाद काफी देर तक प्रश्नोत्तर भी हुए। सबको बोध के साथ आनन्द का रसास्वादन हुआ।

सम्मेलन की पूरी चर्चा का सार लिखना तो यहाँ सम्भव नहीं होगा। फिर भी कुछ प्रमुख बातों का उल्लेख करने की कोशिश करूँगा। सम्मेलन में आये शिक्षा मन्त्रियों ने अपने समक्ष उठ खड़ी हुई वास्तविक कठिनाइयों की तरफ ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया 'जिस अनुपात में जनसंख्या की वृद्धि हो रही है उस अनुपात में शिक्षकों की संख्या और साधनों की वृद्धि नहीं होती है। इसलिए अनिवार्य मुफ्त शिक्षण की बात राज्य की क्षमता के परे है।', 'स्कूल-कालेज से बाहर निकलने वाले शिक्षित लोगों को कोई काम मिल सके, ऐसी कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित बेकारों की समस्या विकट होती जा रही है। शिक्षण नीति और रोजगार नीति में कोई आपसी सामञ्जस्य नहीं है।' शिक्षण का माध्यम प्रादेशिक भाषा को बनाने के साथ साथ सारा सरकारी काम और सार्वजनिक व्यवहार में प्रादेशिक भाषा को योग्य स्थान नहीं मिला है। इसलिए भी समस्या जटिल हुई है।' उप-कुलपतियों ने खासकर विश्वविद्यालयों की व्यवस्था, परीक्षा पद्धति, आंतरिक मूल्यांकन, विद्यार्थियों के साथ के सम्बन्ध आदि सवालों पर चर्चाएँ कीं। बम्बई विश्वविद्यालय के श्री टोपे ने कहा कि, 'देश में सभी क्षेत्रों में समान वेतन हो, इसकी हमारी तैयारी है। नहीं तो अच्छे और तेजस्वी लोग शिक्षण क्षेत्र में कहाँ से आयेंगे।' केरल के श्री जैकब ने अत्यन्त मार्मिक ढंग से कहा, 'शिक्षक तो ३० की उम्र में ही मर जाता है, लेकिन उसे दफन किया जाता है ६० की उम्र पूरी होने पर।'

वर्धा विद्यार्थी मण्डल के अध्यक्ष श्री जायसवाल ने कहा, 'दफ्तरों की नौकरी के लिए आज की शिक्षा हमें नहीं चाहिए। शिक्षण पूरा करने के बाद कुछ समाज-सेवा का मौका विद्यार्थियों को मिलना चाहिए। तरुण शान्ति सेना के श्री संतोष भारतीय ने १०-१२ मिनट के अपने वक्तव्य द्वारा पूरे सम्मेलन में सरगर्मी पैदा कर दी। तरुणाई की गरमजोशी के साथ उसने दो टूक बातें कहीं 'आज की शिक्षण की ये दूकानें और कारखाने बन्द करो, वहाँ डिग्रियों की बिक्री होती है।' 'उत्पादक श्रम के द्वारा शिक्षण हो, नयी तालीम का यह तत्व स्वीकार करो।' विद्यार्थी से फीस के बदले काम लो। केवल मेरे बाप के के पास पैसा है इसलिए मैं चाहे जहाँ पढ़ सकूँ, ऐसा नहीं होना चाहिए।' 'प्राइमरी से लेकर पी० एच० डी० तक उत्पादक श्रम को जोड़ना आवश्यक है।' शिक्षण-व्यवस्था में विद्यार्थियों प्रतिनिधित्व ही नहीं, सक्रिय भागीदारी मिलनी चाहिए।' 'शिक्षण को सरकार से

बिल्कुल मुक्त रखा जाय।' 'पब्लिक स्कूल के सामने सत्याग्रह करो और आप सब लोग जो बोलते हो, उसके अनुसार आचरण करो।'

शिक्षण सरकार से मुक्त हो, इस बात की सम्मेलन में खूब जमकर चर्चाएँ हुई। विनोबा ने तो पूरा जोर देकर कहा ही, काका साहब ने भी कहा, "आज बिन सरकारी सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना है। व्यक्तिगत और सरकारी से अलग यह तीसरा क्षेत्र होगा। बाकी, सरकारी काम कभी असरकारी होनेवाला नहीं है। दुनियाँ का नेतृत्व अब धर्माचार्यों या सरकार के हाथ में नहीं, शिक्षण-शास्त्रियों के हाथ में आनेवाला है, कौशलयुक्त परिश्रम को शिक्षण का माध्यम बनाना चाहिए।"

मार्जरी साइक्स ने बहुत से उदाहरण देते हुए सरकारी दखलंदाजी और नौकरशाही प्रवृत्ति के ऊपर सख्त प्रहार किया। और आग्रहपूर्वक इसमें सुधार की माँग की।' 'वट व्हाई (ऐसा क्यों ?)-पुण्य प्रकोपयुक्त उनका बार बार दुहराया गया यह वाक्य आज भी कानों में गूँज रहा है।

गुजरात में नयी तालीम के जो प्रयोग हुए हैं उनकी जानकारी श्री मनु भाई और श्री बबल भाई ने अच्छी तरह दी। उनकी बातों में अनुभव और आत्म विश्वास का बल था। श्री मनुभाई ने कहा, "शिक्षित बेकार कहना तो पुत्रवती-बाझ कहने जैसा है। अशिक्षित और निरक्षर बेकार हो, तो बात समझ में आती है, लेकिन शिक्षित मनुष्य क्यों बेकार रहते है ? आपने शिक्षण ही ऐसा दिया है। इसलिए शिक्षित बेकारों की बात वदतो व्याघात जैसी बात लगती है। नयी तालीम इसका जवाब है। यह जीवन के साथ, समाज के साथ जुड़ी हुई है। केवल कोई अमुक काम करा लिया और उसे कार्यानुभव कह दिया, इतने से कोई नयी तालीम नहीं हो जाती। नयी तालीम तो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और उत्पादक श्रम के माध्यम से शिक्षण देने की पद्धति है। सामाजिक जवाबदेही शिक्षण में, यह एक 'कैटलिटिक एजेन्ट है।"

नयी तालीम के विषय में वहाँ आये हुए कुछ पदाधिकारियों के मन में दुराव की भावना है, ऐसा लगा। इस शब्द से कई लोगों को एलर्जी' है ऐसा भी महसूस हुआ। परन्तु योजना आयोग के शिक्षण विभाग के मंत्री श्रीनायर ने उन लोगों को जरा कड़े स्वर में जवाब दिया, 'इस सम्मेलन से एक तरह से मुझे निराशा ही हुई। बुनियादी तालीम के विषय में अगर यहाँ वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया होता और उसके परिणामस्वरूप अगर उसे आपने अस्वीकार किया होता, तो वह उचित बात होती। लेकिन इसके बिना ही आपने बुनियादी तालीम के

विषय में जो गलत अभिप्राय बना लिया है, वह कोई अच्छी बात नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह बुनियादी तालीम का विचार एक शुद्ध वैज्ञानिक विचार है, और आधुनिकतम विचारधाराओं का अनुमोदन उसे प्राप्त है। इस विषय में मैं किसी के साथ भी चर्चा करने के लिए तैयार हूँ।"

खैर, सम्मेलन के अन्तिम दिन सर्वानुमति से एक निवेदन पारित हुआ। (देखें पृष्ठ १९२) उससे आज की शिक्षण। व्यवस्था में सुधार के लिए सम्मेलन ने क्या सुझाव पेश किये हैं, इस बात का पता चलता है। एक तरह से राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षण के सवाल को लेकर विचार करने का यह अच्छा प्रयास था। सर्व सेवा संघ की नयी तालीम समिति ने इसके लिए जो अभिक्रम किया, वह उचित ही है। श्रीमन्‌जी बार बार यह कहते हैं कि गांधी विनोबा के विचारों को मात्र गांधीभक्तों के दायरे में सीमित रखने के बदले उनको व्यापक पैमाने पर फैलाना चाहिए। समाज की अन्य धाराओं को भी नजदीक लाने का प्रयत्न करना चाहिए और उन्हें अपने विचार और काम में 'इन्वाल्व' करना चाहिए। नयी तालीम समिति के अध्यक्ष के रूप में इस सम्मेलन द्वारा उन्होंने इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण पेश किया, ऐसा मुझे लगता है। सम्मेलन का संचालन एक हद तक उन्होंने अच्छी तरह ही किया। निवेदन स्वीकृत कराने में उन्होंने समाधान-कारक वृत्ति और सबको साथ लेने पर जोर दिया, यह अच्छी बात मालूम हुई।

(मूल गुजराती से अनूदित)

सम्मेलन में स्वीकृत निवेदन

अखिल भारत राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन सेवाग्राम, वर्धा में दिनांक १४,१५,१६ अक्टूबर, '७२ को सम्पन्न हुआ, जिसका उद्घाटन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया, और अध्यक्षता नयी तालीम समिति के अध्यक्ष एवं गुजरात राज्य के राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण ने की। इस सम्मेलन में केन्द्रीय शिक्षा उपमंत्री, विभिन्न राज्यों के शिक्षामंत्री, अनेक विश्वविद्यालयों के कुलपति, शिक्षाविद् और बुनियादी शिक्षा के कार्यकर्ताओं ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

सम्मेलन के अध्यक्ष द्वारा तैयार किये गये "राष्ट्रीय शिक्षा और विकास व सामाजिक न्याय" शीर्षक के अन्तर्गत एक विचार-पत्र सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया जिसके विचार-विमर्श के उपरान्त सर्वानुमति से निम्न निष्कर्ष रहे :

(१) शिक्षा हर स्तर पर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी एवं उत्पादक क्रिया-कलापों के द्वारा विकास और आर्थिक वृद्धि से सम्बद्ध रहकर ग्रामीण एवं नगरीय दोनों क्षेत्रों में एक-सी प्रचलित हो।

विस्तार का आयोजन हो पर गुणात्मक विकास पर वह हावी न हो।

(२) प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तरों के पाठ्यक्रमों में तीन मूल तत्वों पर बल देना चाहिए।

(क) आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास तथा शैक्षणिक कार्यक्रम के अविभाज्य अंग के रूप में कार्यों के द्वारा श्रमप्रतिष्ठा,

(ख) सामुदायिक सेवा के सार्थक कार्यक्रमों में छात्रों और शिक्षकों के सहयोग के द्वारा राष्ट्रीयता एवं सामाजिक दायित्व की भावना और,

(ग) नैतिक मूल्यों का सृजन, सर्व धर्म समभाव और उनके मूलभूत सिद्धान्तों की एकता को समझना।

इन पाठ्यक्रमों में हमारी सम्पुटित सांस्कृतिक परम्परा की आम जानकारी, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास, राष्ट्रीय एकता पर बल, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा अहिंसा, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और हमारे संविधान में निहित सर्व धर्म समभाव के मूल तत्वों का समावेश होना चाहिए।

माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तरों पर अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, समाज-शास्त्र और दर्शन शास्त्र जैसे विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों में गांधी विचारधारा का अध्ययन भी आरम्भ किया जाना चाहिए।

शब्दों के विवाद में न पड़कर प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर बुनियादी शिक्षा शब्द को पसन्द किया जाना चाहिए।

(३) शैक्षणिक ढांचे के विभिन्न स्तरों को १० + २ + ३ होना चाहिए।[१] माध्यमिक शिक्षा की १० वर्षों की पढ़ाई के उपरान्त २ वर्षों के ऐसे अनेक पाठ्यक्रम होने चाहिए जिनसे छात्र रोजगार के अवसर प्राप्त कर जीवन शुरू कर सकें। विभिन्न सरकारी विभाग अपनी आवश्यकतानुसार डिप्लोमा पाठ्यक्रम आरम्भ कर सकते हैं। माध्यमिक शिक्षा स्तर के बाद विश्वविद्यालय में पहला डिग्री का पाठ्यक्रम तीन वर्षों का होना चाहिए उसके बाद स्नातकोत्तर और अनुसंधान पाठ्यक्रम आरम्भ हो।

दो वर्ष के डिप्लोमा पाठ्यक्रमों का स्वरूप अंतिम होना चाहिए लेकिन इसे पूरा करने के बाद छात्र के लिए भविष्य में उच्च अध्ययन का कार्य पूरा तरह खुला होना चाहिए।

स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार गहन शिक्षा देने के उद्देश्य से छुट्टियों में समुचित काट छांट कर अनुकूलता लानी चाहिए।

(४) प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल सभी बच्चों के लिए समान तौर पर खुले होने चाहिए चाहे उनकी जाति, भाषा, धर्म या आर्थिक सामाजिक स्तर कुछ भी हो। शिक्षा आयोग द्वारा सुझाये नेबरहुड स्कूल के विचार के प्रयोगों को उचित अवसर मिलना चाहिए। सामाजिक न्याय की दृष्टि से शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर अनेक योग्यता व साधन छात्रवृत्तियाँ उपलब्ध होनी चाहिए ताकि कोई भी छात्र इस कारण उच्चतम शिक्षा से वंचित न रह सके क्योंकि उसके माता-पिता निर्धन हैं।

(५) सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से स्कूल की एक आम पद्धति वांछनीय है, फिर भी राज्य सरकारों का चाहिए कि व विभिन्न सतहों की शैक्षणिक संस्थाओं को अध्ययन के तरीकों, परीक्षा पद्धति पाठ्यक्रम में विषय के संकलन, पाठ्यपुस्तकों की तैयारी और शिक्षकों की तालीम की दिशा में नये प्रयोगों को सक्रिय प्रोत्साहन प्रदान करें। एकरूपता पर दिये जानेवाले भार को शैक्षणिक क्षेत्र में नवीन प्रयोगों और अनुसंधान की दिशा में बाधक नहीं होना चाहिए। शैक्षणिक मामलों में राज्य का अनुचित हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

शिक्षा आयोग द्वारा अनुशासित स्वायत्त महाविद्यालयों की कल्पना को अब सकारात्मक तरीके से अमल में लाना चाहिए।

(६) यद्यपि निजी संस्थाओं में मौजूद अनेक बुराइयों को हटाने के भरसक प्रयत्न होने चाहिए लेकिन प्रशासन को माध्यमिक स्कूलों और कालेजों को चलाने की समस्त जिम्मेदारी उठा लेने के दबाव में नहीं आ जाना चाहिए।[२]

(७) लगभग सभी राज्यों में प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों पर शिक्षा का

माध्यम मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा है। उसको विश्वविद्यालय स्तर पर भी शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत करने के लिए तात्कालिक कदम उठाये जाने चाहिए।

भारतीय भाषाओं के लिए एक वैकल्पिक लिपि के रूप में नागरी लिपि को प्रोत्साहन दिया जाय।

(८) इस शैक्षणिक सुधार में शीघ्रता लाने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि सिविल तथा मिलिटरी सेवाओं के लिए अखिल भारत प्रतियोगिक परीक्षाओं को क्षेत्रीय भाषाओं में लिया जाय और उम्मीदवारों को प्रत्येक राज्य के लिए नियत कोटे के अनुसार तर्कयुक्त आधार पर चुना जाय। इन सेवाओं का अखिल भारतीय स्वरूप कायम रखने के लिए चुने गये प्रत्याशियों को हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान कराया जाय तथा उन्हें राष्ट्रीय इतिहास, संस्कृति, भारतीय संविधान और आर्थिक संयोजन की भी जानकारी दी जाय।

(९) परीक्षा के वर्तमान ढंग से छात्रों की शारीरिक, मानसिक और नैतिक क्षमताओं पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि परीक्षा-पद्धति में अविलम्ब आमूल सुधार किये जायें। बाहरी परीक्षाओं के अतिरिक्त प्रत्येक विषय विभाग द्वारा आन्तरिक मूल्यांकन पर सतत पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि अन्तिम परीक्षा के अनुचित महत्त्व को कम किया जा सके। व्यावहारिक कार्य और मौखिक परीक्षाओं को प्रोत्साहन दिया जाय।

परीक्षा-पद्धति न केवल विद्यार्थियों की केवल बौद्धिक सिद्धि की जाँच करे, बल्कि उत्पादक और विकास प्रवृत्तियों के सहगामी कार्यक्रमों, समाजसेवा और नियमित उपस्थिति तथा सामान्य व्यवहार पर भी ध्यान दे।

(१० सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में नौकरियों में डिग्री का सम्बन्ध-विच्छेद कर देने के लिए भरसक प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस उद्देश्य से भर्ती के नियमों में समुचित संशोधन किया जाय इससे विश्वविद्यालयों में प्रवेश की भीड़, परीक्षाओं में आचारहीनता कम हो जायेगी और एक ठोस आधार पर प्रगतिशील शैक्षणिक विकास को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

(११) कोई भी शैक्षणिक सुधार शिक्षकों की गुणवत्ता और प्रशिक्षण में सुधार लाये बिना सम्भव नहीं है। अस्तु शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे छात्रों को राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाने के लिए प्रशिक्षित करने का भरसक प्रयास करें। लेकिन सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह शिक्षकों की सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊँचा उठायें और उन्हें दैनिक आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करे।

शिक्षक दलगत राजनीति में न उलझें। वे इस दिशा में एक समुचित आचार-

संहिता का पालन करें। विनोबाजी द्वारा प्रवर्तित आचार्यकुल का उपयोग इस दिशा में शिक्षकों के द्वारा किया जा सकता है।

(१२) शैक्षणिक पुनरचना के महत्वपूर्ण कार्य में सभी स्तरों पर माता पिता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य से विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में पालक शिक्षक मण्डल एक सामान्य व्यवस्था बन जानी चाहिए। वास्तव में प्रत्येक परिवार को सही अर्थ में एक बुनियादी शिक्षा की इकाई के रूप में विकसित होना चाहिए।

(१३) शैक्षणिक सुधार की नीति निर्माण प्रक्रिया में छात्रों का सहकार लेना जरूरी है। छात्र संघों का उपयोग विद्यार्थियों में आत्मसंयम लागू करने और अधिक जिम्मेदारी की भावना जाग्रत करने की दृष्टि से किया जाय।

नवयुवकों को यह बात समझायी जाय कि हिंसा के वर्तमान तरीकों से अनिवार्यतः प्रतिहिंसा उत्पन्न होगी और हमारे लोकतान्त्रिक ढाँचे को हानि पहुँचेगी।

(१४) यह वास्तव में अत्यन्त विचारणीय विषय है कि पिछले २५ वर्षों में किये गये विभिन्न शैक्षणिक योजनाओं के बावजूद हमारी आजादी का ७० प्रतिशत अंश अभी भी निरक्षर बना हुआ है। इसलिए जनता में व्यावहारिक साक्षरता लाने के लिए संगठित प्रयत्न किये जाय ताकि जनता में श्रेष्ठतर नागरिक जागरूकता पैदा होने के अलावा उनकी कुशलताओं में सुधार हो सके। इस राष्ट्रीय अभियान में सामुदायिक सेवा की प्रवृत्ति के रूप में छात्रों और शिक्षकों का सहयोग प्राप्त किया जाय।

(१५) विद्यालयों और महाविद्यालयों में खेल-कूद का बड़े पैमाने पर विकास किया जाय और प्रतिभाशील नवयुवकों का भलीभांति चयन कर उन्हें प्रोत्साहित किया जाय।

(१६) सम्मेलन आशा करता है कि केन्द्र और राज्य सरकारें, शिक्षाविद और सामान्य जनता शिक्षा को अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में अत्यन्त उच्च प्राथमिकता प्रदान करेगी और इन अनुशंसाओं को शीघ्रता और दृढ़ता के साथ हमारी स्वाधीनता की इस रजत जयन्ती वर्ष में अमल में लायेगी।

सम्मेलन के अध्यक्ष को अधिकृत किया जाता है कि वे एक पन्द्रह सदस्यीय कार्यान्वयन समिति की नियुक्ति करें और उन्हें इस निवेदन में निहित शैक्षणिक सुधारों की प्रक्रिया को तीव्र बनाने के उद्देश्य से अन्य सदस्यों को सहवरित करने का अधिकार प्रदान किया जाता है।●

शिक्षा में सुधार के लिए पन्द्रह सदस्यीय समिति का गठन

अहमदाबाद १ नवम्बर। गुजरात के राज्यपाल तथा अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री श्रीमन्नारायण ने अभी हाल में सेवाग्राम में आयोजित सम्मेलन द्वारा जारी किये गये नीति विषयक वक्तव्य के अनुसार शिक्षा सम्बन्धी सुधार की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के निमित्त १५ व्यक्तियों की एक समिति गठित की है।

उक्त समिति में उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश और विहार के मुख्य मंत्री, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश के शिक्षामंत्री, काशी विद्यापीठ, केरल, नागपुर, विश्वभारती और गुजरात कृषि विद्यालय के उप-कुलपति हैं। गांधी शांति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री आर. आर. दिवाकर और केन्द्रीय आचार्यकुल समिति भी के संयोजक श्रीवंशीधर श्रीवास्तव समिति में हैं।

समिति की समस्त बैठकों में केन्द्रीय शिक्षामंत्री श्री नुरुल हसन-डा. डी. एस. कोठारी और योजना आयोग के सदस्य श्री एस. चक्रवर्ती, को विशेष रूप से बुलाया जायगा।

समिति की पहली बैठक ३ दिसम्बर को दिल्ली में होगी।

—यू. न्यू.

दलमुक्त शिक्षक, सरकारमुक्त शिक्षण

२८, २९ अक्तूबर को पवनार (वर्धा) में महाराष्ट्र की जो 'आचार्यकुल परिषद' हुई, वह अपने आप में एक नयी बात मानी जायेगी। महाराष्ट्र के प्रत्येक जिले के लगभग चार सौ शिक्षकों (प्राचार्य, आचार्य) का इकट्ठा होना, दो दिन तक आचार्यकुल की वैचारिक भूमिका को समझना, हर बात को तर्क की कठोर कसौटी पर कसना, और अन्त में मूल विचार को स्वीकार करना, और पूरे महाराष्ट्र के लिए संगठन का ढाँचा तय करना, यह सब ऐसा काम है जो इस पैमाने पर इस तत्परता के साथ अभी तक किसी दूसरे राज्य में नहीं हुआ है। इसलिए विनोबाजी ने अपने अन्तिम भाषण में ठीक ही कहा 'आशा की जा सकती है कि यह बीज किसी दिन वट वृक्ष बनेगा।'

आचार्यकुल में बुद्धि की सत्ता का सन्देश है। यह सन्देश लगता है, महाराष्ट्र की बुद्धि प्रधान चेतना को स्पर्श कर रहा है, और अब उसमें से स्फूर्ति प्रकट होने लगी है। ऐसा होना भी चाहिए। और, यह मानने का कोई कारण नहीं कि जो काम महाराष्ट्र में हो सकता है, वह दूसरे राज्यों में नहीं हो सकता। जरूर हो सकता है, बशर्ते महाराष्ट्र की तरह हर राज्य को एक मामा क्षीरसागर मिल जाये, जिन्होंने पिछले चार वर्ष अनवरत परिश्रम कर महाराष्ट्र भर में शिक्षकों से सम्पर्क किया है और उन तक आचार्यकुल का सन्देश पहुँचाया है।

हम आज वर्षों से जिस ग्रामस्वराज्य की कल्पना समाज के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं, वह आज के सामाजिक ढाँचे में सम्भव नहीं है। इसलिए हम समाज-परिवर्तन की बात कहते हैं। किन्तु समाज-परिवर्तन की वह शक्ति क्या है जिसका प्रयोग हम परिवर्तन के लिए करना चाहते हैं? हमने वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार किया है। हमने माना है कि वर्ग-संघर्ष से सत्ता का परिवर्तन होता है, समाज का नहीं। समाज के सम्बन्धों और जीवन के मूल्य ज्यों-के-त्यों बने रह जाते हैं। कोई भी सरकार हो कितनी भी कल्याणकारी हो, वह अपनी सत्ता के मुकाबले जनता की सत्ता नहीं कायम होने दे सकती। इस स्थिति में यह निर्विवाद है कि सामाजिक क्रान्ति के बिना समाज परिवर्तन सम्भव नहीं है। प्रश्न है कि यह परिवर्तन किस शक्ति से आयेगा?

हमने परिवर्तन की दो ही शक्तियाँ मानी हैं: एक, श्रम की शक्ति-दूसरी, बुद्धि की शक्ति। आज के समाज में श्रम और उत्पादन की दो इकाइयाँ हैं—गाँव और कारखाना। बुद्धि की इकाई विद्यालय है। गाँव, कारखाना, और विद्यालय ये तीन हमारे आन्दोलन के ऐसे बिन्दु हैं जहाँ हमें शक्ति संगठित करनी है। गाँव के लिए हमने माध्यम माना है ग्रामस्वराज्य सभा को तथा विद्यालय के लिए आचार्यकुल और तरुण-शान्ति सेना को कारखानों के लिए 'ट्रस्टीशिप' के आधार पर संगठन का कोई स्वरूप विकसित करना अभी बाकी है। क्रान्ति की व्यूह रचना में इन तीनों मोर्चों पर साथ साथ लड़ना होगा, आगे पीछे लड़ने का प्रश्न नहीं है। महाराष्ट्र के साथियों ने विद्यालय के मोर्चे के महत्त्व को समझा है। उनके उदाहरण का अनुकरण दूसरे राज्यों में भी होना चाहिए।

आचार्यकुल के सम्बन्ध में शिक्षक-मित्रों की ओर से दो प्रश्न विशेष रूप से उठाये जाते हैं। एक है, राजनीति के साथ सम्बन्ध, और दूसरा सरकार के साथ सम्बन्ध। अन्य लोगों की तरह शिक्षक भी, जिनमें बड़े नामधारी विद्वान भी शामिल हैं, मानता है कि राजनीति-दलगत राजनीति—के साथ जुड़े बिना वह प्रभावकारी नहीं हो सकता, और सरकार के संरक्षण के बिना उसकी जीविका सुरक्षित नहीं हो सकती। इसलिए आज जगह-जगह शिक्षकों की ओर से माँग हो रही है कि शिक्षा को सरकार अपने हाथ में ले ले। यों तो शिक्षा बहुत कुछ सरकार के नियंत्रण में है ही, फिर भी शिक्षक मुख्य रूप से अपने वेतन

की गारण्टी सरकार से चाहता है। विद्यालयों के मालिकों की धाँधली से मुक्ति पाने के लिए शिक्षक शासकों की शरण में जाना चाहता है। कुछ भी हो, वेतन की गारण्टी मिलना चाहिए। लेकिन शिक्षा में प्रश्न मात्र शिक्षकों के वेतन का नहीं है, सबसे बड़ा प्रश्न है विद्यार्थियों के शिक्षण का, देश के भविष्य का, लोकतन्त्र और विज्ञान की भूमिका में स्वतन्त्र बुद्धि के विकास का। यह चीज किसी पार्टी की आज बनने कल बिगडनेवाली सरकार और उसकी नौकरशाही के हाथों में नहीं सौंपी जा सकती। बुद्धि, स्वतन्त्र बुद्धि, मनुष्य की सबसे बड़ी पूंजी है, और वह समाज के दायरे की चीज है, राजनीति और सरकार के दायरे की नहीं। इसीलिए शिक्षण की स्वतन्त्रता की माँग है। हर विद्यालय एक स्वायत्त इकाई हो, जिसका आन्तरिक जीवन, अभ्यासक्रम, परीक्षा, विनय, व्यवस्था आदि—शिक्षकों, विद्यार्थियों और अभिभावकों की सम्मिलित समिति पर हो। इसी आधार पर नीचे से ऊपर तक शिक्षक की यह जिम्मेदारी नहीं मानी जा सकती कि वह नौकरियों के लिए पासपोर्ट दे। उसका काम है शिक्षित प्रशिक्षित करना। सरकार तथा अर्द्ध सरकारी या गैर सरकारी संस्थाएं अपने लिए उपयुक्त व्यक्तियों के चुनाव के लिए अपने अपने अलग टेस्ट रखें और नौकरियाँ दें।

इस प्रकार आचार्यकुल की योजनाओं में वेतन की गारण्टी के साथ दलमुक्त शिक्षक और सरकार मुक्त शिक्षा का मेल मिलाया जा सकता है, मिलाया जाना चाहिए। आचार्यकुल उन लोगों का भाईचारा है जो बुद्धि की सत्ता में विश्वास रखते हैं। दल, ग्रन्थ या गुरु की सत्ता में विश्वास का उसके साथ मेल नहीं है। बुद्धि का एक ही पक्ष है— सत्य। आचार्यकुल सत्य की वाणी है।

विद्यालय का आन्तरिक जीवन सरकार से मुक्त हो, और गाँव का आन्तरिक जीवन सरकार से मुक्त हो। भूमि पर से मालिक की मालकियत हटे, और शिक्षण पर से सरकार की हुकूमत। ये देश की जनता की मुक्ति के प्रश्न हैं, करोड़ों के सच्चे स्वराज्य के प्रश्न हैं, इस पर समझौता नहीं किया जा सकता। —राममूर्ति

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार प्रधान सम्पादक
श्री वशीधर, श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : ४
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

नवम्बर, '७२

●

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
● पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
अनुपम प्रेस, के २९/३० दुर्गाघाट, वाराणसी में मुद्रित

पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने का स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

वर्ष २१
अंक ५
दिसम्बर १९७२
"हिमाद्रि तुंग श्रृग से "

शिक्षातंत्र अ-सरकारी सार्वजनिक बने

वर्ष : २१
अंक : ५

व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए चाहे जो साधना पसन्द करे और चलावे, अपने आनन्द के लिए चाहे जो प्रवृत्ति अपनावे, वह उसकी अभिरुचि का सवाल है।

सामाजिक जीवन की बात उससे बिलकुल अलग है। उसमें केवल अपनी अभिरुचि का ख्याल करके हम चल नहीं सकते। समाज का वायुमण्डल, समाज की आवश्यकताएँ, नेताओं की अभिरुचि, सामान्य जनता का आकर्षण सब बातों का ख्याल करना ही पड़ता है।

आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में दो प्रधान तत्वों का विशेष बोलबाला है। एक है प्रधानतया सत्ता और सम्पत्ति के द्वारा होनेवाले काम। और दूसरी है, सेवा और शिक्षा के द्वारा विकसित होनेवाली प्रवृत्तियाँ।

आदर्श समाज में 'सत्ता और सम्पत्ति' की प्रधानता नहीं होनी चाहिए। 'शिक्षा और सेवा' ही संस्कृति के प्रधान तत्व होने चाहिए। यह भेद मान्य करके भी हम कह सकते हैं कि आखिरकार सामाजिक जीवन एक ऐसी समृद्ध और जटिल प्रवृत्ति है कि उसमें ये चारों तत्व मिले-जुले रहते हैं। जीवन इन चारों में से एक भी तत्व को आज छोड़ नहीं सकता; तो भी इन दोनों जोड़ियों का अलग अलग विचार करना उपयोगी है।

रहे हैं कि अब साकृति के आदर्श अथवा आध्यात्मिक सस्कृति के प्रधान साधन 'शिक्षा और सेवा' सरकार के ही सुपुर्द करने की सूचनाएँ समाज के सामने आ रही हैं, और मान्य भी हो रही हैं।

सरकार की सत्ता' का अनुभव शहर के और गाँव के लोगों को एक सा होता है। सरकार की भली बुरी 'सेवा' का अनुभव शहरों तक ही सीमित है। 'सरकार की सेवा' गाँवों तक पहुँचनी चाहिए, इस आदर्श का स्वीकार सब करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव को देखने जायँ तो वह उसके अभाव में ही यहाँ प्रतीत होता है। सरकार नामक सस्था की एकांगिकता पहचानने का साधन इसी में हमें मिल रहा है।

सरकार नामक सस्था का सगठन हमारे देश में मुस्लिम काल में ही विशेष रूप से हुआ। यानी विदेशी राज शुरू होने पर उनकी राजनैतिक और लश्करी शक्ति के द्वारा हुआ। भारत के लोगों में सगठन का अनुभव बिल्कुल सामान्य किन्तु चातुर्यपूर्ण था। उसका लाभ विदेशी राज्यों को मिला। फलत सार्वजनिक सगठन की अपेक्षा सरकारी सगठन अधिक मजबूत हुआ। उसकी प्रतिष्ठा तो 'युद्ध में हारकर ही' हमें मान्य करनी पडी थी। वही परम्परा पोर्तुगीज, फ्रेंच और अंग्रेज इन तीन पश्चिमी राज्य सत्ता के द्वारा बढती गयी। आज भारत में प्रजाराज्य है। सरकार की चोटी तत्वत पूर्णतया जनता के हाथ में है। लेकिन जनता इतनी सगठित नहीं है जितनी सरकार सगठित है, और हर कोई काम जोर कर सकता है सगठन के द्वारा ही। इस लिए लोग भी चाहने लगे हैं कि सब प्रजाकीय काम जहाँ तक हो सके सरकार के द्वारा ही किया जाय।

'सरकार और सार्वजनिक जीवन दोनों पूर्णतया एक ही है' ऐसा समझकर लग चलने लगे हैं। और इसी में हमारे राष्ट्रीय जीवन में खतरा शुरू हो गया है।

इस परिस्थिति का विश्लेषण एक दफे मैंने जवाहरलालजी के सामने किया था। मैंने उनसे कहा था कि, "आप डेमोक्रटिक सोश्योलिज्म (Democratic Socialism) भारत में लाना चाहते हैं और ला सके हैं ब्यूरोक्रेटिक सोश्योलिज्म (Bureaucratic Socialism)। सार्वभौम मतदान के कारण तत्वत सार्वभौम सरकार की चोटी जनता के हाथ में है। किन्तु असल में आपका समाजवाद 'अमलदारशाही समाजवाद' होने जा रहा है।"

जो हो, इसका एक उदाहरण सारे खतरे को स्पष्ट करने के लिए काफी है।

भारत में प्राचीन काल में शिक्षा का सारा प्रबन्ध ब्राह्मणों के हाथों में था। (उद्योग हुनरों की शिक्षा उन उन विषयों के निष्णातों के हाथों में थी और वह 'जाति संस्था' द्वारा संगठित होती थी।) अंग्रेजों के आने के बाद सरकारी तंत्र मजबूत करने के लिए उन्होंने अपना 'नया अंग्रेजी शिक्षातंत्र' सरकार के द्वारा चलाया। और उसमें जो स्नातक तैयार होते थे उनको अच्छी-अच्छी नौकरियाँ दिलाकर उन्हें सरकारी तंत्र में खींच लिया। शिक्षा मिले सरकार के द्वारा और उसके फलस्वरूप अच्छी-अच्छी नौकरियाँ मिलें सो भी सरकार द्वारा; यह नयी परिस्थिति ध्यान में आते ही (और नयी शिक्षा का सांस्कृतिक प्रभाव देख करके भी) जनता के स्वराज्यवादी नेताओं ने राष्ट्र भक्ति और त्याग के बल पर 'खानगी' यानी बिना सरकारी शिक्षा संस्थाएँ चलायीं। लेकिन शिक्षा के अन्त में जो उपाधि, डिग्रियाँ मिलती हैं वह तो सरकार निर्मित युनिवर्सिटियाँ ही दे सकती थीं। तभी तो सरकारी नौकरियाँ मिल सकती थीं!

'राष्ट्रभक्ति और समाज सेवा' के आदर्श से प्रेरित होकर जो संस्थाएँ शुरू हुईं, वे सब 'सरकारी तंत्र की मदद के लिए किन्तु सरकारी तंत्र से अलिप्त' चलने लगीं। लेकिन उन्हें युनिवर्सिटी के मातहत ही काम करना पड़ा।

(अब यहाँ से कलियुग शुरू होता है।) सरकार के कॉलेज और हाईस्कूलों का पूरा खर्चा सरकार को ही करना पड़ता था। इस खानगी हाईस्कूल-कॉलेजों का तंत्र राष्ट्रसेवा और त्याग-भावना से किया जाता था। अब इन संस्थाओं को सरकार ने अनुदान (ग्राण्ट) देना शुरू किया। किन्तु नियम किया कि आपके खर्चे के हिसाब से अमुक टका आपको ग्राण्ट मिलेगी। अध्यापक कम तनख्वाह लेकर नौकरी करते थे। इसलिए उस हिसाब से ग्राण्ट कम मिलेगी। तब देश के नेता अगर कहते कि 'हमारे खर्चे के हिसाब से नहीं किन्तु कार्य के हिसाब से ग्राण्ट देने के अलग नियम आपको बनाने होंगे' तो अच्छा होता। लेकिन सरकारी तंत्र की प्रतिष्ठा ज्यादा! हम लोगों ने आसानी

देखकर एक खराब रास्ता निकाला। केवल हिसाब में सरकारी प्रोफेसरों को जैसी तनख्वाह मिलती थी वैसी ही खानगी संस्था के प्रोफेसरों को देने का हिसाब रखने लगे। और अध्यापकों को असली तनख्वाह ही दी जाती थी। बाकी की रकम अध्यापकों की ओर से 'संस्था को दान के रूप में' मिल रही है ऐसा बताया जाता था। (यह एक तरह से सर्वमान्य ठगी ही थी।) यह कहाँ तक चले?

खानगी संस्थाएं खूब बढी थीं। उनमे और दोष तो घुस गये ही थे। इनमें तनख्वाह की रकम बतानी अलग और देनी अलग यह नियम घुस गया। तब से अध्यापकों में असन्तोष बढने लगा। और इन्हीं की ओर से शिक्षा संस्था के संगठन के बारे में नये कानून होने लगे। अध्यापक चाहते हैं कि सरकारी नौकरों को जो तनख्वाह, जो प्रतिष्ठा, जो आश्वासन मिलते हैं वे सब हमें कानून द्वारा मिलने चाहिए।

और अब तो स्वराज्य यानी प्रजा राज्य हुआ है। सारी शिक्षा का राष्ट्रीयकरण करने के नाम से सरकारीकरण हो रहा है। देश के नेता जानते हैं कि शिक्षा की व्यवस्था सरकार के हाथ में जाने से उसमें सरकारीकरण के सब दोष आ जायेंगे। और अध्यापक तो सरकारीकरण के पक्ष में ही है। (मात्र सरकारीकरण नाम अच्छा नहीं, इसलिए उसे राष्ट्रीयकरण कहा जाता है।)

सेवा और सत्ता का इस तरह से एकत्र आना एक तरह से अपरिहार्य ही है लेकिन उससे खतरा कम नहीं होता।

—काका कालेलकर

ज्योति भाई देसाई

एक शैक्षिक प्रयोजना : घर, शाला और समाज

[गांधी विद्यापीठ, वेडछी, गुजरात में नयी तालीम का एक बड़ा और सफल प्रयोग केन्द्र है। उसके अन्तर्गत चलनेवाले स्नातक अध्यापन मंदिर के आचार्य श्री ज्योति भाई देसाई द्वारा वहाँ के लिए तैयार की गयी यह शैक्षिक प्रयोजना अन्य अध्यापन संस्थानों तथा अध्यापकों के लिए विशेष उपयोगी होगी, ऐसी आशा है।—सम्पादक]

इसीलिए यह कहा जाता है कि शिक्षकों को उनके जीवन मूल्यों के बारे में स्पष्टता होनी आवश्यक है । आम शिक्षक समाज के मौजूदा मूल्यों को ही विद्यार्थियों तक पहुँचाता है 'पढ़ोगे नहीं तो खेती करनी होगी, गंवार बने रहोगे, और भंस के पीछे पीछे जिन्दगी भर भटकोगे । मेरी बात पर ध्यान नहीं दोगे तो और दूसरा क्या होगा । आगे बढ़ना, प्रथम आना, सबके आगे निकल जाना यही तो जीवन का लक्ष्य है ।' ऐसी बातें शिक्षक विद्यार्थी को सिखाता है । वह समाज के मूल्यों को प्रसारित करने का धन्धा करता है । क्योंकि उसे अपने जीवन में यही प्राप्त हुआ है । येन केन प्रकारेण सफलता प्राप्त करना यानी शोषण के साधन प्राप्त करने का लक्ष्य समाज के सामने है । तो ये सारे मूल्य विद्यार्थी को देने का ही काम शिक्षक भी करते हैं । शिक्षा की दूकानदारी करनेवाले शिक्षक आमतौर पर कह देते हैं, 'हमने पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाया, अधिक नम्बर प्राप्त करने की सब युक्ति प्रयुक्तियाँ सिखा दीं । अब नौकरी नहीं मिलती, इन्जीनियर बनकर भी बेकार और निठल्ले बैठे हो, तो हम क्या करें ।' लाचार शिक्षक, लाचार विद्यार्थी !

हो नहीं करते, समाज को नये मूल्य प्रदान करते हैं। इसी कारण शिक्षक और शिक्षा को समाज में आमूल परिवर्तन लाने के माध्यम माने गये हैं। नयी तालीम के शिक्षक की यह परिकल्पना है। उसे साकार करने की हम कोशिश करें।

ऐसे शिक्षक बनने की इच्छा स्वेच्छा से प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रयोजना द्वारा ऐसी स्वेच्छा जगाने की कल्पना है। क्योंकि इस प्रयोजना में समाज के बीच जाना, नये मूल्यों के बारे में सोचना आदि अपेक्षित है। इसके लिए नयी तालीम के सच्चे शिक्षक बनने के लिए तथा समाज में सनातन सत्यों को पकड़ रखने की ताकत पैदा करने के लिए, जीवन भर की कोशिश भी अल्प ही होगी, ऐसा सम्भव है।

इस प्रयोजना के द्वारा हम स्कूल को पहचानने की चेष्टा करेंगे। इसका अर्थ यह कि ऊपर बतायी हुई बातों को अपने सामने रखकर शिक्षक क्या पढ़ाता है, वह देखना होगा। हम बच्चों को भी समझने की कोशिश करेंगे। उनके मन में क्या क्या करने की इच्छाएँ हैं? नयी-नयी प्रवृत्तियों में दिलचस्पी क्यों है? काम करने में आनन्द क्यों आता है? कौन से काम बच्चों को पसन्द नहीं? कामों की नापसन्दगी और पसन्दगी के मूल क्या हैं? कहाँ हैं? अभिभावकों को भी समझने की चेष्टा करेंगे। उनकी स्कूल से क्या अपेक्षाएँ हैं? यह सब जानने की कोशिश विद्यार्थी के नाते स्वस्थ और तटस्थ भाव से करेंगे। हमारी इस जाँच का एक महत्त्व का अंग यह है कि हम प्रत्यक्ष काम के द्वारा यह जानकारी प्राप्त करेंगे। कागजी जाँच नहीं करेंगे। एक महत्त्व का काम समाज के सामने लेकर जायेंगे और उसके द्वारा हमें जो समझना है, वह समझेंगे। 'शिक्षा में क्रांति' का कार्यक्रम उठायेंगे। स्कूल में शिक्षकों, बच्चों को उसमें शामिल होने के लिए कहेंगे। समाज का भी सहकार मागेंगे।

यह काम ठीक ढंग से हो, इसके लिए शिक्षार्थी के दिमाग में सैद्धान्तिक स्पष्टताएँ हों, ऐसी व्यवस्था करेंगे। अपने पाठ्यक्रम में मानसशास्त्र एवं नयी तालीम के सिद्धान्तों को, प्रश्न-पत्रों के महत्त्व को समझा देंगे। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रश्न-पत्रों का भी अध्ययन किया जायेगा।

'शिक्षक बनना यानी सही मूल्यों की प्राप्ति करना' यह विचार हमें अपने सामने रखना है। क्योंकि मूल्यों का आदान-प्रदान ही शिक्षा है। शिक्षार्थी यह बात इस प्रयोजना के द्वारा समझने की कोशिश कर सकें, ऐसी अपेक्षा है।

ता० २७।८।'७२ अहवाल तैयार करें, मूल्यांकन करें, परस्पर अनुभवों का लेन-देन करें।

प्रयोजना के दिनों में दिनचर्या

१०–३० बजे तक अपने गाँव पहुँचना,
१०–३०—११–०० स्कूल की बालसभा का सञ्चालन करना,
११–००— २–०० स्कूल में प्रवृत्ति चलाना,
२–३०— ५–३० लोक-सम्पर्क और गाँव के काम करना,
६–३० बजे तक संस्था में लौटना,

रात को ८–०० से ९-०० हर दल अपना अहवाल पेश करे। और बाद में मार्गदर्शक अध्यापक के साथ बैठकर दूसरे दिन के काम का आयोजन करे।

प्रयोजना में की जाने लायक प्रवृत्तियाँ

शाला में

(१) बागबानी	(८) अभिभावक सम्मेलन
(२) दीवालों पर आलेख लिखना	(९) खेल कूद
(३) हस्तलिखित पत्रिका का प्रकाशन	(१०) संगीत, नृत्य, नाटक, रास
(४) प्रदर्शनी	(११) शिक्षकों के साथ मुलाकातें
(५) स्वाध्याय	(१५) राष्ट्रीय झण्डे की वंदना का प्रशिक्षण
(६) प्रश्न पेटी	(१३) राष्ट्रगीत का अभ्यास
(७) विश्वास बैंक	(१४) बालकों का व्यक्तिगत अभ्यास

घर में

(१) घर सजाना	(४) सम्भव घरों की मरम्मत
(२) अभिभावकों से मुलाकात	(५) प्रारम्भिक उपचार की औषधियाँ (घर में रखने लायक)
(३) खेती के काम में मदद	(६) बच्चों के लिए टट्टी, पेशाब घर, स्नान घरों का निर्माण

समाज में

(१) ग्रामसभा	(५) समाज शिक्षण
(२) ग्राम सफाई	(६) बालवाड़ी
(३) सामूहिक प्रार्थना	(७) श्रमदान
(४) युवक मण्डल	(८) वृक्षारोपण

प्रश्नपत्र –१

मुद्दा ३—शिक्षण पर प्रभाव डालनेवाले तत्व (घर, शाला, समाज और राष्ट्र)

मुद्दा ४—शिक्षण और सामाजिक परिवर्तन

मुद्दा ८—प्रवृत्ति शिक्षण शाला और बुनियादी शाला का तुलनात्मक अभ्यास ।

प्रश्न पत्र-२

मुद्दा २—बालक के विकास में आनुवंशिक और परिस्थितिजन्य प्रभावकारी तत्व

मुद्दा : ३—बालकों का सामाजिक विकास, व्यक्तिगत विकास की शिक्षण-पद्धति

मुद्दा ३—बुद्धि की कसौटी और उसका उपयोग

मुद्दा ४—शिक्षण में उत्प्रेरण (मोटिवेशन)

मुद्दा ५—बालक की मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ, बालकों के व्यवहार में दोष और उन्हें दूर करने के उपाय ।

प्रश्नपत्र–३

(१) समूह जीवन

मुद्दा १—सामाजिक आलेख उसका ज्ञान और उपयोग

मुद्दा ५—राष्ट्रीय, सामाजिक और स्थानीय उत्सवों द्वारा स्फूर्ति सचार करना ।

(२) पूर्व बुनियादी शिक्षण

मुद्दा ५—बालउद्योग जैसे कागज का काम, मिट्टी का काम, बागबानी

मुद्दा ७—बालक्रीडा—बालकों की बनाई चीजों की प्रदर्शनी बाल कला, उपरोक्त कार्यों के प्रति सही दृष्टि का विकास

मुद्दा ९—बाल अवलोकन—किस प्रकार करें बालकों की मानसिक हलचलों को समझने के तरीके

मुद्दा १२—बालकों को अभ्यास के पाठ कैसे दिये जायँ ? इसकी जानकारी प्राप्त करना ।

(३) समाज शिक्षण

मुद्दा २—प्रौढ़ों का मानस, प्रौढ़ों को प्रेरित करनेवाले प्रभावकारी तत्व, प्रौढ़ शिक्षण के काम में शिक्षक का स्थान, योगदान ।

फुरसत और निवृत्ति की समस्याएँ ।

प्रश्नपत्र–४

मुद्दा ३ शिक्षण विधियाँ, प्रोजेक्ट पद्धति ।

मुद्दा . ५—शाला समाज की व्यवस्था—स्वशासन, सुसचालन, विद्यार्थी मण्डल, स्वावलम्बन, कार्यारम्भ की शक्ति, उत्साह, सहकार और नेतृत्व-शिक्षण,

मुद्दा . ६—शाला और समाज, शाला और शाला के बाहर की सामूहिकप्रवृत्तियाँ, शाला और समाज के सम्बन्धो में भावनात्मक विकास, अभिभावको का सहकार, शाला और समाज सेवा, सामाजिक सर्वेक्षण, सामूहिक उत्सवो आदि सहायक प्रवृत्तियो का बालक के विकास मे योगदान।

विद्यार्थियों से अपेक्षाएं

१—विद्यार्थी शाला के शिक्षार्थियो, शिक्षकों, अभिभावको से सम्पर्क करेंगे। शिक्षा के बारे में उनकी सकल्पना और अपेक्षाओ को समझेंगे।

२—विद्यार्थी घर-शाला, समाज के पारिस्परिक प्रभावो को समझेंगे और पर पर एक दूसरे के विकास में किस प्रकार योगदान कर सकेंगे इस पर विचार करेंगे और उसके लिए निश्चित प्रवृत्तियो की शुरुआत करेंगे।

३—शिक्षार्थी जिन प्रवृत्तियो को चलायेंगे, उनका भी असर होता है, इसका निरीक्षण करेंगे, नोट रखेंगे, चर्चा करेंगे और प्रयोजना के अन्त म उसकी समग्र रिपोर्ट तैयार करेंगे।

का उत्साह सब शिक्षकों का सहकार और पूरी शाला और ग्रामजनों की सम्मिलित शक्ति रहेगी तो बहुत से काम हो सकेंगे, इसमें कोई शक नहीं। इसलिए ऐसा सम्पूर्ण सहकार और उत्साहपूर्ण वातावरण बनाने के लिए हम प्रयत्न करें।

अभिभावकों और ग्रामीणों से निवेदन

आपके गाँव में हम हर वर्ष ५-७ लोगों की टुकड़ी में आते हैं। उसी तरह इस साल भी इस प्रयोजना के सदर्भ में आयेंगे। हम इस काम को अपनी तालीम के एक भाग के रूप में करते हैं। केवल पुस्तक पढ़कर शिक्षक नहीं बना जा सकता लेकिन गाँव में सभी छोटे बड़े लोगों के साथ रहकर, उनके बीच समान भाव से हिल मिलकर काम करने की कला विकसित करके हम प्रगति कर सकते हैं। इसलिए ग्रामजनों का सहकार किस तरह प्राप्त किया जाय, इस शिक्षण का भी हमने प्रयोजना में समावेश किया है।

जितना आप सहकार दे सकें, दें, यह हमारा निवेदन है। आगामी वर्ष से शिक्षण-कार्य में सब कोई रुचि ले, ऐसी अपेक्षा सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने व्यक्त की है। यह बात 'शिक्षण में क्रांति' के उद्घोषणा के रूप में जाहिर की गयी है। हमलोग इन दिनों में इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे, ऐसी आशा है।

(१) आगे आनेवाले जमाने में हमारे गाँव का नागरिक कैसा हो ?

(२) उसे क्या क्या जानना चाहिए ?

(३) समाज की प्रगति के लिए हमें किस दिशा में अगला कदम बढ़ाने की इच्छा है ?

(४) शिक्षण प्राप्ति के बाद आत्मविश्वासपूर्ण व्यक्ति बनने की जगह नौकरी बिना लाचार और बेकार बनानेवाली शिक्षा को क्या रूप दें ?

(५) हमारी इच्छा क्या है ? बच्चों को क्या देना है ?

इस विषय की चर्चा जब घर-घर और गाँव-गाँव में होगी और उसमें से शिक्षण का कोई सच्चा स्वरूप विकसित हो, तभी हम स्वराज्य के लायक बन सकेंगे।

हम अपने देश के भविष्य का निर्माण करें, इसकी स्वतंत्रता हमें २५ वर्षों से प्राप्त है। इस वर्ष २५ साल पूरे हो रहे हैं, तो अब और २५ साल सच्चा स्वराज्य लाने की दिशा में हमें प्रयत्न करना है।

हमारे शिक्षार्थी इस तरह की चर्चाएँ करें, प्रश्नोत्तर करें, ऐसी हमारी कोशिश है। इसमें गाँव का आदमी किसी न किसी रूप में अपना योगदान करे, ऐसी अपेक्षा है। (मूल गुजराती से अनूदित) ●

रामपाल सिंह

बुनियादी शिक्षा : नयी दिशाएँ, नये समाधान

युग-पुरुष महात्मा गांधी ने अपने समय की अनेक शैक्षिक समस्याओं का समाधान करने हेतु बुनियादी शिक्षा के नाम से प्रचलित नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रतिमोदन एवं समर्थन किया। इस शिक्षा-प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य जन-जन को व्यावहारिक, उपयोगी तथा सस्ती शिक्षा प्रदान करना था, क्योंकि उस समय साक्षरता का प्रतिशत बहुत ही कम था, शिक्षा सैद्धान्तिक तथा जीवन की वास्त विकताओं से पर्याप्त दूर थी और भारत के सीमित आर्थिक साधनों के द्वारा पर्याप्त शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था करना कठिन ही क्या, असम्भव ही था। इन परिस्थितियों में एक नयी शिक्षा का प्रतिमोदन किया जो भारत की तत्कालीन आवश्यकताओं के पूर्ण अनुकूल थी। वास्तव में देखा जाय तो इस नयी शिक्षा-प्रणाली में इतनी शक्ति थी कि वह उपरोक्त समस्याओं का समाधान कर देश को प्रगति की राह पर बढ़ाती। किन्तु देश के उच्च वर्ग ने इस शिक्षा-प्रणाली को हृदय से स्वीकार नहीं किया और यही कारण है कि आज उच्च और यहाँ तक कि मध्यम वर्ग के व्यक्ति अपने बालकों को बेसिक विद्यालयों में न भेजकर पब्लिक स्कूलों तथा विदेशी मिशनरियों द्वारा संचालित विद्यालयों में भेजना अधिक पसंद करते हैं और जो कुछ भी देखो प्रबन्ध में निजी या सरकारी स्कूल हैं भी, उनमें भी बेसिक शिक्षा-प्रणाली को पूरी तरह से नहीं अपनाया गया है। अब स्थिति यह है कि बेसिक शिक्षा के लकीर के फकीर आज थोड़े से वे विद्यालय हैं जिनमें समाज के निम्न वर्ग के बालक सामान्यतया शिक्षा ग्रहण करते हैं या फिर जो ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित हैं। इस प्रवृत्ति ने बेसिक शिक्षा को एक नयी दिशा प्रदान की है कि आज बेसिक शिक्षा पर आधारित विद्यालयों में वे ही छात्र आते हैं जिनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति सामान्य से निम्न होती है।

असामान्य व्यक्तित्व

सामाजिक आर्थिक बाधित बालकों का व्यक्तित्व असामान्य होता है। इसका प्रमुख कारण इन बालकों में सुरक्षा तथा विश्वास की भावना का अभाव है। समाज के निम्न आर्थिक एवं सामाजिक वर्ग से आये बालकों में एक प्रकार का भय, चिन्ता तथा मनस्ताप रहता है, औसत समाज से भिन्न तथा पृथक उनके जीवन-दर्शन, मूल्य तथा मान्यताएं होती हैं तथा इनकी आवश्यकताएँ भी अपने में पृथक होती हैं। इन सब विशिष्टताओं के कारण ये बालक समाज के सामान्य तथा उच्च वर्ग से आये बालकों से भिन्न होते हैं।

साधनों का अभाव

इन बालकों की विचार-संचार प्रक्रिया भी अन्य बालकों से भिन्न तथा कमजोर होती है। इसके प्रमुख रूप से दो कारण है। प्रथम इनके परिवार तथा पड़ोस में अशिक्षित व्यक्तियों द्वारा विचार-सचार के लिए सीमित भाषा का प्रयोग किया जाता है, दूसरा इन बालकों को अध्ययन हेतु पर्याप्त मात्रा में पाठ्य पुस्तकें, सहायक पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा समाचार पत्रादि नहीं मिल पाते हैं। वे ज्ञान-प्राप्ति के इन बहुमूल्य साधनों के प्रयोग से वंचित ही रह जाते हैं। वे सीमित भाषा-शैली का ही प्रयोग करते हैं, क्योंकि उनका अध्ययन बड़ा ही सीमित होता है। वे विभिन्न कवियों, लेखकों तथा सम्पादकों की भाषा शैली से भी अनभिज्ञ रह जाते हैं। संक्षेप में, इन बालकों में अपने विचारों को संचारित करने तथा दूसरों के द्वारा संचारित विचारों को ग्रहण करने की शक्ति तथा शब्द-भण्डार नितान्त कम होती है।

सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ

सामाजिक-आर्थिक रूप से बाधित बालकों का जीवन-दर्शन, मूल्य तथा व्यवहार-परक प्रक्रिया सामान्य बालकों से पृथक होती है। विद्यालयों में जब ये बालक आते हैं तो पाते हैं कि विद्यालय के अन्य छात्रों की विचार संचार प्रक्रिया काफी उच्च है, उनके स्वीकृत मूल्य भी ऊँचे है तथा उनके व्यवहार भी पर्याप्त परिमार्जित हैं और उनकी अधिगम गति भी तीव्र है। इस प्रकार के अभाव के कारण इन बाधित बालकों म हीनता की भावना और भी अधिक बढ जाती है जो उनके अधिगम पर पुन कुप्रभाव डालती है।

सामाजिक आर्थिक-बाधित बालक शंकालु, शर्मीले तथा समपरत होते हैं। परिणामस्वरूप वे कक्षा में न तो प्रश्न ही पूछते हैं और न अपनी आवश्यक शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा ही करते हैं। इनमें सामाजिकता का भी विकास आवश्यक मात्रा में नहीं होता है।

कुछ विशेषताएँ

इन न्यूनताओं के साथ ही साथ इन बालकों में कुछ विशेष शक्तियाँ भी होती हैं। उदाहरण के लिए सामाजिक-आर्थिक रूप से बाधित बालक शारीरिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक सशक्त होते हैं। वे शारीरिक कार्यों को अधिक सफलता के साथ कर सकते हैं। ये बालक उन खेलों में सफलता प्राप्त करते हैं जिनमे शारीरिक शक्ति का महत्व अधिक होता है। इन बालकों में हवाई किले बनाने की शक्ति अधिक होती है। ये बालक काल्पनिक उड़ानों में तेज होते है। उनमें कल्पना-

शक्ति की मात्रा अधिक होती है। वे अपने दैनिक जीवन में ड्राइवर, घुड़सवार, नेता, देवी-देवता आदि का पात्राभिनय सामान्यतया करते रहते हैं।

सामाजिक-आर्थिक बाधाओं से ग्रसित बालक अपने स्वभाव में परिणामात्मक (Inductive) होते हैं, अधिगम खण्ड से पूर्ण की ओर तथा विशिष्ट से सामान्य की ओर अग्रसर होते हैं। उनमें सामान्यीकरण की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। परिणामस्वरूप वे उन कार्यों में अधिक सफलता प्राप्त करते हैं जिनमें उच्च विचार तथा सामान्यीकरण की कम आवश्यकता होती है। वे यांत्रिक विधि से सम्पादित किये जानेवाले कार्यों को बड़ी सुगमता के साथ कर लेते हैं।

इन बालकों का व्यवहार समस्या-प्रधान होता है। वे ऐसे कार्य अधिक पसन्द करते हैं जो समस्या-प्रधान होते हैं। पाठ्य पुस्तकें पढ़कर निष्पत्ति करना उन्हें पसन्द नहीं होता। साथ ही साथ वे दृश्य-कला में अधिक रुचि लेते हैं इसलिए वे अधिगम के ऐसे साधन अधिक पसन्द करते हैं जो दृश्य होते हैं। अन्त में, वे अपने विचारों को संक्षिप्त भाषा के द्वारा प्रस्तुत करते हैं, अधिक भाषा का प्रयोग करना उन्हें नहीं आता।

बुनियादी शिक्षा की सफलता के लिए

बुनियादी शिक्षा, जो समाज के उच्च वर्ग द्वारा किन्हीं विशेष मनोवृत्तियों के कारण स्वीकृत नहीं की गयी, समाज के पिछड़े तथा निर्धन वर्ग द्वारा भी त्याज्य कर दी जायेगी, यदि यह सामाजिक-आर्थिक बाधित बालकों की समस्याओं का समाधान तथा उनकी शक्तियों का सदुपयोग करने में असफल रही। इस कार्य में शिक्षक काफी सहयोग प्रदान कर सकते हैं। बुनियादी विद्यालयों में शिक्षण-कार्य करनेवाले अध्यापक अपने कक्षा कक्ष व्यवहार के द्वारा सामाजिक आर्थिक-बाधा ग्रसित बालकों को पर्याप्त मात्रा में सुरक्षा एवं आत्म विश्वास जागृत कर सकते हैं। अध्यापक इन बालकों में से हीनता की भावना का निराकरण अपने समुचित व्यवहार के द्वारा कर सकता है। यदि अध्यापक कक्षा-कक्ष में अपने व्यवहार को विश्वासजनक, स्वीकारात्मक, समदृष्टिपूर्ण तथा सम्मानपूर्ण करते तो बालक न केवल अधिगम को ही अधिकतम कर लेंगे, वरन् वे अनेक आवश्यक व्यक्तित्व गुणों का भी विकास कर लेंगे। जान वाइथल (John Withall) कक्षा-कक्ष में इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करने हेतु निम्न उपायों का उल्लेख करते हैं :

१ बाधित बालकों को विभिन्न उपायों द्वारा प्रोत्साहित किया जाय, जिससे वे अपने अधिगम की मात्रा अधिकतम कर सकें।

२. इन छात्रों में किसी विचार, सुझाव या व्याख्या के सम्बन्ध में गम्भीर रूप से चिन्तन करने की तत्परता जागृत की जाय।

३. समस्या प्रधान प्रश्न करना, समस्या प्रधान कथन कहना तथा समस्या-समाधान-पद्धति से शिक्षण-कार्य करना।

४ इन बालकों के विचारों को बड़े ध्यान से सुना जाय।

५. उद्देश्यों को समझने में छात्रों की सहायता करना।

अध्यापकों के लिए कुछ खास बातें

जैसाकि ऊपर कहा गया है इन बालकों की विचार-संचार प्रक्रिया दुर्बल होती है, वे दूसरे के द्वारा व्यक्त विचारों को शीघ्रता एव सरलता के साथ ग्रहण नही कर सकते और न अपने विचारो को सफलतापूर्वक दूसरो तक पहुँचा ही पाते हैं। अतः अध्यापक का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह विभिन्न शिक्षण-साधनों--विशेष कर दृश्य साधनों--की सहायता से अपने विचारों को सरल एव सुगम बनाकर इनके अधिगम की मात्रा को बढ़ायें। इन साधनों से अधिगम की मात्रा बढ़ तो जाती है किन्तु फिर भी बाधित बालकों की ओर अनेक मनो सामाजिक समस्याएँ असमाधित ही रह जाती हैं। इन बालकों की अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएँ होती हैं, जैसे समूह में स्थान, समूह द्वारा स्वीकृति तथा अनुमोदन आदि। अध्यापक इन बालकों को सम्मान एवं दायित्व देकर कक्षा एव विद्यालय की अनेक क्रियाओं में भाग लेने के अवसर प्रदान कर इनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न सामूहिक कार्यों के द्वारा की जा सकती है। इन कार्यों में नाटक, खेलकूद, भाषण, सामूहिक गान आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

अध्यापक के कक्षा कक्ष व्यवहार उन सीमाओं को निश्चित करते हैं जिन तक बाधित बालक अपनी अनेक मनोसामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। अपने व्यवहार के द्वारा अध्यापक बाधित बालकों की चिन्ताएँ, भय, भग्नाशा आदि का दूर कर आत्मविश्वास एव सुरक्षा की भावना जागृत कर उनके अधिगम के लिए परिपुष्टता (Reinforcement) प्रदान कर सकता है। अध्यापक अपना तथा अन्य छात्रों के साथ प्रतिसम्पर्क (Intraction) स्थापित करके इन बाधित बालकों की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। अध्यापक का प्यार एव स्नेह तथा इनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार इनके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनके साथ संवेगात्मक सम्बन्धों को भी मधुर बनाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संवेगात्मक प्रतिसम्पर्क उच्च अधिगम के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

संक्षेप में, अध्यापक अपने कक्षा-कक्ष के समुचित व्यवहार एवं सुन्दर सामाजिक संवेगात्मक प्रतिसम्पर्क के द्वारा बुनियादी विद्यालयों में आये सामाजिक-आर्थिक बाधा-ग्रसित बालकों की अधिकांश मनोसामाजिक समस्याओं का समाधान कर सकता है। इसीसे उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है। अध्यापक अपने प्रयासों से इनके मन की हीनता का निराकरण कर सकता है। कक्षा-कक्ष में सुन्दर व्यवहार इन बाधित बालकों के मन में बसी असुरक्षा तथा आत्मअविश्वास की भावना को दूर कर उनके अधिगम को उच्चतम कर सकता है।

अध्यापक के कक्षा-कक्ष व्यवहार का माप करने हेतु अनेक विधियों का आविष्कार एवं विकास किया जा चुका है। लेखक के द्वारा प्रमापीकृत 'सामाजिक संवेगात्मक व्यवहार-सूची' के द्वारा अध्यापक के कक्षा-कक्ष व्यवहार का बड़ी सरलता से पता लगाया जा सकता है। यह सूची आठ क्षेत्रों से सम्बन्धित अध्यापक व्यवहार का माप करती है। ये आठ व्यवहार अग्रलिखित हैं :

१. संवेगात्मक सम्बन्ध, २ समदृष्टि, ३. स्वीकारोन्मुखता, ४. विश्वसनीयता, ५. समायोजनात्मकता, ६. सम्मान, ७ संवेगात्मक सम्बन्ध तथा, ८. विचार-संचार योग्यता। इस सूची का राजस्थान राज्य के उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों का कक्षा-कक्ष व्यवहार का माप करने हेतु व्यापक प्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पुरुष अध्यापकों के कक्षा-कक्ष व्यवहार की अपेक्षा महिला अध्यापकों का कक्षा-कक्ष व्यवहार अधिक सुन्दर तथा अधिगम के अनुकूल होता है। बुनियादी विद्यालयों को इस प्रकार के परिणामों की सहायता लेकर उचित कदम उठाने चाहिए। ●

—जियालाल, शिक्षक प्रशिक्षण-संस्थान, अजमेर

डॉ० जयदेव

बिहार के राजकीय बनाम अराजकीय माध्यमिक शिक्षक

[लेखक बिहार शिक्षा-सेवा में हैं, अच्छे शिक्षाशास्त्री हैं। अपनी अनुशासनप्रियता और कर्तव्यपरायणता के लिए अपने साथियों के बीच प्रिय हैं। सहरसा जिला आचार्यकुल के संयोजक के नाते भी वे पिछले सालभर से कार्य कर रहे हैं और जिले में आचार्यकुल की प्रगति के लिए सक्रिय हैं। सहरसा जिला हाई स्कूल के प्राचार्य के नाते उन्होंने विद्यालय के लिए अच्छी प्रतिष्ठा कमाई है। प्रस्तुत लेख में व्यक्त किये गये लेखक के विचारों से आचार्यकुल पूर्णतया सहमत भले न हो, किन्तु एक शिक्षाशास्त्री और राजकीय सेवा में होने के नाते डा० जयदेव के इस लेख का महत्त्व है, हम इस विषय पर पाठकों की सम्मति सादर आमंत्रित करते हैं। —सम्पादक]

दुनिया के प्रायः सभी देशों एवं भारत के सभी राज्यों की तरह बिहार में भी माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की दो श्रेणियाँ हैं : राजकीय एवं अराजकीय। राजकीय एवं अराजकीय शिक्षकों का यह भेद बड़ा असंगत, हास्यास्पद एवं एक दुःखद स्थिति का द्योतक है। परन्तु यह एक वास्तविकता है और बहुत अर्थों में राजकीय शिक्षक राजकीय हैं और अराजकीय शिक्षक अराजकीय।

बिहार राज्य की माध्यमिक शिक्षा आज इन्हीं दो राजकीय एवं अराजकीय संघर्षों, जिन्हें "हठों" की संज्ञा दी जाय तो उत्तम होगा, से आक्रांत है। राजकीय हठ है, "राजकीयकरण" सम्भव नहीं। अराजकीय (शिक्षकों) का हठ है, "अब अराजकीय स्थिति सह्य नहीं।"

राजकीय एवं अराजकीय दोनों पक्षों की जड़ों में आर्थिक विपन्नता एवं विवशता छिपी है। दोनों पक्षों के तर्कों में न्यूनाधिक सत्य भी है। अतः यह क्यों न देखा जाय कि क्या इस राजकीय एवं अराजकीय भेद को मिटाया जा सकता है, हटाया जा सकता है?

परन्तु इस प्रश्नोत्तर के पूर्व हमें सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि बिहार में माध्यमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व अथवा भार किस पर है? क्या राजकीय शिक्षकों एवं शिक्षण संस्थाओं पर अथवा अराजकीय शिक्षकों एवं शिक्षण-संस्थाओं पर।

एक तरफ मात्र तिरसठ राजकीय माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत मात्र तेरह सौ राजकीय शिक्षक, तो दूसरी ओर करीब तीन हजार अराजकीय

विद्यालयों में कार्यरत करीब तीस हजार अराजकीय शिक्षक। (आंशिक स्वीकृत विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों को लेकर)। प्रतिवर्ष बिहार विद्यालय परीक्षा समिति, पटना से माध्यमिक विद्यालय परीक्षोत्तीर्ण होनेवाले तीन लाख छात्रों में अराजकीय विद्यालयों से उत्तीर्ण होनेवाले छात्रों की संख्या करीब-दो लाख चौरानबे हजार, तो दूसरी ओर राजकीय विद्यालयों से उत्तीर्ण होनेवाले छात्रों की कुल संख्या मात्र करीब ६ हजार।

हमारे इस प्रश्न का 'उत्तरदायित्व अथवा भार किस पर' का उत्तर इन उपर्युक्त तथ्यों को देखकर निस्संदेह अराजकीय विद्यालयों एवं शिक्षकों के पक्ष में जाता है और तब इस 'पक्ष' के साथ प्रश्न उठता है कि मात्र ६ हजार छात्रों की माध्यमिक परीक्षोत्तीर्णता के निमित्त ये मात्र तेरह सौ राजकीय शिक्षक अथवा मात्र तिरसठ राजकीय विद्यालय ही क्यों ?

कुछ खास सुविधा प्राप्त विशिष्ट शहरी अथवा सुदूर निष्ठ असुविधा प्राप्त देहाती पिछड़े लोगों (जहाँ राजकीय सर्वोदय विद्यालय स्थित है) के बच्चों के लिए ही यह राजकीय विद्यालय और राजकीय शिक्षक क्यों ? क्या यह भारतीय संविधान की आत्मा के विपरीत नहीं ? क्यों ? इसलिए कि ये इन अराजकीय शिक्षकों एवं विद्यालयों के निमित्त आदर्श बनकर उन्हें माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रेरणा देते हैं ? जैसाकि कभी इनसे अपेक्षा की गयी थी और आज भी की जा रही है ?

इन सारे प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी चुप्पी उसके मूल प्रश्न—राजकीय एवं अराजकीय में भेद—को समाप्ति के उत्तर के निकट उसे अवश्य ला देता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस समस्या के निराकरण के निमित्त राज्य या तो इन तीस हजार अराजकीय शिक्षकों एवं तीन हजार विद्यालयों का राजकीयकरण करे अथवा गांधी, विनोबा एवं आचार्यकुल के वचनानुसार शिक्षा शासकर माध्यमिक शिक्षा के प्रति अपना मोह त्यागकर राजकीय परतन्त्रता की बेड़ी से उसे मुक्त करने की नीति अपनाकर अपने द्वारा संचालित बिहार के इन तिरसठ राजकीय विद्यालयों और उनके शिक्षकों का अराजकीयकरण करने का साहसिक कदम उठावे।

राज्य के प्रवक्ताओं के मतानुसार संवैधानिक पेचीदगियों के अतिरिक्त राज्य की जो अभी वित्तीय स्थिति है उसमें इन अराजकीय विद्यालयों का राजकीयकरण सम्भव नहीं। हाँ राज्य के लिए अभी यही सम्भव है कि वह सन् १९७६ तक के द्वारा आयोग द्वारा अनुशंसित वेतनमान रु० २२० से ४०० का वेतन देकर एवं उनकी सेवा सुरक्षा के निमित्त एक स्वायत्त निकाय समिति का गठन कर सकेगा।

ऐसी स्थिति में यह तो सम्भव नहीं कि इन अराजकीय विद्यालयों के शिक्षकों

को बिहार के राजकीय माध्यमिक शिक्षकों के निमित्त तृतीय बिहार वतन पुनरीक्षण समिति (अगस्त, '७२) द्वारा अनुशासित वतनमान रु० ४१५-०० से रु० ७४५ ०० अथवा रु० ३८७ ०० से रु० ६०० ०० का वतन एवं अन्य राजकीय लाभों सहित उनका राजकीयकरण कर।

ऐसी स्थिति में 'एक दाम, एक काम" एवं माध्यमिक शिक्षा सरकार मुक्त के सोद्देश्य से उसके सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि वह अपने राजकीय विद्यालयों का अराजकीकरण करे। राज्य का यह निर्णय न केवल अराजकीय शिक्षकों की वित्तीय स्थिति में अपने आदर्श एवं राजकीय विद्यालयों एवं शिक्षकों की ओर देखने की प्रवृत्ति की समाप्ति की घोषणा करने में समर्थ हो सकेगा, बल्कि राजकीय शिक्षकों के बीच नान सेवा निवृत्ति की उम्र एवं नागरिक स्वतन्त्रतादि के निमित्त बढ़ती हुई माँगों की जड़ मूल से समाप्ति की भी। साथ ही साथ वैचारिक जगत में बिहार सरकार के इस निर्णय से उस सिद्धांत को भी बल मिलेगा जो राज्य एवं सरकार से शिक्षा की स्वतन्त्रता को सही शिक्षा के निमित्त *अनिवार्य मानता है और जिसके निमित्त सन्त विनोबा ने १४ अक्टूबर, ७२ को* प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी जो उनसे मिलने गयी थी से अपने पवनार के परधाम आश्रम में आग्रह भी किया है। सरकार के इस निर्णय के साथ स्वाभाविक रूप *से और कई प्रश्न उठेंगे। इन राजकीय विद्यालयों की सम्पत्ति का क्या होगा?* इनमें कार्यरत शिक्षकों का क्या होगा, आदि।

इनका उत्तर सहज में ढूँढा जा सकता है। "विश्वविद्यालय सेवा" की तरह *एक स्वशासी निकाय "विद्यालय सेवा" का सगठन सरकार कर और माध्यमिक* शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व वह इस पर सौंप दे जिस प्रकार उसने माध्यमिक परीक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व बिहार विद्यालय परीक्षा समिति का सगठन कर सौंप रखा है।

इन राजकीय माध्यमिक विद्यालयों के स्वामित्व को राज्य सरकार इस स्वशासी निकाय 'विद्यालय सेवा सगठन' को स्थानान्तरित कर दे, जो इन्हें *आदर्श विद्यालयों के रूप में सगठित कर सचालन कर।*

इस स्थिति में राज्य एवं सरकार का एक मात्र कार्य इस निकाय को पर्याप्त आर्थिक सहायता एवं अनुदान देने का रहे, जिससे यह भी राज्य के सभी माध्यमिक विद्यालयों *को कोठारी आयोग के वेतनमानों को अविलम्ब कार्यान्वित कर* उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान कर सक्षम म पूर्ण समर्थ हो सके। साथ ही इस निकाय को इतनी शक्ति भी अवश्य होनी चाहिए, मिलनी चाहिए, कि यह माध्यमिक *शिक्षकों की सेवा की सुरक्षादि को निश्चितरूप से दे सके, दिला सके।*

जहाँ तक राजकीय माध्यमिक शिक्षा के शिक्षकों एवं उसके प्रधानों को 'क्या किया जाय'' का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में राज्य सरकार इन राजकीय शिक्षकों के सम्मुख चयन का सिद्धान्त रखे। जो व्यक्ति विद्यालय सेवा संगठन के अधीनस्थ विद्यालयों में कार्य करना चाहें, उन्हें वहीं रहने दिया जाय, एवं जो लोग अपनी सेवा राजकीय क्षेत्र में ही रहने की ख्वाहिश प्रकट करें उनकी सेवा का बिहार के ५८७ प्रखण्डों के विस्तृत प्राथमिक शिक्षा के शिक्षकों के राजकीयकरण के निर्णय से उत्पन्न विकराल समस्या को सुलझाने एवं माध्यमिक शिक्षा में गुणात्मक विकास के निमित्त निरीक्षी पदाधिकारी के रूप में उपयोग किया जाय। साथ ही-साथ राज्य स्तर से प्रखण्ड स्तर तक विद्यालय सेवा की शाखाएँ भी स्थापित की जायँ, जिनमें राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में इनकी सेवा का सदुपयोग किया जाय।

यदि बिहार सरकार ऐसा निर्णय लेती है तो उसका यह निर्णय एक साहसिक निर्णय होगा। स्वतंत्र भारत के इतिहास में असमानान्तर एवं अद्वितीय माना जायगा।

सम्भव है, प्रारम्भ में सरकार के इस निर्णय से आज के राजकीय एवं अराजकीय दोनों प्रकार के माध्यमिक शिक्षकों में असन्तोष की भावना जाग्रत हो। एक को अपने भविष्य में अपनी प्रोन्नति की सम्भावनाओं के अभाव की आशंकाओं को लेकर एवं दूसरे को अपने ''आदर्श' की खण्डित प्रतिमा को देखकर।

लेकिन राज्य सरकार की थोड़ी-सी समझदारी एवं इस सम्बन्ध में उसकी उदारता की नीति उनके बीच जाग्रत होनेवाली असन्तोष की भावना की समाप्ति कर सकती है। परन्तु एतदर्थ राज्य सरकार राजकीय शिक्षकों की परिवर्तित स्थिति में प्रोन्नतियों की गारण्टी तो दे। विद्यालय संगठन के अन्तर्गत कार्य करनेवाले शिक्षकों को न केवल राष्ट्रीय वेतनमान देने, बल्कि उसके परामर्शानुसार उनके वेतनमान का प्रति पाँचवें वर्ष पुनरीक्षण करने एवं राजकीय कर्मचारियों को मिलनेवाली महँगाई आदि की राशि देने की घोषणा तो करे। उसकी यह घोषणा आज के राजकीय एवं अराजकीय दोनों प्रकार के माध्यमिक शिक्षकों को विश्वास दिला सकेगा कि माध्यमिक विद्यालयों को उसकी यह अराजकीयकरण की नीति वस्तुतः उनके (शिक्षकों के) राज्य के लाखों-करोड़ों लोगों एवं स्वयं राज्य के हित में सर्वोत्तम है।

अतः आज की स्थिति में आज के सन्दर्भ में लेखक का अभिमत है 'माध्यमिक विद्यालयों का राज्यकीयकरण नहीं अराजकीयकरण की आवश्यकता है।'

प्राचार्य, जिला स्कूल सहरसा, एवं संयोजक, जिला आचार्यकुल समिति

डा० सीताराम जायसवाल

श्री अरविन्द और शिक्षा द्वारा क्रान्ति

बीसवी शती के आरम्भ में श्री अरविन्द ने भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लिया और इसीके साथ साथ उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारतीय क्रांति की सफलता केवल राजनैतिक प्रयासों से हो नहीं हो सकती, वरन् सर्वांग परिवर्तन के लिए सभी दिशाओं, सभी क्षेत्रों में क्रांति लानी होगी।

सर्वांग क्रांति

वैसे तो 'क्रांति' से प्राय राजनैतिक क्रांति को ही ध्वनि निकलती है, लेकिन श्री अरविन्द की दृष्टि में क्रांति का स्वरूप सर्वांगपूर्ण है। यदि समाज में क्रांति लाना है तो व्यक्ति के जीवन में भी क्रांति लानी होगी। यदि सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में क्रांति लानी है तो आध्यात्मिक क्षेत्र में भी क्रांति आवश्यक है।

यही कारण है कि सन् १९०५ से १९१० तक देश की आजादी की लड़ाई में सक्रिय भाग लेने के उपरान्त उन्होंने सर्वांगपूर्ण योग (इण्टीगरल योग) की साधना पाडिचेरी के अपने आश्रम में आरम्भ की। पाडिचेरी में जाकर सर्वांगपूर्ण योग की साधना का विचार श्री अरविन्द ने अचानक नही किया। उनका यह निर्णय भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयासों का अभिन्न अंग था।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्री अरविन्द ने सन् १९०५ में अपनी पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी को एक पत्र में लिखा था कि मेरी तीन प्रबल इच्छाएं है :

१ *पहली प्रबल इच्छा अपने देशवासियो के साथ तादात्म्य करने की है।*
२, दूसरी प्रबल इच्छा ईश्वर के साक्षात्कार और प्रत्यक्ष अनुभव करने और,
३ तीसरी प्रबल इच्छा विदेशी शासन रूपी राक्षस से भारत माता को स्वतंत्र कराने की है।

अत जब किसी के मन में यह बात आती है कि श्री अरविन्द ने भारत की आजादी की लड़ाई से मुँह मोड लिया था, तो यह उसके अज्ञान का ही परिचायक है। श्री अरविन्द ने स्वतन्त्रता के साध्य की प्राप्ति के लिए राजनैतिक साधन के स्थान पर आध्यात्मिक साधन को अपनाया, बाह्यक्रांति के स्थान पर उन्होंने आन्तरिक क्रांति की ओर अधिक ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि बाह्यक्रांति अर्थात् राजनैतिक क्रांति के लिए कार्य करनेवाले अनेक नेता थे। लेकिन बाह्यक्रांति की सफलता तो आन्तरिक क्रांति पर ही निर्भर करती थी

और इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले लोग दिखाई नही पड रहे थे। इसीलिए श्रीअरविन्द ने सर्वांगपूर्ण योग दर्शन द्वारा सर्वांग क्रांति की भूमिका तैयार की।

सर्वांग योग

श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दिव्य शक्ति का वाहक है और व्यक्ति के कार्यों एव व्यवहारो में दिव्य चेतना का प्रभाव दिखाई पड सकता है। इसी दृष्टि से मानव शरीर का भी महत्त्व है। मानव शरीर के माध्यम से ही भौतिक एव दैविक जगत में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। श्री अरविन्द के शब्दो म "शरीर का काय दिव्य चेतना को भौतिक जगत् से सम्बद्ध रखना है।"

शरीर में आत्मा एव दिव्य चेतना का आभास व्यक्ति के जीवन में क्रातिकारी परिवर्तन लाता है। जब मनुष्य अपने को 'शरीर' न मानकर आत्मा स्वीकारता है, जब वह अपने अह से ऊार उठकर परम सत्ता एव भागवत चेतना की ओर अग्रसर होता है तब उसके जीवन में ऐसी आन्तरिक एवं आध्यात्मिक क्राति होती है, जो वाह्य जगत् को बिना प्रभावित किये नही रहती।

श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन में इसी क्रातिकारी परिवर्तन की बात प्रमुख है। इसी दृष्टि से श्री अरविन्द न केवल भारतीय क्राति के उन्नायक थे वरन् विश्वबन्धुत्व तथा मानव एकता के पोषक थे। श्री 'माँ' के निर्देशन में श्रीअरविन्द आश्रम में जिस जीवन-शैली को विकसित किया गया है वह इस दृष्टि से क्रातिमूलक है कि उसमें सासारिक मान्यताओं, रीति रिवाजो के स्थान पर परमार्थ, श्रम साधना, समता, भ्रातृत्व एव मैत्री को अपनाया गया है।

श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र पाडिचेरी में शिक्षा द्वारा मानव-जीवन एव समाज में क्रातिकारी परिवर्तन लाने के लिए सफल प्रयोग किये जा रहे हैं। सर्वांगपूर्ण शिक्षा श्री अरविन्द की अनुपम देन है। इसके द्वारा एक नये मानव का, एक नये समाज का, एक नये विश्व का निर्माण हो सकता है।

सर्वांगपूर्ण शिक्षा

अगस्त सन् १९६५ में श्री अरविन्द आश्रम की श्री माताजी ने कहा कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा के द्वारा न केवल भारत में वरन् विश्व में नवीन चेतना का विकास किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में श्री माताजी ने कुछ प्रश्नो के उत्तर भी दिये थे, जिनके आधार पर सर्वांगपूर्ण शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य अथवा उद्देश्य है.

१ सर्वांगपूर्ण शिक्षा का उद्देश्य बालको को इस योग्य बनाना है कि वे असत्य को अस्वीकार करें और अपने जीवन में सत्य को अभिव्यक्त करें।

२. सर्वांगपूर्ण शिक्षा का उद्देश्य भौतिक जगत में आत्मिक विकास को सम्भव बनाना है।

३. सर्वांगपूर्ण शिक्षा का लक्ष्य यह बताना है कि भौतिक तत्व तब तक निष्क्रिय एवं असत्य है जब तक कि वह आत्मा की अभिव्यक्ति का वाहन नहीं बनता है।

४. सर्वांगपूर्ण शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास करना है।

५. सर्वांगपूर्ण शिक्षा का लक्ष्य जीवन के विविध कार्यों के माध्यम से व्यक्ति का सत्य एवं अलौकिक तत्व से परिचय कराना है।

सर्वांगपूर्ण शिक्षा के जो लक्ष्य एवं उद्देश्य ऊपर बताये गये हैं उनकी पूर्ति का अनुमान सामान्य सांसारिक सफलताओं के आधार पर नहीं लगाया जा सकता। इसीलिए श्री अरविन्द आश्रम के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र में जो सर्वांगपूर्ण शिक्षा-पद्धति है उसमें किसी प्रकार की परीक्षा अथवा उपाधि देने की व्यवस्था नहीं है।

सर्वांगपूर्ण शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का आन्तरिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है। यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक एवं आन्तरिक विकास का मूल्यांकन सामान्य लौकिक आधारों पर नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा-पद्धति में न किसी प्रकार की परीक्षा होती है और न डिग्री ही दी जाती है। इसका मूल्यांकन तो व्यक्ति स्वयं करता है कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा के उद्देश्यों को उसने अपने जीवन में किस रूप में उतारा है, और उसमें किस सीमा तक अपनी चेतना को विकसित किया है।

यह स्मरणीय है कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा आधुनिक युग में वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति की अवहेलना नहीं करती। वह केवल इस बात पर बल देती है कि इनका उपयोग करते समय व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिकोण को न भूले। जैसाकि ऊपर श्री माताजी ने संकेत किया है, भौतिक तत्व के माध्यम से ही आध्यात्मिक तत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसीलिए सर्वांगपूर्ण शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में ज्ञान-विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार श्री अरविन्द जिस क्रांति के अग्रदूत थे, वह आज भी अपनी ज्योति बिखेर रहा है और तब तक इस ज्योति एवं दिव्य जीवन का प्रसार करता रहेगा, जब तक कि मनुष्य अपनी अतिमानसिक चेतना के विकास द्वारा न केवल नये भारत का वरन् कल्याणकारी विश्व का निर्माण नहीं कर लेता।

रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

विज्ञान की गति और इनसान की मति

[उत्तर प्रदेश तरुण-शांतिसेना के द्वितीय सम्मेलन में सुप्रसिद्ध हिन्दी-कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया यह प्रेरक उद्‌बोधन भाषण आशा है नयी तालीम के पाठकों को भी चिन्तन की प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करेगा। —सं०]

मैं शिविर के लिए, विचार गोष्ठियों के लिए, सेमिनार के लिए बहुत काम का आदमी नहीं हूँ। वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन हुआ था अभी थोडे ही दिन पहले। वहाँ तरुण-शांतिसेना के सन्तोष भारतीय, अरुण और राहाजी से मेरा परिचय हुआ। और उन लोगों ने कहा कि नवम्बर में हम एक सम्मेलन कर रहे हैं, उसमें आयेंगे क्या? तो मैं अपने को इस स्थान के लिए उचित नहीं समझता था। मैं जानता था कि मैं इसके लायक नहीं हूँ। लेकिन जब उन्होंने कहा तो मैंने सोचा कि मैं कहूँ कि नहीं जाऊँगा तो अच्छा नहीं लगेगा। अतः कह दिया कि मैं वहाँ जाऊँगा। मैं जो साठ साल जिया हूँ, तीस साल तक पढ़ाया है, ४० साल तक कविता लिखी है, हजारों सभाओं में कविता पढ़कर लोगों के मन को मुग्ध किया है, तो थोडी देर जवानों के सिर के हिलने के आसार पैदा कर सकूँगा, कहीं न कहीं, बिल्कुल स्पष्ट नहीं, लेकिन कहीं न कहीं मन में यह भावना थी। लेकिन यहाँ आने पर ऐसा लगता है कि न मैं वैसा कर सकता हूँ न मुझे करना चाहिए। फिर भी यहाँ आ गया तो मुझको ऐसा मानना चाहिए कि मैंने अच्छा किया।

अभी जानकी बहन (सम्मेलन का उद्‌घाटन करनेवाली एक शांति सैनिक) कह गयी कि यह जमाना चाहे और जिस चीज का हो, मार्गदर्शन का जमाना नहीं है; इसमें कोई शक नहीं। और सब तरह की चीजें इस जमाने में चल सकता है, लेकिन इसमें मार्गदर्शन नहीं चल सकता। और उसका कारण है।

मैं एक बूढ़े आदमी की बात कहना चाहता हूँ। दुर्भाग्य है कि बूढ़े आदमियों से हमारा वास्ता पड़ता रहा। यह बात विनोबाजी ने कही। पवनार में बैठे हुए थे हम लोग। कुछ जवान विद्यार्थी गाँवों में काम करने के लिए जा रहे थे। तो वे विनोबा का आशीर्वाद लेने आये थे। उन्होंने कहा, 'केवल मेरे आशीर्वाद से काम नहीं चलेगा। फिर भी अगर आपको आशीर्वाद चाहिए तो मैं दे देता हूँ। लेकिन केवल आशीर्वाद से काम नहीं चलगा, क्योंकि वहाँ तो विराट रूप का दर्शन होता है। तुम अगर गाँव में जाओगे, तो उस विराट रूप का दर्शन होगा तरह तरह की बातें दिखेंगी। घबरा कर घर भाग जाओगे। इसलिए सिर्फ आशीर्वाद से काम नहीं चलता। क्योंकि समय की गति बहुत तेज है।"

जीवन और मरण की तेज रफ्तार

मैं तो एक शब्दशिल्पी हूँ और इसे भगवान का वरदान कहिये, या मेरा आलस्य कहिये, इसके सिवाय मुझे कुछ आता नहीं। और शब्दों के माध्यम से ही मैं सारा काम चलाता हूँ। जितनी बड़ी बड़ी समस्याएँ कितने बड़े बड़े सवाल और हमारे पास शब्द के सिवाय कुछ भी नहा। अंग्रेजी में जिसे कहते हैं मैन ऑव लेटरर्स', बिलकुल वैसा ही मैं एक 'मैन ऑव लेटस हूँ। और इसलिए मुझे शब्द की निर्बलता की प्रतीति हर समय होती है। और सबसे अधिक जिन कारणों से होती है वह है समय की तज रफ्तार। यह जो विज्ञान की तजी है आप देखिए हमारा जो साहित्य था उसका क्या हाल है ? पुराने जमाने में एक हजार साल तक एक तरह की कविता चल जाती थी फिर पाँच सौ साल तक एक प्रकार की कविता चली, और फिर धीरे धीरे कविता का, साहित्य का स्वरूप तेजी से बदलने लगा और आज तो निरन्तर उसमें तीव्रगति से परिवर्तन होते जा रहे हैं। तरह-तरह के वाद साहित्य में आये और गये। तो आज की जो दुनिया है उसमें विज्ञान के कारण जितनी तेजी से जीवन आया है उतनी ही तेजी से मरण आया है। इसमें सबसे बुरी बात यह है कि खयाल करने का तरीका मर रहा है। सोचना बन्द हो रहा है। इतना ही नहीं, सोचना बन्द करने के उपाय बढ़ रहे हैं। सोचना किस तरह बन्द हो जाय, उसके लिए तरह-तरह के प्रयत्न चल रहे हैं।

हमारा सोचना बन्द किया जा रहा है और हम खुश हैं और बल्कि उसके लिए आतुर हैं कि यह हमारा सोचना क्यों नहीं बन्द हो रहा है जल्दी से। क्यों नहीं हमको सिनेमा का टिकट कन्सेशन रेट पर मिलता है, इसके लिए आप आन्दोलन करते हैं। अरे भाई, जितनी देर आप जाकर बैठते हैं सिनेमा हाल में,

उतनी देर आपका सोचना बन्द हो जाता है, आप जितनी देर स्कूलों में जाकर बैठते हैं आपका सोचना बन्द हो जाता है, आप जितनी देर अ फिसों में जाकर काम करते है, उतनी देर आपका सोचना बद हो जाता है, आप जितनी देर मशीन चलाते हैं आपका सोचना बन्द हो जाता है। तो यह सोचना बन्द होने की स्थिति जितनी तेजी से विज्ञान के कारण बनी है, उतनी और किसी कारण से नही। और आप जानते हैं कि सोचना बन्द होने से आदमी मरता है। आदमी के लक्षण क्या है ? जिसको सोचना नहीं आता वह आदमी नहीं होता। वह पशुवत् होता है। आहार, भय, मैथुन आदि सब लक्षण आदमी और पशुओं में समान है। एक चीज शायद हममें विशेष है। हो सकता है कि वह बहुत सही नही हो, लेकिन हमने मान लिया कि पशुओं को सोचना नही आता है और हम सोच सकते हैं। अगर सोचना हमारा रोज रोज किसी-न किसी कारण से खत्म होता जा रहा हो, तो हमको यह मानना चाहिए कि हमारा मानव दिनो दिन क्षीण हो रहा है।

शिक्षा वह, जो सोचना सिखाये

शिक्षा वह है जो सोचना सिखाती है। जो सोचना बन्द कराती हो, वह और कुछ भले हो, शिक्षा नही हो सकती। अब, सोचना सिखानेवाली शिक्षा कैसी होगी ? सारी दुनिया के चिन्तक, सोचनेवाले यह कह रहे है कि भविष्य में हम किताबों से नहीं, जीवन से सीख सकते हैं। अब, जीवन जीने की कला बडी मुश्किल है। जीवन कैसे जीयें ! हमको याद है, हमारा बचपन कितना आसान था। सवेरे उठते थे, स्कूल जाने तक हमको, हमारा ऐसा ख्याल है कि हमारे माँ बाप को एक भी पैसा खर्च नही करना पडता था। सुबह उठे, ऐसे ही मुँह-हाथ धोया, कोई मंजन नहीं था, कोई पेस्ट नही था, कोई साबुन नही था कोई चाय की प्याली नही थी; कोई नाश्ता नही था। थोडा सम्पन्न हुए तो एकाध कप दूध मिल गया, अपना चले गये स्कूल। लौटकर आये खाना खाया, सो गये। बडी सरल चीज है अगर आपको खाना मिल जाय और सोने को मिल जाय। और चाहिए भी क्या ? और थोडा-सा खेलने-कूदने को साथियो का साथ मिल जाय, हँसने-रोने को मिल जाय। और चाहिए भी क्या ?

रिटायर लोग कहते हैं, सहजता से दिन 'काट' लेते हैं। कोई सोचना, करना नही रहता। हममें से अधिकांश लोग समय 'काटते' हैं। यह जो समय काटना है, यह हमारी लाचारी है ! विज्ञान ने समय काटने की लाचारी में हमको डाल दिया है। किस तरह सुबह से शाम हो जाय और शाम से किस तरह सुबह हो

भाषण देना पड रहा है। भगवान की दया से मुझे भाषण देने नहीं पडते। जो कुछ मुझे कहना रहता है कविताओं के माध्यम से मैं कह लेता हूं। लेकिन जहां काम आये सुई कहा करे तलवार। तो यह जो वक्ता रूपी तलवार है, वह ऐसे शिविरों में काम आता नहीं है। मुझे आपसे यही कहना है कि भाई, भाषणों से काम नहीं चलता। कुछ निकालो। इसके लिए जो सबसे सही चीज है निकालने की, वह सबसे सरल है और सबसे कठिन है। इसीलिए उसको कोई नहीं निकालेगा, ऐसा मुझे लगता है। सबसे सरल चीज यानी सादा-सादा रहना। मोटा खाना, मोटा पहनना। जो मोटा खाता है, जो मोटा पहनता है उसको आप प्रतिष्ठित कर दीजिए। आदमी प्रतिष्ठा का भूखा है, सम्मान का भूखा है। अगर आप मोटा पहननेवाले और मोटा खानेवाले को प्रतिष्ठित कर दीजियेगा, तो इसमें सबका भला होगा। आपका जीवन भी सरल होगा और दूसरे का जीवन भी। यह ऐसा शानदार सूत्र है। मान लीजिए आपने किसी को, आज जो उसे उपलब्ध है उससे अधिक कठिन और कीमती चीज के लिए प्रोत्साहित किया और उसने वह चीज दूसरे महीने बेईमानी करके प्राप्त कर ली, तो आपने उसका भी जीवन कठिन किया और अपना भी और समाज का भी। और अगर आपने उसे सरल बनाने में मदद की तो अपना जीवन भी सरल बनाया और साथ साथ अनेक लोगों का भी।

पीढ़ी के फासले

यह जो विज्ञान नाम की चीज है जिसने आदमी को आदमी के निकट ला दिया है, उसमें आदमी आदमी का गला भी काट सकता है और गले भी मिल सकता है। अब आप चुनिए कि आप क्या चाहते हैं? मेरा ख्याल है कि गले लगाने की बात आप चुनना चाहेंगे। और अगर गला दबाने की बात चुनना चाहें तो चुन सकते हैं सामर्थ्य है आपमें। लेकिन इसमें जवानी क्या है? हम साथ हुए हैं तो आलिंगन करें, एक दूसरे की बात समझें, न समझें तो समझायें। हमारा इस बात का आग्रह होना नहीं चाहिए कि जो आदमी नहीं समझ रहा है, उसको समझायेंगे नहीं। तुम अगर समझना नहीं चाहते, तो क्या हुआ? हम तो समझाना चाहते हैं। तुम गले लगना नहीं चाहते तो क्या हुआ, हम तो गले लगाना चाहते हैं। तुम कैसे इनकार करोगे मुझसे। अगर मैं तुम्हारे बीच आ जाऊं और कहूं कि आओ हम सब मिलकर यह काम करना चाहते हैं और वह काम तुम्हारे जीवन का है, तो तुम कैसे इनकार करोगे? क्या यह कहोगे कि नहीं, यह कैसे होगा? हम पचीस साल के, तुम पचास साल के। क्या हुआ

जो हो गये पचास साल के ? इतना ही न होगा कि हम तुमसे जल्दी थक जायेंगे। तो तुमसे कहकर ५ मिनट ज्यादा सुस्ता लेंगे। क्या तुम इन्कार करोगे ? लेकिन अगर हम यह कहें कि हम यहाँ आ गये हैं और हम बैठे-बैठे उपदेश करें कि तुम यह करो, वह करो, और हम बैठे बैठे देखेंगे, तो आप बेशक लात मार कर ऐसे बुजुर्गों को हटा दीजिए।

जो दस्तखत करके आपको दुनिया भर में लड़ाते हैं, टेबुल पर बैठे हैं, और आपको चाँद तक उड़ाते हैं, जवान ही उड़ाये जाते हैं न उसमें ! उस जवान को इन बातों से इनकार कर देना चाहिए। क्या मतलब है दुनिया भर में दौड़ने से, चाँद तक पहुँचने से, क्यों हमें करना चाहिए ? हम जान को तैयार हैं, लेकिन आप किसलिए भेज रहे हैं ? आप हमको सेना में भर्ती कर रहे हैं, हमको लड़ा रहे हैं, किसलिए लड़ा रहे हैं ? हमको समझाइए। जरूरत पड़ेगी तो हम खून भी दे सकते हैं, लेकिन किस लिए ? यह तो हमको समझाइए। सही वजह हो तो हम कभी लड़ भी सकते हैं, खून भी दे सकते हैं।

जानकी बहन ने बिलकुल ठीक कहा कि आज जिन्दा शहीदों की आवश्यकता है। यह बात समझने की है कि देश के लिए जीना बहुत मुश्किल है, यानी कि किसी भी सही मूल्य के लिए जीना बहुत मुश्किल है। आप सड़क पर जा रहे हैं किसी बहन को किसी ने गाली दे दी, तो आप उससे भिड़ जायेंगे, वह आपको छुरा मार देगा आप मर जायेंगे, यह हो सकता है। लेकिन आप २४ घण्टे इस बात के लिए जागरूक रहें कि कोई जवान ऐसी मनःस्थिति हो न बना पाये कि इस तरह के गंदे काम के लिए उसका मन हो, उसके लिए मैं कोशिश करता रहूँगा, रोज तिल तिल, तो यह बहुत ही कठिन है। कोई भी प्रारम्भ छोटा ही होता है, और प्रारम्भ महत्त्वपूर्ण होता है। अगर आप सही चीज को सही नहीं मानते, और गलत चीज को गलत नहीं मानते, तो आप बड़ी-से-बड़ी क्रांति का नारा देकर भी बेईमानी करनेवाले हैं इसमें कोई शक नहीं।

कैसी शिक्षा में क्रान्ति ?

शिक्षा में क्रांति आप चाहते हैं। कैसी शिक्षा में क्रांति, जो स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई होती है उसी में क्रांति ? उसमें तो शिक्षा होती ही नहीं। उसमें तो जो जितना ज्यादा शिक्षित होता है उतना ही बेईमान होता है। कौन गलत बातों को उछाल कर सही साबित करता है, शिक्षित करता है या गाँव का किसान करता है ? इसीलिए जब विनोबा से राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में पूछा गया कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए, तो उन्होंने कहा कि अभी जो शिक्षा चल रही है, उसे बन्द कर देना चाहिए। गांधी ने जब क्रांतिकारी शिक्षा

शिक्षा में आमूल परिवर्तन हो

आज सबसे अधिक आवश्यकता यदि किसी चीज की है तो शिक्षा में क्रांति की है। विदेशी सत्ता ने हमारे देश में जिस शिक्षा-प्रणाली को चलाया था, वह भारतवासियों के अभिक्रम को नष्ट करके उन्हें परावलम्बी, दफ्तरी, क्लर्क बनाने के लिए थी। दुर्भाग्य से हम आज भी उसी शिक्षा प्रणाली से चिपके हुए हैं। मेरा लज्जा से सिर झुक जाता है, जब मैं देखता हूं कि विश्वविद्यालय की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त युवक हमारे कार्यालय में आकर कहता है कि यदि आपके यहाँ लिखने पढ़ने का काम नहीं है तो बन्डल बांधने का ही काम दे दीजिए। इससे बढ़कर शिक्षा की निरर्थकता और क्या हो सकती है ?

शिक्षा में पांच गुण होने अत्यन्त आवश्यक है। पहला यह कि उससे शारीरिक विकास हो, दूसरा ज्ञानवर्द्धन हो, तीसरा कलात्मक दृष्टि बने, चौथा आत्मिक उन्नति हो और पांचवा स्वावलम्बन की भावना विकसित हो। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इन पाँचों ही गुणों का नितान्त अभाव है। यही कारण है कि शिक्षा ने पिछले पचीस वर्षों में जितना हानि पहुँचायी है, उतना लाभ नहीं पहुँचाया है।

विनोबा ठीक कहते हैं कि शिक्षा न देने से उतनी हानि नहीं होती, जितनी कि गलत शिक्षा देने से होती है।

महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा द्वारा शिक्षा में महान क्रांति लाने का उपक्रम किया था। बुनियादी शिक्षा में उपरोक्त पांचों गुण थे। वह देश काल के अनुरूप थी। उसका जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। लेकिन हमारे शिक्षा-शास्त्रियों तथा शासकों के वह गले नहीं उतरी। यदि उस पर देश ने अमल किया होता, तो आज भारत का रूप ही कुछ और होता।

मैं मानता हूँ कि जब तक शिक्षा में आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक वह उपयोगी नहीं होगी। बुनियादी शिक्षा के अतिरिक्त क्रांति का मुझे और कोई उपयुक्त मार्ग दिखायी नहीं देता।

आज अधिकांश छात्र पढ़ लिखकर बाबू बनते हैं। वे शरीर-श्रम को हेय दृष्टि से देखते हैं, यानी वे दफ्तरों में नौकरी के पीछे रहते हैं। अपनी मेहनत से काम पैदा करने की वृत्ति उनमें नहीं होती। बुनियादी शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि वह युवकों को उत्पादक श्रम के लिए तैयार करती है।

आरम्भ से ही निर्माण की दृष्टि पैदा हो जाने से वे कुछ न कुछ चीजें बनाते रहते हैं और उनके हाथ काम के अभ्यस्त हो जाते हैं काम में मँज जाते हैं।

आज इसी की जरूरत है। जिस देश में मानव श्रम विपुलता से उपलब्ध हो उसमें हाथ की मेहनत का बड़ा मूल्य है।

कितने दुख की बात है कि आज की पढ़ाई में बच्चों का समय बेकार जाता है माता पिता की कमर टूटती है और सरकार को परेशानी होती है।

मैं आशा करता हूं कि देश का विवेक जाग्रत होगा और वह बुनियादी शिक्षा जैसी किसी शिक्षा प्रणाली को अपनाकर शिक्षा में क्रांति का श्रीगणेश करेगा।

जब तक शिक्षा में इस प्रकार की क्रांति नहीं आती, तब तक के लिए शिक्षा संस्थाओं को बंद कर देने में कोई हर्ज नहीं है।

—यशपाल जैन साहित्यकार, सम्पादक, 'जीवन साहित्य', मासिक

शिक्षा में मानवीय तत्व

स्वतन्त्रता के उपरान्त देश की शिक्षा पद्धति के विषय में निरंतर विचार होता रहा है। अनेक आयोग और समितियाँ नियुक्त हुई हैं और यहां वहां इनकी संस्तुतियों को कार्यान्वित भी किया गया किन्तु परिणाम बहुत संतोषजनक नहीं रहा। कारण यही है कि हमने अब तक शिक्षा के ढांचे की ओर अधिक ध्यान दिया है और उसके मानवीय तत्वों की बराबर उपेक्षा की है। मैं समझता हूँ कि इस समय सर्वप्रथम निम्न चार तथ्यों पर विचार होना चाहिए

(१) शिक्षा का सभी स्तरों पर वास्तविक जीवन तथा उत्पादक श्रम से किस प्रकार का सम्बन्ध जोड़ा जाय।

(२) शिक्षा संस्थाओं से राजनीति की गन्दगी को किस प्रकार अलग रखा जाय।

(३) शिक्षकों के बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर को उठाने के लिए क्या व्यवस्था की जाय?

(४) इस समय अधिकतर नौकरियों और पेशों के लिए स्नातक उपाधि अनिवार्य मानी जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उच्च माध्यमिक शिक्षा का स्तर इतना ऊंचा कर दें कि इसके बाद ही हमारे युवक विभिन्न नौकरियों और पेशों में आवश्यक प्रशिक्षण के बाद प्रवेश कर सकें। विश्वविद्यालयों में केवल वही युवक प्रवेश करें जिनकी इस ओर विशेषरुचि हो या जो शोध अथवा अध्यापन का कार्य करना चाहते हों।

—रघुकुल तिलक, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

द्वितीय उत्तर प्रदेश तरुण-शान्तिसेना सम्मेलन का घोषणा-पत्र

व्यापक छात्र असन्तोष और उसकी आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्तियों द्वारा आन्दोलित वातावरण में उत्तर प्रदेश शान्तिसेना का यह द्वितीय सम्मेलन अपनी कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ महसूस करता है। छात्र एकता आज सत्ताकामी दलों और निहित स्वार्थों के दलदल में फँसी हुई दीखती है। मौजूदा आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक शोषण और दमनकारी तंत्र द्वारा तरुण-चेतना निरंतर कुण्ठित की जा रही है, तथा यथास्थिति को सुदृढ़ करने की दृष्टि से रोज-ब-रोज 'फैशन' की तरह नये-नये आकर्षणों से जोरदार तथाकथित आधुनिक जीवन के प्रतिमान समाज में पेश किये जा रहे हैं परिणामस्वरूप आज के असह्य सामाजिक ढाँचे को बुनियादी तौर पर बदलने में तरुणों की शक्ति नहीं लग पा रही है, बल्कि वह गुमराह होकर मात्र छिटपुट विरोधों तक ही सीमित रह जा रही है, जिनसे निपटने की कला यथास्थितिपोषक खूब विकसित किये हुए हैं। हम तरुण शान्ति-सैनिक इस स्थिति के प्रति गहरी चिंता महसूस करते हैं और अपने प्रयत्नों द्वारा सभी तरुणों की तरुणाई को एक विधायक विद्रोह के रूप में विकसित करने की आशा व्यक्त करते हैं।

तरुण-शान्तिसेना लोकतंत्र, धर्म-समभाव, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समता, आर्थिक न्याय और विश्व शान्ति, इन बुनियादी जीवन और सामाजिक मूल्यों पर खड़ी है। वह एक ऐसी क्रान्ति करना चाहती है जिसमें आदमी आदमी की तरह जी सके। आज तो आदमी बिकने की बेबसी और क्रय करने की सामर्थ्य के साथ कुछ और ही बनकर जी रहा है।

इस क्रान्ति के प्रथम चरण के रूप में हमने शिक्षा में क्रान्ति की आवाज बुलन्द की है और वहाँ से हमने कार्यारम्भ किया है। क्योंकि यह आज की शिक्षण प्रक्रिया ही है जो हमारी सृजनशीलता को समाप्त कर हमें यथास्थिति का एक पुर्जा बना देती है। शिक्षा में क्रान्ति के कुछ प्रारम्भिक पहलू हैं फीस के बदले काम, डिग्री का नौकरी से सम्बन्ध विच्छेद, शिक्षण सचालन और व्यवस्था में

शिक्षक, शिक्षार्थी और अभिभावक की संयुक्त शक्ति के रूप में मुख्य जिम्मेदारी है। हमारी यह माँग भी है कि गुलामी के दिनों के अवशेष अभिशापों में से एक प्रशासन तैयार करनेवाले अति महँगे पब्लिक स्कूल बन्द हों, क्योंकि वे हमारी लोकतंत्र और समाजवाद की राष्ट्रीय घोषणा के ऊपर एक तीखा व्यंग है।

देश के आर्थिक जीवन में एक तरफ अभाव और बेकारी का नग्न नृत्य हो रहा है, तो दूसरी ओर वैभव और विलासिता के नित नये साधनों में वृद्धि हो रही है। यह स्थिति बिलकुल निन्दनीय है और हमारी माँग है कि देश में अन्तिम आदमी की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होने तक वैभव विलास सामग्री के उत्पादन और उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

क्रान्ति की प्रक्रिया और शक्ति के सम्बन्ध में हमने यह माना है कि परिवर्तन का प्रारम्भ मनुष्य के दिल और दिमाग से होता है इसलिए हमारी प्रक्रिया और शक्ति वही हो सकती है जो इन दोनों बिन्दुओं पर परिवर्तन की प्रबल प्रेरणा पैदा कर सके। हम विचार की शक्ति और नये-नये प्रयोगों द्वारा इसकी नयी पद्धतियाँ खोजने की तैयारी करते हैं, क्योंकि क्रान्ति की अब तक ज्ञात पद्धतियों की विफलताएँ हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

विद्यालय की चहारदीवारी तरुण-शान्तिसेना की सीमा नहीं। हमारा सपना है कि हम देश के हर तरुण तक पहुँचें और इस नयी क्रान्ति के लिए उसकी तरुणाई को जगायें। हम चौराहों पर बिकने के लिए प्रस्तुत जवानों, कामदिलाऊ दफ्तरों के दरवाजों पर एवं तथा नौकरी के लिए दर-दर भटकते तरुणों तक इस क्रान्ति विचार को पहुँचाना चाहते हैं।

उत्तर प्रदेश तरुण-शान्तिसेना के इस द्वितीय सम्मेलन में अपने लक्ष्य की ओर और अधिक दृढ़ता के साथ बढ़ने का आत्मविश्वास हम अपने अन्दर महसूस करते हैं, और प्रदेश के अपने तरुण साथियों से यह स्नेहपूर्ण अपील करते हैं कि देश की, अपने भविष्य की, नाजुक स्थिति को आँख खोलकर देखें, समझें, अपने आप तक ही सीमित न रहें, या किसी समुदाय या दलविशेष की संकुचित लक्ष्य-प्राप्ति का साधन न बनें; बल्कि इस सम्पूर्ण समाज के बुनियादी परिवर्तन हेतु साथ-साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर इस अभिनव क्रान्ति पथ पर आगे बढ़ें, क्योंकि हमारी समस्त खड़ी विकराल समस्याओं का समाधान एक सम्पूर्ण और समग्र क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है।

कानपुर,
२० नवम्बर, '७२

मध्य प्रदेश आचार्यकुल : वार्षिक सम्मेलन सम्पन्न

श्री काशिनाथ त्रिवेदी की अध्यक्षता में मध्य प्रदेश आचार्यकुल का द्विदिवसीय द्वितीय वार्षिक सम्मेलन दिनाक ८ और ९ नवम्बर, १९७२ को महात्मा गाधी सेवा आश्रम जौरा के प्रांगण में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में प्रदेश के २० जिलो से सयोजक व सदस्यगणो ने लगभग १०० की सख्या में सक्रिय भाग लिया।

सम्मेलन की पहली बैठक में श्री एस० एन० सुब्बाराव ने चम्बलघाटी में आचार्यकुल के योगदान विषय पर एक विचार-पत्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि, 'क्षत्र में शान्ति और सहज जीवन की दृष्टि से आचार्यकुल महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है। क्षेत्र में सज्जन शक्ति का सगठन और विकास आचार्यकुल का मुख्य कार्य है।" पहली बैठक में मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए सुश्री सरला बहन ने कहा कि, "समाज में आधी सख्या स्त्रियो की है। व सामाजिक मनोमालिन्य और वैर विरोध को मिटाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है जैसेकि उन्होने हाल के आत्म-समर्पण के समय निभायी भी है। माताओं की दृष्टि सही हो गयी तो बच्चे बिगड ही नही सकते।" जौरा क्षत्र के विधायक श्री रामचरन लाल मिश्र ने आभार प्रकट करते हुए कहा कि, 'समय आ गया है कि अपराध, दण्ड और पुलिस व्यवहार के बारे में पुनर्विचार किया जाय।" गोष्ठी के आरम्भ में आचार्यकुल, जौरा के सयोजक श्री दर्शन लाल सिंह ने स्वागत किया और मध्यप्रदेश आचार्य कुल के सयोजक श्री गुरुशरण ने पिछले वार्षिक सम्मेलन से इस सम्मेलन तक एक वर्ष का विवरण प्रस्तुत किया। गत वर्ष सदस्य-सख्या कुल १६५ थी, जो अब ५०० हो गयी है।

सम्मेलन की दूसरी बैठक में शिक्षा महाविद्यालय के प्राचार्य डा० अमरनाथ कौल अदालती ने शिक्षा में व्यावहारिक प्रयोगों पर विचार-पत्रक प्रस्तुत करते हुए इस बात पर जोर दिया कि, 'शिक्षक चाहे तो शासकीय नीति-नियमों के होते हुए भी कैसा भी पाठ्यक्रम हो, वह बालकों को आचारवान बनने की दिशा दे सकता है।" जिला शिक्षा अधिकारी, टीकमगढ़, श्री प्रेम नारायण छड़िया ने अदालतीजी के विचारों का समर्थन करते हुए टीकमगढ़ जिले में अपने प्रयोगों

को चर्चा की जिनमें शाला विकास समितियों के माध्यम से अद्भुत सहयोग प्राप्त हुआ है। श्री हरीशंकर द्विवेदी, एडवोकेट, प्राचार्य श्री शिवनाथ उपाध्याय, श्री रामगोपाल गुप्ता, श्री तख्तमल जैन, श्रीमती चन्द्रकला सहाय और श्रीमती प्रेमकली कसिया ने भी इस अवसर पर अपने अपने विचार व्यक्त किये।

दूसरे दिन समापन समारोह श्री राजगोपालन् के भजन से शुरू हुआ। अध्यक्ष श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन, सेवाग्राम के पारित प्रस्ताव को पढ़कर सुनाया, जिसकी समस्त उपस्थित प्रतिनिधियों ने पुष्टि की। श्री ग० च० पाटणकर ने 'ग्रामस्वराज्य में शिक्षा विषयक अपना विचार पत्र पढ़ते हुए करजगांव में हुए व्यावहारिक प्रयोगो की चर्चा की। श्री नर्मदा प्रसाद शर्मा, बिलासपुर, श्री शशिधर पण्डा, रायगढ, श्री सरयूकान्त झा, रायपुर, श्री बी० के० गोरे, ग्वालियर, डा० बी० एम० सिंह, श्योपुर मुरैना, और श्री स्वामी प्रसाद अरजरिया, पन्ना, न अपने अपन विचार प्रकट करते हुए, आचार्यकुल के अपने अपन जिले के कामों का जिक्र किया और बताया कि यह शब्द इसका उद्देश्य और आधार सभी प्रभावकारो है। शिक्षा केवल अक्षरज्ञान नही, वरन जीवन जीने की कला की जानकारी का नाम है। जीवन शिक्षा की दृष्टि से जगह जगह आचार्यकुल प्रयासोन्मुख है। वैचारिक दृष्टि से सगठन बढ़ रहा है।

अन्त में श्री काशिनाथ त्रिवदी न अध्यक्षीय भाषण में कहा कि, "आज शिक्षा सरकार के साथ जुडी हुई है। शिक्षा जनता के हाथ में कैसे आय इस पर आचार्य कुल को कुछ करना होगा। शासन की हम पर पकड न हो। अन्तर्मुखता के साथ हमारे काम का विकास होगा।

एक प्रस्ताव में जौरा में नयी तालीम की भावना का एक औद्योगिक विद्यापीठ स्थापित करने का सकल्प लिया गया। सम्मेलन के अवसर पर म० प्र० आचार्यकुल तदर्थ समिति की दूसरी बैठक करके उसे विघटित किया गया और विधान सम्मत मध्य प्रदेश आचार्यकुल का गठन हुआ, जिसमें हर जिले का सयोजक अथवा उनका प्रतिनिधि सदस्य रहेगा। कुल सदस्य सख्या ४४ का चौथाई ११ सदस्य मनोनीत किय गय। इस प्रकार ५५ सदस्य रहेंगे। और निम्नांकित सात सदस्यो की कार्यकारिणी समिति रहगी

१ सर्वश्री काशिनाथ त्रिवेदी, इन्दौर, २. ग० च० पाटणकर, भोपाल, ३. नर्मदा प्रसाद, बिलासपुर, ४ दुर्गा प्रसाद आय, रीवा ५. डा० सरयूकान्त झा, रायपुर, ६ राम कुमार शर्मा, जबलपुर, ७ गुरुशरण, ग्वालियर, सयोजक। ●

वर्ष : २१
अंक : ५
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

दिसम्बर, ’७२

•

सूचना—चूँकि पिछले नवम्बर ’७२ माह का विशेष अंक ५६ पृष्ठों का था, इसलिए यह अंक ४० पृष्ठों का ही प्रकाशित हो रहा है।—व्यवस्थापक

- ‘नयी तालीम’ का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- ‘नयी तालीम’ का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
अनुपम प्रेस, के १९/२० दुर्गाघाट, वाराणसी में मुद्रित

पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त

लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

नयी तालीम

सर्व सेवा संघ की मासिकी

वर्ष : २१
अंक : ६

- देश के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों के बीच विनोबा
- उत्तर प्रदेश में शिक्षा के पचीस वर्ष
- चीन में शिक्षा के उद्देश्य और समस्याएँ

जनवरी १९७३

शिक्षकों, अभिभावकों एवं समाज शिक्षकों के लिए

शिक्षा में आमूल परिवर्तन का प्रथम चरण

वर्ष : २१
अंक : ६

आनेवाले समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा के वर्तमान ढाँचे में जो भी आमूल परिवर्तन किये जायँ, पहला क्रान्तिकारी काम करना होगा शिक्षा को शिक्षा संस्थाओं की चहार-दीवारी से बाहर निकालने का। अगर हम चाहते हैं कि शिक्षा का समुदाय के जीवन से सम्बन्ध हो तो यह अनिवार्य होगा कि पूरा समाज विद्यार्थी की शिक्षा का क्षेत्र हो और आज समुदाय के विकास के लिए जो भी काम हो रहे हैं उन्हें विद्यार्थी की शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय। इसीलिए 'नयी तालीम' की प्रारम्भ से यही नीति रही है कि स्कूल और समुदाय का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहे और आचार्यकुल की शिक्षा नीति में तो हमने स्पष्ट कहा है कि—'शिक्षा को स्कूलों और कालेजों की चहारदीवारी के भीतर ही सीमित न किया जाय और पूरा समाज उसका क्षेत्र हो तथा समुदाय के विकास के लिए जो भी काम हो रहा है उसे विद्यार्थी की शिक्षा की प्रक्रिया बना दिया जाय।' इसीलिए अक्टूबर १९७२ में वर्धा में जो राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया था उसमें पढ़े जानेवाले एकमात्र सन्दर्भ लेख का शीर्षक था—'शिक्षा को समाज के विकास के साथ जोड़ना।' शिक्षा के क्षेत्र को इस प्रकार व्यापक बनाना शैक्षिक क्रान्ति का पहला चरण होगा।

३ दिसम्बर, १९७२ को मैं दिल्ली गया था और गांधी-स्मारक-निधि के अतिथि-भवन में ठहरा था। उन दिनों लैटिन अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक डा० इवान इल्लिच दिल्ली आये थे और गांधी-शान्ति-प्रतिष्ठान केन्द्र में ठहरे थे। वहाँ ५ दिसम्बर को उनका भाषण 'उत्तर-औद्योगिक समाज' (पोस्ट इंडस्ट्रियल सोसाइटी) विषय पर होने वाला था। चूंकि अ० भा० गांधी स्मारक निधि के मंत्री श्री देवेन्द्र कुमार गुप्त ५ ता० को दिल्ली नहीं रहनेवाले थे, अतः उन्होंने डाक्टर इल्लिच से प्रार्थना की कि वे कुछ देर के लिए राजघाट आ जायें तो उनसे बातचीत हो जाय और जब वे आये तो देवन्द्र कुमारजी ने कृपा-कर मुझे भी बुला लिया। डा० इल्लिच हम लोगों के साथ आध घण्टे से अधिक रहे और इस बीच श्री देवेन्द्र भाई और डा० इल्लिच के बीच जो बातचीत हुई मैं उसका मौन श्रोता ही बना रहा। अन्त में मैंने तो कवल एक ही प्रश्न किया कि आज भारत में ही नहीं, संसार में जो शिक्षा-प्रणाली चल रही है, उससे कल आनेवाले सुपर टेकनालोजिकल युग की समस्याओं का हल किस हद तक होगा? डाक्टर इल्लिच, जो एक प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री भी हैं, बोले, "मैं विस्तार में नहीं जाऊँगा, उसके लिए आज समय भी नहीं है, परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि आज की विद्यालयी शिक्षा 'उत्तर औद्योगिक समाज' के लिए अपर्याप्त ही नहीं हानिप्रद भी है। मैं विद्यालयी शिक्षा से व्यक्ति की मुक्ति चाहता हूँ—'डी स्कूलिंग'—(अविद्यालयी-करण) चाहता हूँ। आज शिक्षा 'स्कूली-शिक्षा' का पर्याय हो गयी है और विद्यालय के बाहर हम व्यक्ति की शिक्षा की कल्पना ही नहीं कर पाते। यह ठीक नहीं है, परन्तु मैं इस विषय में आप से अधिक कुछ नहीं कहूँगा। शिक्षा के विषय में मैं जो सोचता और कहता हूँ, उसे विनोबाजी ने कहीं अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है।"

५ दिसम्बर, १९७२ को गांधी शान्ति प्रतिष्ठान में भाषण करते हुए शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा, "स्कूलों के कमरों में बन्द आज की विद्यालयी शिक्षा-प्रणाली,आज के उपेक्षित जनों (अण्डर प्रिविलेज्ड) की आकांक्षाओं का स्तर इतना ऊँचा कर देगी कि विद्यालयी शिक्षा से उस स्तर को प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। यह शिक्षा-प्रणाली उत्तर औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए

पर्याप्त नहीं होगी। अत हमें इसके ढाँचे मे आमूल परिवर्तन करना होगा।···आज के विद्यार्थी को एक साल मे ९ महीने स्कूल मे बिताना पड़ता है। इस शेड्यूल को बदल कर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि विद्यार्थी को स्कूल मे एक दिन में २ घण्टे से अधिक न व्यतीत करना पड़े। विद्यार्थी-जीवन के तीस वर्षों में समय का वितरण इसी हिसाब से किया जाय। इस समय जो काम स्कूल करते हैं, उनमें से अधिकांश काम उद्योग-केन्द्रों को करना चाहिए। समुदाय में स्थित फार्म और कारखानों का प्रयोग विद्यार्थियों के लिए प्रशिक्षण-केन्द्रों की तरह करना चाहिए। फार्म और उद्योग-केन्द्रों को इस प्रशिक्षण की सुनियोजित योजना बनानी चाहिए।"

इस भाषण से स्पष्ट होता है कि क्रान्तिकारी समाज-शास्त्री डाक्टर इलिच ने जब कहा था कि शिक्षा के सम्बन्ध में मैं जो सोचता और कहता हूँ उसे अधिक स्पष्टता से विनोबाजी ने कहा है तो उनके ध्यान में शायद विनोबाजी की एक घण्टे की पाठशाला की योजना थी और सम्भवतः वह विनोबाजी के उस विचार से भी परिचित थे जिसमे उन्होंने 'उद्योग' की शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य बताया है। (और जाहिर है कि सभी विद्यार्थियों को उद्योगों की शिक्षा स्कूलों के भीतर नहीं दी जा सकती।)

जो भी हो, हम जिस अति विकसित औद्योगिक समाज की कल्पना कर रहे हैं, आज की स्कूल रूपी कारखानों में बन्द शिक्षा-प्रणाली उस समाज के अनुकूल नहीं है। इसीलिए ससार के क्रान्तिकारी चिन्तक इस विद्यालयी शिक्षा-प्रणाली मे परिवर्तन करना चाहते हैं और इस परिवर्तन का जो भी रूप हो, एक परिवर्तन, जो अनिवार्य है वह है शिक्षा को विद्यालयों के कारखानों से मुक्त करके उसे समुदायोन्मुख बनाना। बात यह है कि आनेवाले वर्षों में समाज इतना टेकनालॉजिकल हो जायगा कि अति औद्योगिक समाज को जिस शिक्षा की जरूरत होगी, वह पूरी शिक्षा स्कूल की चहारदीवारी के भीतर नहीं दी जा सकती।

अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फ्यूचर शॉक' में अमेरिका के विख्यात चिंतक और समाजशास्त्री एल्विन टाफलर भी 'सुपर टेकनालॉजिकल'

युग के अनुकूल शिक्षा-प्रणाली की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "कारखानों के पैटर्न पर बने हुए आज के स्कूलों-कालेजों में दी जाने वाली अधिकांश विद्यालयी शिक्षा उस 'सुपर टेकनालॉजिकल' युग के लिए बेकार सिद्ध होगी, जिस युग में अधिकाधिक शिक्षा रेडियो-टेलिविजनों और कम्प्यूटरों आदि के माध्यम से प्राप्त की जा सकेगी। चूँकि ये साधन समुदाय में उपलब्ध होंगे, अतः बहुत कुछ स्कूल के बाहर समाज में सीखा जा सकेगा। न्यूयार्क के बेडफार्ड-स्टूवेसन्त जिले में प्रयोग के तौर पर एक ऐसा स्कूल खोला गया है जिसने अपनी कक्षाओं को समुदाय की दूकानों, कार्यालयों और घरों में बाँट दिया है और यह कहना कठिन है कि कहाँ स्कूल समाप्त होता है और कहाँ समुदाय प्रारम्भ होता है। समुदाय में काम करनेवाले वयस्क स्कूल के विद्यार्थियों को वांछित कला कौशल की शिक्षा देते हैं। स्कूल और समाज का यह सहयोग और स्कूल का अधिकाधिक समुदायोन्मुख होते जाना आज की शिक्षा में आमूल परिवर्तन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण आयाम बनेगा।"

और, भारत में तो इस परिवर्तन को क्रान्ति का प्रथम चरण होना ही चाहिए। यह सब जानते हैं कि अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिए भारतीय शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन किया था। शिक्षा के माध्यम से उन्हें एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति करनी थी, लार्ड मैकाले के शब्दों में उसे 'रंग में काले परन्तु चाल-चलन में गोरे' का का निर्माण कहिए अथवा 'अंग्रेजी हुकूमत चलाने के लिए बाबुओं की तैयारी' कहिए। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने स्कूलों और कालेजों के रूप में ऐसे कारखाने खोले, जहाँ पश्चिम 'पुस्तक और कक्षा' के माध्यम से भारत में घुसा और जिन कारखानों में शिक्षा पानेवाले भारतीय जन जीवन से अलग हो गये। चूँकि आज भी वह शिक्षा पद्धति बदली नहीं है और शिक्षा के कारखाने पहले की तरह ही चल रहे हैं, अतः आज की शिक्षा जन-जीवन से पहले की तरह से ही कटी हुई है। इसलिए अगर हम शिक्षा के स्वरूप में इस उद्देश्य से परिवर्तन करना चाहते हैं कि वह भारतीय जन-जीवन और भारतीय संस्कृति से जुड़े तो हमको शिक्षा को स्कूलों की चहारदीवारी से बाहर निकालना होगा। शिक्षा में आमूल परिवर्तन का यह पहला

कदम होगा। जब तक शिक्षा स्कूली कारखानों के कैद से मुक्त नहीं होगी और समुदाय के उन्मुक्त वातावरण में नया जीवन नहीं प्राप्त करेगी तब तक शिक्षा में वास्तविक क्रान्ति नहीं होगी। ऊपर से तो लगेगा कि इससे परिवर्तन केवल शिक्षा के बाहरी ढाँचे में ही होगा परन्तु व्यवहार में यह उस अविद्यालयीकरण (डी स्कूलिंग) की प्रक्रिया का सबसे दृढ़ चरण होगा जिसकी वकालत डा० इवान इल्लिच ने की है।

इस कदम का अर्थ होगा स्कूल के टाइम टेबुल में मौलिक परिवर्तन। शिक्षा का समुदाय के जीवन से अन्तरग सम्बन्ध, समुदाय में चल रही उत्पादन और सृजन की समस्त प्रक्रियाओं से एकाकार होना और स्कूल के भीतर किताब और कक्षाओं के माध्यम से जो एक अनुत्पादक अयथार्थ वातावरण बन गया है, उससे मुक्ति। अतः जितनी ही जल्दी यह कदम उठाया जाय उतना ही शुभ होगा।

—वशीधर श्रीवास्तव

क्षमा करें

उत्तर प्रदेश के बिजली इंजीनियरों की हड़ताल के कारण प्रेस बन्द था, इसलिए नयी तालीम का प्रस्तुत अंक काफी देर से छप पाया है।

—स०

देश के प्रमुख शिक्षाशास्त्रिओं के बीच विनोबा

प्रश्न आज की माध्यमिक शिक्षा में अंग्रेजी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ायी जाती है। बहुसंख्य बच्चो पर उसका बोझ होता है। इस बारे में आपकी क्या राय है ?

विनोबा : बहुत महत्व का विषय है। अंग्रेजी में कहावत है, 'लिटिल नालेज इज ए डेंजरस थिंग' (अल्प ज्ञान खतरनाक होता है)। इसलिए सब बच्चों को थोड़ी-थोड़ी अंग्रेजी सिखाने की जो बात है उसका लाभ नहीं। इस वास्ते सब बच्चो पर अंग्रेजी लादना ठीक नहीं, बल्कि यहाँ तक होना चाहिए कि बिना अंग्रेजी के बच्चे बी० ए० और एम० ए० भी हो रहे हैं। ऐसा होना चाहिए। लेकिन कुछ खास विषयो के साथ अंग्रेजी का ज्ञान लाभदायी होता है, इसलिए थोडे विद्यार्थियो को उत्तम अंग्रेजी सिखायी जाये। थोडी-थोडी सिखाने में फायदा नहीं, थोडे विद्यार्थियो को उत्तम सिखानी चाहिए, एसा मैंने कहा। लेकिन केवल अंग्रेजी से काम नहीं चलेगा। लोग

समझते हैं कि अंग्रेजी एक 'विण्डो' (खिड़की) है, दुनिया के दर्शन के लिए—उसमें से दुनिया को देख सकते हैं। लेकिन अक्लवाले मनुष्य के घर में एक ही खिडकी नही होगी। चारा दिशाओं में खिडकियाँ रखनी पडती हैं, तब ठीक प्रकाश आता है, ठीक दर्शन होता है। एक ही खिड़की से सीमित प्रकाश आता है, सीमित दर्शन होता है। इस वास्ते मेरी राय में अपने देश में कम-से-कम 'सप्तवाणी', सात भाषाओं की पढ़ाई होनी चाहिए। अंग्रेजी, फ्रेंच, रशियन और जर्मन, चार यूरोप की भाषाएँ, मध्य एशिया के लिए अरबी, और इधर चीनी और जापानी। भारत की भाषाओं के अलावा, इन सात में से एक भाषा का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। तब इन सातों में से दुनिया का सब तरह की अच्छी जानकारी होगी। आज चीन की जानकारी हमको अंग्रजी के द्वारा मिलती है। अंग्रेज लोगों के चश्मे से हम चीन की तरफ देखते हैं। चीन की तरफ चीन के चश्मे से देखना चाहिए। वैसे ही अरबी मुल्कों की तरफ अरबी लोगों की दृष्टि से देखना चाहिए। तो हमको प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। आज अप्रत्यक्ष ज्ञानहोता है अंग्रेजी के द्वारा।

एक, हमारे बच्चे बिना अंग्रजी के ब० ए० हो। दो, केवल अंग्रजी नहीं, और भाषाओं का भी उत्तम ज्ञान हमारे देश में हो। तीन, मैंने कहा, सात भाषाओं की सात खिडकियाँ होनी चाहिए यह तो ठीक ही है, लेकिन फिर भी अभी जो सहूलियत हम लोगों को है, उसका ख्याल करते हुए अंग्रजी की खिड़की, जरा बडी होगी।

प्रश्न . शिक्षा सरकारी तंत्र से मुक्त हो, यह आपका कहना जचता है, लेकिन पाठ्यक्रम क्या होना चाहिए ?

विनोबा इस विषय में मैं खास विचार रखता नही। लेकिन पाठ्यक्रम हर गाँव में अलग-अलग भी हो सकता है। अनेक प्रकार की पुस्तकें पढ़ायी जा सकती हैं। इस वक्त मुझे पंडित मालवीयजी का एक वाक्य याद आ रहा है—"ग्रामे ग्रामे सभा कार्या ग्रामे ग्रामे शुभा कथा पाठशाला मल्लशाला ग्रामे ग्रामे।' हर गाँव में अपनी पाठशाला होगी और उस पाठशाला में वे जिस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हो जो पाठ्यक्रम रखना चाहते हो, वैसा होगा। सरकारी तौर पर जो टेक्स्टबुक्स (पाठ्यपुस्तकें) रखनी होंगी, वे तज्ञों की कमिटी के द्वारा तय हो, लेकिन वे पुस्तकें रिकामेण्डरी' (सिफरिश के तौर पर) हो, "कम्पलसरी ' (लाजमी तौर पर) न हो।

प्रश्न : आप कहते हैं कि शिक्षा सरकारी तंत्र से मुक्त हो, पर यह सारा

आयोजन (राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का) सरकार की ओर से ही हुआ है। क्या इस तरह शिक्षा सरकारी तन्त्र से मुक्त हो सकती है ?

विनोबा मैं समझता हूँ कि यह सम्मेलन केवल आरम्भ है। इसमें कुछ चर्चा होगी, तब उसको पूर्णतया आयेगी। आरम्भ में सरकारी तन्त्र के लोग आते हैं, तो अच्छा ही है। हम किसी पेड़ को काटते हैं, तो भी पेड़ की छाया में बैठकर काटते हैं। काटते समय यह ख्याल रखें कि पेड़ गिरेगा, तब थोड़ा अलग हो जायें। शिक्षा सरकारी तन्त्र से मुक्त हो, इसकी चिन्ता और कोशिश आगे सरकार ही करेगी। मेरा कहना इतना ही है कि जैसे न्याय-विभाग सरकारी पैसे पर चलता है, पर सरकारी तन्त्र से मुक्त है, वैसे शिक्षा भी हो। विद्यार्थियों का दिमाग एक ढाँचे में ढालना लोकशाही के खिलाफ है। मेरा मानना है कि सरकार लोकशाही का दावा करती है, इसलिए यह दलील स्वीकार करेगी।

प्रश्न एक लिपि होने से देश में एकता आयेगी यह कहना हाथ पाँव एक होने से हृदय एक होगा कहने जैसा नहीं है ? यूरोप में एक लिपि है, पर यूरोप का एक हृदय नहीं बना है।

विनोबा ये भाई शायद भूल गये हैं कि मैंने शिक्षा में सहयोग प्रधान है, कहा था, एक लिपि प्रधान हो, नहीं कहा था। लिपि स्वतन्त्र विषय है। सहयोग में विश्वमानव बनना है, और सबके साथ एकता महसूस करनी है। यह मुख्य कार्य है। यह नहीं कहा कि लिपि एक होगी तो हृदय एक होगा। लिपि एक होगी तो उससे एक हृदय होने में मदद मिलेगी, एक-दूसरे के साहित्य का परिचय होगा। इतना लाभ होगा। लाभ वह लाभ कम नहीं है। सारे भारत की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत बड़ा है। इतना लम्बा-चौड़ा देश है, चौदह चौदह पन्द्रह पन्द्रह विकसित भाषाएँ हैं। ऐसे देश की एकता के लिए—एक-दूसरे की अण्डरस्टैंडिंग (समझने) के लिए उससे मदद होगी, यह मैंने कहा था। इसका लाभ सीमित है, फिर भी महान है।

आप का कहना है यूरोप में लिपि एक है, पर हृदय एक नहीं है। बाबा कालेज में था, तब अंग्रेजी सीखा और थोड़ा फ्रेंच सीखा। बाद में बाबा ने जर्मन लैटिन भाषाएँ पन्द्रह पन्द्रह दिन में सीख लीं, क्योंकि सबकी लिपि एक थी। अभी यूरोप का एक हृदय बन रहा है और उसको एक लिपि की मदद हो रही है। यूरोप में 'इकानामिक कम्युनिटी', जिसको 'कामन मार्केट' कहते हैं होगा सबको जोड़ने के लिए। ऐसी वृत्ति वहाँ बन रही है, जो भारत में

प्राचीन काल में थी। द्वाविमौ वातोवात.। आसिंधेरा परावतः। वेद में मन्त्र है। भारत की दोनों बाजू से हवा बहती है। एक बाजू से, आसिंधो-समुद्र से आती है और दूसरी बाजू से आपरावत-हिमालय की गुफा से आती है। दक्षिण भारत से और उत्तर भारत से हवाएँ चलती हैं और वे हवाएँ भारत को एक करती हैं। तात्पर्य, भारत अनेक भाषाओं और धर्मों को मिल कर एक देश हम बना सके। लेकिन यूरोप में 'ट्रायबलिज्म' (टोलीवाद) चलता है। छोटे-छोटे, एक-एक भाषा के देश हैं। एक, रशिया को छोड़कर वहाँ के सब देश उत्तर प्रदेश से छोटे हैं। लेकिन अब उनमें भावना पैदा हुई है कि हमको एक होना है। जितना पश्चिमी हिस्सा है यूरोप का, वह एक होने की कोशिश कर रहा है। और वह करने में एक लिपि उनकी मदद कर रही है। यह समझने की जरूरत है। एक लिपि के कारण उनको बहुत मदद हो रही है, और एक लिपि नहीं होती, भिन्न-भिन्न, लिपियाँ होती तो सम्भव है तकलीफ होती। दुनिया की लिपि एक हो जाय, यहाँ तक उनकी कोशिश हो रही है। सारे भारत के लिए एक लिपि एक हो जाती है, तो चीन और जापान उसको स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि उनकी भाषाओं की रचना हमारी भाषा के समान है। लेकिन हम ही उसको स्वीकार नहीं कर रहे हैं भारत में। इसलिए रोमन लिपि जोर कर रही है।

प्रश्न : शिक्षकों को कितने घण्टे काम करना चाहिए ?

विनोबा मेरा विचार है कि शिक्षकों को रोज विद्यार्थियों के साथ तीन घण्टे शरीरश्रम का काम करना चाहिए और तीन घण्टे वे विद्यार्थियों को बौद्धिक शिक्षा दें। इस तरह छ घण्टे पर्याप्त काम होगा। बाबा ने तो दस घण्टे से कम काम किया नहीं। गांधीजी के पास रहते थे, तब शरीरश्रम के लिए आठ घण्टे तो देना ही पड़ता था। उसके अलावा स्वतंत्र अध्ययन-अध्यापन के लिए दो-चार घण्टा अलग काम तो चलता ही था। परन्तु साधारण शिक्षक को, उसको अपनी भी जिम्मेवारी होती है, इसलिए छ घण्टे काम पर्याप्त है।

प्रश्न . शिक्षकों की तनख्वाह सरकारी नौकरों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए या नहीं ?

विनोबा . इस विषय में बाबा की राय इतनी ही है कि सरकार के जितने सेवक हैं, चाहे शिक्षक हों, चाहे दूसरे कामवाले हों—पोस्टवाले या रेलवेवाले, सबको उनकी तनख्वाह का एक हिस्सा अनाज में देना चाहिए। उत्तम-से-उत्तम अनाज सरकार अपने सेवकों को दे। तनख्वाह कम-वेशी हो सकती है,

पर अनाज निश्चित मात्रा में होगा। उतना निश्चित अनाज मिल जाये तो जीवन सुरक्षित रहेगा। कम-से-कम खाने में तो चिन्ता नहीं रहेगी। पचास साल पहले मैं वर्धा में आया, तब यहाँ के सालदार (वार्षिक तनख्वाह पर खेत में काम करनेवाला मजदूर) को छः कुडो (लगभग १० सेर का एक नाप) जवारी और तीस-चालीस रुपया साल का मिलता था। आज भी छः कुडो जवारी कायम है और चार सौ-पाँच सौ रुपया मिलता है; क्योंकि रुपये की कीमत गिर गयी है। लेकिन, जवारी कायम है इसलिए यहाँ के मजदूर बचे हैं। नहीं तो बचते नहीं, मार खाते। पाँच सौ के बदले हजार रुपया मिलता तो भी बचते नहीं। क्योंकि उससे 'सिक्यूरिटी' (सुरक्षितता) नहीं रहती। इस वास्ते जीवन की मुख्य वस्तु अनाज, वह सरकारी सेवकों को सरकार की ओर से मिलना चाहिए।

लोग तो उल्टा काम कर रहे हैं। किसानों को कहते हैं कि टैक्स पैसे में दो। इससे अधिक मूर्खता हो नहीं सकती। पैसा क्या है ? नोटें तो नासिक में छपती हैं। एक 'ठप्पे' से एक रुपया और एक 'ठप' में सौ रुपये। एक किलो गेहूँ के लिए हमको जितनी मेहनत करनी पड़ेगी उससे सौ गुना मेहनत सौ किलो के लिए करनी होगी। पर नोटें सब एक ही 'ठप्' में : ऐसा इन्द्रजाल है। मैं इसको इन्द्रजाल कहता हूँ। पैसे ने हमको निकम्मा कर दिया है। इसलिए पैसे से मुक्त होना चाहिए। पैसे की कीमत तो गिरती रहती है। अनाज में टैक्स लेंगे तो हानि नहीं, लाभ है। किसानों से टैक्स अनाज में लें और सरकारी सेवकों को तनख्वाह का एक हिस्सा अनाज में दें। इससे मध्यम वर्ग, जो सरकारी नौकरी पर आधार रखता है, उनको बहुत लाभ होगा। मैंने सुना है कि चीन में किसानों से अनाज में टैक्स लेते हैं, न कि पैसे में। इससे काफी समस्याएँ हल होंगी; ऐसा मैं मानता हूँ, और उसके बिना समस्याएँ हल नहीं होंगी, ऐसा भी मानता हूँ।

प्रश्न : यम-नियमों की शिक्षा कैसे दें ? उसके लिए कौन से ग्रंथ आप सुझायेंगे ?

विनोबा : मैंने कहा था कि इस बारे में मदद करने के लिए आध्यात्मिक ग्रन्थ पड़े हैं। जैसे योगसूत्र है, योग सिखानेवाला। यह कहनेवाला कि इंद्रियों पर काबू कैसे पा सकते हैं, योगसूत्र से बढ़कर दूसरा ग्रन्थ दुनिया में देखा नहीं। स्वयं गीता बताती है स्थितप्रज्ञ-दर्शन में कि मन पर काबू रखने के लिए क्या करना चाहिए। ब्रह्मसूत्र है। कुरान है। बाइबिल है। इन ग्रन्थों से मदद मिलेगी, इंद्रियों पर काबू कैसे पाना ? ईसा को सूली पर चढ़ाया, बहुत वेदना

हो रही थी, तो वेदना का उद्गार निकला मुख से। तब तुरत एक क्षण में उनकी मानवता जाग्रत हो गयी, कहा भगवान से—दाय विल बी डन, नाट माईन—मेरी ईच्छा नहीं, तेरी ईच्छा पूर्ण हो। और जिन्होंने सूली पर चढ़ाया था, उनके लिए ईश्वर के पास क्षमा मांगी। इससे बढ़कर संयम क्या हो सकता है? ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थ यानी अनुभव के वाक्य, महापुरुषों के चरित्र, जिनसे हमको तालीम मिलती है, काम में आयेंगे।

प्रश्न : आज सरकार के पास पैसा है ही नहीं। इसलिए छ से बारह साल तक के सब बच्चों को तालीम दी ही नहीं जा सकती। तो क्या करें?

विनोबा : छ से बारह साल तक के बच्चों को शिक्षा दी नहीं जाती, वह भारत के बच्चों पर कृपा है। हमको हमारी माँ ने बचपन में तालीम दी भक्ति की। भक्ति सिखायी। कैसे सिखायी? दिन भर काम करती थी। फिर हम चले जाते थे स्कूल-कालेज में। पिताजी दफ्तर में चले जाते थे। तब वह पूजन के लिए बैठती थी। खाना तब तक नहीं होता था। तब तक मुँह में कुछ नहीं जाता था। घण्टा भर षोडशोपचार पूजा चलती थी। और आखिर में कान पकड कर कहती थी, हे अनतकोटि ब्रह्माण्ड नायक। मेरे अपराधों को क्षमा कर। तब उसकी आँखों से आँसू बहते थे। यह तालीम मिली बाबा को। उसमें से जो पाया, वह बाबा को किसी भी स्कूल में मिला नहीं। इस वास्ते यह भ्रम है हमारा कि स्कूल में बच्चे जायेंगे तभी तालीम पायेंगे। लेकिन एक बात है। पाकिस्तान और चीन के साथ मेलजोल हो जाता है, सेना पर खर्च कम होता है तो उस हालत में तालीम के लिए ज्यादा पैसा मिल सकता है। यह कितनी मात्रा में हम एशिया के देशों के साथ मेल-जोल करने में सफल होते हैं, उस पर निर्भर है। आज बहुत सारा पैसा सेना पर खर्च हो रहा है। पाकिस्तान का तो सेना पर ७० फीसदी खर्च होता है, हिन्दुस्तान का ३०-४० फीसदी होता है।

प्रश्न : प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अध्ययन पर आप जोर देते हैं, लेकिन आधुनिक साहित्य के बारे में कुछ नहीं कहते। क्या आईन्स्टीन का साहित्य अक्षर साहित्य नहीं है?

विनोबा : इस विषय में बाबा का कहना है कि विज्ञान के लिए 'रीड दी माडर्नेस्ट' (आधुनिकतम किताबें) पढ़ें। और अध्यात्म के लिए 'रीड दी ओल्डेस्ट' (प्राचीनतम किताबें पढ़ें)। यह थोड़े में नुस्खा है, युक्ति है। विज्ञान में नयी-नयी खोजें होती रहती हैं। विज्ञान निरन्तर बदलता रहेगा। न्यूटन

के जमाने में न्यूटन से बढ़कर दूसरा वैज्ञानिक नहीं था। परन्तु, आज स्कूल का बच्चा भी उससे अधिक जानता होगा। आज न्यूटन के ग्रन्थ केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। यह ख्याल गलत है कि आईन्स्टीन का साहित्य अक्षर है। विज्ञान बहुत गति से बढ रहा है, इसलिए यह गारण्टी (विश्वास) नहीं कि आईन्स्टीन का साहित्य अक्षर रहेगा। नयी नयी खोजें होंगी और पुरानी पिछड़ जायेंगी।

आज रेडियो अस्ट्रानोमी का ज्ञान बढ़ रहा है। पहले सात प्लैनेट थे—प्लैनेट मानी यहाँ है वैसी ही हवा जहाँ है—उनमें एक-दो और बढ़े। अब तो कहते हैं हजारों ग्रह हैं—नये-नये ग्रहों की खोजे हो रही हैं, मंगल पर और दूसरे ग्रहों पर मनुष्य जैसे प्राणी भी हो सकते है। बल्कि मेरे मन में तो यहाँ तक विचार आता है। मेरा अपना विचार है वह यह है कि परमेश्वर की सृष्टि में सर्वत्र अनतता दिखायी देती है, तो इद्रियाँ ही सीमित कैसे हो सकती हैं? एक खून के बिन्दु में लाखो जतु हैं और इधर हाथी जैसा बड़ा प्राणी है। सर्वत्र अनतता है, तब इद्रियों की कैसी सीमा हो सकती है? अभी तक पाँच इद्रियो के प्राणी पाये गये हैं। तो मेरी आशा है कि इन ग्रहो पर छ, सात, आठ या उससे भी अधिक इद्रियोंवाला प्राणी हो सकता है। वह हमको मार्ग दर्शन भी कर सकता है। एक बार मेरे मन में विचार आया कि ऐसा, पाँच इद्रियो से अधिक इद्रियोवाला प्राणी होगा कहीं, तो वह हमको सन्देश क्यो नहीं भेजता? फिर इसका उत्तर मुझे ही मिल गया कि हम कहाँ चीटियो को सदेश भेजते हैं?

तो विज्ञान नित्य नयी खोजें कर रहा है इसलिए विज्ञान में आधुनिकतम ग्रथ पढे और अध्यात्म में प्राचीनतम, क्योंकि वे ग्रन्थ काल की परीक्षा में खरे उतरे हैं।

प्रश्न यहाँ उपकुलपति, शिक्षामत्री, शिक्षा अधिकारी तथा शिक्षाविद् लोग इकट्ठा हुए हैं। कृपया उन्हे आप आचार्यकुल के बारे में कुछ कहे।

विनोबा बात ऐसी है कि हम एकाध साल के लिए नौकर रखते है अपने खेत पर या घर में। उसका काम पसद आया तो आगे भी उसी को रखते हैं। नहीं तो बदल देते हैं। वैसे ये राजनैतिक नेता प्रजा के पाँच साल के लिए रखे नौकर हैं। उनकी नौकरी अच्छी लगी तो उन्हे दूसरे पाँच साल के लिए भी रखा जायेगा, नहीं तो नौकरी से हटा देंगे। मतलब राजनैतिक नेताओं की सत्ता पाँच साल चलेगी। परन्तु शिक्षक जो है वह सतत तीस साल सेवा कर सकता है। इसलिए इन राजनैतिक नेताओ की अपेक्षा शिक्षक की शक्ति

अधिक है। दूसरी बात यह है कि शिक्षक की परम्परा चलती है। यह शिक्षक जायेगा, परन्तु उसने जिसको सिखाया है ऐसा ही कोई विद्यार्थी शिक्षक बन कर उसकी जगह पायेगा। राजनीति में क्या होता है? साम्राज्य आते हैं और जाते हैं। कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश में 'गुप्त साम्राज्य' था—मैं प्राचीन काल के गुप्त साम्राज्य की बात नहीं कर रहा हूँ। एक समय में उसी का बोल-वाला था, पर आज उसकी कोई परम्परा रही नहीं। शिक्षकों की परम्परा चलती है और शिक्षकों की शक्ति भी अधिक है। दुनिया में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, वह सब शिक्षकों ने ही की है। चाहे वह रशिया की क्रान्ति हो, चाहे फ्रांस की हो, सब जगह शिक्षकों के द्वारा क्रान्ति हुई है। इसलिए शिक्षकों को अपनी स्वतंत्र शक्ति खड़ी करनी चाहिए। हिंदुस्तान के तमाम शिक्षक आचार्यकुल में आ जायें, तो 'तीसरी शक्ति' खड़ी होगी। एक ग्रामशक्ति और दूसरी आचार्यों की ज्ञान शक्ति, मिलकर एक अलग शक्ति बनेगी, जिसके आधार से भारत खड़ा रहेगा। आचार्यकुल की यह मूल कल्पना है।

प्रश्न : आज समाज में सर्वत्र स्वार्थ-भावना, लालच, भ्रष्टाचार की वृत्ति दिखाई देती है। उसके लिए क्या उपाय है?

विनोबा : आप जिसको भ्रष्टाचार कहते हैं, वह भ्रष्टाचार नहीं होता है, वहाँ वह विशिष्टाचार है। इसके लिए हमारे समाज में बहुत अच्छे शब्द रूढ़ हैं। कहते हैं, "कुछ मामूल दिया जाये", यानी यह मामूली चीज है। कहीं तो कहते हैं, "दक्षिणा दिया जाये।" "कुछ भेंट दिया जाये।" मतलब यह शिष्टाचार हो गया है। इसका मूल कारण है बदमाश लफंगा पैसा।

परन्तु हम लोगों ने उसको अपने व्यवहार का माध्यम बना दिया है। आज समाज में जो व्यवस्था है वह दोषपूर्ण है, इसलिए यह सब करना पड़ता है। समाज की व्यवस्था गलत है। लेकिन व्यक्ति गलत नहीं है। व्यक्ति अलग है। समाज जो बना है सबका मिल कर बना है, काल पुरुष के कारण बना है। व्यक्ति का हृदय स्वतन्त्र है। व्यक्ति के हृदय में गुण भरे हैं। मनुष्य पर विश्वास करते हैं तो उसका परिवर्तन होता है। इस मामले में मुहम्मद पैगंबर ने मिसाल दी है ईसा मसीह की। ईसा मसीह रास्ते से जा रहे थे। सामने एक आदमी जा रहा था। दूसरे एक आदमी ने उसकी जेब में हाथ डाल कर पैसा निकाल लिया। ईसा ने उससे पूछा कि, "तूने यह क्या किया", तब वह आदमी बोला कि, "मैं भगवान का नाम लेकर कहता हूँ कि मैंने पैसा नहीं

लिया। तब ईसा मसीह ने कहा, "यद्यपि मैंने तुम्हें चोरी करते हुए देखा है, लेकिन परमात्मा के नाम पर मैं अपनी आंखों से ज्यादा विश्वास करता हूँ।' यह सुनकर उस आदमी का हृदय-परिवर्तन हो गया और वह सज्जन बना। विश्वास में परिवर्तन की यह शक्ति है।

प्रश्न १९४० में मैं आपके साथ जेल में था। अभी संगीत विद्यापीठ का उपकुलपति हूँ। संगीत विद्यापीठ के लिए सन्देश देने का अनुग्रह करें।

विनोबा आध्यात्मिक भावना पैदा करने के लिए और चित्त के विकास के लिए संगीत से बढ़कर दूसरा साधन नहीं। इसलिए उत्तम से उत्तम चरित्रवान जो गीत हैं भजन हैं, जैसे तुलसीदास, सूरदास के भजन, उनका संगीत होना चाहिए और वह बच्चों को सिखाना चाहिए। न कि तरह तरह के गाने, जिसमें अच्छे विचार नहीं होते। खराब संगीत रहा तो वह चित्त को बिगाड़ सकता है, भ्रष्ट कर सकता है। उत्तम संगीत रहा तो वह उन्नत करता है। इस वास्ते संगीत विद्यालय में जैसे नामदेव का गाना था, वैसे गाने सिखाये जायें। नामदेव ने गाया है

काळ देहासी आला खाऊँ
आम्ही आनंदे नाचूँ गाऊँ

अरे, काल मेरे शरीर को खाने के लिए आया है और मैं आनंद से नाच रहा हूँ। मृत्यु का समय आयेगा, तब क्या करेंगे? 'अरेरे, मृत्यु का समय आया, ऐसा रोयेंगे? अरेरे-अरेरे नहीं, आनंद से नाचेंगे, गायेंगे।' मरने के समय गाना चाहिए, ऐसा होगा, तब संगीत विद्यापीठ के आचार्य पास होंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन, सेवाग्राम में आये प्रतिनिधियों के साथ।
दिनांक १५ १०. '७२
ब्रह्म विद्यामंदिर, पवनार।

सेवाग्राम में नयी तालीम का नया मोड़

(१) बापू ने आश्रम और नयी तालीम के बीच फर्क नहीं किया। नयी तालीम की जरूरत को मुख्य मानकर विरोध के बावजूद सब तरह की सहूलियतें वे कर देते थे। सेवाग्राम नयी तालीम का केन्द्र हो और उससे देश को मार्ग-दर्शन मिले यह उनकी अपनी इच्छा रही। नयी तालीम उनकी "आखिरी और सर्वोत्तम देन" थी।

(२) नयी तालीम का आधार स्वावलम्बन है। स्वावलम्बन, स्वदेशी व्रत तथा शरीर-श्रमनिष्ठा के बिना सध नहीं सकता। नयी तालीम की सफलता के लिए इन दोनों तत्वों का शिक्षकों में आना पहली शर्त है।

(३) नयी तालीम का प्रयोग पिछले कई साल (१९६०) तक चला, काफी सफलता भी प्राप्त हुई।

(४) पिछले दस साल से नयी तालीम की प्रवृत्ति यहाँ धीमी चल रही है। इस पर विचारवान लोग चिन्तित भी हैं। सस्थागत कार्य में चढ़ाव-उतार दोनों स्वाभाविक है। उतरा तो चढ भी सकता है।

(५) आज सेवाग्राम में नयी तालीम का एक अच्छा स्कूल चले, ऐसा भी कई लोग चाहते हैं। लेकिन वह कठिन ही नहीं असम्भव भी होगा, क्योंकि आज वह कृत्रिम दिखेगा।

(६) पर यहाँ एक प्रशिक्षण का केन्द्र चल सकता है। उसके दो विभाग हो सकते हैं। एक, शिक्षकों का, जो दो साल का हो, और दूसरे १६ साल के ऊपर के छात्रों का, जो तीन साल से पाँच साल तक हो। पचास शिक्षकों का प्रशिक्षण और करीब एक सौ युवकों का समूह स्वावलम्बन का प्रयोग चले, और आसपास के गाँवों को भी अपने शिक्षा-कार्य में मिला दे, तो देश के लिए काफी लाभ हो सकता है। बापू का स्वप्न भी साकार होगा।

नयी तालीम का यह नया पर्व कैसे शुरू हो? जिस तरह १९४२ में स्व० आर्यनायकमजी ने नयी तालीम द्वारा शिक्षक तैयार करने का शुभारम्भ किया, इसी तरह आज शिक्षक तैयार करने से शुरू करें। १९४२ में प्रार्थना के लिए जो मन्त्र श्रीमती आशा देवी ने उपयुक्त समझा और जिसे बापू ने तारीफ की थी, उसे फिर यहाँ का मन्त्र मानें। 'विज्ञानम् ब्रह्म इति व्यजानात' ! पचीस या पचास शिक्षकों से आरम्भ करें। यह अखिल भारतीय स्तर का हो। वस्त्र-स्वावलम्बन से शुरू करके धीरे-धीरे अन्न, शिक्षा, आरोग्य तक पहुँच जायें।

प्रशिक्षण अवधि में आसपास के चार या पाँच गाँवों में स्थानिक पाठशाला, पंचायत आदि के मार्फत शिक्षा का असल-पाठ भी हो। गाँव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध के साथ प्रशिक्षण भी हो। अवधि कम-से-कम दो साल की हो। शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था को बैठाने के छह महीने बाद, छात्रों को भी शिक्षण देना आरम्भ करें। इसमें २० साल के ऊपर के अन्दर के छात्र, जो सरकारी परीक्षाओं में पास या नापास होकर निराश हो गये, ऐसे लोगों को अधिक लें। स्वेच्छा से आज की पढ़ाई छोड़नेवालों को भी लिया जा सकता है।

इस तरह डेढ़ सौ की संख्या होगी। साथ ही शिक्षक-परिवार आदि मिलाकर दो सौ लोगों का समाज इस नये प्रयोग में लगेगा तो नया रास्ता खुलेगा। शुभस्य शीघ्रम्। अगर जल्दी ही शुरू करें, तो अनायास पूज्य विनोबा का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन भी मिलेगा। क्योंकि यह ग्रामदानी प्रखण्डों के लिए नितान्त आवश्यक है। जबकि कइयों को देश भर की शिक्षा की चिन्ता थी, तब गांधीजी ने अपने नयी तालीम केन्द्र को सेवाग्राम के अन्दर सीमित रखा था। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की कोई प्रान्तीय शाखा खोलने की गुंजाईश नहीं रखी थी। यहाँ के प्रयोग को दूसरे स्वेच्छा से अपनायें।

आगे चलकर प्रशिक्षण केन्द्र की मजबूती से यहाँ स्वतन्त्र नयी तालीम पाठशाला भी चल सकेगी। क्योंकि नयी तालीम तो वर्तमान समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए है।

—स्वयंभू

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी

उत्तर प्रदेश में शिक्षा के पचीस वर्ष

[आजादी के पचीस वर्षों में उत्तर प्रदेश की शिक्षा में जो प्रगति हुई है उसका आकलन इस लेख में किया गया है। जाहिर है कि यह प्रगति मात्रात्मक ही अधिक है, क्योंकि शिक्षा के रूप में आमूल परिवर्तन न तो देश मे कहीं हुआ है और न इस प्रदेश मे। फिर भी भारत के इस सबसे बड़े प्रदेश में शिक्षा के प्रसार के लिए स्वातन्त्र्योत्तर काल में जो कुछ किया गया, संक्षेप में उसका वर्णन इस लेख में किया गया है।

—सम्पादक]

छात्रों की संख्या में वृद्धि

संविधान में निहित निर्देशक तत्वों के अनुरूप चौदह वर्ष तक की आयु के प्रत्येक बालक एवं बालिका को नि शुल्क शिक्षा प्रदान करना लोकतन्त्र की सफलता के लिए अनिवार्य है। इस उद्देश्य से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात प्रारम्भिक स्तर पर शत-प्रतिशत बालक-बालिकाओं को नि शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने, माध्यमिक स्तर पर बहुद्देशीय शिक्षा की व्यवस्था करने तथा विश्वविद्यालयीय स्तर पर उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान की सुविधाएँ प्रदान करने की ओर उत्तर प्रदेश में अनेक साहसिक कदम उठाये गये। जिसके परिणाम स्वरूप

- जहाँ वर्ष १९५०-५१ में शिशु विद्यालयों के छात्रों की संख्या केवल ८०६ थी, आज ३१,००० हो गयी है।

- जहां वर्ष १९४६-४७ में जूनियर बेसिक स्तर पर छात्र-संख्या २०.०८ लाख थी, वर्ष १९७१-७२ में ११४.१८ लाख हो गयी। वय-वर्ग ६-११ की कुल संख्या के अनुपात में बालकों का नामांकन १०० प्रतिशत तथा बालिकाओं का ८७.०५ प्रतिशत है, जो कि वर्ष १९५०-५१ में क्रमशः ५७.५१ प्रतिशत तथा ६०.७८ प्रतिशत था।
- जहां वर्ष १९४६-४७ में सीनियर बेसिक स्तर पर छात्र-संख्या १.९४ लाख थी, वर्ष १९७१-७२ में १९.५१ लाख हो गयी। वय-वर्ग ११-१४ की कुल संख्या के अनुपात में बालकों का नामांकन ४४.८० प्रतिशत तथा बालिकाओं का १२.१५ प्रतिशत है, जो कि वर्ष १९५०-५१ में क्रमशः २०.१९ प्रतिशत तथा २.१० प्रतिशत था।
- जहां वर्ष १९४६-४७ में माध्यमिक स्तर पर छात्र-संख्या ०.७१ लाख थी, वर्ष १९७१-७२ में ११.३३ लाख हो गयी। वय वर्ग १४-१८ की कुल संख्या के अनुपात में बालकों का नामांकन २१.९० प्रतिशत तथा बालिकाओं का ५.९२ प्रतिशत है, जो कि वर्ष १९५०-५१ में क्रमशः ६.७० प्रतिशत तथा ०.५९ प्रतिशत था।
- जहां वर्ष १९५०-५१ में उच्च शिक्षा के स्तर पर छात्र संख्या ०.२९ लाख थी, वर्ष १९७१-७२ में १.४९ लाख हो गयी।

छात्र-कल्याण-योजनाएँ

शिक्षा-प्रसार के प्रयासों के अन्तर्गत एक ओर बालकों को विद्यालयों की ओर आकृष्ट करने के लिए तथा दूसरी ओर उन्हें आवश्यक सुविधाएँ देने के लिए राज्य द्वारा अपने सीमित साधनों में कई छात्र-कल्याण-योजनाएँ भी लागू की गयी, जिनमें से विशेष उल्लेखनीय ये हैं

- निःशुल्क शिक्षा—कक्षा ६ तक सभी बालकों, कक्षा १० तक सभी बालिकाओं, सौ रुपये तक आयवाले समस्त राज्य कर्मचारियों तथा माध्यमिक स्तर तक के शिक्षकों के आश्रितों के लिए शिक्षा निःशुल्क कर दी गयी है।
- बालिकाओं की शिक्षा को प्रोत्साहन—बालिकाओं की शिक्षा को प्रारम्भिक स्तर पर प्रोत्साहन देने के ध्येय से स्कूल-माताओं की नियुक्ति की गयी तथा विद्यालय से समीप अध्यापिकाओं के लिए आवासगृह निर्मित किये गये।
- बालाहार—यह योजना बालकों को निःशुल्क पौष्टिक स्वल्पाहार प्रदान

करने की दृष्टि से आरम्भ की गयी और इसके अन्तर्गत इस समय ३० जिलों के लगभग साढ़े तेरह लाख बच्चे लाभान्वित हो रहे हैं।

- छात्रवृत्तियाँ—स्वतन्त्रता के पश्चात जूनियर हाई स्कूल से लेकर उच्च शिक्षा-स्तर तक योग्यता, प्रतिभा तथा निर्धनता के आधार पर छात्रवृत्तियों की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त सुरक्षा सैनिकों तथा पी० ए० सी० के जवानों के आश्रितों एवं निर्धन छात्रों के लिए भी छात्रवृत्तियों एवं पुस्तकीय सहायता की व्यवस्था की गयी।
- मनोवैज्ञानिक सेवाएँ—राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और क्षमता का सदुपयोग हो सके तथा उपयुक्त व्यक्ति उपयुक्त स्थान पर पहुँच सके, इस दृष्टि से इस प्रदेश द्वारा नेतृत्व ग्रहण कर भारत में सर्वप्रथम बालकों के शिक्षक और व्यवसायिक निर्देशन की व्यवस्था के लिए राज्य मनोविज्ञानशाला, इलाहाबाद की स्थापना वर्ष १९४७ में की गयी है। इसके तत्वावधान में वर्ष १९७२ से 'कैरियर मास्टर' के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है।
- छात्र कल्याण अधिष्ठाता—छात्र-सेवायोजन ब्यूरो—विश्वविद्यालय-स्तर पर छात्रों की निजी एवं व्यावसायिक समस्याओं के समाधान हेतु 'छात्र-कल्याण-अधिष्ठाता' (डीन ऑव स्टूडेंट्स वेलफेयर) नियुक्त किये गये तथा 'छात्र-सेवायोजन ब्यूरो' स्थापित किये गये।

शिक्षक : संख्यात्मक वृद्धि

राष्ट्र के भावी कर्णधार छात्रों के निर्माण का दायित्व मुख्यत: शिक्षकों पर है। वस्तुत: वे ही राष्ट्र के निर्माता हैं। अत समाज में उन्हें पुनर्प्रतिष्ठित करने की योजनाएँ चालू की गयी, छात्रों की निरन्तर वृद्धि को ध्यान में रखते हुए आवश्यकतानुसार उनकी संख्या में वृद्धि की गयी तथा उन्हें व्यावसायिक दक्षता प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रदान की गयीं। इन दिशाओं में किये गये उल्लेखनीय प्रयास इस प्रकार हैं :

- जहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आरम्भिक काल में जूनियर बेसिक स्तर के शिक्षकों की संख्या ७०,२९९ थी, वर्ष १९७१-७२ में वह २,२७,९७३ हो गयी, जिनमें ८६ प्रतिशत प्रशिक्षित हैं।
- इसी अवधि में सीनियर बेसिक स्तर पर शिक्षकों की संख्या २३,७८७ से बढ़ कर ६३,३७८ हो गयी, जिनमें ७५ प्रतिशत प्रशिक्षित हैं।

- माध्यमिक स्तर पर शिक्षकों की संख्या ८,९४५ से बढ़कर ४८,७०० हो गयी, जिनमें ७५ प्रतिशत प्रशिक्षित हैं।
- उच्च शिक्षास्तर पर अध्यापकों की संख्या १,३४३ से बढ़कर लगभग १२,००० हो गयी।

प्रशिक्षण-संस्थाओं की संख्या में वृद्धि

- स्वतन्त्र्योत्तर काल में ही सर्वप्रथम एक राजकीय शिशु-प्रशिक्षण महाविद्यालय की इलाहाबाद में स्थापना हुई और इस समय दो राजकीय तथा तीन मान्यता-प्राप्त शिशु-प्रशिक्षण महाविद्यालय चल रहे हैं।
- वर्ष १९४६-४७ में प्रारम्भिक स्तर (कक्षा १-८) के लिए अध्यापक-प्रशिक्षण की संस्थाएँ ८० तथा माध्यमिक स्तर के लिए ११ थी। वर्ष १९७१-७२ में इनकी संख्या क्रमश २६३ और ६६ हो गयी।

प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम तथा शोध

- स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित बेसिक शिक्षा-पद्धति प्रारम्भिक स्तर पर राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के रूप में अपनायी गयी, जिससे कि शिक्षा जीवन से सम्बद्ध हो सके और नये राष्ट्र के अनुरूप नये नागरिकों का निर्माण हो सके। इस शिक्षा-पद्धति के कार्यान्वयन के लिए अध्यापक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को शिल्प-केन्द्रित कर दिया गया और प्रान्तीय स्वायत्तता-काल में ही स्थापित राजकीय बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रशिक्षकों एवं निरीक्षकों को तैयार करने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये।
- प्रारम्भिक स्तरीय एच० टी० सी० तथा जे० टी० सी० के प्रशिक्षण-कार्यक्रमों का एकीकरण करके शिल्प-केन्द्रित बी० टी० सी० प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी तथा प्रवेश की न्यूनतम योग्यता हाई स्कूल निर्धारित कर दी गयी।
- अप्रशिक्षित अध्यापकों की दीक्षा के लिए सचल प्रशिक्षण दल, सेवारत प्रशिक्षण तथा पत्राचार-प्रशिक्षण योजनाएँ चलायी गयीं। प्रसार-अध्यापकों की दीक्षा के लिए 'प्रसार-अध्यापक प्रशिक्षण-केन्द्र' स्थापित किये गये। इण्टरमीडिएट-स्तर पर विज्ञान शिक्षकों की कमी को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों में एक वर्ष के स्नातकोत्तरीय 'कण्डेन्स्ड कोर्स' चलाये गये।
- माध्यमिक स्तर के प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम को अद्यतन बनाया गया। उसमें नवीनतम शैक्षिक विचारधाराओं तथा शिक्षण तकनीकों का समावेश किया

गया। माध्यमिक स्तर तक वर्गीकृत पाठ्यचर्या के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु राजकीय रचनात्मक प्रशिक्षण महाविद्यालय, राजकीय गृह विज्ञान, महिला महाविद्यालय तथा शारीरिक प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना की गयी।

- प्रशिक्षण संस्थाओं एवं विद्यालयों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने तथा शिक्षकों को नवीनतम ज्ञान से अवगत कराते रहने के लिए प्रमुख प्रशिक्षण-संस्थाओं में विस्तार सेवा केन्द्रों अथवा विस्तार सेवा-इकाइयों का गठन किया गया।
- पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तक, शिक्षण-विधि एवं तकनीक, मूल्यांकन एवं उपचारात्मक शिक्षण, प्रशासन एवं परिवीक्षण आदि शैक्षिक क्षेत्रों में प्रशिक्षण तथा शोध-कार्य के लिए वर्ष १९४८ में राजकीय सेण्ट्रल पेडागॉजिकल इंस्टीट्यूट तथा प्रारम्भिक स्तरीय शैक्षिक पाठ्यचर्या एवं प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं पर शोध-कार्य तथा प्रारम्भिक शिक्षा के निरीक्षक वर्ग के मार्गदर्शन हेतु राज्य शिक्षा संस्थान (१९६४) की स्थापना स्वातन्त्र्योत्तर काल की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं।
- अंग्रेजी, विज्ञान तथा हिन्दी के प्रशिक्षित अध्यापकों को विशेष प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए अंग्रेजी भाषा शिक्षण-संस्थान (१९५६), राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान (१९६५), इलाहाबाद तथा हिन्दी संस्थान (१९६९), वाराणसी की स्थापना की गयी।
- ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रमों (समर कोर्स) के माध्यम से माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के अध्यापकों को नवीनतम विषय ज्ञान प्रदान किया गया।
- उच्चतर योग्यता प्राप्त करने के लिए शिक्षकों को प्रोत्साहन-पुरस्कार देने की नीति अपनायी गयी।

शिक्षक-कल्याण

- स्वातन्त्र्योत्तर काल में सभी स्तरों के सहायता-प्राप्त विद्यालयों के शिक्षकों को निरन्तर वेतन वृद्धि करके राजकीय संस्थाओं के शिक्षकों के प्रायः समान वेतनक्रम एवं महँगाई भत्ता प्रदान करने के लिए साहसिक कदम उठाये गये तथा वेतन-भुगतान का महत्त्वपूर्ण दायित्व भी शासन द्वारा ग्रहण किया गया।

लाभत्रयी योजना

- सहायता-प्राप्त समस्त शिक्षा संस्थाओं के शिक्षकों के लिए अंशदायी-भविष्य निधि, अनिवार्य बीमा तथा पेंशन की लाभत्रयी योजना चलायी

गयी। इसके अतिरिक्त सेवा-काल में शिक्षक के आकस्मिक निधन पर ग्रेच्युटी देने का प्राविधान किया गया।

- समाज में शिक्षक का सम्मान तथा उसकी प्रतिष्ठा बढाने के लिए 'शिक्षक-दिवस समारोह आरम्भ किये गये और 'राज्य पुरस्कार' तथा 'राष्ट्रीय पुरस्कार' की योजनाएँ चालू की गयी।
- राष्ट्रीय अध्यापक-कल्याण-प्रतिष्ठान की योजना के अन्तर्गत वर्ष १९६४ से संकट ग्रस्त तथा दिवगत अध्यापको के आश्रितो को आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गयी। अब तक लगभग १,००० अभ्यर्थियो को आर्थिक सहायता प्रदान की जा चुकी है।

शिक्षा-सस्थाओ की सख्या मे वृद्धि

हमारे विद्यालय ही राष्ट्र के भावी कर्णधारो के निर्माण-केन्द्र हैं। अतएव उन कर्णधारों का स्वस्थ व्यक्तित्व निर्मित करने के लिए इनकी सम्यक् व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप इन विद्यालयों की सख्या में वृद्धि तथा उन्हें विविध प्रकार की आवश्यक साज-सज्जा से युक्त करने की दिशा में राज्य द्वारा स्वातंत्र्योत्तर काल में विशेष ध्यान दिया गया। जिसके फलस्वरूप

- शिशु विद्यालयो की सख्या ६ से बढकर २४५ हो गयी है।
- जूनियर बेसिक विद्यालयो की सख्या २०,०४८ से बढ़कर ६२,२९८ हो गयी है।
- सीनियर बेसिक विद्यालयो की सख्या १,८५० से बढ़कर ९,०२४ हो गयी है तथा इसके अतिरिक्त १,३५० क्रमोत्तर कक्षाएँ भी चल रही हैं।
- उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की सख्या ५०६ से बढ़कर ३,६३३ हो गयी है।
- महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयो की सख्या क्रमश १६ तथा ५ से बढ़कर २८१ तथा ११ हो गयी है।
- स्वातन्त्र्योत्तर काल में विद्यालयों के लिए नये भवनो के निर्माण, पुराने भवनों के सुधार तथा उन्हें वांछित साज सज्जा से युक्त करने के लिए अधिकाधिक अनुदान की व्यवस्था की गयी।
- प्रारम्भिक विद्यालयो के भवनों के अभाव की पूर्ति की दिशा में कम लागत वाले पूर्व-निर्मित (प्री फेब्रिकेटेड) भवनों की योजना विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

- पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं एवं क्रीडास्थलों के विकास के लिए विशेष अनुदान दिये गये।
- उत्तम विद्यालयों को दक्षता-अनुदान देने की नीति अपनायी गयी।

पाठ्यचर्या एवं पाठ्यक्रम

भारतीय संविधान में हमने स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता तथा न्याय के आदर्शों को अंगीकार किया है। इन आदर्शों के अनुरूप हम एक नये भारतीय समाज की संरचना की ओर उन्मुख हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल में उस नवीन समाज के लिए बालकों का नवनिर्माण हमारी पाठ्यचर्या का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए पाठ्यचर्या एवं पाठ्यक्रम में परिवर्तन, पाठ्यपुस्तकों एवं निर्देश पुस्तिकाओं की रचना तथा पाठ-सहगामी क्रियाओं में वृद्धि के लिए इस अवधि में विशेष प्रयास किये गये।

नये राष्ट्र की नयी आकांक्षाओं के अनुरूप प्रदेश की शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने के अन्तर्गत

- महात्मा गांधी की बेसिक शिक्षा-योजना के अनुरूप प्रारम्भिक शिक्षा को शिल्प-केन्द्रित कर उसे प्रत्यक्ष जीवन से सम्बद्ध किया गया, जिससे कि श्रम के प्रति निष्ठावान, आत्मनिर्भर, योग्य, समाज के लिए उपयोगी एवं सन्तुलित व्यक्तित्ववाले बालक का निर्माण हो सके।
- आचार्य नरेन्द्र देव समिति की संस्तुतियों के आधार पर वर्नाक्युलर एवं ऐंग्लो वर्नाक्युलर शिक्षा का भेद समाप्त कर दिया गया।

बहुद्देशीय शिक्षा

- प्रारम्भिक स्तर पर आरम्भ की गयी सामान्य शिक्षा की पूर्ति तथा उच्च शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा के लिए तैयारी के रूप में माध्यमिक स्तर पर पाठ्यचर्या को सात वर्गों—साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक, ललित कला, वाणिज्य, कृषि तथा उत्तर बेसिक—में विभाजित किया गया, जिससे प्रत्येक छात्र एवं छात्रा को अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा प्राप्त हो सके। हाई स्कूल तथा इंटरमीडिएट स्तर पर प्राविधिक पाठ्यक्रम की भी व्यवस्था की गयी।

विज्ञान-शिक्षा

- आधुनिक युग में विज्ञान के महत्त्व को देखते हुए प्रारम्भिक स्तर पर विज्ञान के पाठ्यक्रम को गहन बनाया गया तथा माध्यमिक स्तर पर विज्ञान एवं गणित के पाठ्यक्रमों को अद्यतन तथा उच्चस्तरीय बनाया गया।

- अनेकता में एकता भारत की प्रमुख विशेषता रही है। इसी राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता को सबल, सुदृढ़ और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत दक्षिणी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं के शिक्षण का प्राविधान किया गया।
- उत्तर दक्षिण को भावात्मक स्तर पर और अधिक निकट लाने के लिए प्रदेश के ग्यारह जिलों में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषाओं के शिक्षण की सायकालीन कक्षाएँ चलायी जा रही हैं। इनकी परीक्षा उत्तीर्ण करने पर प्रथम वर्ष के अन्त में रु० २०० तथा द्वितीय वर्ष के अन्त में रु० २५० का पुरस्कार दिया जाता है और दक्षिण भारत में भ्रमण-अध्ययन के लिए आर्थिक सहायता भी दी जाती है।
- सीनियर बेसिक स्तर पर सामाजिक विषय के अन्तर्गत नागरिक शास्त्र तथा भारतीय संविधान का समावेश कर उनका अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया और माध्यमिक स्तर पर राष्ट्रीय भावना के अनुरूप ब्रिटेन के इतिहास को हटाकर राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन निर्धारित किया गया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

- सम्पूर्ण विद्यालयीय शिक्षा (कक्षा १ से १२ तक) में हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया गया। हिन्दी के ज्ञान को पुष्ट करने के लिए उसके साथ संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य किया गया। उच्च शिक्षा के स्तर पर अध्ययन, अध्यापन एवं परीक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को मान्यता प्रदान की गयी। अंग्रेजी का अध्ययन माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में ऐच्छिक कर दिया गया।
- विद्यालयीय एवं शिक्षक-प्रशिक्षण सम्बन्धी पाठ्यचर्या तथा पाठ्यक्रम के समस्त क्षेत्रों में शोध-कार्य के लिए राजकीय सेण्ट्रल पेडागॉजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद में पाठ्यचर्या इकाई की स्थापना की गयी।

पाठ्यपुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

- स्वतन्त्र राष्ट्र की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और आदर्शों के अनुरूप पठन सामग्री प्रदान करने की दृष्टि से सीनियर बेसिक स्तर तक की पाठ्यपुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी गयी और बालकों को उचित मूल्य पर अच्छी से अच्छी पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गयी। अब तक ४९ पाठ्यपुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, जिनकी लगभग ढाई करोड़ प्रतियाँ हिन्दी तथा उर्दू दोनों माध्यमों में प्रतिवर्ष प्रकाशित करायी जाती हैं।

- जूनियर तथा सीनियर बेसिक स्तर के शिक्षकों के मार्गदर्शन हेतु लगभग ३,४०० पृष्ठों की १,४०० से अधिक चित्रों से युक्त ६ खण्डों में निर्देश-पुस्तिकाएँ प्रकाशित की गयी।

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

- उच्च शिक्षा में हिन्दी के माध्यम से अध्यापन की सुविधा हेतु हिन्दी में पाठ्यपुस्तकों की रचना एवं अनुवाद कराने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी स्थापित की गयी तथा प्रकाशन के लिए विश्वविद्यालयों को अनुदान भी दिया गया।

पाठ-सहगामी क्रियाएँ

- बालकों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास की दृष्टि से प्रत्येक स्तर पर विद्यालयों में खेल-कूद, युवक समारोह तथा राष्ट्रीय शारीरिक दक्षता-अभियान चलाये गये।
- वर्ष १९५५ में उत्तर प्रदेश खेल-कूद परिषद की स्थापना की गयी और तब से खेल कूद सम्बन्धी अनेक निर्माण कार्य पूरे किये गये, जिनमें एक बहुद्देशीय क्रीडागन, एक ओलम्पिक-आकार का तैरने योग्य तालाब और एक केन्द्रीय क्रीडागन तथा ६ क्षत्रीय क्रीडागनों का निर्माण सम्मिलित है।
- सुरक्षा एवं अनुशासन की भावना जागृत करने के लिए प्रदेशीय शिक्षा दल ए० सी० सी० तथा एन० सी० सी० की योजनाएँ चलायी गयी।
- छात्रों के बहुमुखी विकास की दृष्टि से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर अधिकाधिक बल दिया गया। इसके अन्तर्गत राज्य-स्तरीय सम्पूर्णानन्द वाद-विवाद प्रतियोगिता निबन्ध-प्रतियोगिता विज्ञान क्लब, मेलों और प्रदर्शनियों का आयोजन आरम्भ किया गया।

मूल्यांकन

- हाईस्कूल स्तर तक की परीक्षाओं में प्रायोगिक परीक्षा तथा प्रश्न-पत्रों में वस्तुनिष्ठ प्रश्नों का समावेश किया जा रहा है।
- इण्टरमीडिएट (कृषि) तथा उच्च शिक्षा की परीक्षाओं में द्विवार्षिक परीक्षा के स्थान पर सार्वजनिक, वार्षिक एवं सत्रीय (सेमेस्टर) परीक्षाएँ आरम्भ की गयी हैं।
- जूनियर हाईस्कूल परीक्षा का जिला-स्तर पर विकेन्द्रीकरण किया गया।
- माध्यमिक शिक्षा परिषद के विकेन्द्रीकरण को दिशा में आवश्यक कदम उठाये गये तथा मेरठ में इसकी एक शाखा स्थापित की गयी।

हमारी प्राच्य भाषाएँ

हमारी प्राच्य भाषाएँ—संस्कृत, अरबी और फारसी—हमारी बहुमूल्य सांस्कृतिक निधियाँ हैं। इनकी शिक्षा और इनका विकास हमारी समन्वयात्मक संस्कृति का पोषण और संरक्षण है। अतएव इनकी समृद्धि की दिशा में भी हमारा राज्य निरन्तर जागरूक रहा है।

संस्कृत-शिक्षा

- संस्कृत शिक्षा को सुविन्यमित करने के ध्येय से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। इस विश्वविद्यालय से ५७५ मध्यमा-स्तरीय विद्यालय तथा ३२५ शास्त्री, आचार्य-स्तरीय महाविद्यालय सम्बद्ध हैं।
- इन संस्थाओं में लगभग ६०,००० विद्यार्थी और ५,००० शिक्षक हैं। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में प्रति वर्ष लगभग १२,००० छात्र प्रविष्ट होते हैं।
- प्रथम श्रेणी के ४३ तथा द्वितीय श्रेणी के ५८ संस्कृत महाविद्यालयों के प्रधानाचार्यों एवं शिक्षकों के लिए आकर्षक वेतनक्रम निर्धारित किये गये।
- संस्कृत वाङ्मय के प्रचार, प्रसार एवं अनुसंधान हेतु विशिष्ट विद्वानों को आर्थिक, प्रसार सहायता देने की नीति अपनायी गयी।
- संस्कृत की शिक्षा संस्थाओं को राज्य द्वारा दी जानेवाली सहायता वर्ष १९५०-५१ में रु० २ ५३ लाख से बढ़कर वर्ष १९७०-७१ में रु० ३५ ७३ लाख हो गयी।

अरबी फारसी शिक्षा

- वर्ष १९४७ में अरबी फारसी की शिक्षा के मदरसों की संख्या ६९ थी जो इस समय बढ़कर १३७ हो गयी है।
- इनके विद्यार्थियों की संख्या, जो १९५५ ५६ में १४, १९० थी, बढ़कर २९,५७८ हो गयी है।
- इस शिक्षा के लिए अनुदान की धनराशि वर्ष १९४७ में रु० ६६,०५३ थी। यह धनराशि इस समय बढ़कर रु० ३,७५,५८५ हो गयी है।

हमारी अल्पसंख्यक भाषाएँ

अल्पसंख्यकों की भाषा एवं साहित्य का हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। संविधान में भाषाजात अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था के

लिए निर्देश है। हमारा शासन इस ओर सजग है। इस दृष्टि से अल्पसंख्यकों की भाषाओं के संरक्षण, प्रोत्साहन एवं विकास के लिए शासन द्वारा कई प्रभावी कदम उठाये गये।

उर्दू भाषा और साहित्य

- उर्दू माध्यमवाले विद्यालयों, मकतबों और मदरसों के अतिरिक्त स्थानीय निकायों के प्राइमरी स्कूलों में कक्षा में १० या पूरे विद्यालय में ४० छात्रों की मातृभाषा उर्दू होने पर उनको उर्दू माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की सुविधा प्रदान की गयी।
- जूनियर हाई स्कूलों तथा हाई स्कूल कक्षाओं में शिक्षा के सम्बन्ध में शासन द्वारा यह नीति अपनायी गयी कि यदि एक तिहाई छात्रों की मातृभाषा उर्दू हो तो वे पूरी शिक्षा उर्दू माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।
- कानपुर, आगरा, वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, बरेली, रामपुर तथा मुरादाबाद के नगरों में जूनियर हाई स्कूल तक के विद्यालयों में यह व्यवस्था की गयी कि यदि हर विद्यालय में उर्दू माध्यम से शिक्षा देने की व्यवस्था सम्भव न हो तो कुछ स्कूलों का समूह बनाकर उनमें से एक विद्यालय को केन्द्र मानकर उर्दू माध्यम विद्यालय घोषित किया जाय।
- स्थानीय निकायों की माँग पर अलग से उर्दू अध्यापकों की नियुक्ति की व्यवस्था है।
- उर्दू अध्यापकों की कमी को दूर करने के लिए स्थानीय निकायों के सेवारत अध्यापकों के लिए उर्दू अध्यापक दक्षता-प्रमाण-पत्र परीक्षा आयोजित की गयी।
- जूनियर बेसिक स्तर तक उर्दू माध्यम से पढ़नेवाले बालकों के लिए पाठ्यपुस्तकें उर्दू भाषा में उपलब्ध करायी गयी तथा उसी शृङ्खला में सीनियर बेसिक स्तर के लिए भी उर्दू माध्यमवाले छात्रों के लिए विविध विषयों में राष्ट्रीयकृत एवं स्वीकृत पाठ्यपुस्तकें उर्दू में उपलब्ध करायी गयी।
- उर्दू शिक्षा की समुचित देख-रेख एवं उर्दू शिक्षा को प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करने के लिए शिक्षा निदेशालय, इलाहाबाद में उप-शिक्षा निदेशक (उर्दू माध्यम) की नियुक्ति की गयी।
- उर्दू शिक्षा-व्यवस्था की देख-रेख, उसके साहित्य के निर्माण, पुस्तकालयों को अनुदान तथा उर्दू लेखकों को सहायता देने के कार्य के लिए 'उर्दू एकेडेमी' की १९७१ ई० में लखनऊ में स्थापना की गयी।

* अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देनेवाले आंग्ल-भारतीय विद्यालयों की संख्या स्वतंत्रता से पूर्व ३० थी, इनकी संख्या इस समय ५५ है।

आंग्ल-भारतीय शिक्षा

* इन शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय भावनाओं के अनुरूप हिन्दी, संस्कृत तथा भारतीय इतिहास की शिक्षा सम्मिलित की गयी। इनमें से कुछ विद्यालय माध्यमिक शिक्षा परिषद, इलाहाबाद द्वारा मान्यता-प्राप्त है तथा कुछ विद्यालयों की परीक्षा कौंसिल ऑव इंडियन स्कूल सर्टिफिकेट इक्जामिनेशन, नयी दिल्ली द्वारा संचालित की जाती है।
* शासन द्वारा इन संस्थाओं को आवर्तक अनुदान भी दिया जाता है।

प्राविधिक शिक्षा

आज का युग विज्ञान और टेक्नालॉजी का युग है। इन दोनों का बड़ी द्रुतगति से विकास हो रहा है। जननायक स्व० प० जवाहर लाल नेहरू ने स्वतंत्रता के प्रथम चरण से ही देश को उद्योग तथा व्यापार, कृषि तथा सुरक्षा के क्षेत्रों में सुदृढ़ एवं स्वावलम्बी बनाने के लिए विज्ञान और टेकनालॉजी के विकास पर विशेष बल दिया। उसी क्रम में हमारी राज्य सरकार द्वारा भी अपने प्रदेश की प्राविधिक शिक्षा के विकास की ओर अनेकानेक कदम उठाये गये।

* प्राविधिक व्यक्तियों के अत्यधिक अभाव की पूर्ति हेतु तथा सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में उपयुक्त अर्हताओंवाले एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों की पूर्ति के निमित्त प्रचलित संस्थाओं का विस्तार, विकास एवं पुनर्गठन किया गया तथा विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत नवीन संस्थाएँ खोली गयी।
* वर्ष १९४७ में डिप्लोमा स्तर की ११ संस्थाओं की संख्या बढ़कर १९७२ में ४६ हो गयी तथा उनमें प्रवेश की क्षमता ६५५ से बढ़कर ६,९०० हो गयी।
* वर्ष १९४७ में इस स्तर पर केवल पाँच प्रकार के पाठ्यक्रम थे—सिविल, एलेक्ट्रिकल, मेकेनिकल, टेक्सटाइल, आयल तथा फाइन आर्ट। नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप वर्ष १९७२ में इनकी संख्या २५ हो गयी।
* वर्ष १९४७ में डिग्री-स्तर की केवल दो अभियन्त्रण संस्थाएँ थीं और उनकी प्रवेश-क्षमता मात्र १२८ थी। वर्ष १९७२ में उक्त संस्थाओं की संख्या ७ और प्रवेश क्षमता १,००० हो गयी।

- वर्ष १९४७ में इस स्तर पर ५ स्नातक तथा ३ स्नातकोत्तरीय पाठ्यक्रम प्रचलित थे। अब स्नातक-स्तरीय १५ तथा स्नातकोत्तरीय ४१ प्रकार के पाठ्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में शोध-कार्य की भी सुविधा उपलब्ध है।

प्राविधिक शिक्षा निदेशालय : प्राविधिक शिक्षा परिषद

- प्राविधिक संस्थाओं के प्रभावी संचालन के लिए एक पृथक प्राविधिक शिक्षा निदेशालय स्थापित किया गया।
- राज्य सरकार को प्राविधिक शिक्षा के समन्वित विकास के बारे में परामर्श, परिषद से सम्बद्ध संस्थाओं में चल रहे डिप्लोमा और सर्टिफिकेट स्तर के पाठ्यक्रमों को तैयार करने तथा परीक्षाएँ लेने के मुख्य उद्देश्यों से 'प्राविधिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश' का गठन किया गया।
- उद्योगों तथा तकनीकी संस्थाओं के मध्य घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने हेतु मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक औद्योगिक सम्पर्क परिषद की स्थापना की गयी।
- स्वतंत्रता से पूर्व प्राविधिक शिक्षा का कोई पृथक् बजट-प्राविधान नहीं था, स्वातंत्र्योत्तर काल में इसकी समुचित व्यवस्था की गयी। वर्ष १९७१-७२ में इसका बजट-प्राविधान रुपये १,८२,९६६ लाख किया गया जिसके अन्तर्गत विदेशों में, प्रदेश के बाहर एवं प्रदेश के भीतर अध्ययन करने के लिए ऋण-छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की गयी।

शिक्षा-प्रसार विभाग

- प्रान्तीय स्वायत्तता-काल में ही प्रौढ़-शिक्षा की महत्ता का अनुभव करते हुए राज्य सरकार द्वारा शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत प्रौढ़ शिक्षा की इकाई के रूप में शिक्षा-प्रसार विभाग की स्थापना की गयी। स्वातंत्र्योत्तर काल में इस विभाग को जन-शिक्षा के नवीनतम साधनों—फिल्मस्ट्रिप, रेडियो आदि—से सुसज्जित किया गया।
- प्रौढ़ों को साक्षर बनाने तथा कार्यपरक शिक्षा देने के लिए रात्रि-पाठशालाएँ, किसान-साक्षरता, योजना, सचल साक्षरता एवं सचल प्रदर्शनी दल और साक्षरता अभियानों के कार्यक्रम चलाये गये।

पुस्तकालय-सेवा

- प्रौढ़ों की साक्षरता को बनाये रखने तथा उनके ज्ञानवर्धन के लिए नव-साक्षरोपयोगी साहित्य का सृजन किया गया तथा प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों

में प्रौढ़ पुस्तकालय एवं वाचनालय बनाये गये जिनकी संख्या क्रमश १,४०० और ३,६०० है। चल पुस्तकालय सेवा भी उपलब्ध करायी गयी।

- उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के लिए राज्य-स्तर पर केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद तथा जिला-स्तर पर ९ सम्बद्ध पुस्तकालयों की स्थापना की गयी जिनमें इस समय लगभग १·१४ लाख पुस्तकें हैं।

चल-चित्र-केन्द्र तथा चलचित्रालय

- प्रौढ़ों में आधुनिकतम साधनों द्वारा शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से शिक्षा-प्रसार विभाग में एक चलचित्र-निर्माण केन्द्र तथा चलचित्रालय की स्थापना की गयी। इस केन्द्र द्वारा अब तक १४० शैक्षिक चलचित्र निर्मित किये जा चुके हैं। चल चित्रालय में १,०६१ शैक्षिक फिल्में, १,१०४ फिल्मस्ट्रिपें तथा ४२२ स्लाइड्स संगृहीत हैं।
- फिल्म, फिल्मस्ट्रिप तथा रेडियो जैसे आधुनिक उपादानों से युक्त सचल वाहनों द्वारा समाज शिक्षा के प्रसार की व्यवस्था की गयी।

श्रव्य-दृश्य उपकरणों में प्रशिक्षणश्र : व्य-दृश्य शिक्षा संघ

- शिक्षा में श्रव्य-दृश्य उपकरणों के प्रयोग के प्रशिक्षण के लिए शिक्षा प्रसार विभाग, इलाहाबाद में श्रव्य दृश्य शिक्षा-संघ स्थापित किये गये।

हमारा विभागीय संगठन : लोकतन्त्रात्मक शैक्षिक प्रशासन

स्वतन्त्रता के पश्चात नये राष्ट्र की नयी शैक्षिक आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और नये आदर्शों के अनुरूप हमारे शैक्षिक प्रशासन में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हुए। जहाँ एक ओर विभिन्न स्तर के विद्यालयों एवं शिक्षकों की बढ़ती हुई संख्या तथा उनसे सम्बन्धित बढ़ती हुई समस्याओं के कारण शैक्षिक अधिकारियों में वृद्धि हुई, विभाग का पुनर्गठन हुआ, वहाँ दूसरी ओर हमारे शैक्षिक अधिकारियों के द्वार जन-साधारण के लिए खुल गये और इस प्रकार, निरीक्षक और अध्यापक तथा अधिकारी और जनता के बीच का अन्तर समाप्त हो गया। हमारे शैक्षिक अधिकारी समाज के सेवक हो गये।

प्रारम्भिक स्तर पर प्रति उप विद्यालय निरीक्षकों तथा सहायक बालिका विद्यालय निरीक्षिकाओं की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आज इनकी संख्या १,२९७ है जो वर्ष १९४७ की संख्या की चार गुनी से भी अधिक है। आवश्य-

बजतानुसार अतिरिक्त उप विद्यालय निरीक्षकों तथा उप विद्यालय निरीक्षिकाओं के पद सृजित किये गये।

बेसिक शिक्षा परिषद की स्थापना

लोक की माँग के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा के सुधार, विकास एवं व्यापक प्रसार हेतु उसे शासन द्वारा अपने नियंत्रण में लेने का वर्ष १९७२ में एक क्रान्तिकारी कदम उठाया गया तथा सभी जिलों में बेसिक शिक्षा अधिकारी नियुक्त किये गये। इसके लिए बेसिक शिक्षा विधेयक पारित किया गया तथा बेसिक शिक्षा में नवजीवन का संचार कर उसे प्रगतिशील बनाने के उद्देश्य से 'उत्तर प्रदेश बेसिक शिक्षा परिषद' की स्थापना की गयी।

माध्यमिक स्तर पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात प्रत्येक जिले में जिला विद्यालय निरीक्षक नियुक्त किये गये तथा आवश्यकतानुसार सह जिला विद्यालय निरीक्षकों की नियुक्तियाँ हुईं। इस स्तर पर विद्यालयों की संख्या को ध्यान में रखते हुए बालिकाओं की शिक्षा की प्रभावी देख रेख के लिए कतिपय प्रमुख जिलों में जिला विद्यालय निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ भी की गयीं।

शैक्षिक प्रशासन की सुव्यवस्था के लिए प्रदेश को ग्यारह मण्डलों में विभक्त किया गया और मण्डलीय उप शिक्षा निदेशकों तथा मण्डलीय बालिका विद्यालय निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ की गयीं।

निदेशालय का सुदृढ़ीकरण

राज्य-स्तर पर शिक्षा निदेशालय का सुदृढ़ीकरण किया गया। बालिकाओं की शिक्षा की देख रेख तथा निदेशन के लिए उप शिक्षा निदेशक (महिला) तथा संयुक्त शिक्षा निदेशक (महिला) की नियुक्तियाँ की गयीं। नियोजन, शिक्षक प्रशिक्षण, उर्दू, संस्कृत तथा विज्ञान की शिक्षा के विकास और उसकी व्यवस्था की देख रेख के लिए उप शिक्षा निदेशकों के लिए दो नये संयुक्त शिक्षा निदेशकों के पद भी सृजित किये गये। प्रशासनिक कार्य के लिए एक अतिरिक्त शिक्षा निदेशक की नियुक्ति की गयी।

परन्तु प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में प्रतिदिन बढ़ते कार्यभार के समुचित सम्पादन एवं उसमें वांछित गुणात्मक सुधार लाने के लिए उपर्युक्त प्रशासनिक व्यवस्था ही पर्याप्त न थी। अतएव शिक्षा के प्रत्येक स्तर के कार्य की सम्यक् देख रेख के लिए कार्य-विभाजन की दृष्टि से राज्य के शिक्षा

निदेशालय का प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के रूप में पुनर्गठन किया गया। ये तीनों अंग अब तीन शिक्षा निदेशकों के निदेशन में कार्य करेंगे।

बजट प्राविधान

स्वतन्त्र देश में शिक्षा के महत्त्व पर बल दिये जाने के फलस्वरूप उसके अनवरत प्रसार, गुणात्मक उन्नयन तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप शैक्षिक प्रशासन की समुचित व्यवस्था के कारण शैक्षिक बजट के प्राविधान में उत्तरोत्तर वृद्धि की गयी। फलतः यह प्राविधान जहाँ वर्ष १९४६-४७ में रु० ३.१८ करोड़ तथा वर्ष १९५०-५१ में रु० ७.३७ करोड़ (कुल राज्य-बजट का १४.१ प्रतिशत) था, वर्ष १९७१-७२ में बढ़कर रु० ९१.१७ करोड़ (कुल राज्य-बजट का १९.८ प्रतिशत) हो गया। प्रचलित वर्ष के लिए आयोजनेतर रु० ९४.२८ करोड़ तथा आयोजनागत रु० १७.२३ करोड़ (कुल योग रु० १११.५१ करोड़) स्वीकृत है। राज्य की शिक्षा में प्रति बालक व्यय वर्ष १९५०-५१ में १.१५ रुपये था, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इसके ९.०८ रुपये तक पहुँच जाने की आशा है।

प्राचार्य, राजकीय सेण्ट्रल पेडागाजिकल इंस्टीट्यूट,
इलाहाबाद।

थियोडोर सिएन शान

चीन में शिक्षा के उद्देश्य और समस्याएँ

किसी भी साम्यवादी शासन में समाज को संगठित करने के लिए शिक्षण का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। शिक्षण-सिद्धान्त, विचार और उनकी सहायता से सोचने के ढंग में परिवर्तन करना साम्यवादी शासन के लिए महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि केवल बल प्रयोग या भय-प्रदर्शन किसी-न-किसी दिन चुपके-चुपके ही क्यों न हो, लोगों के मन में शासन के प्रति वितृष्णा जगा देते हैं और कम-ज्यादा शक्ति के साथ स्थापित 'क्रांतिकारी राज्य' का तख्ता उलटने की तैयारियाँ होने लगती हैं। कम्युनिस्ट सत्ता इस तत्व को घोषित करते हुए हिचकिचाती भी नहीं है। चीन में भी १९४९ में ही यह कह दिया गया था, 'साम्यवादी, प्रजातान्त्रिक, डिक्टेटरशिप आदेश निर्देश और शिक्षण सबका समान रूप से प्रयोग करेगी' और ये शब्द माओ त्से तुङ्ग के हैं। आदेश और निर्देश के अन्तर्गत जिन्हें प्रतिक्रियावादी अथवा क्रान्ति-विरोधी अथवा जनता के शत्रु मान लिया जायेगा, उनको सजाएँ देना तथा किसी भी रूप से दबाना या कुचलना आ जाता है। दबाने और कुचलने की बात क्रान्ति-समर्थक उन लोगों पर लागू नहीं की जाती जो इस घेरे से बाहर समझे जाते हैं और जो जनता के शत्रु न माने जाकर जनता के दायरे में गिने जाते हैं। उनके प्रति कम्युनिस्ट शासन का रुख यह होता है कि उन्हें विचार-प्रचार और शिक्षण के द्वारा उद्देश्य की आवश्यकता और सम्भावनाएँ समझायी जायें। 'जनता के शत्रुओं' को भी समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने की कोशिश की जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि 'समझाना-बुझाना' कई बार जोर-जबरदस्ती का ही रूप है। फिर भी वे इस बात की कोशिश करते हैं कि ऐसे व्यक्तियों को सीधे-सीधे शारीरिक चोट न पहुँचायी जाय और जब तक शरीर पर सीधे आघात न करके अन्य उपायों का सहारा लिया जाता है, तब तक उसे साम्यवादी शासनकर्ता शिक्षण ही मानता है। साम्यवाद में विश्वास करनेवाली

जनता भी ऐसा ही मानती है कि जनता के शत्रुओं को नये समाज का सही सदस्य बनाने की दिशा में दण्ड शिक्षा का अंश है।

विचार के प्रति केवल चुप्पी साध लेना या सिर झुका कर आज्ञा मानकर चलते जाना साम्यवादी शासन में पर्याप्त नहीं माना जाता। शासन के लिये एसे लोग सीधा-साधा विरोध करनेवालों के लिए अधिक खतरनाक होते हैं और इसलिए वे ऐसे लोगो पर अधिक निगाह रखते हैं और उनके बाहरी कामों से सन्तुष्ट न रहकर उनकी समस्त चिन्तन प्रक्रिया को पूरे अवधान के साथ बदलते रहने में लगे रहते हैं।

इस तरह यदि बारीकी से देखा जाय तो तर्क, बुद्धि और हृदय को बदलने की यह प्रक्रिया चीन में हर स्तर पर पायी जाती है। उदाहरण के लिए व्यक्तिगत पूँजी अथवा निजी उद्योग-धन्धों की समाप्ति, केवल आर्थिक कदम, पर्याप्त नही माने जाते। उसके साथ-साथ 'समाजवादी शिक्षण' चलाया जाता है और लोगो को पूँजीवाद के दोष और समाजवाद के गुण तरह-तरह से समझाये जाते हैं। व्यापारियो और उद्योगपतियो का आदेशो के सामने केवल आत्मसमर्पण कर देना ही काफी नहीं माना जाता। उन्हे मार्क्सवाद और लेनिनवाद का पाठशालाओं में जाकर अध्ययन करना पड़ता है और समाजवाद के सिद्धान्त हृदयस्थ कर लेने पड़ते हैं। इसे पुनर्शिक्षण कहा जाता है। जब तक कोई पुराना पढ़ा लिखा आदमी नयी समाज-व्यवस्था के गुणो के प्रति उत्साह में भर कर तदनुसार कहने और करने नही लगता, उसे दीक्षित करते ही रहते हैं।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि साम्यवादी समाज में शिक्षण का अर्थ केवल साक्षरता अथवा किसी कार्य में कुशलता प्राप्त कर लेना नही है। छोटे-से-छोटा काम करनेवाला मजदूर, सफैया, गृहिणी या घर-गृहस्थी से उपराम बुढ़िया भी सिद्धान्तों को बिना समझे नये समाज के सही अंश और अंग नहीं माने जाते। पूँजीवादी समाज के तौर-तरीकों को जगह-जगह से निकालना है इसलिए खान-पान, पहनावा, यहाँ तक कि बाल काटने सँवारने के ढंग भी नयी शिक्षा के अंग हो जाते हैं। औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षण की भी कोई सुस्पष्ट सीमा रेखा नही होती और न विचार-प्रचार और सर्व-सामान्य शिक्षा में कोई अन्तर किया जाता है। ठीक मुट्ठी बाँधकर पूरा हाथ उठाकर अधिक से-अधिक मुँह फाड़कर राजनीतिक नारे लगाना भी शिक्षण का एक अंग है। प्रतिक्रियावादी, किसी भी भूमिहर या पूँजीवादी पर सार्व-

जनिक मुकदमा चलाये जाने की परिस्थिति में लोगों का वहाँ इकट्ठा होकर उस सबको देखना और समझना भी उनके लिए सबक है। घर, खेत-खलिहान, सरकारी दफ्तर, कारखाने, खदानें, रंगमंच और इसी प्रकार की तमाम मनोरंजन संस्थाएँ भी शिक्षण लेने या देने के साधन हैं। आप जहाँ जो काम कर रहे हों, वहीं अवकाश के घण्टों में काम को बिना कोई नुकसान पहुँचाये और यथासम्भव मनोरंजन और आराम की सुविधाएँ देकर भी समाजवादी शिक्षण चलता रहता है। शिक्षण के इस प्रकार सर्वव्यापी बना देने की मिसाल साम्यवादी राज्यों में भी कहीं उतनी उज्ज्वल नहीं है जितनी चीन में है। अवकाश में दिये जानेवाले शिक्षणों के अतिरिक्त ऐसी शालाएँ भी होती हैं जहाँ विद्यार्थी कुछ घण्टे काम में और कुछ घण्टे लिखने-पढ़ने में लगाते हैं। केवल लिखने-पढ़ने की शालाएँ तो विरल ही हैं। पत्राचार और सिद्धान्त प्रचार वर्गों को भी यदि इसमें जोड़ लिया जाय तो कहा जा सकता है कि चीन की पूरी जनता के चौथायी भाग को किसी-न-किसी रूप में सतत शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा के चीन में तीन प्रमुख उद्देश्य हैं। एक, उससे राजनीतिक विचार को पोषण मिलना चाहिए, दो, वह उत्पादन से संयुक्त रहे, तीन, उसका संचालन साम्यवादी दल के द्वारा हो। ये तीन सिद्धान्त अर्थात् प्रिंसिपल थ्री पीज के नाम से उल्लिखित किये जाते हैं। पहली दृष्टि से मार्क्सवादी, लेनिनवादी, माओवादी विचार-पद्धति को समझना सब प्रकार के शिक्षण का मूल आधार है। शिक्षण चाहे साक्षरता से सम्बद्ध हो, चाहे प्राथमिक शालाओं, माध्यमिक शालाओं, विश्वविद्यालयों अथवा उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित हो, उक्त विचार-पद्धति का पढ़ना-लिखना तो उसमें शामिल है ही। विचार-पद्धति का किताबी ज्ञान आवश्यक तो है, किन्तु वह तब तक पर्याप्त नहीं माना जाता जब तक नये समाज का हर सदस्य उसके अनुसार राजनीतिक आचरण नहीं करता। कौन-सा आचरण राजनीतिक है और कौन-सा नहीं, इसे भी साम्यवादी शासन से बाहर के लोग एकाएक नहीं समझ सकते, जैसे साम्राज्यवाद के विरोध में निकाले गये जुलूस जितने राजनीतिक हैं, फसलों को नष्ट करनेवाले कीड़े मकोड़ों को समाप्त करनेवाले अभियान भी उतने ही राजनीतिक हैं। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों को साम्राज्य विरोधी आन्दोलन से जोड़ने के पीछे जो दृष्टि थी, वही दृष्टि इस प्रकार के विचार के पीछे भी है—उसके सन्दर्भ अवश्य ही दूसरे हैं। और यह कौन नहीं जानता कि सन्दर्भों का अन्तर सब कुछ बदल देता है।

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य नये चीन में यह है कि हरेक व्यक्ति कुशल से कुशलतर उत्पादक होता जाये। माओ त्से तुंग ने एक बार शिक्षा को दो मार्गों में बाँटा था। उन्होने कहा था कि शिक्षण केवल दो क्षेत्रों के ज्ञान में सीमित किया जा सकता है। एक क्षेत्र है वर्ग-संघर्ष का ज्ञान, दूसरा क्षेत्र है अधिक उत्पादन-संघर्ष का ज्ञान। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि केवल इन दो प्रकारों का ज्ञान देनेवाले स्कूल ही न खोले जायें बल्कि इन दोनों को एक दूसरे में पिरो देनेवाली पद्धति भी अपनायी जाय, जिससे उत्पादन की समस्याओं को सर्वथा मान्य शालाओ के वर्ग में भी समझा जा सके और सर्वसामान्य प्राप्त किये गये ज्ञान को उत्पादन बढ़ाने के काम में लाया जा सके। उत्पादक श्रम में भाग लेना शिक्षक और विद्यार्थी दोनों का काम है। जो पूरे समय के स्कूलो में पढ़ते या पढ़ाते हैं उन्हे भी कुछ समय बचाकर खेतो, खलिहानो या कारखानों में काम करना जरूरी होता है।

शिक्षा की अन्तिम आवश्यकता यह बतायी गयी है कि उसे साम्यवादी दल के द्वारा परिचालित होना है। इसलिए चीन के हरेक स्कूल में दल का नेतृत्व होता है जो इस बात पर कडी निगाह रखता है कि जो कुछ हो रहा है, दलीय पद्धति के अनुसार हो रहा है। इस तरह हम देखते हैं कि साम्यवादी योजना को लागू करनेवाले शिक्षण को नये समाज के गठन का सीधा-सादा साधन मानते हैं। जो लोग साम्यवादी पद्धति से सहमति रखते नही, वे शिक्षण के इस प्रकार के उद्योग पर आपत्ति कर सकते हैं। किन्तु इसे मानने में कोई बाधा नही है कि सचमुच ही शिक्षण समूचे जीवन में अक्षुण व्याप्त और सन्तुलित रहना चाहिए। वास्तविक जीवन से दूर पड़े हुए कोरे साहित्यिक या दार्शनिक या अन्य किसी भी प्रकार के शिक्षण का कोई अर्थ नही है। प्रजातन्त्र भी अपनी योजनाओ की सफलता के लिए शिक्षण को आवश्यक मानता है। किन्तु अभी उसने उसकी सच्ची भूख महसूस नही की है। और, इसलिए समस्त प्रजातन्त्रीय देशों में शिक्षण-पद्धतियाँ कम-ज्यादा यथार्थ जीवन से कटी हुई मिलती हैं।

यदि आँकडो के हिसाब से देखें तो साम्यवादी शासनकाल में चीन ने शिक्षा का जो प्रसार किया है, और केवल साक्षरता में भी जैसी वृद्धि करके दिखायी है वह मन पर प्रभाव डाले बिना नही रहती। एक अभूतपूर्व पैमाने पर लगभग समूची आबादी को शिक्षण सुलभ हो गया है और हर स्तर पर शिक्षा प्राप्त करनेवालों की सख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी है।

शिक्षण के इस प्रसार के कारण कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न हो गयी हैं और उनमें कुछ तो ऐसी हैं कि उनका हल प्राय कठिन ही दिखायी देता है। इन समस्याओं का मूल साम्यवादी शिक्षण अथवा साम्यवादी समाज स्वभाव में निहित है। सभी जानते हैं 'वर्ग शिक्षण का अर्थ तो साम्यवादी समाज के पहले के समाज के तौर-तरीकों के प्रति घृणा उत्पन्न करना और आज के तौर-तरीकों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना होता है। इसके लिए विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाया जाता है। विद्यार्थियों को पहले अपनी शाला का इतिहास और अपने परिवारों का इतिहास बताया जाता है। शाला के इतिहास का अर्थ होता है वर्तमान शाला या पुरानी शालाओं से अन्तर बताना। यह बताया जाता है कि पुरानी शालाएँ धनी और गरीब, ऊँची जाति और नीची जाति आदि के आधार पर भेदभाव बरतती थी और तदनुसार शिक्षा-व्यवस्था भी करती थी, जबकि साम्यवादी पाठशालाएँ सबको समान मानकर चलती हैं और समान रूप से देश के *उपयोगी नागरिक बनाकर वर्गहीनता की दिशा में अग्रसर होती हैं।*

इसी प्रकार परिवारों के इतिहास को पढ़ाते हुए पूँजीवादी रहन-सहन के प्रति घृणा और मजदूर तथा किसान वर्ग के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जाता है। पूँजीवादी और मध्यमवर्गीय पद्धति के परिवारों के माता पिताओं के प्रति भी बच्चों में घृणा पैदा हो जाती है और इसी प्रकार बड़े-बड़े पूँजीपतियों और भूमिहरों के प्रति। कारखानों का इतिहास पढ़ाते भी समय इसी बात पर जोर दिया जाता है और इसमें शिक्षा के साधन होते हैं पुरानी व्यवस्था में काम कर चुकनेवाले मजदूर किसान, सैनिक और अन्य प्रकार के कर्मचारी। वे नये शिक्षार्थियों को अपने पुराने कटु अनुभव सुनाते हैं और पुरानी व्यवस्था के प्रति रोष तथा घृणा की भावना पैदा करते हैं।

शिक्षा के तत्वों में घृणा और क्रोध का इतना बड़ा स्थान देने की जरूरत वहाँ इसलिए पड़ी कि नये शासन को वर्ग चेतना तथा समाजवादी भावना को फैलाने के काम में कदम कदम पर बाधाओं का सामना करना पड़ा है। जो लोग शांतिपूर्वक विकास का नाम लेते हुए दिखायी देते थे वे सब वास्तव में समाजवाद के सपने को चूर करने में लगे हुए थे। नये शासकों को इस बात के प्रति पूरी तरह जागरूक रहना है कि घूसखोर मुनाफाखोर और अन्य दूसरे आराम से जीने के इच्छुक लोग साम्यवादी शासन को अच्छे भले शब्दों की आड़ में हानि न पहुँचा पायें। इसीलिए शासन के लिए यह जरूरी हो गया कि पुराने जमाने के बचे हुए लोगों को पुनर्शिक्षित तथा नये जमाने में पैदा हुए और

बड़े लोगों को 'शिक्षित' किया जाय। चीन और रूस के मतभेदों ने एक नया भय पैदा कर दिया है और वह है सुधारवादियों का भय। रूस के तौर-तरीके क्रान्तिकारी नहीं माने जाते हैं सुधारवादी माने जाते हैं। तो चीन के, और चूँकि कब तक चीन और रूस की दाँत काटी दोस्ती थी इसलिए चीन में ऐसे इतिहास कारों, दार्शनिकों, नाटककारों, उपन्यासकारों और अन्य बुद्धिवादियों के हर जगह होने की सम्भावना तो बनी हुई ही थी जो चीन की साम्यवादी पार्टी की पद्धति से किसी-न किसी रूप में किंचित हटे हुए हों। दल के सदस्यों पर भी इसलिए पूर्ण शिक्षित होने का भरोसा नहीं किया जा सकता और उनकी शिक्षा दीक्षा भी निरन्तर चलती रहती है। यांग सेन चेंग १९६४ तक एक जबरदस्त साम्यवादी नेता माना जाता था और अभी-अभी तक दल के बुद्धजीवियों में उसका नाम बड़े आदर से लिया जाता था। वह मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अधिकारी शिक्षक होने के नाते विचार के प्रचारकों में बहुत ऊँचा स्थान रखता था किन्तु अब उस पर सुधारवादी और मध्यमवर्गीय होने का आरोप लगाया गया है।

इन कारणों के सिवाय समस्या के तीव्र होने के अन्य और भी कारण हैं। जैसे एक कारण यह है कि समानता और सम्पन्नता दुनिया के अनेक देशों में साम्यवादी पद्धति को लागू किये बिना ही आती चली जा रही है। कोई भी सच्चा साम्यवादी उस समानता अथवा सम्पन्नता को स्वीकार नहीं कर सकता जो मार्क्सवादी, लेनिनवादी, माओवादी विचारों से भिन्न किसी पद्धति के द्वारा आ सकती है या लायी जा सकती है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि अन्य पद्धतियों के प्रति सहानुभूति से सोचनेवालों पर भी निगाह रखी जाय और उन्हें शिक्षित किया जाय। इसके अतिरिक्त यह सवाल भी है कि जो अभी शासनारूढ़ हैं उनकी जगह कौन लेगा। पुराने क्रान्तिकारी वृद्ध हो रहे हैं नये लोगों को क्रान्तिकाल में जो संघर्ष करने पड़े उनका पता नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि वे पुरानी पद्धतियों के प्रति जरा भी नरम पड़ जायें और करा धरा चौपट हो जाय। इसलिए नये लोगों को पुराने संघर्ष की याद दिलाते रहकर उन्हें पुराने के प्रति विद्रोहवादी भी बनाये रखना है।

एक समस्या संख्या और गुण की भी सामने आती है। जो निरक्षर हैं उन्हें कम से कम समय में साक्षर बनाना है और साथ ही साथ कम से कम समय में इन सिद्धान्तों को उनके मन में उतार देना है। फिर कुशल कारीगर तैयार करने हैं ताकि पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी की जा सकें। राजनीतिक-शिक्षण, साहित्यिक

अथवा अन्य प्रकार के बौद्धिक शिक्षण से ठीक मेल नहीं खाता। इसलिए देखा गया है कि चीन में साहित्य, कला आदि का पिछले कुछ दिनों में ह्रास हुआ है। जिन लोगों को इस दिशा में रुचि होती है वे भी मन में कहीं-न-कहीं यह सोचते रहते हैं कि हमें राजनीतिक दृष्टि से अधिक समर्थ दिखने के लिए अपनी रुचियों पर बहुत ज़ोर नहीं देना चाहिए। एक और बात भी शिक्षा के स्तर को गिरानेवाली है। किसानों और मजदूरों के कम योग्य बच्चे भी थोड़े बहुत शिक्षण के बाद आगे के पाठ्यक्रमों में भेज दिये जाते हैं।

शासन को इन सब त्रुटियों का अनुमान है। उसने देख लिया है कि नव साक्षरों की वृद्धि भी बहुत अर्थ नहीं रखती, क्योंकि उन्हें जो कुछ सिखाया गया है, काम के बीच जल्दी में सिखाया गया है और ऐसी उम्र में सिखाया गया है, जब एक बार सीखा हुआ उतनी ही जल्दी भुला भी दिया जाता है। इसी तरह जो पढ़े-लिखे लोग थे उन्हें उत्पादन की जो शिक्षा दी गयी है, अधूरी सिद्ध हुई है। इसलिए अब यह कोशिश की जा रही है कि संख्या के साथ-साथ शिक्षा के स्तर को भी ऊँचा उठाया जाय। शिक्षकों को बताया जा रहा है कि राजनैतिक शिक्षण पर थोड़ा-बहुत कम जोर देकर अन्य अनिवार्य गुणों में भी वृद्धि की जानी चाहिए। प्राय शिक्षण सम्बन्धी पद्धतियों में फेर-फार किया जा रहा है और कोशिश की जा रही है कि सिद्धान्त और वस्तुस्थिति में सामंजस्य बैठाया जा सके। इसीलिए हम एक बार यह देखते हैं कि सांस्कृतिक क्रान्ति को उछाला जा रहा है तो दूसरी बार देखते हैं कि उसे दबाया जा रहा है। बहुत दिनों तक किताबी ज्ञान की दिल्लगी उड़ायी जाती रही, फिर उसे बहुत हद तक आवश्यक भी मान लिया गया। साधारण तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी संख्या को गुण पर तरजीह देती है। विज्ञान का समाजवादी समाज में प्रमुख स्थान माना जाता है। किन्तु दल यह भी चाहता है कि वैज्ञानिक, तत्सम्बन्धी ज्ञान के आस-पास फैले हुए प्रभा मण्डल का निराकरण करे और इस समझ को दृढ करे कि जनता, मजदूर और किसान भी इस लौह द्वार को तोड़कर उसके अहाते में मनमाना विचरण कर सकें। इसीलिए उन किसानों की कीर्ति का गायन यह कहकर, जिन्होंने नये औजारों को समक्षा, किया गया कि यह हमारे सच्चे वैज्ञानिक हैं। किन्तु बाद में अन्न उत्पादन में भयकर कमी हुई तो इस विचार का प्रचार करनेवाले लोग चौंके और उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि वैज्ञानिक फूँक मारते ही तैयार नहीं किये जा सकते। विचारों में 'लाल' होना कार्यकुशल और ज्ञानकुशल होने का पर्यायवाची नहीं हो सकता। इसलिए

अब यह कहा जा रहा है कि चीनी को 'लाल' भी होना चाहिए और फिर उसी अनुपात में कार्यकुशल भी। इन दोनो उद्देश्यों को एक साथ कैसे साधा जाय ? इस सवाल पर विचार करनेवाली पर्याप्त सामग्री साहित्य के रूप में इन दिनो सामने आ रही है। 'लाल' होने के सवाल पर तो कोई हरफ आ नहीं सकता, इसलिए उपाय इसी बात के खोजे जा रहे हैं कि विचार की दृढ़ता के साथ साथ कार्यकुशलता कैसे दी जाये।

साम्यवादी पद्धति को अपनाने के पहले चीन में विद्वत्ता का बड़ा सम्मान था, इसलिए आज भी विद्वत्ता के प्रति आकर्षण देश की नयी पीढ़ी से विलीन नही हो गया है। विद्यार्थी शालाओं में विभिन्न विषयों का ज्ञान लेने, उत्पादन-क्षम होने और राजनैतिक विचार को आत्मसात् कर लेने की दृष्टि से जाते हैं। किन्तु उनके मन में यह प्रश्न निरन्तर उठता रहता है कि यदि केवल उत्पादन-क्षम और राजनीतिक दृष्टि से असंदिग्ध बनना है तो सब लोगों को अथवा बहुत से लोगों को अन्य प्रकार का ज्ञान देने का प्रयत्न क्यों किया जाता है। कई बार यह भी देखा जाता है कि व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त पाठशालाओं का निर्माण सम्भव नही है, इसलिए कम पढ़े-लिखे होने का प्रशस्त कहा जाता है। किन्तु किताबी ज्ञान की प्यास बुझती नही। प्राय पुस्तकालय के अन्दर और बाहर भीड़ देखी जाती है। अध्ययन के लिए उत्सुक लोगो को बैठने के लिए कुर्सी नही मिल पाती और कुर्सी खाली होने की प्रतीक्षा में वे दालानो में घूमते रहते हैं। विदेशी भाषाओं के ज्ञान की उत्सुकता भी बढ़ती जा रही है। कई बार तो एक एक व्यक्ति तीन-तीन चार चार बाहरी भाषाएँ सीखने का प्रयत्न करते पाया जाता है। इतने बहुत से वर्षों के बाद भी चीन के नये शिक्षण ने वहाँ के नये तरुण समाज को रुचियो और इच्छाओ की दृष्टि से अभी तक पूरी तरह खेतिहर और मजदूर नही बनाया है। यह सब देखकर यह विचार दृढ हो जाता है कि शिक्षण क्यों कि मूलत: विचारों से सम्बन्धित है, कोरे काम काजो साँचे में नही ढाला जा सकता। जिस प्रकार चीन के बुद्धि-वादियों ने शासन पद्धति की समीक्षा करने की प्रवृत्ति कई बार दिखलायी है उसी प्रकार अब वहाँ के विद्यार्थी भी अपनी ज्ञान पिपासा व्यक्त करने लगे हैं। देखना है कि बुद्धिवादियो के दमन की तरह उनका दमन भी किया जाता है या नही।

(रूथ ऽम्स द्वारा सपादित कनटेम्पोरेरी चाइना' से रूपांतरित)

आचार्यकुल का सघन कार्य : अब तक के अनुभव

अक्तूबर, '७० में सर्व सेवा संघ के सेवाग्राम अधिवेशन में लिये गये निश्चयानुसार देश में कुछ सघन ग्रामस्वराज्य-क्षेत्र लेकर काम करने का जो कदम उठाया गया, उसमें बिहार में मुसहरी, रुपौली (इन दोनों ही जगहों पर वास्तव में इस निश्चय से पहले से ही काम शुरू कर दिया गया था) और सहरसा को लेकर काम आरम्भ किया गया। यह भी तय हुआ कि इन क्षेत्रों में सर्वोदय आन्दोलन के तीनों मुख्य काम शांतिसेना, आचार्यकुल और पुष्टि-कार्य साथ-साथ चलाये जायँ। इसके अनुसार ही केन्द्रीय समिति की ओर से उसके संयोजक श्री वंशीधरजी ने समिति के संगठक श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा को सहरसा के काम की जिम्मेदारी दी। श्री बहुगुणा यद्यपि बीच-बीच में थोड़े समय के लिए इधर-उधर भी आते-जाते रहे हैं किन्तु जनवरी '७१ से अभी तक का समय (बीच में अप्रैल '७२ से लेकर अक्तूबर '७२ तक के पूरे समय को छोड़कर) वे लगभग इन क्षेत्रों में ही देते रहे हैं।

इन क्षेत्रों में आचार्यकुल को मुख्यतः ग्रामस्वराज्य के प्रत्यक्ष कार्य (पुष्टि-कार्य) के सन्दर्भ में काम करना था। इससे वहाँ आचार्यकुल के काम को स्वभावतः ही एक भिन्न परिप्रेक्ष्य मिला और वहाँ पर उसके काम का मूल्यांकन इस परिप्रेक्ष्य में रहकर किया जाना उचित होगा।

इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार यहाँ हमें आरम्भ में ही दो बातों को ध्यान में रखकर काम करना पड़ा। एक तो यह कि आचार्यकुल का विचार सारे क्षेत्र में फैले और उस आधार पर कुछ संगठनात्मक भूमिका बनाने का प्रयास किया जाय। दूसरे यह कि जो कुछ भी विचार फैले और संगठन बन सके, वह आचार्यकुल के अन्य वैधानिक कामों के अतिरिक्त ग्रामस्वराज्य और पुष्टि के प्रत्यक्ष काम में लगे।

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है इन क्षेत्रों में आचार्यकुल का विचार खूब फैला है। श्री बहुगुणा ने सहरसा के सारे जिलों में स्वयं घूमकर जिले के सभी २३ प्रखण्डों में शिक्षा-गोष्ठियों का आयोजन किया। आचार्यकुल का विचार समझाया और प्रखण्ड स्तर पर आचार्यकुल के तदर्थ संगठन खड़े किये। २३ में से १७ प्रखण्डों में ऐसी समितियाँ गठित की गयी। ये समितियाँ शिक्षकों को आचार्यकुल का विचार समझाने और उस आधार पर जो लोग सदस्यता फार्म भरते थे ऐसे ही शिक्षकों को लेकर बनायी गयी और उनमें से ही पदाधिकारी बना दिये गये। इस प्रकार से जिले में लगभग ७०० से भी अधिक लोगों ने आचार्यकुल की सदस्यता ग्रहण की और वे अलग-अलग प्रखण्डों में समितियों के रूप में संगठित हुए। इसी प्रकार की गोष्ठियाँ विरौल (दरभंगा जिला), रुपौली और भवानीपुर (दोनों पूर्णिया जिला), और मुसहरी (मुजफ्फरपुर जिला) प्रखण्डों में भी की गयी। इन सभी में पुष्टि का सघन कार्य चल रहा है। इन सभी प्रखण्डों में भी ऐसी तदर्थ समितियाँ बनायी गयी हैं। इस प्रकार से बहुत व्यापक स्तर पर विचार फैलाने का पहला काम सम्पन्न हुआ।

ये सभी समितियाँ अपनी-अपनी जगहों पर थोड़ा बहुत सक्रिय भी हैं। जैसे यह कि वे आपस में बैठकें करती है, पुराने अधिकारियों के बदल जाने पर नये अधिकारियों का चुनाव करती हैं, और स्थानीय स्तर पर पुष्टि के काम में मदद करती है।

प्रखण्ड स्तर पर समितियाँ बनाने के बाद उनके शिविर लिये गये। ऐसा एक बड़ा शिविर सहरसा जिले में मधेपुरा में आयोजित किया गया था जिसमें १७ में से ११ प्रखण्ड समितियों के अलावा काफी अन्य शिक्षक भी शामिल हुए थे। इसमें ही जिला आचार्यकुल का गठन किया गया। इस शिविर का सारा भार आचार्यकुल के सदस्यों ने स्वयं वहन किया और ३५ व्यक्तियों को पूरे तीन दिन तक ठहराने और भोजन कराने आदि का खर्च उठाया। मधेपुरा

में ही फिर तरुण शांतिसेना और आचार्यकुल का एक सह-जीवन शिविर भी लगाया गया जिसमें जिले भर के लगभग ४० विद्यालयों से ७८ छात्र और आचार्य शामिल हुए थे। यह शिविर भी तीन दिन का था और इसके लिए एक दिन का भोजन भी आचार्यकुल ने दिया। इसी प्रकार के शिविर और गोष्ठियाँ बिरौल, रुपौली और भवानीपुर प्रखण्डों में भी की गयी, जहाँ क्रमश दो सौ, एक सौ पचास एक सौ १०० शिक्षकों ने भाग लिया। यह शिविर दो से पाँच दिन तक के हुए और इनका सारा व्यय स्थानीय आचार्यकुल ने वहन किया। पिछले साल से अखिल भारत शांति सेना मंडल ने शिक्षा में क्रांति के लिए ९ अगस्त का दिन मनाना तय किया है। सहरसा के आचार्यकुल ने भी इस कार्यक्रम में पूरा भाग लिया और गत वर्ष तथा इस वर्ष दोनों ही साल सहरसा में छात्रों और शिक्षकों ने मिलकर जैसा जुलूस निकाला, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं निकला है। पिछले साल के प्रदर्शन में २३०० छात्र-शिक्षकों ने और इस साल के प्रदर्शन में १००० छात्र-शिक्षकों ने भाग लिया था। छात्रों ने आचार्यकुल के शिक्षक मार्गदर्शकों के नेतृत्व में विद्यालयों और गाँवों में मकानों की दीवालों पर नारे सुवचन आदि लिखने का भी बहुत अच्छा काम किया है और सहरसा में कोई भी किसी भी गाँव या विद्यालय में जाय तो उसे आज भी यह नारे लिखे मिलेंगे। सहरसा में आचार्यकुल और तरुण-शांतिसेना आरम्भ से ही मिलकर काम करते रहे हैं और यही कारण है कि जिले में इस तरह का वातावरण बन सका है। जिले भर में लगभग ४०० प्राथमिक विद्यालयों से आचार्यकुल का प्रवेश हुआ है और कुल ७२ तरुण-शांतिसेना की इकाइयाँ बनी हैं। हर स्थान पर, जहाँ भी तरुण-शांतिसेना की इकाई है, वहाँ विद्यालय का एक शिक्षक इकाई का मार्गदर्शक बनाया गया है। इससे छात्रों को काम करने में बहुत सुविधा होती है और यही कारण है कि सहरसा से काफी तरुण-शांतिसेना की सदस्यता ग्रहण की गयी है। शुल्क भी भेजा है।

इन कामों के अलावा आचार्यकुल की स्थानीय विद्यालय या नगर इकाइयों ने आचार्यकुल के अन्य कार्यक्रमों में भी सक्रिय भाग लिया है। खासकर सहरसा नगर में गत नगरपालिका चुनाव में मतदाता प्रशिक्षण का अच्छा काम किया गया है। सभी दलों और उम्मीदवारों को संयुक्त बैठकें आमन्त्रित की गयी और लोग आये। अच्छे उम्मीदवार को ही वोट देने, दल बदल करनेवाले, शराब पीने और बेचनेवाले, जाति, पैसे या शस्त्र के बल पर वोट माँगनेवाले उम्मीदवारों को वोट न दिया जाय, शान्तिपूर्ण और पक्षपात रहित होकर ही

वोट दें, आदि बातो के साथ परचे भी छापकर बाँटे गये हैं। इसका सब पर अच्छा प्रभाव पडा है। आचार्यकुल की शिक्षा-नीति और कार्यक्रम का भी इकाइयों में प्रचार प्रसार किया गया है और कुछ स्थानों पर इकाइयो ने उस पर बहस भी की है।

इन कार्यक्रमो के अलावा इन क्षत्रो में शिक्षा में क्राति का काम भी किया जा रहा है। बिहार के विशेष सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए वहाँ इसे दो भागो में बाँटा गया है। बिहार के वर्तमान माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम को यदि देखा जाय तो उसमें बुनियादी शिक्षा के मूल तत्व काफी मजबूत हैं। किन्तु आज उन पर अमल नही होता। अत यह सोचा गया है कि उस पर अमल करने के लिए आवश्यक वातावरण बनाया जाय और उनके नमूने पर कुछ आदर्श विद्यालयो का चयन और क्रियान्वयन किया जाय। शिक्षा में सुधार के इस कार्यक्रम पर रुपौली (पूर्णिया) और मुसहरी (मुजफ्फरपुर) दोनो ही जगहो पर पहले काम आरम्भ हुआ है और अब सहरसा में भी काम आरम्भ हो गया है। मुसहरी में श्री जयप्रकाश नारायणजी के आदेश से गुजरात के वेडछी विद्यापीठ के श्री ज्योति भाई देसाई के नेतृत्व में कुछ प्रायोगिक शिविर सम्पन्न किये गये हैं और कुछ विद्यालय को लेकर प्रायोगिक कार्य करने का निश्चय किया गया है। प्रखण्ड भर से ३८ शिक्षको को चुनकर पहले वेडछी विद्यालय में कुछ अनुभव लेने के विचार से भी भेजा गया था। इन सारे कार्यो में वहाँ केन्द्रीय समिति के संयोजक श्री बंशीधरजी का विशेष योगदान रहा है और वे वहाँ के इन कामों में हर सम्भव मार्गदर्शन और मदद करते हैं। रुपौली में यह काम श्री वैद्यनाथबाबू, जो उस क्षत्र में पुष्टि कार्य के लिए जमकर बैठे हैं, और बिहार के प्रख्यात सर्वोदय सेवक हैं, कि देखरेख में चल रहा है। सहरसा में स्वय श्री बहुगुणा इस काम को देख रहे हैं और पू० धीरेन्द्र भाई का मार्गदर्शन उन्हें मिल रहा है।

शिक्षा में सुधार के इस कार्यक्रम के मुख्यत दो भाग हैं (१) यह कि कुछ एसे विद्यालयो का चयन हो जो बिहार के पाठ्यक्रम को पूरे और सही अर्थ में अपने यहाँ स्वेच्छा से लागू करने की परिस्थिति बनाये और जहाँ जो आवश्यक हो वहाँ शासन से भी मदद ली जाय। (२) दूसरे यह कि एसा करते समय शिक्षा में स्वायत्तता का भी प्रयोग हो। अत इन विद्यालयो का सचालन शासन की सामान्य परम्परा से भिन्न तरह पर हो। वह शिक्षा—अभिभावक और जहाँ सम्भव हो वहाँ छात्र के साथ शासन के प्रतिनिधियों को

लेकर बनी स्वायत्त समितियों के माध्यम से हो। सहरसा में इस काम के लिए वहाँ के पुराने अनुभवी रिटायर्ड शिक्षा सचालक श्री सुखदेवजी ठाकुर का सहयोग प्राप्त हुआ है और जिला आचार्यकुल की शिक्षा-सुधार उप-समिति जिला शिक्षा पदाधिकारी के सयोजकत्व में श्री ठाकुर के सचालन में काम कर रही है। मुसहरी में श्री जयप्रकाश नारायणजी की सलाह पर विहार सरकार ने एक प्रयोग के लिए कुछ विद्यालय चुनकर काम करने की स्वीकृति दी है जिसे प्रदेश के अन्य पाँच स्थानों पर भी चलाया जायगा।

शिक्षा में सुधार कार्यक्रम का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें शिक्षकों ने एक आचार्यसंहिता का निर्माण किया है जिसे खासकर इन विद्यालयो में सभी शिक्षक स्वेच्छा से मान्य करेंगे। उसमें समय की पाबन्दी, विद्यार्थी के साथ और शिक्षण-कार्य में प्रामाणिकता, सादगी, पूर्ण व्यसन मुक्ति और समाज सेवा का कुछ प्रत्यक्ष दैनिक काम करने की बातों के साथ ही विद्यालय और पढाई के स्तर में सुधार के लिए सतत प्रयास करना भी शामिल है। इस प्रकार से शिक्षक के निजी और व्यावसायिक स्तर में सुधार होगा। यह इसका उद्देश्य है।

किन्तु इतने से ही आचार्यकुल के उद्देश्यो की पूर्ति नही हो जाती। उसे तो शिक्षा में क्रांति ही इष्ट है। अत यह भी प्रयास है कि शिक्षा में कुछ स्थायी नये प्रयोग किये जाय। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने आचार्यकुल के लिए ग्राम-गुरुकुल का एक कार्यक्रम बताया है जिस पर सहरसा में विचार हो रहा है। और स्वयं धीरेन्द्र भाई के नेतृत्व में वैसे शिक्षकों और विद्यालयों तथा ग्रामसभाओ की खोज की दृष्टि से उनकी लोकगंगा-यात्रा में एक यह काम भी शामिल किया गया है। वे आज कल जिले के गाँवों का भ्रमण कर रहे हैं।

शिक्षा में क्रांति और सुधार के अलावा ग्रामस्वराज्य के काम में प्रत्यक्ष मदद का काम भी वहाँ आचार्यकुल ने उठाया है और खासकर सहरसा में तो उसने इसमें बुनियादी जिम्मेदारियाँ निभायी है। जिले में पिछले दो साल में तीन बार बडे-बडे अभियान चले हैं उनमें आचार्यकुल के लोगों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जगह-जगह टोलियो का स्वागत करने, उनके टिकने आदि की व्यवस्था करने से लेकर सभाएँ करने, प्रभात-फेरियाँ निकालने और जुलूस निकालने आदि का काम किया गया है। गाँव-गाँव में साहित्य-

बिक्री के काम में भी आचार्यकुल का अच्छा योगदान रहा है। और पहले दो मासों में जिले में हजारों रुपयों के सर्वोदय-साहित्य की बिक्री हुई है। अब वहाँ सर्वोदय मित्र और सहयोगी बनाने का नया कार्यक्रम हाथ में लिया गया है। उसमें भी आचार्यकुल के सदस्य पूरा सहयोग कर रहे हैं और स्वयं मित्र और सहयोगी बन रहे हैं। ग्रामसभाएँ बनाने में, बीघा-कट्ठा बाँटने और माँगने में और ग्राम-कोष कायम करने में भी आचार्यकुल का योगदान हो रहा है। स्वयं कई शिक्षकों ने अपनी जमीनें बाँटी हैं और दूसरों से बँटवाने के लिए भी काम किया है। कई स्थानों पर स्वयं गाँव के शिक्षक ही ग्रामसभा के मंत्री या मार्गदर्शक हैं।

इस प्रकार से ग्रामस्वराज्य के समग्र कार्यक्रम के अन्तर्गत सहरसा में आचार्यकुल का स्वतः एक त्रिविध कार्यक्रम विकसित हुआ है जिसे हमने (१) आचार्यत्व-दीक्षा कार्यक्रम, (२) शिक्षा में क्रांति और (३) ग्रामस्वराज्य नाम दिया है। उपरोक्त विवरण से ज्ञात होगा कि बिहार के इन पुष्टि क्षेत्रों में ये तीनों का कार्यक्रम हो रहे हैं।

किन्तु इस सन्दर्भ में कुछ ऐसे प्रश्न भी सामने आये हैं जिन पर हमें विचार करना चाहिए। पहली बात तो यह है कि लोग सदस्यता शुल्क कम देते हैं। सहरसा में पिछले वर्ष कोई ३५ लोगों ने शुल्क दिया था। इस साल यह संख्या ५० के करीब आयी है। रुपौली और मुसहरी आदि में तो अभी तक लगभग नहीं के बराबर ही शुल्क दिया गया है। जो लोग आचार्यकुल के सभी कामों में भाग लेते हैं वे भी सब के सब शुल्क नहीं देते। हमारे विचार में इसका कारण यह हो सकता है

(१) शुल्क अधिक है। खासकर प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों ने हमसे कई बार कहा है कि वे इतनी रकम नहीं दे सकते हैं। फिर वे एक बार भी नहीं दे सकते। किश्त में हो तो शायद दें।

(२) हम फालोअप का काम नहीं कर पाते। एक बार प्रत्यक्ष सम्पर्क होकर फिर सम्पर्क नहीं रह पाता और केवल कागजी (पत्र)-व्यवहार से ही हमारा सम्पर्क रह पाता है। हम लोगों में सुस्ती का जो राष्ट्रीय चरित्र है उस सन्दर्भ में सम्पर्क के अभाव में फिर शुल्क वसूलना काफी कठिन होता है।

(३) बिहार में शिक्षक संघ बहुत मजबूत है और शायद ही कोई शिक्षक हो जो उसका सदस्य न हो। वह उसे शुल्क देता है और ऐसी व्यवस्था बनी है कि वह उसके वेतन में से ही काट लिया जाता है हमारे पास ऐसी कोई

व्यवस्था नहीं है और यह विचार किया जाना चाहिए कि क्या हमारे पास भी ऐसी कोई व्यवस्था हो और हम उसका सहारा लें।

शुल्क का प्रश्न केवल बिहार का ही नहीं समूचे देश का है। सिवाय मध्य प्रदेश के और कहीं से कोई शुल्क नहीं मिलता है। उत्तर प्रदेश तक से, जहाँ आचार्यकुल काफी पुराना, प्रभावी और सक्रिय भी है, भी लगभग कुछ नहीं आता। इस प्रश्न पर तटस्थ रूप से विचार किया जाना चाहिए। अभी तो आचार्यकुल सर्व सेवा संघ के बल पर चल रहा है। किन्तु यह बल सदा ही प्राप्त नहीं होगा, न होना चाहिए। आचार्यकुल को अपने पैरों पर ही खड़ा होना होगा।

सघन क्षेत्रों (बिहार) के सन्दर्भ में एक बात और भी आती है। वहाँ हमारा जोर ग्रामस्वराज्य पर है और वह शिक्षक को "भार" मालूम होता है। उसमें (आचार्यकुल) शामिल होने का अर्थ वे मानते हैं, और शायद सही ही मानते हैं कि, अपनी जमीन देनी होगी, ग्रामसभा के साथ काम करना होगा आदि। *रूपौली में जब एक बड़ी गोष्ठी में शिक्षकों से शिक्षा में* स्वायत्तता के बारे में पूछा गया कि वे बतायें कि उन्हें अपने काम में किस प्रकार की कितनी स्वायत्तता चाहिए तो वे सब इस बात पर राजी थे कि उन्हें आज भी काफी स्वायत्तता प्राप्त है और वास्तव में उन्होंने स्वायत्त समितियों के गठन में अरुचि ही दिखाई। वे मानते हैं कि ग्रामसभा या अन्य तरह की समिति के माध्यम के बजाय इन्सपेक्टर के माध्यम से काम करना कहीं आसान है। इस प्रश्न पर भी हम विचार करें। क्या अन्य क्षेत्रों में, जहाँ हम ग्राम-स्वराज्य पर जोर नहीं देते, भी यही अनुभव आता है ?

जहाँ तक बिहार के सघनक्षेत्रों का सवाल है, वहाँ आचार्यकुल की भूमिका बहुत काम की रही है और अपने उद्देश्यों में वह सफल रहा है। वह यहाँ पर आन्दोलनात्मक स्तर पर काम कर रहा है और हमारा विश्वास है कि इसी में से फिर संगठनात्मक रूप भी निखरेगा। अन्यत्र के बजाय सम्भवतः यह भूमिका हमारे लिए अधिक अनुकूल है।

(केन्द्रीय आचार्यकुल समिति, वाराणसी)

वर्ष : २१
अंक : ६
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

जनवरी, '७३

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये है और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : जनवरी, '७३
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

सूतांजलि-संग्रह के लिए अपील

सारे देश में १२ फरवरी का दिन पूज्य गांधीजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए 'सर्वोदय-दिवस' के रूप में मनाया जाता है। यह वर्ष खादी की स्वर्ण-जयन्ती और आजादी की रजत-जयन्ती का वर्ष है। इस निमित्त से हमलोग ग्रामस्वराज्य का सन्देश घर-घर और गाँव-गाँव पहुँचाएँ और अहिंसक क्रान्ति के लिए सूतांजलि के रूप में सम्मति प्राप्त करें।

'सर्वोदय दिवस' के अवसर पर अनेक स्थानों पर सर्वोदय मेले का आयोजन भी होता रहा है जो एक अच्छी परम्परा है। इसके साथ ही हमें अपने सेवा-केन्द्रों पर, खादी के उत्पादन और बिक्री-केन्द्रों पर, रचनात्मक संस्थाओं के मुख्यालय तथा सेवा केन्द्रों पर भी सर्वोदय-दिवस का आयोजन करना चाहिए तथा उस दिन सूतांजलि-संग्रह तथा सूतांजलि-समर्पण का विशेष आयोजन करना चाहिए।

आशा है, गांधी-विचार में श्रद्धा रखनेवाले सभी लोग इसमें सहयोग करेंगे।

—सिद्धराज ढड्ढा
अध्यक्ष
सर्व-सेवा-संघ

नयी तालीम

वर्ष : २१
अंक : ७

फरवरी १९७३

नयी तालीम और पुराना समाज

वर्ष : २१
अंक : ७

आमतौर पर जब नयी तालीम की चर्चा चलती है तो लोग सहजता से कह देते हैं कि नयी तालीम फेल गयी। कुछ यह भी कहते हैं कि गांधीजी के जमाने की नयी तालीम में आज की परिस्थिति के अनुसार कुछ संशोधन जरूरी है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सही दिशा में नयी तालीम की शुरुआत ही नहीं हुई। गांधीजी ने नयी तालीम को समाज के मूल्य और मान्यताओं को बदलने के लिए संगठित करना चाहा था। वे चाहते थे कि देश में बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के नाम से वर्गीकरण न रहे। वे हर व्यक्ति को शिक्षित तथा वैज्ञानिक शरीर श्रमिक के रूप में तैयार करके एक वर्गहीन समाज बनाना चाहते थे और चाहते थे, कि बुद्धि जीविका का नहीं, सेवा का साधन रहे और जीविका का साधन बुद्धिपूर्वक किया गया शरीरश्रम ही रहे। देश ने गांधीजी के इस सामाजिक सिद्धान्त को स्वीकार न करते हुए बुनियादी शिक्षा चलाने का प्रयास किया।

वास्तव में समाज के पुराने मूल्यों तथा मान्यताओं की पृष्ठभूमि में नयी तालीम को चिपकाया नहीं जा सकता था। इसीलिए उसकी शुरुआत नहीं हो सकती थी। पुरानी तालीम में कुछ उद्योग जोड़ देने से वह नयी तालीम नहीं हो सकती है। नयी तालीम की शुरुआत नये समाज की कल्पना की बुनियाद पर ही की जा सकती है।

समाज की पुरानी बुनियाद पर चल रही पुरानी तालीम समाज और शिक्षा के क्षेत्र में संकट पैदा

कर रही है। इसके लिए शिक्षा में सुधार की बात कही जा रही है। लेकिन शिक्षा में जिन दोषों की बात की जाती है, वह शिक्षा-जगत की कोई अलग चीज नहीं है। वह आज की समाज व्यवस्था का अनिवार्य फलित मात्र है, इसीलिए उस सम्बन्ध में किसी प्रकार का सुधार अलग से किया नहीं जा सकता। सुधार की बात सम्पूर्ण सामाजिक भूमिका में ही सोची जा सकती है। —धीरेन्द्र मजूमदार

घूरेवाली विद्या ?

जब से बाबा ने यह बोलना शुरू किया है कि पढ़ना लिखना सीखा यह बाबा ने गलती की, तब से हमारे शिक्षित लोग सब घबडा गये हैं। इसमें समझने की बात यह है कि हम बीच में हैं मन के रूप में। मनुष्य के सामने सृष्टि खड़ी है, अन्दर परमात्मा है, दोनों के बीच मन है। जब मनुष्य पढ़ना-लिखना सीखता है, तब मन और सृष्टि के बीच पुस्तक खड़ी होती है। सामने सूर्योदय हो रहा है लेकिन वह सूर्योदय चित्र में ही देखना पसन्द करेगा।

चद्रे आह्लादिनी दीप्यमाने चित्रेंदुमालोकयितु क इच्छेत् ?

शकराचार्य पूछ रहे हैं, सामने चन्द्रोदय हो रहा है, वह छोड़कर चित्र में चन्द्रोदय देखने की इच्छा कौन करेगा ? लेकिन आजकल लोग फोटो में ही चन्द्रोदय देखना पसन्द करते हैं।

रामकृष्ण परमहस की कहानी है। उनके पास बहुत विद्वान लोग आते थे। तो उन्होंने एकबार माँ भगवती से प्रार्थना की, कि हे माँ मुझे विद्या दे। रात को सपने मे भगवती ने दर्शन दिया और पूछा, "तुमको क्या चाहिए ?" रामकृष्ण ने जबाब दिया, "मुझे विद्या चाहिए" तब माँ ने, सामने घूरा था, वह दिखाते हुए कहा, "वह विद्या है, ले लो, चाहे जितनी।" रामकृष्ण बोले, 'घूरेवाली विद्या मुझे नहीं चाहिए। घूरा साफ करनेवाली विद्या चाहिए।" ऐसी कहानी है। लिखने पढ़ने का भी एक फायदा है लेकिन वह गौण है मुख्य नहीं। (मैत्री फरवरी '७३ से साभार) —विनोबा

रामचरित्र

बिहार में राजकीय बनाम अराजकीय माध्यमिक शिक्षक

नयी तालिम के दिसम्बर (१९७२ अंक में पृष्ठ १ से पृष्ठ ६ तक) प्रकाशित डा० जयदेव के विचार "बिहार के राजकीय बनाम अराजकीय माध्यमिक शिक्षक" के सन्दर्भ में मेरे विचार निम्न हैं

भारत में आधुनिक शिक्षा के इतिहास को नहीं दुहरा कर मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'राजकीय एव अराजकीय' अंग्रेजो के द्वारा 'फूट डालो एव शासन करो' की नीति की उपज है। प्रारम्भ से ही अंग्रेजों ने इस देश में ऊँच-नीच, बड़े छोटे, सवर्ण अवर्ण, गरीब-अमीर, शासक शासित एवं शोषक शोषित की दीवारें खड़ी की। राजकीय जिला स्कूल ऑफिसर एव उच्च वर्ग के लिए ही खुला था। साधारण नागरिक, जन-जीवन से तो उसको कोई मतलब नहीं था। क्या जनतांत्रिक भारत में आजादी के पचीस वर्ष पूरे होने तक भी हम उसी पद्धति एव नीति से चलेंगे ? अब स्वतन्त्र देश में सभी नागरिक समान हैं, सबों को समान अवसर मिलना चाहिए। समान काम के लिए समान सुविधा मिलनी चाहिए। क्या मात्र नारा लगाने से ही लोकतांत्रिक समाजवाद

स्थापित होगा ? हमारा जीवन सामाजिक हो। लोकतन्त्र तो एक जीवन-पद्धति है—सत्य-अहिंसा, प्रेम और सेवा एवं साहचर्य हमें जीवन में उतारना है।

जैसा कि स्वयं डा० जयदेव ने कहा है, 'आर्थिक विपन्नता एवं विवशता दोनों के लिए समान है।' मैं उसको और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। एक ओर एक लाख से ढाई लाख रुपये वार्षिक व्यय, दूसरी ओर सर्व सम्पन्न अराजकीय विद्यालय पर पचास हजार रुपये मात्र। सत्य तो यह है कि जितना वेतन एवं अन्य सुविधाएँ राजकीय विद्यालय के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को प्राप्त है उतना वेतन एवं उस प्रकार की सुविधाएँ अराजकीय विद्यालय के शिक्षकों को भी नहीं। इस विषमता का औचित्य क्या है ? एक एम० ए० पास अराजकीय विद्यालय में एक सौ या एक सौ पचास रुपये पर काम करता है—वह भी समय पर नहीं मिलता—वहीं एक एम० ए० पास राजकीय विद्यालय में तीन सौ से पाँच सौ रुपये पाता है और प्रत्येक महीने की पाँच तारीख तक तो अवश्य पा लेता है। इसके अतिरिक्त राजकीय शिक्षकों को आवास एवं चिकित्सा की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं—कुछ शिक्षकों के लिए तो यह भी आय का स्रोत बन गया है। डॉक्टर, दूकानदार एवं शिक्षक मिलकर व्यापार धड़ल्ले से चलाते हैं—मरती है बेचारी गूँगी जनता। दूसरी ओर अराजकीय शिक्षक एवं उनके बच्चे दवा के अभाव में तड़प कर रह जाते हैं।

बिहार में माध्यमिक शिक्षा का दायित्व निश्चित रूप से अराजकीय शिक्षकों एवं शिक्षण-संस्थाओं पर है।

जहाँ तक अराजकीय को राजकीय या राजकीय को अराजकीय बनाने का प्रश्न है—वह तो सुविधाएँ देने एवं विषमताओं को मिटाने से जुड़ा हुआ है। मात्र नाम बदलने से नहीं। विचारणीय प्रश्न है कि बिहार टेक्स्ट बुक कमिटी द्वारा प्रकाशित पुस्तकें—चाहे वह निम्नकोटि की हो क्यों न हो—पूरे बिहार के सभी विद्यालयों के लिए अनिवार्य है और वह टेक्स्ट बुक कमिटी पूर्णरूपेण सरकारी संस्था है। क्या यह जनतन्त्र के लिए सच्चे एवं स्वतन्त्र लोक-मानस के लिए खतरा नहीं है ?

एक ही डी० पी० आई०, आर० डी०डी० एवं एस० डी० ई० ओ० दोनों विद्यालयों के कर्ताधर्ता हैं—तो फिर या तो सरकार सभी विद्यालयों पर से अपना नियन्त्रण हटा ले, जो शायद वह नहीं चाहती है, और नहीं, तो दोनों को समान सुविधाएँ प्रदान करे—चाहे उसके लिए केन्द्र से जूझना ही क्यों न पड़े। एक बात की ओर मैं डा० जयदेव एवं अन्य बन्धुओं का ध्यान दिलाकर अपनी

बात समाप्त करता हूँ। बिहार के महा विद्यालयों में भी विद्यालयों की तरह ही वेतन एवं अन्य सुविधाओं की विषमता अंगीभूत एवं सम्बद्ध महाविद्यालयों के नाम पर वर्षों से चली आ रही थी। जब सारे बिहार में सम्बद्ध महाविद्यालय के शिक्षकों को मात्र दो सौ रुपये से साढ़े सात सौ और कहीं-कहीं तो दो सौ से पाँच सौ का वेतनमान था—तो कस्टीच्यूएण्ट कालेजों को सरकार ने यू० जी० सी० का चार सौ से आठ सौ का वेतनमान देना शुरू किया। बिहार के सम्बद्ध कालेजों के शिक्षकों के लिए यह अपमानजनक एवं असह्य था—अतः १९६७ में समान काम के लिए समान वेतन की माँग की गयी। सरकार ने सैद्धान्तिक रूप में इसे स्वीकार किया। पुनः उसे कार्य रूप देने के लिए १९७० में हड़ताल एवं सत्याग्रह के माध्यम से चार सौ से नौ सौ पचास का वेतनमान सभी सम्बद्ध महाविद्यालयों को सरकार ने देना स्वीकार किया। १९७२ में भी हमने सरकार से स्पष्ट रूप से सभी सम्बद्ध महाविद्यालयों को कस्टीच्यूएण्ट बनाने की माँग की—सरकार ने समझौता द्वारा समय पर एवं समान वेतन की माँग स्वीकार की—जिस पर तीन करोड़ रुपये व्यय होंगे।

यह तो सभी जानते हैं कि जब तक इस देश के शिक्षक भूखे है, शिक्षण-संस्थाएँ विपन्नावस्था में है—तब तक देश का विकास सम्भव नहीं। अतः जहाँ अन्य मदों में अरबों रुपये पानी की तरह बहाया जाता है, वहाँ मनुष्य-निर्माण में करोड़ पर भी कदम क्यों नहीं बढ़े ?

शिक्षा में परिवर्तन के सम्बन्ध में जिस बात को गांधीजी ने १९३७-३८ में तथा विनोबा ने १९४७ में कहा, उसे कल-परसों गांधीग्राम में दीक्षान्त-समारोह में बोलती हुई प्रधान मंत्री इन्दिराजी ने भी स्वीकारा। उन्होंने कहा कि २५ वर्ष पूर्व शिक्षा में परिवर्तन नहीं करके लोगों ने एक बड़ी गलती की।

अन्ततः एक बात और, वह यह कि आज सभी शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षा की तरह ही अनुत्पादक हैं। अतः प्रत्येक शिक्षक को प्रत्येक शिक्षण-संस्था के लिए कोई-न-कोई उत्पादक श्रम-प्रधान कार्यक्रम स्वीकार करना चाहिए। शिक्षकों को भी जनतांत्रिक ढाँचे में उतरना चाहिए—समाज के मार्गदर्शक आदर्श उन्हें ही बनना है। आचार्यकुल, तरुण-शान्तिसेना, लोकसेवक तथा एक शिक्षक के नाते ही मैंने अपने कुछ विचार यहाँ पर रखे।

"सा विद्या या विमुक्तये"

---

*व्याख्याता, अंग्रेजी विभाग, हरिसिंह महाविद्यालय,
हवेलीखड़गपुर, मुंगेर (बिहार)।

नरेन्द्र दुबे

तीसरी दुनिया की करुण कहानी

(विश्व के चिन्तक विकासशील देशों— जिन्हें तीसरी दुनिया कहा जा रहा है—की समस्याओं का एक अध्ययन, टेक्नालॉजी के वर्तमान स्वरूप और हथियारों के व्यापार के सम्बन्ध में यह चिन्तनीय लेख नयी तालीम के पाठकों के लिए प्रस्तुत है।—सम्पादक)

आज के विश्व में एक अजीब प्रकार का श्रम-विभाजन हो गया है। इस श्रम-विभाजन का स्वाभाविक परिणाम 'अमीरों के लिए शांति और गरीबों के लिए युद्ध' के रूप में हुआ है। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात गत २६-२७ सालों में जितने भी युद्ध हुए हैं, उनका विवरण देना तो कठिन है, लेकिन एक बात निरपवाद रूप से सही है कि ये सारे ही युद्ध तीसरी दुनिया में हा लड़े गये हैं। जाज थेयर ने अपनी पुस्तक—"मर्चेन्ट्स ऑव वार—द इण्टरनेशनल आर्म्स ट्रेड" में लिखा है कि सन् '४५ से अब तक ५५ बड़ी लड़ाइयाँ हुईं और ३०० सौ से ज्यादा फौजी संघर्ष हुए। इन सबने इतिहास को प्रभावित किया है। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि ये सारे ही युद्ध और फौजी संघर्ष तीसरी दुनिया में ही हुए। वस्तुतः यह कोई संयोग या आकस्मिक घटना नहीं वरन्

एक खास ढंग की टेक्नालॉजी और श्रम विभाजन का ही दुखद परिणाम है। इस तथ्य से आम जनता को सावधान करना बहुत आवश्यक है।

औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश या अमीर देश, जिनमें जनसंख्या का घनत्व गरीब देशों की तुलना में बहुत कम है, संहारक हथियारों का निर्माण करते हैं और दूसरे देशों को इस्तेमाल करने के लिए बेचते हैं। सामान्यतः इनको खरीदनेवाले मुल्क गरीब देश ही होते हैं। यद्यपि इस बात की कल्पना ही कठिन है, पर यह सत्य है कि गरीब लोग एक-दूसरे को खत्म करने के लिए अमीरों से साधन खरीद रहे हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन ने "वियतनामीकरण" के नाम से जिस नीति का आविष्कार और अनुसरण किया उसके कारण परिस्थिति और भी विकट बन गयी है। इस नीति के कारण लाशों का रंग बदल गया और तीसरी दुनिया एक दूसरे को मारने के नारकीय कृत्य में उलझ गयी है।

स्विटजरलैण्ड के प्रसिद्ध पत्र "नेशनल जीटुंग" में प्रकाशित श्री रुडोल्फ के एक लेख में अमीर देशों द्वारा नवजात राष्ट्रों को हथियारों के व्यापार में फँसाने के कुचक्र की कटु आलोचना की गयी है। लेख में कहा गया है कि विकसित औद्योगिक देश पहले अपने हथियार इन गरीब देशों को मुफ्त में सहायता के रूप में देना शुरू करते हैं जिससे बाद में ये मुल्क उनके हथियारों के खरीददार बन जायँ। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने १९६१ में जितने हथियार निर्यात किये उनका केवल १८ प्रतिशत ही बिक्री किये गये हथियार थे और शेष अन्य देशों को सहायता के रूप में दिये गये थे। लेकिन सन् '६६ में ही स्थिति बदल गयी और इस वर्ष अमेरिका से निर्यात किये जानेवाले ७० प्रतिशत हथियारों की बिक्री की गयी और अनेक व्यापारिक अनुबन्धों के आधार पर इनका निर्यात किया जाने लगा। लगता है तब से यह प्रतिशत निरन्तर बढ़ रहा है। अमेरिका द्वारा अन्य देशों को निर्यात की जानेवाली युद्ध-सामग्री में ३० गुना वृद्धि सन् १९६३ और १९६७ के चार वर्षों में ही हो गयी थी। (पता नहीं पिछले चार वर्षों में इसमें कितने गुना वृद्धि हुई है।) वस्तुतः जैसे-जैसे छोटे छोटे देश आजाद होते गये वैसे-वैसे हथियारों के मामले में वे अमीर औद्योगिक देशों के चंगुल में फँसते गये। अमीर देशों ने भी अपने हथियारों की बिक्री का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। कभी पुराने हथियारों की भेंट देकर इन्हें प्रभावित किया गया तो कभी ऊँचे सैनिक-प्रशिक्षण का लोभ देकर अपने हथियारों की बिक्री का

बाजार इन गरीब मुल्कों को बनाया गया। एक बार इन छोटे-बड़े विकासशील मुल्कों के पास अपनी फौज हो जाने पर और थोड़े-बहुत हथियार आ जाने पर सहज ही ये देश शस्त्रों की दौड़ में पड़ गये और औद्योगिक देशों के हथियारों के अच्छे खरीददार बन गये। स्टाकहोम स्थित शांति-शोध-संस्थान ने सन् १९६९ के वर्ष के आंकड़े देकर यह बताया है केवल इस एक वर्ष में गरीब देशों ने १४ अरब डालर का व्यय अपनी "राष्ट्रीय-प्रतिरक्षा" पर किया है। यह व्यय गरीबी और बेकारी हटाने और लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए को जानेवाले व्यय से कई गुना अधिक है।

अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि युद्ध-सामग्री के निर्माण से ही विकसित औद्योगिक देशों से पूर्ण रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है। यह बात स्पष्ट है कि यदि युद्ध-सामग्री खरीदनेवाले देश एक साथ इनकी खरीदी बन्द कर दें तो निश्चित ही इनके निर्माता देशों में रोजगार की अत्यन्त गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जायेगी। हथियारों के उत्पादन का चक्र चलाये रखने के लिए यह जरूरी है कि इनकी बिक्री हो और यदि खरीदनेवाले के पास पैसे न हों तो उन्हें उधार बेचा जाय भले ही वे उधारी चुकाने की स्थिति में हों या न हों। यह बात भी कम उल्लेखनीय नहीं है कि ऐसी परिस्थिति में बड़ी उदारता से उधारी दी जाती है।

यद्यपि मौत के सौदागरों का वह जमाना अब चला गया है जब उनके द्वारा बेचे गये हथियारों से वे बहुत मुनाफा कमाते थे। आज हथियारों का सारा व्यापार सभी देशों में सरकारों के हाथ में है। इन सरकारों के वास्तविक हित राजनैतिक है। इसके कारण सरकारों को अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में और परिष्कृत उत्पादन-प्रक्रिया और बड़े-बड़े उद्योग चालू रखने में ही सहायता मिलती है। शांतिकाल में इन उद्योगों के उत्पादन की वास्तविक मांग न रहते हुए भी मात्र रोजगार बनाये रखने और अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाये रखने में ही इन उत्पादन इकाइयों का उपयोग होता है।

यदि हम अपने जमाने की इस भयकर विसंगति से निकलना चाहते हैं तो हमें इन तथ्यों का और परिस्थितियों का सामना करना होगा।

आज एक ओर हमारे पास ऐसा तंत्र है जो जनता की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लिए अक्षम है और सदा कृत्रिम और खतरनाक मांगों की पूर्ति में लगा हुआ है; तो दूसरी ओर अरक्षित आम जनता के भयंकर शोषण से विषम

स्थिति बन रही है। इस शोषण के कारण अनेक हिंसक विस्फोट होते हैं जिनसे निपटने के लिए पुन हथियारो का उपयोग करना पडता है। कभी कभी इनके सुविधा प्राप्त वर्ग के स्वार्थों की रक्षा की जाती है तो कभी सामाजिक याय के नाम पर इनका उपयोग होता है। यह एक एसी दु खद स्थिति है जिसमें से निकलने का कोई रास्ता नही सूझ रहा है ।

इस दु खद और विषम परिस्थिति का बहुत बडा कारण आज की औद्योगिक टेक्नालाजी है। एसा लगता है मानों हमने आज की टेक्नालाजी के सामने आत्मसमर्पण कर दिया है और उसके अनुसार ही अपने को ढालने का प्रयास कर रहे हैं। यह एक प्रकार की यत्रों की गुलामी है। जहां तक हथियारो का प्रश्न है इस टेक्नालाजी ने एसा श्रम विभाजन कर दिया है कि गरीबो के लिए युद्ध और अमीरो के लिए शाति और समृद्धि भोगना रह गया है। दूसरे क्षत्रो में इस टेक्नालाजी ने सब प्रकार के प्रदूषण की विकट समस्या पैदा कर दी है। वस्तुत इसका एक ही विकल्प है। हम लोगों को बुनियादी और वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नयी टेक्नालाजी का विकास और प्रसार करना होगा। आज की विसगतियों और निहितस्वार्थों के विरुद्ध यह क्रान्ति हमें करनी होगी। टेक्नालाजी में परिवर्तन के लिए सारे विश्व में महान क्रान्ति का आह्वान करने की आवश्यकता है। (सप्रेस के सौजन्य से)

२१ वाँ अखिल भारत सर्वोदय समाज सम्मेलन, कुरुक्षेत्र की तारीखों में परिवर्तन

सम्मेलन सम्बन्धी पहली सूचना में २१ वां अखिल भारत सर्वोदय समाज सम्मेलन ता० २२ से २४ अप्रैल १९७३ को कुरुक्षेत्र में होगा ऐसा घोषित किया था। परन्तु कार्यक्रमो में कुछ परिवतन होने से सम्मेलन की तारीखो में भी थोडा बदल करना जरूरी हो गया है।

अब सम्मेलन ता० ११ से १४ अप्रैल १९७३ को होगा। ता० ११ अप्रैल को दोपहर २-३० बजे सम्मेलन प्रारम्भ होकर ता० १४ अप्रैल १९७३ को दोपहर १२ बजे समाप्त होगा।

गोपुरी वर्धा (महाराष्ट्र)
दिनांक २१-२-१९७३

युवा आक्रोश : भविष्य क्या है ?

संतोष भारतीय

आज जीवन की प्रत्येक दिशा से केवल एक ही बात उभर कर सामने आती है—और वह है असुरक्षा। सीमाओं की असुरक्षा, राष्ट्र की असुरक्षा, आनेवाली पीढ़ी की असुरक्षा। कौन-सी चीज है जो इस देश में सुरक्षित है ? बाजारों में इस नयी पीढ़ी को काला बाजारी और भ्रष्टाचार करनेवालों से सामना करना पड़ता है। सरकारी दफ्तरों में रिश्वत खोरी और जी-हुजूरी का सामना करना पड़ता है। विद्यालयों में उसे गैर-जिम्मेदार अध्यापकों का सामना करना पड़ता है, और इस सारी कुव्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने पर उसे पुलिस के डण्डों का तो सामना करना पड़ता ही है। समाज के हर मोर्चे पर उसे पीड़ा और निराशा के अलावा और कुछ नहीं मिलता। इस देश की नयी पीढ़ी के साथ इससे बढ़कर मजाक और क्या होगा कि जब वह असंतोष में घुटकर जीती है, तब कहा जाता है कि उसमें अनुशासनहीनता बढ़ गयी है। आज हम यह देखते है कि युवा वर्ग असंतोष में है, न कि युवा असंतुष्ट है।

ध्यान से देखें तो युवा असंतोष एवं अनुशासनहीनता का दायित्व इस देश के गतिहीन समाज पर है। बीसवीं सदी का कोई भी जागरूक नवयुवक इस सामाजिक शोषण से अपनी आंख नहीं मूंद सकता, जिसमें किसान बाप, जो

अपने खून-पसीने से सींच कर इस देश की धरती को सजाता है, सवारता है, उसके साथ न्याय नहीं होता; उसका मजदूर भाई, जो किसी मिल में इस्पात को पानी की तरह सांचे में ढाल रहा होता है, उसके साथ न्याय नहीं होता। इस देश का विद्यार्थी उस कड़आहट को भी नहीं पचा सकता, जिसमें उसकी माँ की बीमारी और बहन की दम तोड़ती हुई जवानी से घुटे वातावरण में उसे अपनी शिक्षा जारी रखनी पड़ती है। असन्तोष तब झलकता है जब किसी विद्यार्थी को अपनी फीस भरने के लिए अपनी माँ के कंगन बेचने पड़ते हैं। ऐसी आर्थिक और सामाजिक विषमता में युवा वर्ग की धमनियों में आक्रोश एवं असन्तोष का संचार होना स्वाभाविक ही है।

इस स्वाभाविक असंतोष का अस्वाभाविक इस्तेमाल आज वे लोग कर रहे हैं जो इस समाज को टिकाये रखना चाहते हैं। ऐसे लोग आज धार्मिक संस्थाओं में हैं, सेवा-संस्थाओं में हैं तथा सबसे ज्यादा संख्या में राजनीतिक दलों में हैं। वर्तमान सामाजिक स्थिति से विक्षुब्ध नवजवानों का असंतोष निहित स्वार्थों को टिकाये रखने में अनजाने ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। विडम्बना तो यह है कि आज नवजवान स्वयं विभक्त हो गया है, कहीं जाति के नाम पर, कहीं धर्म के नाम पर, कहीं गरीब के नाम पर, तो कहीं किसान और मजदूर के नाम पर।

जब तक यह नकली बँटवारा नहीं समाप्त होगा, और नवजवान, नवजवान के नाम पर नहीं एकत्र होगा, तब तक यह व्यवस्था चलती रहेगी। अतः आज एक बड़ी उथल-पुथल की आवश्यकता है।

इस उथल-पुथल में से क्या निकलेगा ? यह मुख्यतः उस विकल्प के ऊपर निर्भर करेगा जिसके लिए संघर्ष शुरू होगा। जरूरत इस बात की है कि तोड़नेवाली शक्तियों को समाप्त किया जाय और ठोस माँगों के ऊपर क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू किया जाय। तब, और केवल तब ही, नवजवानों के विराट समुदाय के सामने भविष्य का साफ नक्शा उभरेगा।

[एक तरुण की उक्त अभिव्यक्ति को प्रकाशित करके हम एक परिचर्चा शुरु करना चाहते हैं जिसका विषय यही होगा—'युवा आक्रोश : भविष्य क्या है ?' हम आशा करते हैं कि राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ के इस ज्वलंत विषय पर नयी तालीम के प्रबुद्ध पाठक अपना विचार इस परिचर्चा के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ भेजेंगे।—सम्पादक]

विनोबा

हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के लिए नागरी लिपि मान्य हो

जिन कारणों से सबकी बोली के तौर पर हिन्दी को मान्यता दी गयी, उन्हीं कारणों से नागरी को सबकी लिपि के तौर पर मान्यता मिलनी चाहिए। लेकिन अभी तक वैसी मान्यता नहीं मिली। राष्ट्रभाषा हिन्दी नागरी में लिखी जायेगी। इसमें कोई द्विविधा नहीं। लेकिन हिन्दुस्तान की अन्यान्य भाषाएँ भी नागरी में लिखी जायें, यह निर्णय अभी होने का बाकी है। वैसा निर्णय होने पर दूसरी भाषाओं के लिए आज जो लिपियाँ चल रही हैं उनका निषेध नहीं होगा। वे लिपियाँ भी चलेंगी, इतना ही निर्णय का अर्थ होगा।

कुछ लोग यह स्थान नागरी को देने के बजाय रोमन को देने का सुझाते हैं। मैंने इस पर बहुत सोचा है और तटस्थ भाव से सोचा है। रोमन लिपि में अनेक गुण हैं इसमें कोई शक नहीं। लेकिन इसमें भी शक नहीं कि उसमें अनेक दोष भी हैं। और वे दोष इतने समर्थ है कि उनसे तंग आकर बर्नार्ड शा ने अंग्रेजी के लिए नयी लिपि का आविष्कार चाहा। और उसके लिए अपनी 'इस्टेट' में से कुछ पैसा भी रखा। बर्नार्ड शा की माँग के अनुसार जो लिपि सुझायी गयी उसका नमूना अभी 'लन्दन टाइम्स' में मुझे देखने को मिला। तो क्या पाया ? रोमन के साथ जिसका कुछ भी साम्य नहीं, ऐसी लिपि वह थी, और उसमें नागरी के गुण लाने की चेष्टा की गयी थी। और उधर हमारे लोग हिन्दुस्तान की भाषा के लिए रोमन लिपि सुझाना चाहते हैं।

इसके मानी यह नहीं कि नागरी परिपूर्ण लिपि है, या उसमें सुधार की गुंजाइश नहीं। नागरी लिपि में सुधार की जरूरत है ऐसा माननेवालों में मैं भी शुमार हूँ। और 'लोक-नागरी' लिपि मेरे नाम से लोगों को थोड़ी बहुत

अवगत भी हो गयी है। लेकिन नागरी में सुधार किये विना आज की हालत में वह देश की भाषाओं के लिए लागू नहीं हो सकती, या लागू नहीं करनी चाहिए, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ, बल्कि पहिले नागरी सुधारी जाय और बाद में वह भारतीय भाषाओं में लागू की जाय, इस विचार में मैं खतरा देखता हूँ। आज की हालत में भी नागरी भारतीय भाषाओं के लिए चल सकती है और चलनी चाहिए, ऐसी मेरी राय है। और तदनुसार मैंने 'गीता प्रवचन' के अनेक भाषाओं के तर्जुमे नागरी लिपि में छपवा दिये हैं। उनका उपयोग करके *अनेक भाषाएँ आसानी से सीख सकते हैं, ऐसा भी अनुभव आया है।*

अगर हमने नागरी को भारत भर में चलाया तो आगे जाकर उसका भारत के बाहर भी उपयोग होने का सम्भव मैंने देखा। मिसाल के तौर पर मेरी पदयात्रा के दरम्यान भिक्षु जापानी इमानी के पास से मुझे जापानी भाषा सीखने का मौका मिला तो मैंने देखा कि जापानी भाषा की रचना हिन्दुस्तान की भाषाओं के समान है। यानी पहिले कर्ता, पीछे कर्म, अन्त में क्रियापद। यह हमारा वाक्य विचार और शब्दयोगी अव्ययसंज्ञा के बाद में लगाने का हमारा सम्प्रदाय जापानी भाषा में चलता है। जापानी लोग नयी लिपि *की तलाश में हैं, क्योंकि उनकी लिपि जो चित्रलिपि है और असंख्य चित्रों* से बनती है, प्रचार के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। ऐसी हालत में अगर नागरी अपने देश में हम चलायें तो जापानी के लिए भी वह चलेगी, ऐसा सम्भव है। यही बात चीनी भाषा को भी लागू है। इस तरह नागरी एशिया के पूर्व भाग की लिपि आसानी से बन सकती है। लेकिन उतनी व्यापक वह बने *या न बने, भारत भर में वह चले तो भी हमारा बहुत कुछ काम बन जायेगा।*

यहाँ सवाल हो सकता है कि अगर ऐसे मेरे विचार हैं, तो नागरी लिपि में सुधार पेश करके लोक-मानस को क्या मैंने द्विविधा में नहीं डाला? यह आक्षेप मुझ पर लागू हो सकता है यह मैं कबूल करता हूँ और इसीलिए सफाई के वास्ते मैंने यह लेख लिखा है। लिपि सुधार का मेरा सुझाव है, आग्रह नहीं। लिपि 'प्रचार' का मेरा आग्रह है। 'आग्रह' के मानी यह न समझा जाय कि वह मैं किसी पर लादना चाहूँगा। लादनेवाली बात अहिंसा में आती ही नहीं, यह तो सब समझ सकते हैं।

अनूपशहर : २३-४-६०

त्रिलोकचन्द्र

सर्वोदय-शिक्षा-दर्शन

[श्री डाबरियाजी की स्मृति में आयोजित व्याख्यानमाला के क्रम में गांधी विद्यालय, गुलाबपुरा में सर्वोदय-शिक्षा-दर्शन के सम्बन्ध में श्री त्रिलोकचन्द्र, मंत्री, राजस्थान समग्र सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत विचार । —सम्पादक]

अभी जो समय बीत रहा है वह देश के शिक्षा-जगत के लिए संक्रान्ति काल है। परिवर्तन का युग है। इसलिए बड़ा संवेदनशील है। इस समय सारे राष्ट्र में शिक्षा के बारे में बड़ी तेजी से चिन्तन चल रहा है। क्योंकि देश का सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्र ज्वालामुखी के कगार पर खड़ा है। यह विस्फोटक स्थिति से गुजर रहा है। लेकिन दुख इस बात का है कि यह विषम स्थिति कोई शिक्षा-क्रान्ति की प्रसव-वेदना नहीं है। बल्कि पिछले २५ वर्षों में प्रचलित शिक्षा-नीति के दुष्परिणामजन्य निराशा, अंधकारमय भविष्य के आक्रोश के स्फुलिंग हैं, जो सारे समाज को भस्म कर देने के लिए दिनो-दिन भयंकर रूप लेते जा रहे हैं। यदि इसके गर्भ में नव-सृजन की प्रेरणा होती, उमग होती तो नव संस्कृति के स्फुरण की उल्लासपूर्ण अरुणिमा समाज के क्षितिज पर प्रदीप्त किये हुए होती। चारों ओर आशा के स्थान पर आनन्द की लहरें हिलोरे लेती। किंतु शिक्षा-जगत तो आज एक विषम एवं गम्भीर परिस्थिति से गुजर रहा है।

मैं सर्वप्रथम एक बात का स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ कि शिक्षा एक कला है। संस्कृति के सृजन की प्रक्रिया है। पद्धति है। शिक्षा कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं है। वह नव-संस्कृति के उद्‌भव के लिए सापेक्षिक परिकल्पना है, परियोजना है। इसलिए किसी भी प्रकार के शिक्षा-सयोजन की कल्पना करने के पहले उसके उद्देश्य तथा उसके पीछे के समाज-दर्शन का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसका हमारे विचारों के परिष्करण, नव-संस्कारों के निर्माण से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए जो शिक्षा के बारे में सोचते हैं, उनकी प्रथम निष्ठा मनुष्य में, मनुष्य की विचार-शक्ति में और विचार-

परिवर्तन एवं संस्कार-संशोधन में गहरी होनी चाहिए। जिसकी निष्ठा मनुष्य की विचार-शक्ति पर न हो और किन्हीं बाह्य उपकरणों, शास्त्रों इत्यादि पर हो, तब शिक्षा का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। भय अज्ञान का द्योतक होता है, उससे ज्ञान की प्रसूति नहीं हो सकती है। इसलिए जिस समाज-दर्शन में श्रद्धा मानव की विचार-शक्ति पर है वहीं शिक्षा की बड़ी महत्ता है। क्योंकि वहाँ शिक्षा समाजक्रान्ति का माध्यम है। इसलिए जिस समाज-दर्शन का वैचारिक-क्रान्ति में विश्वास है, वहाँ शिक्षा समाज-परिवर्तन के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित होती है। भय और दण्ड से मुक्त समाज में नये मूल्यों की स्थापना और परिस्थिति परिवर्तन के लिए शिक्षा ही एक सबल साधन है। सर्वोदय-समाज-दर्शन नव संस्कृति के सृजन के लिए शिक्षा को ही एकमात्र क्रान्ति का साधन समझता है। इसलिए उसकी लोक-शिक्षा में गहरी श्रद्धा है।

सर्वोदय-समाज के शिक्षा-दर्शन को समझने के लिए सर्वोदय-संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों से परिचित होना होगा। क्योंकि उसमें ही नयी तालीम के तत्व अन्तर्निहित हैं। सर्वोदय-विचार एक ऐसे अहिंसक समाज-रचना की परिकल्पना करता है, जो वर्ग एवं शोषण मुक्त हो, स्वातंत्र्य एवं समतायुक्त हो। जहाँ पारस्परिक सहयोग हो और जिसकी रचना विकेन्द्रित हो। राष्ट्र-निर्माण की बेला में एक सुनिश्चित एवं स्पष्ट समाजदर्शन की आवश्यकता होती है। जो राष्ट्र की आकांक्षाओं का प्रतीक हो और उसके पुरुषार्थ को सतत जागृत रखता हो। आज हमारे सामने हमारी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि उसे समाज की गहराइयों तक ले जाने का प्रश्न है ताकि सबको उसकी प्रतीति हो सके। उसके साथ सर्वोदय-विचार के समग्र पारस्परिक सहयोग एवं प्रेम की शक्ति पर आधारित मानवीय मूल्यों से अनुप्रेरित अहिंसक संस्कृति के निर्माण का प्रश्न है। अत शिक्षा की ऐसी तजवीज चाहिए, जिससे बालकों के मनों में उन सांस्कृतिक चेतनाओं का विकास हो सके, जिससे समाज में प्रेम एवं मानवीय सहानुभूति से अनुप्रेरित उत्साह एवं पुरुषार्थ का नया वातावरण पैदा हो सके। नयी जिज्ञासाओं और कल्पनाओं का सागर हिलोरें ले सके।

स्पष्ट है कि ऐसी संस्कृति के विकास के लिए समग्र दृष्टि एवं सन्तुलित व्यक्तित्ववाला मानव चाहिए। नव संस्कृति के लिए नयी तबीयतवाला इनसान चाहिए। ऐसा इनसान, जिसके मन-बुद्धि एवं शरीर समन्वित रूप से

विकसित हो, जो ज्ञान, कर्म एवं शक्ति का समान उपासक हो। ऐसे अविभक्त एवं सन्तुलित व्यक्तित्व एवं समग्र दृष्टिवाले मानव का निर्माण ही सर्वोदय-शिक्षा विधि का बुनियादी दर्शन है। उनके सामने बालक खड़ा है, विशाल प्रकृति के मध्य, अपनी नैसर्गिक रुझानों के साथ, अपने जीवन-विकास के तत्वों को लेकर। सर्वोदय शिक्षा दर्शन मानता है कि प्रकृति और समाज का परिवेश ऐसा होना चाहिए जिसमें हर बालक अपनी प्रतिभा के विकास के लिए निर्बाध अवसर प्राप्त करता चला जाय। जीवन की कला का सजोता चला जाय। यदि कहीं भी विकारों का उभार हो, अवाछनीय एवं असस्कृत वृत्तियों का आक्रमण हो और बालक के व्यक्तित्व में असन्तुलन पैदा करती हो, उसको विभक्त करती हो, तो शिक्षा की परियोजना ऐसी हो, शैक्षणिक वातावरण की खूबी ऐसी हो कि वृत्ति परिशोधन तथा वृत्ति-सस्करण की प्रक्रिया सहज सध जाय। इस प्रकार शिक्षार्थी अपनी मन, बुद्धि और शरीर, तीनों शक्तियों का समन्वित विकास करता हुआ, शैक्षणिक वातावरण में मुक्त विचरण करता हुआ, अपनी प्रतिभा के विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर सके। यही सर्वोदय शिक्षा नीति का शिक्षाक्रम है।

सर्वोदय विचार ने जिस नयी शिक्षा की कल्पना की है, वह जीवन के साथ समन्वित है। एक प्रकार से वह एक जीवन-शिक्षा है। जिसका शिक्षाक्रम प्रकृति और समाज से अनुबंधित है। विनोबाजी के अनुसार ऐसे शिक्षाक्रम के तीन आधार हो सकते है। एक योग, दूसरा उद्योग और तीसरा सहयोग। नयी तालीम शिक्षाक्रम मोटे तौर से ये तीन मुख्य आधार हैं। ज्ञान की साधना और उसकी प्राजलता के लिए आज योग साधना की आवश्यकता है। आज मानस को विज्ञान द्वारा उपलब्ध साधनों के कारण हर रोज कितने घात प्रत्याघात सहन करने पडते हैं? हर समय मानसिक तनाव की स्थिति रहती है। कितने ही आकर्षण हैं। रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, पत्र पत्रिकाएँ इतने द्रुत साधन है जो सतत समाज-शिक्षण कराते रहते है। जिनका मानस और आँखों पर दुर्निवार आक्रमण होता है। इसलिए आज बुद्धि की निर्मलता व शुद्धता दुर्लभ हो गयी है। जिसके लिए मानसिक अनुशासन की आवश्यकता है। एक सबल, सक्षम एवं स्वस्थ मानस की आवश्यकता है। जो शाश्वत मूल्यों के प्रति अनुकूल रह सके। मनुष्य में सद्ज्ञान का विकास हो, वह भी सहजगति से हो, उसकी जिज्ञासाएँ जागृत रहे, कुतूहलता बराबर बनी रहे, जिससे नयी-नयी बातें जानने की जिज्ञासा प्रखर होती जाय। ताकि नवीन

नान की प्राप्ति के लिए मानस सन्त उन्मुख रहे। इस प्रकार की मानसिक शक्ति के लिए योग की आवश्यकता है।

इसी प्रकार मनुष्य की श्रम शक्ति का भी पूरा विकास होना चाहिए। श्रमशक्ति का विकास हो श्रम का शोषण न हो और श्रम की प्रतिष्ठा बढ़े यह सर्वोन्य विचार की मान्यता है। श्रमशक्ति मानव की गत्यात्मक शक्ति है। शरीर जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इसलिए मानस के साथ उसका भी विकसित होना आवश्यक है। अत श्रम शक्ति के विकास की योजना भी शिक्षाक्रम का होना चाहिए। मनुष्य की अगुलियों में प्रकृति ने जो अद्भुत और अपार शक्ति दी वह अद्वितीय है। इसलिए इस शक्ति को विकसित कर इससे जीवन उर्जा अर्जित कर सकें ऐसा शिक्षाक्रम होना चाहिए। इससे जीवन में आत्म प्रत्यय स्वावलम्बन प्राप्त होना। इससे बालक में सृजनात्मक गुणों का विकास होगा। इसलिए उत्पादक उद्योग नयी तालीम के शिक्षाक्रम का मुख्य आधार है। जो शिक्षक लोग कृषि का प्रत्यक्ष काम करते हैं केवल कार्यानुभव से काम नहीं चलाते हैं उन्हें हर रोज प्रकृति के बीच रहकर उसके सौरभपूर्ण ऐश्वर्य का दर्शन करने का अवसर मिलता है। वे जानते हैं कि प्रकृति कितनी रहस्यमयी है और वह हर क्षण नूतननान अनावृत करती रहती है। जिससे व्यक्ति आश्चर्यान्वित हो उठता है। आत्म विभोर हो जाता है। यह श्रमशक्तिजनित सजनशीलता की महिमा है। उसका विभूतियोग है। श्रमशक्ति के माध्यम से जिस परिष्कृत रचनात्मक एव उपयोगी नान का विकास होता है वह मानव के व्यक्तित्व को सौरभपूर्ण बनाता है। यदि उद्योग शिक्षा के साथ नहीं जुड़ता है तो उद्योग से केवल उसमें कुशलता आ सकती है किंतु मानवीय गुणों का विकास नहीं हो सकता है। जीविका का साधन ऐसा होना चाहिए जिससे मनुष्य की मनुष्यता का विकास हो। यह शिक्षा का सांस्कृतिक पहलू है। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से मुक्त उद्योग के विकास से जीवन में व्यापक दृष्टिकोण साझेदारी तथा सहकारिता की भावना का विकास होता है। यह शैक्षणिक उद्योग का सन्दर्भ है।

यदि श्रम का तत्व शिक्षा में दाखिल नहीं होता है तो जो ज्ञान मिलेगा वह परोक्ष विद्या होगी। परोक्ष ज्ञान जीवन में पुरुषार्थ की प्रेरणा नहीं दे सकता। उद्योग से शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का विकास होता है और सृजन के आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए नयी तालीम में श्रम और ज्ञान

का अनुबंध है। यहाँ विद्यालयों और कारखानों का समवाय है। ज्ञान एवं कर्मयोग की सह साधना है। इस प्रकार ज्ञान और श्रम का समन्वय नयी तालीम शिक्षा क्रम का प्रमुख तत्व है।

सर्वोदय-शिक्षा-दर्शन का तीसरा तत्व है मन की शक्ति का विकास। जब तक मानवीय गुणों व सद्संस्कारों का विकास नही होता है, तब तक व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास नही होता। वह सामाजिक नही हो सकता है। उसमें प्रेम, करुणा, सहानुभूति और सहकारिता की उदात्त भावनाएँ विकसित नहीं हो सकती। पारस्परिक सहयोग की भावना स्फुरित नही हो सकती। हमारा देश विविध जातियों, धर्मों, मान्यताओं, संस्कृतियों, भाषा-भाषियों और प्रदेशों में विभक्त है। यदि मन की विशालता और हृदय की उदारता का विकास नही होता है तो हम अधिक वर्षों तक एक होकर नही रह सकेंगे। विज्ञान ने साधनों की जो प्रचुरता मानव समाज के सामने रख दी है और समृद्धि की विपुलता का जो दुर्निवार आकर्षण पैदा किया है, उसका सदुपयोग पारस्परिक सहयोग की उदात्त भावना के बिना असम्भव है। इसी प्रकार बालक का सहज रूझान गुणों के विकास की ओर हो, उसमें विनम्रता, शालीनता के संस्कार विकसित हों, इसके लिए शिक्षाक्रम की योजना ऐसी हो, जिससे सहजीवन और सहअस्तित्व की भावना का विकास हो, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्द्धा के तत्व तिरोहित हों, विद्वेष, तिरस्कार घृणा के स्थान पर प्रेम और करुणा के अंकुर प्रस्फुटित हों। यह सर्वोदय शिक्षण संयोजना का धर्म है। क्योंकि हर बालक दैवी सम्पदा है। छोटे परिमाण में है, बीज रूप में है, जिसमें पूर्णता की गुंजाइश है। शिक्षा-विधि का काम उसको ढूँढना और उसको पूर्णता के विकास की राह पर लगा देने का है।

इस विज्ञान के युग की माँग है कि परस्पर मित्रता, अक्रोध और निर्वैर भावना का अधिकाधिक विकास हो। मैत्री इस युग की आकांक्षा है। मनों की संकीर्णता आज दुनिया में प्रलय को आह्वान कर रही है। इसलिए जीवन के प्रति सम्मान की भावना में ही मानव सभ्यता की सुरक्षा है। समाज के ये ज्वलंत प्रश्न हैं, जो शिक्षा शास्त्रियों को चुनौती दे रहे हैं। इसलिए सहयोगी संस्कृति का निर्माण और उसके लिए बालक के हृदय का विकास, यह सर्वोदय-शिक्षा-नीति का नैतिक पक्ष है। जो अहिंसक शक्ति के उद्गम का स्रोत है।

इस प्रकार सर्वोदय-शिक्षा-दर्शन बालक के संवादी व्यक्तित्व के विकास का विचार है, बालक की नैसर्गिक शक्तियों का सुसंवादी विकास। इस प्रकार सुसंवादी व्यक्तित्व का बालक शिक्षित होकर जन-समन्वित व्यक्तित्ववाला

नागरिक बनेगा, तब सन्तुलित समाज का निर्माण होगा और सर्वोदय संस्कृति का उद्भव। इससे स्पष्ट है कि यह शिक्षण विधि कोई बंधी-बंधाई परम्पराओं, एवं रूढ़िग्रस्त शैक्षणिक विधियों द्वारा परिचालित शिक्षण-योजनाओं, निश्चित पाठ्यपुस्तकों के आधार पर नहीं चल सकती है। नयी तालीम के शिक्षक को विशाल प्रकृति और सामाजिक परिवेश के मध्य हर रोज शिक्षण का पाठ्यक्रम बनाना पड़ेगा। यह एक मुक्त विचार है। मुक्त प्रवाह है। शिक्षक जब वर्ग में जाकर खड़ा होता है, बालकों का जो समूह उसके सामने होता है, वह अनेक प्रकार की रूझानों, विविध वृत्तियों एवं संस्कारों को लेकर खड़ा होता है। विविध प्रकार की जिज्ञासाओं का पारावार उमड़ता हुआ होता है। हर रोज नव-रूपी प्रकृति की गोद से और नवीन सामाजिक घटना-चक्रों से घूमते हुए बालक एक शिक्षक के सामने वर्ग में सामूहिक रूप में खड़े होते हैं। तब पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकें, समय-विभाग अपर्याप्त और क्षुद्र, निरूपयोगी मालूम होते हैं। बालक का व्यक्तित्व कितना विराट, उसका व्यक्तित्व कितना बहुंमुखी और विशाल होता है जिसे निर्धारित एवं परिचालित पाठ्यक्रमों की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। शिक्षक का विशाल दृष्टिकोण उसकी उमड़ती हुई असीम कल्पनाओं और ज्ञान की स्वयं-स्फूर्त एवं वैविध्यपूर्ण स्फुरणाएँ ही उनको संस्कृत कर सकती हैं।

सत्य जीवन का लक्ष्य हो, संयम जीवन की स्फूर्ति और सेवा जीवन का धर्म हो। बालकों के ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण के लिए जो भी शिक्षा-पद्धति हो, वही सर्वोदय-शिक्षा नीति है। इसलिए सर्वोदय-विचार, शिक्षाक्रम, शिक्षक और शिक्षणालयों की स्वतंत्रता का समर्थक है जो न्यायपालिका की तरह सरकार-मुक्त शिक्षा-व्यवस्था का हामी है।

इस प्रकार नयी तालीम स्वतंत्रता, समता एवं सहयोग पर आधारित नवीन अहिंसक संस्कृति का निर्माण करना चाहती है। जो भय, भूख, विभेद और अज्ञान से मुक्त हो। इसके लिए समग्र दृष्टिकोण एवं सन्तुलित व्यक्तित्व वाले इनसान चाहिए। ऐसे इनसानों का निर्माण योग, उद्योग एवं सहयोग से अनुबंधित शिक्षा-योजना के जरिए ही हो सकता है। ऐसा सर्वोदय-विचार का विश्वास है। शिक्षा ही इस प्रकार की नवसमाज-रचना की क्रान्ति का वाहन है। इसलिए सर्वोदय-समाज ने जीवन-मूल्यों की क्रान्ति की निष्ठा शिक्षा पर रखी है। इसलिए शिक्षा सर्वोदय-दर्शन की गत्यात्मक शक्ति है।

ब्रह्म सत्यम् जगत स्फूर्ति, जीवनम् सत्य शोधनम्, यह नयी तालीम का बीज मंत्र है। ●

मनुभाई पंचोली

लोकभारती : ग्राम-उच्च विद्या का एक प्रयोग

स्वर्गीय श्री नानाभाई भट्ट गुजरात के प्रख्यात शिक्षाकार थे। भावनगर में दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन नामक सस्था कायम करके उसके द्वारा उन्होने गुजरात भर में शिक्षा के नये विचारो का प्रचार किया।

भावनगर दक्षिणामूर्ति में पचीस साल तक प्रयोग करने के बाद वे महसूस करने लगे कि उन्हे ग्राम प्रदेश में बसकर ग्राम बालको के और ग्रामीणो के बीच बुनियादी शिक्षा के प्रयोग जारी करने चाहिए।

पनप और फूले फले विख्यात विद्यार्थी भवन को अपने सहयोगियो के हवाले छोड़कर वे खुद सन १९३० में भावनगर के पास आवला गाव में जाकर बसे और वहाँ उन्होने प्राथमिक शिक्षा के क्षत्र में प्रयोग जारी किये। ग्राम-जीवन सदा कृषि और गोपालन केन्द्रित हो रहा है। इससे उन्होंने अपनी इस प्रायोगिक शाला का मूलोद्योग या बुनियादी उद्योग कृषि गोपालन ही रखा और वस्त्रविद्या यानी कताई बुनाई को दूसरे ग्रामोद्योग का स्थान दिया। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का सारा अभ्यासक्रम उन्होंने स्वय ही रचा और वे उसे क्रमश ग्यारहवी श्रणी तक बढाते गये।

आठवें से ग्यारहवें दर्जे तक की माध्यमिक शिक्षा को उन्होने छात्रालय केन्द्रित बनाया और उस ग्राम माध्यमिक शिक्षा विभाग को लोकशाला नाम दिया।

स्वराज्य मिलने पर और उसके अन्तगत सौराष्ट्र राज्य का जन्म होने पर राज्य सरकार ने नानाभाई के अनुभवो की नींव पर बुनियादी शिक्षा का एक सूत्रित अभ्यासक्रम निश्चित किया जो आगे चलकर अन्य राज्यो के लिए भी प्ररणारूप बना।

उसके बाद वे धीरे-धीरे महसूस करने लगे कि अब इस बुनियादी और उत्तर बुनियादी प्रयोग के क्षेत्र में अगला कदम उठाना निहायत जरूरी है, जिससे प्रयोग सम्पूर्ण हो। सौराष्ट्र राज्य सरकार ने गैर सरकारी लोकशालाओं को मान्यता दी थी और कई स्थानों पर सरकारी लोकशालाएँ भी कायम की थी। ऐसी उत्तर बुनियादी शालाओं के विद्यार्थियों को वर्तमान कालेजों में भरती होना अनुकूल नहीं होता था। राधाकृष्णन् कमीशन की रिपोर्ट में भी ग्रामविद्यापीठों की आवश्यकता का सूचन डा० भागव ने किया ही था।

इन सबके फलस्वरूप 'लोकभारती' का जन्म हुआ। २८ मई सन् १९५३ यानी उस विक्रम संवत् की वैशाखी पूनो या बुद्धजयन्ती के मंगल के दिन पर काका साहब कालेलकर के हाथों लोकभारती की स्थापना हुई। इस प्रसंग पर बोलते हुए सौराष्ट्र राज्य के तत्कालीन मुख्य मंत्री श्री ढेबरभाई ने 'लोकभारती' को सौराष्ट्र के ब्राह्मण श्रेष्ठ की सौराष्ट्र को उत्तम देन या भेंट बताया। अन्न, आश्रम, आरोग्य और आनन्द इन चार नींवों पर उत्तम बुनियादी शिक्षा का रचना करना 'लोकभारती' का उद्देश्य रखा गया। उन दिनों तक रूरल इन्स्टिट्यूट' के विचार का जन्म भी भारत में नहीं हुआ था, यह विचार बाद में, करीब १९५५ में श्रीमाली कमेटी की रिपोर्ट में पेश हुआ। 'लोकभारती सारे भारत में ग्राम-उच्चविद्या के क्षेत्र में एसा सबसे पहला प्रयोग था जिसमें स्नातक और अनुस्नातक स्वतंत्र बुनियादी शिक्षा का आयोजन हो।

'लोकभारती' के आदर्श के अनुसार ग्राम-उच्चविद्या के उसूल और विशेषताएँ ये हैं एक, शिक्षा छात्रालय-केन्द्रित ही होनी चाहिए। विद्यालय में सिर्फ पढने के लिए कोई भर्ती नहीं हो सकता। जीवन और समूह जीवन जीते हुए ही शिक्षा पानी है। दो, सहशिक्षा रचना का आवश्यक अंग माना जाता है। बच्चों के और युवा-युवतियों के विकास को स्वाभाविक और साधारण (नार्मल) बनने में सहशिक्षा ने काफी योग दिया है। तीन, शिक्षा-फीस नकद न ली जाती, फिर चाहे शिक्षा पानेवाला गरीब हो चाहे श्रीमान्। चार, लेकिन हरएक शिक्षार्थी को चाहे वह गरीब हो चाहे श्रीमान्, साल भर में गोशाला, सफाई, रसोई घर, खेती या बागवानी, स्थानिक स्वच्छता, रोगी-शुश्रूषा आदि के रूप में चार सौ घण्टे श्रम या सेवा के काम करने पड़ते हैं। पाँच, अन्तिम वर्ष के अन्तिम सत्र में हरेक शिक्षार्थी को अपने-अपने मुख्य शिक्षा विषय से सम्बद्ध प्रत्यक्ष अनुभव और प्रत्यक्ष काम के लिए निश्चित

किये हुए केन्द्र या स्थान में रहकर प्रत्यक्ष अनुभव और उसके साथ ग्राम सम्पर्क और शिक्षा-काम करना पड़ता है। और वहाँ किये हुए काम और पाये अनुभव अन्तिम मूल्यांकन में गिने जाते हैं। गोपालन और दुग्ध व्यवसाय विषय का विद्यार्थी किसी प्रगतिशील गोशाला या दुग्धशाला में, बागबानी सीखता हुआ किसी फलबाग में, सहकार विषय सीखनेवाला किसी अच्छी सहकारी मण्डली में पंचायती राज्य का अभ्यास करनेवाला किन्हीं अच्छी पंचायतों में और ग्राम शिक्षा को मुख्य विषय रखनेवाला किसी उत्तर बुनियादी विद्यालय में जाकर मुख्यतया वहाँ रहकर सत्र भर काम करता है। छ चार साल के अभ्यासकाल में एकबार हरेक वर्ग के एक महीने भर का शिविर किसी पिछड़े हुए आदम जाति प्रदेश में रखा जाता है—यहाँ विद्यार्थी कृषि विस्तारण, बालक्रीड़ांगण आरोग्य सेवा भजन मण्डलियों वगैरह के माध्यम से आदिवासी समाज का परिचय पाते हैं। सात तीसरे अभ्यास वर्ष में संस्था के इर्द गिर्द गाँवों में चुने हुए कृषक परिवारों से मिलकर विद्यार्थी उन्हें आयोजित और अद्यतन कृषि सिखाते हैं। आठ, लोकभारती के अभ्यासक्रम में प्रवेश पाने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होना लाजिमी नहीं है।

इसके फलस्वरूप इन गाँवों की खेती आदि की स्थिति अन्य गाँवों की स्थिति के मुकाबले में सुधरी हुई दिखती है।

ऐसा भी नहीं कि लोकभारती के काम का प्रभाव इर्द गिर्द के गाँवों तक ही सीमित है। सारे गुजरात से विद्यार्थी यहाँ भर्ती होते हैं। उनके द्वारा संस्था का प्रभाव थोड़ा बहुत गुजरात के कोने कोनेमेंतक दिखाई दे सकता है। कहीं गेहूँ के सुधरे हुए बीज के उपयोग के रूप में कहीं अच्छी नस्ल के साँड के उपयोग के रूप में या कहीं यहाँ के ही स्नातकों से सचालित उत्तर बुनियादी विद्यालय के रूप में।

आज तक लोकभारती के करीब एक हजार स्नातक स्नातिकाएँ समाज में गये हैं। उनमें ५० प्रतिशत ग्राम प्रदेशों में भी काम कर रहे हैं। कोई खादी काम, कोई सर्वोदय योजना का सचालन कोई कृषि विस्तारण अधिकारी की हैसियत से कृषि विस्तारण काम तो कोई सहकारी मण्डलियों का सचालन करते हैं। कभी कभी इनमें से विधायक भी चुने गये हैं। कोई अच्छी तरह से अपनी ही खेती करते हुए प्रगतिशील किसान के रूप में स्वीकृत हुए हैं। सबसे ज्यादा स्नातक उत्तर बुनियादी विद्यालयों और हाई स्कूलों में काम करते हैं।

पिछले चार वर्षों से लोकभारती का लोकसेवा महाविद्यालय सौराष्ट्र

युनिवर्सिटी की ग्रामविद्या (रूरल फैकल्टी) के अन्तर्गत सम्मिलित है। युनिवर्सिटी ने उसे इतना स्थान और स्वीकृति देकर जागरूकता और दीर्घ दृष्टि का सबूत दिया है। न केवल इतना ही, युनिवर्सिटी ने लोकभारती के अभ्यासक्रम, परीक्षा पद्धति, कार्यक्रमों, अध्यापकों की योग्यता, और वेतन प्रमाण वगैरह बातें जैसी की तैसी मान्य कर ली हैं। ऐसा करके युनिवर्सिटी ने लोक उच्च-शिक्षा के प्रयोग को आगे बढ़ाने में सहायता दी है।

इस तरह 'लोकभारती' उच्च विद्या की संस्था होते हुए साथ-साथ ग्राम-पुनरुत्थान के हेतु का भी भलीभाँति निर्वाह करती है।

'लोकभारती' ग्राम पंचायत के मंत्रियों की और सरपंचों, उप सरपंचों की तालीम का काम भी करती है। न केवल अपने प्रांगण में, बल्कि गाँवों में जाकर वहाँ भी शिविरों के कार्यक्रम रखे जाते हैं। इस तरह आज तक सैकड़ों व्यक्ति मंत्री और सरपंच आदि के काम की तालीम पा चुके हैं। यह कार्य विद्या-विस्तार द्वारा किया जाता है।

इन सब उसूलों के पीछे दृष्टि यह है कि हमें वास्तविक जीवन के अनुभव और शास्त्र दोनों को नजर के सामने रखना चाहिए—दोनों के सम्मिलन और समन्वय से ही सच्चा ज्ञान प्रकट होता है।

अभ्यासक्रम में एक ओर भाषा, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि मानवीय विषयों तथा दूसरी ओर कृषि-गोपालन और उसके आनुषंगिक विषयों को, शिक्षा को समग्रमानव सर्जनक्षम बनाने की दृष्टि से समन्वित और सन्तुलित रखने की कोशिश की गयी है।

विद्यार्थी को दूसरे वर्ष से अपना मुख्य विषय चुन लेना होता है। लेकिन कृषिशाला के किसी मुख्य विषयवाले विद्यार्थी के अभ्यासक्रम में शेष विषयों में से चालीस प्रतिशत स्थान मानवीय विषयों के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं।

इससे उलटा, जो विद्यार्थी किसी मानवीय विषय, भाषा, अर्थशास्त्र आदि को चुनेगा, उसे बाकी के विषयों में चालीस प्रतिशत कृषि सम्बन्धी विषय पढ़ने ही पड़ेंगे।

विद्यार्थी का विकास और ज्ञान एकांगी न होकर सर्वांगीण हो, इस बात को 'लोकभारती' के आरम्भकाल से ही सामने रखा गया है। इसी दृष्टि से 'लोकभारती' का ध्यानमंत्र ईशोपनिषद् का विख्यात मंत्र रखा गया है -

विद्याम् च अविद्याम् च यस्तद्वेदोभय सह।
अविद्या मृत्यु तीर्त्वा विद्याया मृतमश्नुते॥

स्वर्गीय नानाभाई के अर्थघटन के अनुसार योगक्षेम और स्थूल जीवन व्यवहार के जिन विषयों का ज्ञान और जिनमें दक्षता की जरूरत है वे अविद्या के अन्तर्गत और जो विषय हमें नागरिक भावना, मानवीय दृष्टि, धर्मपरायणता के विकास में सहायक हो वे हैं विद्या के अन्तर्गत। स्वस्थ मानव समाज के लिए दोनों का समन्वय, सन्तुलन आवश्यक है। इसीसे कृषि विद्या के विद्यार्थी को प्लेटो से आज तक का राजनीति विज्ञान और हिन्दी को मुख्य विषय के रूप में चुननेवालों को सहकार पंचायत कानून पढ़ने होते हैं।

अभ्यासक्रम की शिक्षा पाना, इसका इर्द-गिर्द विस्तरण करना, विस्तरण करते हुए जो प्रश्न, समस्याएँ उपस्थित हो, उनके हल के लिए शोध करना, यही क्रम है—शिक्षा, विस्तरण संशोधन।

इस हेतु से लोकभारती के आसपास का ग्राम प्रदेश इसका विद्या-विस्तरण क्षेत्र है। इन गाँवों के कृषि, गोपालन, सहकार, पंचायती कारोबार आदि के प्रश्नों को समझना और उनका हल ढूँढना विद्यार्थियों के अभ्यासक्रम का ही एक भाग माना जाता है।

ग्रामीण पुनरुत्थान का काम ग्राम प्राथमिक शिक्षकों को नयी तालीम का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान दिये बगैर करना सम्भव नहीं है। इस हेतु से 'लोकभारती' वर्षों से बुनियादी तालीम अध्यापन मन्दिर चला रही है। 'लोकभारती के अपने प्रमाणपत्र को गुजरात राज्य सरकार ने मान्यता और स्वीकृति दी है। राज्य की इस कद्रदानी और सहानुभूति का खास तौर पर यहाँ जिक्र करना चाहिए।

पिछले चार सालों से लोकभारती' ने स्नातकों के लिए नयी तालीम प्रशिक्षण-केन्द्र भी जारी किया है। इसके द्वारा प्राथमिक बुनियादी शालाओं के निरीक्षक और माध्यमिक शाला के शिक्षक-आचार्य तैयार किये जाते हैं।

लोकभारती की स्थापना के समय उसके प्रांगण पर एक पेड़ तक का नामोनिशान न था। इस भूमि विस्तार को गाँव के लोग 'आवलियाट' कहा करते थे। 'आवलियाट' यानी 'आवलिव्याप्त', आवलिक जंगली पौधों से व्याप्त। स्व० नानाभाई ने समझ-बूझकर ऐसा ऊसर स्थान चुना था। वे कहा करते थे, 'मक्खन में लगन लगना कौन सी बड़ी बात है? पत्थर को तोड़कर पानी बहानेवाला हो सच्चा शूर है। और उनके इस महान निश्चय के सबूत की तरह इसी ऊसर में आम, चीकू, नारियल, नीबू आदि के पन्द्रह सौ बड़े पेड़ प्रांगण की शोभा दे रहे हैं। और किसी प्राचीन आश्रम की झाँकी

की तरह भूमि में आज छोटे-बड़े चार सौ विद्यार्थी जीवन-पाथेय पा रहे हैं।

ऐसी लोकाधारित संस्थाओं को हर साल अपने निर्वाह हेतु चन्दे के लिए जाना ही पड़ता है। यह आज का अनुभव है। संस्था के मुख्य आदमियों का समय और शक्ति इस कार्य में ही व्यय होती है। इस तरह समय और शक्ति देना स्व० नानाभाई को नागवार था। वे मानते थे कि संस्था अपने विद्यार्थियों को कृषि-गोपालन का व्यवसाय सिखाना और उसी पर निर्भर बनना सिखाना चाहती हो तो उसकी अपनी खेती आधुनिक, समृद्ध और आत्मनिर्भर होनी चाहिए। ऐसा करने का अनुरोध उन्होंने अपने सहयोगियों से किया और कार्यकर्ताओं ने बीड़ा उठाकर उनकी इस मनीषा को साकार बना दिया।

आज हमारी खेती बिना साधन सम्पत्ति की और केवल कठिन श्रम पर निर्भर नहीं रही—जैसा कि पहले हुआ करती थी। लेकिन फिर इंजन, दवाएँ, नये संशोधित बीज वगैरह को पूँजी की आवश्यकता रहती है। 'लोकभारती' ने इस पूँजी का खर्च निकालकर उसके अलावा सरकारी ग्राण्ट की पूरक रकमों के बराबर मुनाफा कृषि आदि से पाया है। अन्दाजन यह नफा सालाना करीब पौन लाख रुपया होता है।

'लोकभारती' की गोशाला स्वावलम्बी है। अठारह वर्ष में उसका दुग्ध उत्पादन दुगुना हो गया है। उसकी गीर नस्ल की गायें अखिल भारतीय हरीफाइयों में कई बार प्रथम पारितोषिक पा चुकी है। यहाँ के गाय-बैल ब्राजील, न्यूजीलैण्ड आदि विदेशों में भी भेजे जाते हैं।

'लोकभारती' के सफल प्रयोग को देखकर गुजरात में अन्य तीन ग्राम विद्यापीठ कायम किये गये हैं।

इस सारी सफलता का श्रेय दो बातों को मिलना चाहिए। एक है सर्वथा योग्य कार्यकर्तागण। आदर्शनिष्ठ, समझदार, कार्यदक्ष और अध्ययनशील कार्यकर्ताओं के बिना ऐसा प्रयोग कभी पनप नहीं सकता। इस बारे में 'लोकभारती' भाग्यशाली है। 'लोकभारती' में कार्यकर्ताओं की वेतन श्रेणी अन्य कालेजों की अपेक्षा काफी नीची है और ऐसा भी समझबूझकर हो किया है। जिस न्यायपूर्ण समाज की हम स्थापना शिक्षा के जरिये करना चाहते हैं उसका जितना शक्य हो उतना व्यवहार हमें भी आरम्भ से ही करना चाहिए। परापदेशे पांडित्य से शिक्षा का प्रयोग हो नहीं सकता। इस बात को खयाल में रखकर 'लोकभारती' में निम्नतम और उच्चतम वेतन का अनुपात एक और छ का ही रहा है। कार्यालय के चपरासी या डाक बाँटनेवाले को जो

वेतन मिलता हो, उससे छ गुना से ज्यादा संस्था के किसी भी कार्यकर्ता या प्राध्यापक का नहीं हो सकता। फिलहाल तो वह अनुपात दो और नौ का ही है—फिर प्रथम श्रेणी का कार्यकर्ता कितना ही पढ़ा-लिखा हो या सबसे पुराना हो।

इसी तरह 'लोकभारती' में दूसरी बात यह है कि यहाँ वेतन का सम्बन्ध ओहदे की हैसियत के साथ नहीं है। ग्रेज्युएट कार्यकर्ता को उसके ग्रेड का वेतन ही मिलेगा चाहे वह सामान्य अध्यापक हो, उपनियामक हो या आचार्य हो। आदमी को काम करना है। जो काम जिसको सौंपा जाता है वह उसे जी जान से करता है—इस तरह ओहदा और वेतन एक दूसरे के साथ संलग्न नहीं है।

एक और अनुकूलता 'लोकभारती' को प्रारम्भ से मिली थी। उसकी नींव डालनेवालों ने १९३८ से १९५२ तक उत्तर बुनियादी क्षेत्र में जो काम किया था, उसके मूल्यवान अनुभव।

गुजरात में आज अन्य राज्यों से ज्यादा बुनियादी विद्यालय हैं। इन्हीं उत्तर बुनियादी शालाओं के विद्यार्थी लोकभारती में भरती होते हैं। इस परिस्थिति ने लोकभारती के काम को आसान बना दिया। इस तरह इसकी मजबूती बनी रही।

दूसरी अनुकूलता जो 'लोकभारती' को सद्भाग्य से मिलती रही है वह है—राज्य सरकार की सहानुभूति। लोकभारती की प्रवृत्ति को सौराष्ट्र राज्य ने अपना ही कार्य माना था। उसके बाद बम्बई राज्य और गुजरात ने वही सद्भावना कायम रखी है। सहानुभूति की इस उष्मा ने 'लोकभारती' के विकास में काफी सहयोग दिया है। राज्य सरकार ने लोकभारती के स्नातकों को अन्य स्नातकों के समकक्ष स्थान दिया। दूसरी ओर राज्य सत्ता के नाम पर कभी भी राज्य सरकार ने इस प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं किया।

परन्तु अभी 'लोकभारती' के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। चारों ओर विषम और प्रतिगामी परिस्थिति वर्तमान है। कहीं उसके चंगुल में न फँस जायँ, इसकी सावधानी नितांत आवश्यक है। लक्ष्यहीन और अराजक प्रवृत्तियों को रोककर सच्ची दिशा का दर्शन करने कराने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। ●

प्रेमनारायण रूसिया

ईसवी सन २००० में शिक्षा

'आज का बालक कल का नागरिक है' इस कथन पर जब हम विचार करते हैं तो अनेक प्रश्न उठने लगते हैं—क्या आज जिस प्रकार की समाज व्यवस्था है वैसी ही व्यवस्था बालक को २०-२५ वर्ष की आयु में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात भी मिलेगी ? क्या आज की जिन समस्याओं के निदान हेतु हम बालक को शिक्षित बना रहे हैं वे सभी समस्याएँ २०-२५ वर्ष बाद नागरिक जीवन में प्रवेश करने तक उसी प्रकार बनी रहेंगी ? क्या हमने भविष्य की उन समस्त बातों को सोचकर वर्तमान शिक्षाक्रम बनाया है जो आज से २०, २५ वर्ष बाद बच्चे को शिक्षा प्रदान करने के पश्चात समाज में प्रवेश करने पर मिलेगी ? इन्हीं महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर राष्ट्रीय बोर्ड स्वीडन द्वारा एक शोध प्रायोजना तैयार करायी गयी है। उसका विषय है '*दो हजार वर्ष में शिक्षा*'। इस शोध प्रायोजना से निम्न अनेक विचारणीय तथ्य सामने आते हैं। यह शोध प्रायोजना राजस्थान की 'नया शिक्षक' नामक पत्रिका १५ (१) जुलाई सितम्बर ७२ में प्रकाशित हुआ है। उस लेख के आधार पर कुछ विशेष उल्लेखनीय तथ्य संक्षेप में प्रस्तुत हैं

हमारी बीसवी सदी द्रुत परिवर्तनो की सदी है। कहना न होगा कि विगत तीस वर्षों में हमने जितने परिवतन देखे हैं उतने निश्चय ही गत कई सौ वर्षों में नही हुए हैं। गगन मण्डल की शोधें प्रारम्भ हुई तो विश्व को अजीब लगा किन्तु देखते ही देखते मनुष्य ने चन्द्र के धरातल पर अपने पैर रोप दिये। गगन मण्डल के अनेक रहस्य आज हमारे ज्ञान की सीमा में आ गये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारो ने इस जीवलोक में अनेक चमत्कार उत्पन्न कर दिये है। इन वैज्ञानिक विस्फोटो के परिणामस्वरूप हमारी अनेक प्राचीन मान्यताएँ आज टूट रही हैं।

इस व्यापक वैज्ञानिक शक्ति का प्रभाव विश्व के अन्य समस्त देशो के साथ साथ हमारी उत्पादन व्यवस्था अर्थ व्यवस्था एव समाज व्यवस्था पर भी पड़ा है। हमारे देश में भी स्वतन्त्रता क पश्चात से एक नयी औद्योगिक क्रान्ति आयी है। उत्पादन के पुराने साधन एव सरजाम धीरे धीरे तिरोहित हो रहे है तथा उनके स्थान पर विद्युत द्वारा सचालित तीव्र गतिवाले यन्त्र आ रहे हैं। इनसे हमारा जीवन और जीवन दशन तेजी से प्रभावित हो रहा है।

औद्योगीकरण के कारण हम अध्यात्मवाद से भौतिकवाद की ओर अग्रसर होने लगे हैं। शहरो का तीव्र गति से विस्तार हो रहा है। जातीयता और प्रान्तीयता के बन्धनो को छोडकर औद्योगिक बस्तियाँ बन रही हैं। किन्तु वहीं दूसरी ओर इस औद्योगिक क्रान्तिजनित नयी सस्कृति से हमारी पुरानी मान्यताओं का मेल न बैठने से समाज में एक विश्रृङ्खलता आ गयी है।

औद्योगिक एव आर्थिक विकास के साथ साथ हमारे राजनैतिक जीवन मे भी क्रान्ति आयी है। स्वतन्त्रता के पश्चात देश में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की स्थापना हुई है देश तीव्र गति से समाजवाद की ओर बढ रहा है। जन-प्रतिनिधियो के माध्यम से सचालित यह लोकतन्त्रात्मक प्रणाली भी भारतीय मानस में जीवन के नये मूल्य स्थापित कर रही है।

अत हम देख रहे हैं कि हमारे जीवन की दिशा तीव्र गति स बदल रही है नयी मान्यताएँ नित नये जन्म ले रही है और जीवन के नये मूल्य स्थापित हो रह हैं। ऐसी स्थिति में हमें सोचना पड़गा कि जिस बालक को आज हम शाला मे भेज रहे हैं वह शिक्षण प्राप्त करने के बाद जब २०, २५ वर्ष की आयु का होगा तब उस समय की परिस्थिति क्या होगी, समस्याएँ क्या होगी

और जीवन की आवश्यकताएँ क्या होंगी ? प्रश्न उठता है कि क्या आज की वर्तमान शिक्षा को प्राप्त करनेवाला बालक उस नये समाज में सुख से जीवन-यापन कर सकेगा ?

सच तो यह है कि वर्तमान समस्याओं और आवश्यकताओं के आधार पर आज हम अपनी शिक्षा-योजना निर्धारित करते हैं। हमारी शिक्षा-योजना भी विकास की अन्य योजनाओं की तरह अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष आगे तक के लिए बनाई जाती है, २० वर्ष के आधार पर नहीं। अत परिणाम यह होता है कि जब बालक शिक्षण प्राप्त करके २० वर्ष की आयु में समाज में प्रवेश करता है तो उसे वहाँ सब कुछ नया ही नया दिखाई देता है—नया समाज, नयी समस्याएँ और नयी आवश्यकताएँ। वह अपने आपको इस नये समाज के लिए अक्षम पाता है। किन्तु विवश होकर जब वह जीवित रहने के लिए छटपटाता है तो उसकी वही छटपटाहट अनुशासनहीनता एव विद्रोह बन जाती है।

यदि हम चाहते हैं कि आज शाला में प्रवेश लेनेवाला प्रत्येक बालक भविष्य में सुयोग्य नागरिक बनकर निकले तो शिक्षा-व्यवस्था निश्चित करते समय हमें वर्तमान के साथ-साथ इस शताब्दी के अन्त में जन्म लेनेवाली सभी आवश्यकताओं, समस्याओं एव मान्यताओं को प्रमुख रूप से ध्यान में रखना होगा।

भावी शिक्षा के नीति निर्देशक तत्व

शिक्षा की नीति को निर्धारित करते समय भविष्य को प्रभावित करनेवाले निम्नांकित तत्वों पर विचार करना आवश्यक है :

(१) विज्ञान का विस्फोट : नित नवीन प्रयोगों के कारण विश्व में तीव्र गति से विस्फोट हो रहा है। इससे प्रभावित होकर हमारे विचार, संस्कृति, मान्यताएँ और जीवन-क्रम नयी दिशाएँ ले रहा है। आज हमारी प्राचीन मान्यताएँ तेजी से ढहती जा रही हैं। निश्चय ही यह परिवर्तन हमें अगले २०, ३० वर्ष में ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर देगा जहाँ समाज के प्रत्येक व्यक्ति को तकनीशियन, विशेषज्ञ और वैज्ञानिक बनना होगा, तभी वह सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेगा।

(२) सामाजिक परिवर्तन : हम देख रहे हैं कि इस शताब्दी में परम्परागत रूढ़िवादी बंधन तेजी से टूट रहे हैं, जातीयता शिथिल हुई है और

छुआछूत का भेदभाव, मोटर सिनेमा तथा हाट-बाजार से भागकर चूल्हे में जा छिपा है। माँ-बाप और गुरुजनों की सनातन मर्यादाओं को तोड़कर आज का युवक स्वच्छन्द बन गया है। लक्षणों से स्पष्ट है कि आनेवाले वर्षों में युवक आज की अपेक्षा अधिक मुखर होगा। युवक-आन्दोलन का जोर बढ़ेगा और इसके परिणामस्वरूप उन्हें अधिक स्वतन्त्रता तथा अधिकाधिक अधिकार दिये जायेंगे।

(३) पारिवारिक विघटन : भारतीय संस्कृति में अभी तक पितामह से लेकर पोतों तक के सह-निवास से युक्त बड़े परिवार एवं गौरव का विषय माने जाते हैं। किन्तु उनका भी तेजी से विघटन होने लगा है। विघटन का यह क्रम भौतिकवादी प्रभाव बढ़ने के कारण चलता ही रहेगा। तथा अन्त में पति-पत्नी और एक या दो बच्चों का छोटा परिवार रह जायगा। पति और पत्नी दोनों धनोपार्जन करेंगे। गृहस्थी के जिन कामों को अभी तक हाथ से सम्पन्न किया जाता था अब उसी काम को मशीनों के द्वारा करके व्यय और समय की बचत की जायेगी। अनेक कार्य जिनको परिवार में अभी गौरवपूर्वक किया जाता था अब वे बाह्य संगठनों द्वारा सम्पन्न होंगे—जैसे कि तैयार खरीदे सिये हुए कपड़ों का उपयोग बढ़ेगा और तैयार भोजन भी अधिक पसन्द किया जायगा।

(४) विश्राम एवं मनोरंजन में वृद्धि : आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप काम के घण्टों में निरन्तर कमी होती रहेगी, मशीनों का उपयोग बढ़ने से घर गृहस्थी के कामों में समय की बचत हेतु प्रयास किये जायेंगे। जनमानस में परिश्रम से बचने और अधिकाधिक विश्राम करने में सुख की अनुभूति परिलक्षित होगी। यान्त्रिक युग की नीरस मशीनों से जूझने के कारण मनुष्य मनोरंजन की ओर तेजी से बढ़ेगा। अतः आनेवाले युग में मनोरंजन के नये-नये प्रकार सामने आयेंगे और उनकी संख्या में कल्पनातीत वृद्धि होगी।

(५) स्वास्थ्य में गिरावट : स्वास्थ्य के लिए शुद्ध जल, ताजी हवा, सन्तुलित भोजन और पर्याप्त व्यायाम की आवश्यकता होती है किन्तु यन्त्रों, कलों और कारखानों की वृद्धि से जल और वायु दोनों ही दूषित हो जायेंगे। सर्वविदित है कि कारखानों के गंदे पानी से नदियों का शुद्ध जल विषाक्त हो रहा है तथा महानगरों में धुएँ और मोटरों के पेट्रोल से वायुमण्डल काला होता जा रहा है। मशीनों की सेवाएँ सुलभ होने से आदमी में श्रम-निष्ठा कम होगी, यातायात के यान्त्रिक साधनों की सुविधा बढ़ने से मनुष्य

के पैरों का श्रम करने का अवसर नहीं मिलेगा, जीवन में तनाव बढ़ेंगे और मनुष्य का जीवन संघर्षमय बनेगा, इसे सब कारणों से हृदय रोग भविष्य में सामान्य रोग बन जायगा।

(६) व्यावसायिक परिवर्तन : यह औद्योगिक क्रान्ति की शताब्दी है। इसमें उद्योग के साथ पैतृक जन्मजात बन्धन टूटे हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी उद्योग-धन्धे को इच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। उद्योगों में तो मशीन प्रवेश कर ही गयी है। शिल्पकला में भी मशीनों के उपयोग की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है। जो अभी तक अपने हाथ से काम करनेवाले श्रमिक थे वे अब मशीनों पर काम करके तकनीशियन कहलायेंगे और केवल मशीन को संचालित करके नियन्त्रण में रखेंगे। उत्पादन में प्रतियोगिताओं के कारण दक्षता की मांग बढ़ेगी, तब शिल्पी अपनी दक्षता और कौशल बढ़ाने हेतु प्रयत्नशील रहेंगे। अतः अध्यापन की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

(७) शैक्षणिक विस्तार : इस शताब्दी में शैक्षणिक सुविधाओं का विस्तार बहुत तेजी से हुआ है। शासन ने शालाओं की स्थापना में संख्यात्मक विस्तार किया है। अनेक उदार व्यक्तियों तथा समाज सेवी संगठनों ने इसमें *सक्रिय योगदान देकर शैक्षणिक सुविधाओं को विस्तृत बनाया है।* इस विस्तार की गति से यह सुनिश्चित है कि आगामी २०, २५ वर्षों में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य हो जायगी और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा भी सबके लिए सुलभ हो सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे देश की आबादी का लगभग एक चौथाई समाज आज से २०, २५ वर्ष बाद विद्यालयों में होगा। इतनी बड़ी संख्या में छात्रों को शिक्षित करने के लिए यान्त्रिक उपकरणों, टेलीविजन सेटों व कम्प्यूटरों को प्रयोग में लाया जायगा। शिक्षण के स्थान पर संदर्शन होगा और प्रत्येक छात्र अपनी-अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करके प्रगति करेगा।

उक्त तथ्यों के आधार पर विद्यालय के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष *निकलते हैं :*

१—विद्यालयों में शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार की हो, जिससे छात्र स्वाध्याय एवं स्वशिक्षण के लिए प्रेरित हों।

२—विद्यालयों में परिवर्तनशीलता ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए।

३—विद्यालयों में छात्रों का शिक्षण इस प्रकार किया जाय कि वे बड़े होने पर विविध मूल्यों से युक्त समाज में सफलता से जीवन-यापन कर सकें।

इनमें ऐसी क्षमता आ जाये कि वे नये परिवर्तनो के अनुरूप अपने आपको तेज़ कर सकें।

४—विद्यालयो में सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण, दोनो की व्यवस्था आवश्यक है।

५—सूचना के उत्पादन हेतु अनुसधान-केन्द्रो तथा उपयोग के लिए विद्यालयों की स्थापना हेतु भविष्य शास्त्री परिकल्पना करें।

६—ज्ञान-विस्फोट से निपटने के लिए विद्यालयो में कम्प्यूटर की भाषा और तकनीक व्यवस्था आवश्यक है।

७—विद्यालयो में ऐसी शिक्षा-व्यवस्था की जाय जिससे बालक विज्ञान जन्य दूषण और तकनीक युग के जीवन में सामजस्य स्थापित कर सकें।

हमारी शिक्षा की विशेषताएँ

(१) अभी तक ऐसी मान्यता है कि विद्यालय में कुछ निश्चित वर्षों तक प्राप्त की गयी शिक्षा जीवन भर के लिए ही पर्याप्त होती है किन्तु अब यह धारणा बदलनी होगी, क्योंकि नित नवीन आविष्कारो के परिणामस्वरूप ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। अत कोई भी विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकेगा कि उसे सब कुछ आता है। अब शिक्षा समयावधि के बधन को तोड़कर जन्म से मृत्यु तक चलनेवाली प्रक्रिया बनेगी।

(२) आज उच्चतर माध्यमिक शिक्षा अर्द्धमुखी होने के साथ साथ सामान्य भी है। उसको उत्तीर्ण करने के पश्चात बालक विश्वविद्यालयो, तकनीकी महाविद्यालयो या प्रशिक्षण-सस्थाओं में जाते हैं। ११ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात भी बालक कोई स्वतत्र उद्योग करने योग्य नही बनता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि कक्षा ९ से छात्र को तकनीकी शिक्षा देकर स्वावलम्बी बनाया जाय।

(३) श्रम और समय की बचत करनेवाली पद्धतियाँ एवं साधनो की व्यवस्था विद्यालयों में पर्याप्त मात्रा में करनी होगी। प्रोजेक्टर, टेप रेकार्डर तथा पुस्तकें, पत्रिकाएँ आदि साधनों से शालाओं को सुसज्जित करना होगा।

(४) वर्तमान कक्षा-व्यवस्था, वर्गविभाजन-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति एव वार्षिक परीक्षा द्वारा कक्षा-उन्नति की रूढ़िगत व्यवस्थाएँ समाप्त होंगी। इनके स्थान पर शिक्षण-विधि के आधार पर कक्षा की छात्र सख्या निश्चित की जायगी, अर्थात् यदि प्रसारण-कार्य एक तरफ शिक्षक की ओर से होगा तो

एक कक्षा में छात्र अधिक रह सकते हैं, यदि शिक्षक और छात्रों के बीच आदान-प्रदान आवश्यक है तो कक्षा में १५-२० छात्र रहेंगे।

(५) परीक्षा-पद्धति समाप्त करके समीक्षा के आधार पर छात्र को निजी क्षमता एवं उपलब्धियों के अनुसार प्रगति करने की सुविधा सुगम होगी।

(६) बालक को स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान और अभ्यास कराके स्वस्थ जीवन-यापन की कला में दक्ष बनाना होगा ताकि वह वैज्ञानिक आविष्कारों के दूषण से बचकर स्वस्थ एवं सुखी जीवन यापन कर सके।

(७) मनोरंजन हमारे सुखी जीवन के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है। भावी शिक्षा-व्यवस्था में बालक में स्वस्थ मनोरंजन को समझने और आनन्द लेने का सृजन होगा। उसकी रुचि इतनी अधिक परिष्कृत बना दी जायगी कि उसे अच्छे साहित्य के अध्ययन में, अनुसंधान में, परोपकार में, सृजन तथा रचनात्मक कामों में, खेलों और स्काउटिंग आदि में आनन्द अनुभव होने लगे।

(८) आज के संघर्षमय जीवन में परिवार ही एक मात्र ऐसा स्थान रह गया है जहाँ व्यक्ति की निराशाओं और चिन्ताओं को कुछ सुखद अभिव्यक्ति मिल सकती है। बाल विकास की दृष्टि से तो परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। अत शिक्षा के द्वारा बालक में पारिवारिक भावना का सृजन करना होगा।

(९) शिक्षा को चहारदीवारी से निकाल कर समाज के खेत, खलिहान, हाट-बाजार और कल-कारखानों पर ले जाना होगा। ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि बच्चे शाला में स्वाध्याय करें और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए शाला से बाहर जा सकें।

(१०) शिक्षा के सख्यात्मक विकास के इस युग में यह आवश्यक है कि शिक्षा सबके लिए सुलभ हो। अत प्रहर शालाएँ, रात्रि शालाएँ, सचल शालाएँ तथा अल्पकालीन शालाओं की व्यवस्था करनी होगी।

आगामी २००० ईस्वी में शिक्षा-व्यवस्था के लिए अभी से नियोजन करना आवश्यक है। भविष्यशास्त्रियों को उस समय के समाज, आवश्यकताओं, जीवन स्तर और जीवनक्रम की कल्पना करके लक्ष्य निर्धारित करने पड़ेंगे। जनसख्या वृद्धि-ज्ञान विस्फोट तथा औद्योगिक क्रान्ति के युग में शिक्षा-व्यवस्था हेतु पंचवर्षीय नियोजन के स्थान पर ३० वर्षीय नियोजन करना अनिवार्य हो गया है।

जिला शिक्षा अधिकारी,
छतरपुर (म० प्र०)

डा० दामोदर शर्मा

सामुदायिक विकास और शिक्षा

मानव के सामाजिक इकाइयो में आवद्ध होने के समय से ही सामुदायिक विकास की प्रक्रिया जारी है, यह भिन्न बात है कि कहीं इसकी गति मन्द तथा कहीं द्रुत रही। अविकसित तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में समुदायो के विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी रही है, इसलिए उपनिवेशवाद के जुए से मुक्त होने पर, इस कोटि के राष्ट्रों ने अपने यहाँ सामुदायिक विकास की योजनाएँ बनाई हैं। सामुदायिक विकास के विवेचन से पूर्व 'समुदाय' शब्द के सामान्य अर्थ की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है, अतएव पहले इस पर विचार करना होगा।

समुदाय 'समुदाय एक जीवित सामाजिक संगठन है। यह केवल भौतिक जन-समूह ही नहीं है जो कि किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहता है। बल्कि इस जनसमूह की समान सांस्कृतिक परम्परा भी होती है तथा इसके हितों में साम्य होता है। श्री एल० ए० कुक ने 'समुदाय' के निम्नांकित आवश्यक तत्व माने हैं :

(१) जन-समूह
(२) निवास का सामीप्य
(३) समान सांस्कृतिक परम्परा
(४) स्थानीय एकता की चेतना
(५) सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एकजुट होकर कार्य करना
(६) बुनियादी सेवा-संस्थाओं का समूह

अभिप्राय यह है कि एक ऐसा जनसमूह ही समुदाय की संज्ञा प्राप्त कर सकता है जो निकट रहते हुए समान सांस्कृतिक परम्परा में आबद्ध है तथा जिसके समान हित हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह एकजुट है। इस परिभाषा के आधार पर समुदायों के प्रकारों का विवेचन किया जा सकता है किन्तु यह यहाँ *विवेच्य नहीं है। यहाँ मुख्य विवेच्य 'सामुदायिक विकास' है।*

सामुदायिक विकास : सामुदायिक विकास का प्रमुख लक्ष्य समुदाय विशेष का सर्वांगीण विकास करना है। संसार के विभिन्न देशों में सामुदायिक विकास का अलग-अलग इतिहास है। भारतवर्ष में ग्रामीण समुदाय को आधार मानकर सामुदायिक विकास योजना का श्री गणेश २ अक्टूबर, १९५२ को किया गया तथा समुदाय की सबसे छोटी इकाई ग्राम को माना गया, जिसमें १०० परिवार या ५०० व्यक्ति हों। प्राचीन भारत में जबकि ग्राम आत्मनिर्भर थे, तथा वैभव एवं समृद्धि के केन्द्र थे, तो भारत को भी संसार में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और जब इन ग्रामों में ही निर्धनता, अज्ञानता तथा परावलम्बन का साम्राज्य हो गया तो इनके पुनर्निर्माण हेतु सामुदायिक विकास की योजना को चुना गया। प्रारम्भ में हमारा नेतृत्व इसके प्रति बहुत आशावादी रहा। हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक अवसर पर इसे अद्भुत एवं क्रान्तिकारी योजना बताया।

सामुदायिक विकास के सामान्य उद्देश्य और शिक्षा : संयुक्त राष्ट्र संघ ने कार्य व्यापार के लिए सामुदायिक विकास की परिभाषा स्वीकार करते हुए इसे वह प्रक्रिया बताया है जिसमें उस समुदाय के व्यक्ति अपने प्रयासों को सरकारी अधिकारियों के साथ सगठित कर समुदाय की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशा में सुधार का प्रयास करते हैं, जिससे ये समुदाय भी राष्ट्रीय जीवन से तादात्म्य स्थापित कर, राष्ट्रीय उन्नति में अपना पूर्ण योग प्रदान कर सकें। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास का लक्ष्य समुदाय का सर्वांगीण विकास है। शिक्षा का लक्ष्य जहाँ

व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है वहाँ सामुदायिक विकास का लक्ष्य समुदाय का सर्वांगीण विकास है। इस तरह शिक्षा सामुदायिक विकास कार्यक्रम की आधार-शिला मानी जा सकती है क्योंकि समुदाय की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है जिसके सर्वांगीण विकास का दायित्व शिक्षा का है। यदि इस लघु इकाई का विकास हो गया तो समुदाय का विकास भी निश्चित है। सामुदायिक विकास की प्रक्रिया समुदाय की पारम्परिक जीवनशैली में परिवर्तन कर उसे प्रगतिशील जीवन शैली की ओर ले जाती है। यह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप जब तक शैक्षिक कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं होता तब तक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। अतएव शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सामुदायिक विकास के आधार एवं शिक्षा : सामुदायिक विकास के कुछ आधार हैं जिनके सुदृढ हुए बगैर सामुदायिक विकास के कार्यक्रम सफल नहीं हो सकते। इन आधारों को सुदृढ बनाने में शिक्षा का बहुत महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है, जैसा कि आगे की पंक्तियों से स्पष्ट होगा।

मनोवृत्ति में वांछनीय परिवर्तन : सामुदायिक विकास का प्रमुख लक्ष्य समुदाय को पारम्परिक जीवन से हटाकर प्रगतिशील जीवन की ओर अग्रसर करना है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए समुदाय के जनों की मनोवृत्ति में वांछनीय परिवर्तन परमावश्यक है। शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति की मनोवृत्ति में यथासम्भव वांछनीय परिवर्तन कर, उसका बदलते हुए परिवेश के प्रति अनुकूल करना है।

नेतृत्व का विकास : ग्रामीण समुदाय के लिए बाहर के व्यक्तियों का नेतृत्व थोड़े समय के लिए मिल सकता है। एक सीमा तक बाहर से आये हुए ये अधिकारी उनके विकास में सहायता कर सकते हैं, किन्तु अन्तत सामुदायिक विकास के नेतृत्व की बागडोर समुदाय के व्यक्तियों को स्वयं सम्भालनी होगी। इसके अभाव में समुदाय का विकास अवरुद्ध हो जायगा। व्यक्ति में नेतृत्व के गुणों का विकास करना—यह शिक्षा के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक है। शिक्षा के माध्यम से समुदाय के उस अभाव की पूर्ति सम्भव हो सकेगी और सामुदायिक विकास के इस उद्देश्य की पूर्ति में शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

आत्मनिर्भरता की भावना का विकास : विकासशील समुदाय में आत्मनिर्भरता की भावना का आना अत्यावश्यक है। इस प्रकार पूर्णतः शासन

अर्थ में आत्मनिर्भरता की प्राप्ति तो इस युग में व्यावहारिक नही है किन्तु अपनी अधिकांश आवश्यकताओ की पूर्ति का कार्य समुदाय को स्वय करना होगा। परावलम्बन उन्नति के मार्ग में सबसे बडी बाधा है। शासन पर आश्रित रहने की वृत्ति का परित्याग करके ही समुदाय विकास कर सकता है। शिक्षा को आत्मनिर्भरता प्राप्ति की दिशा में कार्य करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से काम नही चलेगा। हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे कि व्यक्ति अपने स्वय के पैरो पर खडा हो सके।

नागरिकता की भावना का विकास : समुदाय के जन अपने अधिकार तथा कर्तव्यों के प्रति सचेत हों—उनमें सामाजिक एव राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना हो—वे राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यो के विषय में जागरूक हो तभी राष्ट्रीय जीवन सुचारु रूप से चल सकता है। लोकतन्त्रात्मक समाज में तो इस भावना का विकास अत्यावश्यक हो जाता है, अतएव लोकतन्त्र में नागरिकता की शिक्षा, शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। यदि शिक्षा नागरिकता का प्रशिक्षण देने में असफल हो जायगी तो लोकतन्त्र भी असफल हो जायगा। प्लेटो ने तो नागरिकता की शिक्षा देनेवाली शिक्षा को ही शिक्षा माना है। हार्न ने भी शिक्षा के आदर्शों में नागरिकता के प्रशिक्षण को प्रमुख माना है।

नैतिक चरित्र का विकास जिस समुदाय में नैतिक चरित्र विद्यमान है वह समुदाय कभी भी पतनोन्मुख नही हो सकता। यह किसी समुदाय की नही अपितु राष्ट्र की महान निधि है। समुदाय के विकास का भव्य भवन इसी के कधों पर खडा रह सकता है। अतएव समुदाय के जनों का चारित्रिक तथा नैतिक विकास होना या इस दिशा में प्रशिक्षण अत्यावश्यक है। किसी भी समुदाय के शिक्षा तत्र का यह दायित्व है कि वह इसके लिए वातावरण तैयार करे और अपने कार्यक्रम के माध्यम से चरित्रवान तथा नैतिक व्यक्ति तैयार करे, क्योंकि डा० राधाकृष्णन् के अनुसार चरित्र भाग्य है। चरित्र वह वस्तु है जिस पर राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है। तुच्छ चरित्रवाले मनुष्य श्रेष्ठ राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते हैं। हरबर्ट के अनुसार शिक्षा का कार्य उत्तम नैतिक चरित्र का विकास करना है। वस्तुत शिक्षा का मुख्य लक्ष्य चरित्र का प्रशिक्षण ही होना चाहिए, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, "शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य और कार्य मानव-प्रकृति और चरित्र को प्रशिक्षित करना है।" वस्तुस्थिति यह है कि शिक्षा अपने इस मूल उद्देश्य को भूलकर मानसिक

विकास पर ही अपना सारा बल दे रही है। यही सब कठिनाइयों का कारण है। डा० राधाकृष्णन् ने इसी तथ्य को अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

सांस्कृतिक विकास : समुदाय की एकता का सूत्र उसकी समान सांस्कृतिक परम्परा है। इसलिए सांस्कृतिक चेतना को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से सांस्कृतिक विकास किया जाय। सांस्कृतिक विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए, सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप सांस्कृतिक विकास जारी रहे—इस हेतु यह आवश्यक है कि कोई ऐसा माध्यम हो जो इस कार्य को सुचारु रूप से चला सके। शिक्षा से अधिक उत्तम अन्य कोई माध्यम इस दिशा में नहीं हो सकता, क्योंकि शिक्षा का कार्य है कि समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को, अपने तरुण एवं शक्तिशाली सदस्यों को प्रदान करे।

शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा 'शरीर माद्यखलु धर्म साधनम्' व धर्मार्थ काम मोक्षाणा आरोग्यम् मूल मुक्षयम्।' ये दो सूत्र इस बात के प्रमाण हैं कि स्वस्थ शरीर के बिना कोई भी कार्य अच्छे ढंग से सम्पन्न नहीं हो सकता, सारे कार्यों का साधन शरीर है इसलिए समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, प्रत्येक व्यक्ति तन्दुरुस्त हो। तभी सामुदायिक विकास सम्भव है। हमारे यहाँ एक लोकोक्ति है कि 'पहला सुख निरोगी काया'—निरोग शरीर को सुखों में प्रथम स्थान दिया है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य की महत्ता स्पष्ट होती है। दूसरी बात यह है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क भी रहता है। इसलिए इस दृष्टि से भी सामुदायिक विकास के कार्यक्रम में शारीरिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता देनी होगी। सामुदायिक विकास के इस कार्यक्रम में शिक्षा का कार्यक्रम बहुत सहायक होगा, क्योंकि व्यक्ति का शारीरिक विकास भी शिक्षा के सार्वभौमिक उद्देश्यों में से एक है।

ज्ञान का विकास ज्ञान के विकास के लिए प्रथम कार्य साक्षरता-प्रसार माना जा सकता है। साक्षरता ज्ञान का साधन हो सकती है। ज्ञान का माध्यम मस्तिष्क है जो कि ज्ञान का ग्राहक है, शरीर का सर्वश्रेष्ठ अंग है। इसके विकास के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णत विकसित नहीं हो पाता। इसलिए व्यक्ति का मानसिक विकास उसके ज्ञान में वृद्धि, सामुदायिक हित एवं विकास के लिए अत्यावश्यक है। मानसिक विकास ही मानव को प्राणि-जगत में श्रेष्ठता प्रदान किये हुए है। इसलिए यदि सामुदायिक विकास जारी रखना है तो मानसिक विकास का कार्यक्रम भी जारी रखना होगा।

इसका एकमात्र माध्यम शिक्षा है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में तो शिक्षा का अर्थ ज्ञान प्रदान करना या मानसिक विकास ही रहा। अब भी हम अधिक जोर मानसिक विकास या ज्ञान पक्ष पर ही देते हैं। प्रो० हुमायूँ कबीर ने ज्ञान प्राप्ति की शिक्षा के उद्देश्य को वैयक्तिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक माना है। साक्षरता एवं समाज-शिक्षा से लेकर ज्ञान के उच्चतम स्तर की शिक्षा का प्रावधान सामुदायिक विकास के लिए आवश्यक है।

आर्थिक विकास आज के इस भौतिक युग में अर्थ का ही प्राधान्य है—'सर्वे गुणा कांचन माश्रयन्ति।' जिसके पास पैसा है या जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, गुणवान है। वह समुदाय श्रेष्ठ समुदाय है विकसित समुदाय है जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है। अभिप्राय यह है कि सब चीजों का मापदण्ड पैसा ही रह गया है। इसके बिना कोई सांसारिक कार्य सम्भव नहीं है। इसलिए सामुदायिक विकास की योजनाएँ बनाते समय आर्थिक विकास पर सर्वाधिक बल दिया गया और इस हेतु ग्रामीण समुदाय के प्रमुख उद्योग कृषि की उन्नति की बहुमुखी योजनाएँ बनायी गयी और इनमें काफी सफलता भी मिली है। किन्तु मुख्य समस्या यह रही कि हम कृषि तथा कृषि पर आधारित अन्य उद्योगों के प्रति ग्रामीण समुदाय के तथाकथित प्रबुद्ध एवं शिक्षित वर्ग को अधिक आकृष्ट नहीं कर सके। यह वर्ग सामुदायिक विकास के इस कार्यक्रम में अपना योगदान नहीं कर पाया। जिसका परिणाम हुआ, समुदाय के आर्थिक विकास की गति धीमी होना। यदि शिक्षा को समुदाय की आवश्यकताओं से जोड़ा जाता, समुदाय के जीवन से जोड़ा जाता, तो यह स्थिति नहीं उत्पन्न होती। शिक्षा के माध्यमिक स्तर पर ही शिक्षा के व्यावसायीकरण की जो बात आज जोरों से की जा रही है तथा अभी पाचवीं पंचवर्षीय योजना के लिए प्रस्तुत ब्ल्यूप्रिंट में भी की गयी है, यदि इसे व्यावहारिक रूप दिया जाय तो समुदाय के आर्थिक विकास की गति बहुत तीव्र हो जाय तथा साथ ही शिक्षित बेरोजगारी की जिस विकट समस्या से हम परेशान हैं, वह भी कुछ हद तक हल हो जाय। और यह छात्र-आक्रोश भी जो कि देश के नेतृत्व की चिन्ता का महान विषय है—समाप्त हो जाय। अभिप्राय यह है कि शिक्षा को समुदाय की आवश्यकताओं से जोड़ना होगा, सामुदायिक जीवन से जोड़ना होगा, तभी समुदाय की एवं अन्ततोगत्वा राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं। यदि यह जल्दी से सम्भव नहीं हो पाया तो इस प्रकार का विस्फोट होगा जो सारे जनतन्त्रीय आधार को हिला देगा। अभी

१६ दिसम्बर, १९७२ को नागपुर विश्वविद्यालय के ५६वें दीक्षांत समारोह के अवसर पर बोलते हुए प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा गुजरात के राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण ने कहा कि "शिक्षा को देश के विकास से जोड़कर शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने होंगे अन्यथा शिक्षा के क्षेत्र में वह विस्फोट होगा जो सारे जनतन्त्रीय आधार को नष्ट कर देगा।" इस प्रकार शिक्षा का आर्थिक विकास से जो सम्बन्ध है उसे भुलाया नहीं जा सकता।

सामुदायिक विकास के प्रमुख आधार एवं लक्ष्यों के साथ शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है। सामुदायिक विकास का कार्यक्रम किसी भी देश में बनाया जाय, उपर्युक्त आधार एवं लक्ष्य उस कार्यक्रम को बनाते समय सामने रखने ही होंगे। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम को लें तो स्पष्ट होता है कि कुछ कार्यक्रम ऐसे हैं जो आर्थिक विकास के लिए हैं—जैसे कृषि-उत्पादन बढ़ाना, कुटीर उद्योगों का विकास यातायात के साधनों का विकास इत्यादि, तो कुछ ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध सांस्कृतिक विकास, समाज कल्याण से है। एक दूसरा वर्ग ऐसा है जिसका मानसिक विकास या ज्ञान के विकास से है, जिन्हें शिक्षा के कार्यक्रम भी कहा जा सकता है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के इन वर्गों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि सामुदायिक विकास का लक्ष्य समुदाय की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्वास्थ्य सम्बन्धी एवं ज्ञान सम्बन्धी उन्नति कर उसका सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा का लक्ष्य भी जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है व्यक्ति का सर्वांगीण विकास (मानसिक, शारीरिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक, आर्थिक आदि) करना है। इस तरह सामुदायिक विकास जहाँ पूरे समुदाय के सर्वांगीण विकास को सामने रखकर चलता है, वहाँ शिक्षा समुदाय के लघुतम घटक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को सामने रखकर, सामुदायिक विकास की आधारशिला तैयार करती है, इसलिए शिक्षा को, सामुदायिक विकास के कार्यक्रम को ध्यान में रखकर ही, अपना कार्यक्रम तय करना चाहिए तभी वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो सकेगी और तभी सही शिक्षा कहलाने की अधिकारिणी भी होगी। केवल ज्ञान के उद्देश्य को पूरी करनेवाली शिक्षा इस युग में शिक्षा नहीं कही जा सकती। ●

बी० टी० टी० कालेज, सरदारशहर

राष्ट्रीय शिक्षा

एक सर्वोदयी दृष्टिकोण

[अक्तूबर १४, १५ और १६, १९७२ को वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसके ठीक पहिले सर्व सेवा संघ प्रबन्ध समिति की कलकत्ता में बैठक थी। इस बैठक में एक सुझाव आया कि शिक्षा के सम्बन्ध में सर्वोदयी दृष्टिकोण सम्मेलन के आयोजन कर्ताओं के पास भेजा जाय। इस कार्य के लिए सर्वश्री सिद्धराज ढड्ढा ठाकुरदास बंग आचार्य राममूर्ति, वंशीधर श्रीवास्तव, पूर्णचन्द्र जैन राधाकृष्ण और के० एस० आचार्लू की एक उपसमिति बनायी गयी। यह टिप्पणी उसी उपसमिति द्वारा तैयार की हुई है।—सम्पादक]

१ उद्देश्य

शिक्षा की वर्तमान प्रणाली की सर्वत्र निन्दा हुई है लेकिन इसे बदलने और इसे मानवीय एवं राष्ट्रीय विकास का उपयुक्त साधन बनाने के लिए अधिक प्रयास नहीं किया गया है। हम लोकतंत्र और समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध हैं जिसका हमारे लिए अर्थ है अहिंसात्मक एक ऐसे समाज का निर्माण जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण समाप्त हो गया हो। हमारी मान्यता है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामाजिक तथा संस्थागत दोनों प्रकार की शिक्षा से अच्छा और कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता।

२. परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव

हमारा सुझाव है कि शिक्षा-प्रणाली में निम्नांकित परिवर्तन तुरन्त किये जायें

१ शिक्षा की विषय वस्तु

पाठ्यक्रम में सभी स्तरों पर सुधार होना चाहिए। पाठ्यक्रम प्रत्येक स्तर पर शिक्षार्थी में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे उद्घाटित करनेवाला' अवश्य हो। अतएव, उसका सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक क्रिया तथा क्षेत्र के सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश से अभिन्न रूप से समवाय होना चाहिए। सभी स्तरों पर काय एव उपलब्धि के निर्दिष्ट लक्ष्य सुनिश्चित किये जायें।

२ विज्ञान व प्रविधि

विज्ञान व प्रविधि मुख्यत उत्पादक क्रिया, शाला के दैनिक कार्य व क्षत्र के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के चारो ओर केन्द्रित हो।

३ सभी बच्चों के लिए न्यूनतम शिक्षा

सभी बच्चो को कम से कम १० वर्षों की शिक्षा उपलब्ध हो। शिक्षार्थी की सारी शालीय शिक्षा ३ वर्ष की उम्र से १८ वर्ष की उम्र तक १५ वर्षों की हो। प्रारम्भिक शिक्षा में पहली से आठवी कक्षा तक का समावेश हो जो सबके लिए नि शुल्क हो। माध्यमिक शिक्षा नवी से बारहवी कक्षा तक की हो। इसके बाद विश्वविद्यालयीय शिक्षा का क्षत्र है।

हम थ्री आर्स (लिखना, पढ़ना व थोड़ी गणित) उन्मुख शिक्षा का बहिष्कार व बुनियादी शिक्षा के सार्वभौमरूप से मा य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। आधुनिक समाज में शिक्षा को हम किसी सस्था की चहारदीवारी में परिसीमित नही कर सकते। उसे सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन के अधिक विस्तृत क्षेत्रों में प्रवाहमान होना ही चाहिए।

४ माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा बहुमुखी तथा विशेषज्ञतापूर्ण होनी चाहिए।

५ उच्च शिक्षा

उच्चशिक्षा योग्यता व जिज्ञासा की दृष्टि से उचित पात्र तक ही सीमित होनी चाहिए।

६ प्रत्येक स्तर पर अपने में पूर्ण पाठ्यक्रम

इन तीनों (प्राइमरी, माध्यमिक व विश्वविद्यालयीय) में से प्रत्येक स्तर

पर पाठ्यक्रम यदि अपने में पूर्ण नहीं तो निर्दिष्ट सत्रवाला हो। कोई स्तर आनेवाले दूसरे स्तर के लिए तैयारी मात्र न माना जाय।

७. उपाधियाँ और नौकरियाँ

मौलिक सुधार के एक कदम के रूप में हम शैक्षिक उपाधियों का अखिल भारतीय सहित सभी प्रकार की नौकरियों से तुरत सम्बन्ध-विच्छेद की संस्तुति करते हैं।

८ सामान्य शाला-प्रणाली

हम एक 'सामान्य शाला-प्रणाली' का सुझाव देते हैं जिसमें प्रयोग की पूरी स्वतन्त्रता हो। भिन्न भिन्न या आर्थिक वर्गों के लिए अलग से स्कूल न हों और, निजी लाभ या वर्ग, जाति या धर्मगत श्रेष्ठता के पोषण के लिए किसी शैक्षिक-संस्था को चलाने की सुविधा न दी जाय। सभी शालाओं के सामान्य लक्षण ये हों : फीस का एक-सा तरीका, मातृ या क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से शिक्षा व समाज-सेवा तथा सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक क्रिया में सहायक प्रशिक्षण का एक क्रमबद्ध कार्यक्रम।

९. व्यवस्था में स्वायत्तता

शैक्षिक-संस्थाएँ स्वायत्त इकाइयाँ हों जिन्हें वही चलायें और जिनकी वही व्यवस्था करें जो उससे सर्वाधिक सम्बद्ध हों, यानी, अभिभावक, शिक्षक और शिक्षार्थी।

३. राज्य और शिक्षा

शिक्षा राज्य द्वारा हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण के मामले में कम-से-कम उतनी स्वतन्त्र हो जितनी न्यायपालिका। शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—आर्थिक सहायता व समन्वयन जिसके लिए स्थानीय, जिले, राज्य व राष्ट्र के स्तरों पर उपयुक्त संगठन बनाये जा सकते हैं। पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण समाप्त किया जाना चाहिए।

४. परीक्षा-प्रणाली

हम परीक्षाओं की वर्तमान प्रणाली को समाप्त करने की संस्तुति करते हैं। इसके स्थान पर शाला के पहले वर्ष से लेकर उसके अन्त तक लगातार मूल्यांकन की प्रणाली चलायी जाय। प्रत्येक स्तर को समाप्त पर शिक्षार्थी के व्यक्तित्व और विभिन्न शिल्पों में उसकी प्रगति, रुझान तथा जानकारी बताने वाला प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाय।

५ शिक्षा व सामाजिक न्याय

शहरी गन्दी बस्तियों व सुदूर गाँवों के निम्न आय-वर्गों से आनेवाले बच्चों को विशेष सुविधाएँ दी जायें। छात्रवृत्तियों व कपड़े तथा पुस्तकों की व्यवस्था गरीब बच्चों की समस्या का समाधान नहीं है। उनकी आवश्यकता है, जैसा कि सभी बच्चों की होनी चाहिए ऐसी शिक्षा की प्राप्ति जो उन्हें उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति से उखाड़ न फेंके बल्कि उन्हें पढ़ाई के साथ-साथ कमाई लायक बनाये। इस सम्बन्ध में एक या दो घण्टे के स्कूल उपयोगी हो सकते हैं।

६ सामाजिक शक्ति के रूप में शिक्षा

हमें इसमें तनिक भी सन्देह नहा कि लोकतन्त्र की सफलता निम्नांकित पर निर्भर है

(क) व्यक्तियों का स्वायत्त तथा आत्म निर्भर रूप में विकास और,

(ख) व्यवस्था करने व निर्णय लेनेवाली स्थानीय इकाइयाँ।

इसलिए शिक्षा सभी व्यक्तियों व उनके विभिन्न क्रिया-कलापों को अपने में समाविष्ट करनेवाली हो। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह एक निरन्तर प्रक्रिया हो। हमारे विकास कार्यों की योजना शैक्षिक रूप से हो और उनके क्रियान्वयन में हमारे स्कूल सक्रिय रूप से लगें। इसकी आवश्यकता है कि हमारे देश के नागरिक सहभागिता स्वतन्त्र राय लोकतान्त्रिक असहमति, सर्वसम्मति या सर्वानुमतिपूर्ण निर्णय अधिकार के दुरुपयोग पर अहिंसात्मक प्रतिरोध व समानता तथा अच्छे पड़ोसीपन पर आधारित सहकारी जीवन पद्धति में दक्ष बनें। विज्ञान व लोकतन्त्र के इस युग में शिक्षा एक विधायक सामाजिक शक्ति के रूप में परिकल्पित की जाय। हम शिक्षा को केवल जीवन के लिए ही नहीं बल्कि उसे सम्पूर्ण जीवन का समावेश करनेवाली किंवा उसे ही जीवन समझते हैं। हमारा विकासशील राष्ट्र इससे कम से सन्तुष्ट हो यह गुंजाइश नहीं है।

आचार्यकुल की गतिविधि

मध्य प्रदेश आचार्यकुल कार्यकारिणी की बैठक

ब्रह्मविद्या मन्दिर, पवनार में गत् १५ जनवरी ७३ को हुई मध्य प्रदेश आचार्यकुल कार्यकारिणी की बैठक के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे

गत दो मास की प्रगति का विवरण ग्वालियर में शिक्षा संगोष्ठी दो दिन ११ और १२ नवम्बर ७२ को सम्पन्न हुई। टीकमगढ जिला आचार्यकुल का सम्मेलन हुआ। छिन्दवाडा में जिला आचार्यकुल की बैठक को श्री ग० उ० पाटणकर ने सम्बोधित किया। वहाँ ११८ सदस्य नये बने हैं। बिलासपुर में श्री नर्मदा प्रसाद शर्मा ने रायपुर में डा० सरयूकान्त झा ने और जबलपुर में श्री गणेश प्रसाद नायक ने तथा श्री रामकुमार शर्मा ने विदिशा सागर और छिन्दवाडा में आचार्यकुल के काम को विस्तार दिया। आचार्यकुल की ओर से सर्वोदय विचार प्रारम्भिक परीक्षा के फार्म ग्वालियर से भराये गये हैं।

- वर्ष ७३ ७४ के बजट पर चर्चा हुई और तय किया गया कि चूँकि अभी तक उदर्य समिति काम कर रही थी और संगठन की शुरुआत ही थी इसलिए कम बजट में काम चला लेकिन वर्ष ७३ ७४ का बजट रु० दस हजार की मर्यादा में बनाया जाय। इसके लिए संयोजक को अधिकृत किया गया कि वह मध्य प्रदेश सर्वोदय मण्डल के मंत्री से पत्र-व्यवहार करके इस वर्ष जिन ग्रामस्वराज्य समितियों से १०० रु० की वर्ष ७२ ७३ की धनराशि नहीं आयी है वह पुन लिखकर मँगाई जाय और आगामी वर्ष भी वर्ष ७३ ७४ में इस प्रकार का सहयोग प्राप्त किया जाय।

यह भी तय हुआ कि मध्य प्रदेश सर्वोदय मण्डल अभी तक जो रु० १००० रु० वार्षिक की सहायता देता था, यह आचार्यकुल के कार्य के विस्तार को देखते हुए रु० ३००० रु० की वार्षिक सहायता स्वीकार करे।

- प्रादेशिक स्वाध्याय योजना में योगदान देने की दृष्टि से प्रत्येक आचार्यकुल केन्द्र पर एक स्वाध्याय केन्द्र की स्थापना की जाय और वर्ष १९७३ में दूसरी बार सर्वोदय-विचार प्रारम्भिक परीक्षा के आयोजन में मदद की जाय। इस सन्दर्भ में प्रादेशिक स्वाध्याय समिति के संयोजक तथा मध्य प्रदेश सेवक संघ के मंत्री श्री बनवारी लाल चौधरी ने सुझाव दिया कि प्रत्येक आचार्यकुल-केन्द्र तथा प्रत्येक आचार्यकुल सदस्य को १० रु० में ३० रु० मूल्य का सर्वोदय साहित्य और १० रु० में २० रु० मूल्य की सर्वोदय-विचार पत्रिकाएँ मध्य प्रदेश सेवक संघ, ग्राम पो० रंसलपुर, होशंगाबाद (म० प्र०) के पते पर लिखकर प्राप्त की जा सकती हैं।
- जिन जिलों में अभी आचार्यकुल के काम की शुरुआत नहीं हुई है उनमें उस क्षेत्र के सम्भागीय प्रतिनिधि, जो कार्यकारिणी के सदस्य हैं, विशेष प्रयत्न करें और सम्भागीय प्रतिनिधिगण वर्ष १९७३ में प्रत्येक कम-से-कम १००० सदस्य बनवायें।
- श्री रामकुमार वर्मा ने सुझाव रखा कि प्रदेश की अशासकीय शिक्षण-संस्थाओं की समस्याओं का सर्वेक्षण करके उसकी विस्तृत रिपोर्ट अगले मध्य प्रदेश आचार्यकुल सम्मेलन के अवसर पर रखी जाय और यह प्रयत्न किया जाय कि अशासकीय शिक्षण-संस्थाएँ अपनी प्रभुसत्ता को कायम रखकर नयी तालीम की दिशा में अपना योग दे सकें।
- **डाइरेक्टरी मध्य प्रदेश आचार्यकुल १९७३ का प्रकाशन** मध्य प्रदेश आचार्यकुल १९७३ की डाइरेक्टरी में प्रकाशनार्थ सभी जिलों से ३१ दिसम्बर, '७२ तक बने सदस्यों के नाम और पते पिछले माह माँगे गये थे। डाइरेक्टरी में आचार्यकुल सदस्यों के नाम जिलावार रहेंगे और यह निःशुल्क सदस्यों को प्राप्त होगी।

गुरुशरण,
संयोजक,
मध्य प्रदेश आचार्यकुल

'नयी तालीम'

मासिक का प्रकाशन वक्तव्य

समाचार पत्र पंजीकरण अधिकरण (फार्म नं० ४, नियम ८) के अनुसार हर एक पत्रिका के प्रकाशक को निम्न जानकारी प्रस्तुत करने के साथ-साथ अपनी पत्रिका में भी यह प्रकाशित करना पड़ता है। तदनुसार यह प्रति-लिपि यहाँ दी जा रही है। —सम्पादक

१. प्रकाशन का स्थान	वाराणसी
२. प्रकाशन का समय	माह में एक बार
३. मुद्रक का नाम :	श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता .	नयी तालीम, मासिक, राजघाट, वाराणसी-१
४. प्रकाशक का नाम	श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट
राष्ट्रीयता :	भारतीय
पता	नयी तालीम, मासिक, राजघाट, वाराणसी-१
५. सम्पादक का नाम	(I) श्री धीरेन्द्र मजूमदार (II) श्री वंशीधर श्रीवास्तव (III) आचार्य राममूर्ति
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता .	नयी तालीम, मासिक, राजघाट, वाराणसी-१
६. समाचार पत्र के संचालकों का नाम व पता :	सर्व सेवा संघ, गोपुरी, वर्धा (महाराष्ट्र) (सन् १८६० के सोसायटी रजिस्ट्रेशन ऐक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड सार्वजनिक संस्था) रजिस्टर्ड नं० ५२

मैं, श्रीकृष्णदत्त भट्ट, यह स्वीकार करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है।

वाराणसी, श्रीकृष्णदत्त भट्ट

२८-२-७३ प्रकाशक

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार प्रधान सम्पादक
श्री वंशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : ७
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

फरवरी, '७३

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओ में व्यक्त विचारो की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : फरवरी, '७३
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

श्री गांधी आश्रम द्वारा

सर्वोदय-साहित्य-सेट रिआयत-अवधि बढ़ी
अब यह रिआयत ३१ मार्च '७३ तक मिलेगी

श्री गांधी आश्रम, उत्तर प्रदेश की ओर से सर्व सेवा संघ-प्रकाशन के सर्वोदय-साहित्य-सेटों पर बिना खादी खरीदे भी रिआयत दी जाती रही है। अब तक रिआयत २२ फरवरी '७३ तक थी। अभी अकबरपुर की श्री गांधी आश्रम की बैठक में तय हुआ है कि यह रिआयत अब ३१ मार्च १६७३ तक दी जायगी।

पाठकों से अनुरोध है कि इस सुविधा का लाभ उठाकर सर्वोदय-साहित्य-सेट खरीदकर अपने घर की लायब्रेरी की शोभा बढ़ायें। गांधी आश्रमों के खादी भण्डारों पर :

११ रुपये का साहित्य-सेट	४ रुपये में
१५ रुपये ,, ,,	६ रुपये में
२५ रुपये ,, ,,	११ रुपये में

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, वाराणसी की ओर से प्रसारित

वर्ष : २१
अंक : ८

- सत्य ही शिक्षक की सत्ता
- शिक्षा-पद्धति कैसी है ? कैसी होनी चाहिए ?
- सरकारी नौकरियों से डिग्री का सम्बन्ध-विच्छेद हो
- अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए नये तरीके

मार्च १९७३

शिक्षा की स्वायत्तता—एक अविभाज्य इकाई है

वर्ष : २१
अंक : ८

बर्ट्रेन्ड रसेल ने अपनी "विस्डम ऑव दी वेस्ट" नाम की पुस्तक मे एक जगह लिखा है- 'स्वतत्र चिंतन का जहाँ अन्त हो जाता है, इसका कारण साहस की कमी हो अथवा अनुशासन का बंधन, अनुचित प्रचार और सत्तावाद के अंकुर वहीं मुक्तभाव से पनपने लगते हैं।" अत: शिक्षक को स्वतत्रापूर्वक मुक्त भाव से अपने को व्यक्त करने का अवसर मिलना ही चाहिए। शिक्षक की स्वतंत्रता का अर्थ इतना ही है कि वह स्वतत्रतापूर्वक अपने विचारों को व्यक्त कर सके। किसी अध्यापक से न तो यह अपेक्षा की जा सके और न उसे यह आदेश दिया जा सके कि वह छात्रों को ऐसी कोई बात पढ़ाये जो उसकी अन्तरात्मा के प्रतिकूल हो। शिक्षक की स्वतत्रता का अर्थ है कि वह अपने विचारों पर दृढ़ भी रह सकता है बशर्ते कि वह शिक्षण को अपने विशिष्ट विचारों के प्रचार का या पक्षपोषण का साधन न बनाकर किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल दे। इस प्रकार की स्वतत्रता तब तक सम्भव नहीं है जब तक शिक्षा-सस्थाएँ स्वायत्त नही होतीं। "यह निश्चित है कि दल अथवा सत्ता के दबाव से मुक्त रहनेवाली स्वायत्त शिक्षा-संस्थाएँ ही निर्भयतापूर्वक सत्य का सधान कर सकती हैं और अपने अध्यापकों और छात्रों मे स्वतत्र चिंतन और जिज्ञासा की भावना पैदा कर सकती हैं। अत यह निश्चय कर

लेना चाहिए कि विश्वविद्यालयों पर शासन अथवा प्रशासकों का प्रभुत्व न हो पावे। और यदि प्रभुत्व होना ही है तो शैक्षिक वर्ग का ही हो।" (कोठारी कमीशन १३-९-२२)

कोठारी कमीशन ने जहाँ विश्वविद्यालयों के लिए स्वायत्तता की यह वकालत की है वहीं उसने यह भी कहा है कि "शाश्वत चौकसी स्वायत्तता का मूल्य है।" उसने स्पष्ट घोषणा की है कि निर्भयतापूर्वक सत्य-सधान में बौद्धिक सत्यनिष्ठा बनाये रखनेवाले स्वायत्त विश्व-विद्यालय लोकतत्र और स्वाधीनता के अडिग स्तम्भ हैं परन्तु प्रभावी स्वायत्तता वरदान स्वरूप नहीं प्राप्त होती। उसे सतत अर्जित करने की कोशिश करनी चाहिए। विश्वविद्यालयो को स्वायत्तता का अधिकार सत्य के सधान और उसकी सतत साधना के फलस्वरूप प्राप्त होता है। अत स्वायत्तता के प्रति किये जानेवाले विरोधो के प्रतिकार की उनकी शक्ति उतनी ही अधिक होगी जितनी अधिक साधना से वे अपने कर्तव्यो का पालन करेंगे।" (कोठारी कमीशन—१३-१५-१)

हमें खेद इस बात का है कि हमारे विश्वविद्यालय शिक्षा-सस्थाओं की स्वायत्तता के लिए सतत चौकसी का मूल्य अदा नहीं कर पाये हैं। यदि वे चौकस रहते तो उस समय चुप नहीं रहते जब इस प्रदेश (और दूसरे प्रदेशों) की सरकारें प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की स्वायत्तता का अपहरण कर रही थीं। बात यह है कि शिक्षा की स्वायत्तता एक अविभाज्य इकाई है-एक इनडिविज़ीबुल होल है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि प्रारभिक स्तर पर शिक्षा सरकार के हाथ मे हो, माध्यमिक स्तर पर उसके सरकारीकरण का प्रयास हो रहा हो और उच्च स्तर पर स्वायत्त बनी रहे। परन्तु आज उत्तर प्रदेश मे और भारत में यही हो रहा है।

गत वर्ष जब उत्तर प्रदेश मे प्रारभिक शिक्षा के सरकारीकरण का विधेयक बना (विधेयक बनाने के पहले तो उसे गवर्नर के आर्डिनेन्स के रूप में लागू किया गया था) तब सरकार के इस कदम का बिलकुल विरोध नहीं हुआ। जो शिक्षा अंग्रेजों के जमाने मे स्थानीय स्वशासी सस्थाओं के हाथ मे दी गयी थी उसका भी जब अपनी सरकार ने अपहरण किया तो सब चुप रहे। हमारे विश्वविद्यालयों से इस अपहरण के विरुद्ध किसी प्रकार की आवाज नहीं उठायी गयी। हमारे

विश्वविद्यालय शिक्षा की स्वायत्तता के सजग प्रहरी नहीं रह सके। और आज माध्यमिक शिक्षा के सरकारीकरण के लिए जो आन्दोलन हो रहा है, भले ही यह आन्दोलन स्वयं माध्यमिक शिक्षक संघ द्वारा ही हो रहा हो, तो उसका भी विरोध हमारे विश्वविद्यालय, जो हमारी श्रेष्ठतम बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, नहीं कर रहे हैं। बड़े मजे की बात यह है कि अगर कोई विरोध कर रहा है और माध्यमिक शिक्षा का सरकारीकरण टल रहा है तो इसलिए कि स्वयं सरकार उसे यह कहकर टाल रही है—'माध्यमिक शिक्षा के सरकारीकरण से जो आर्थिक बोझ सरकार पर पड़ेगा उसे सरकार उठा नहीं सकता।' परन्तु सिद्धान्ततः यह गलत हो रहा है, ऐसा कोई नहीं कह रहा है। शिक्षा की स्वायत्तता के सबसे प्रबल रक्षक विश्वविद्यालयों से तो इसके विरुद्ध क्षीणतम आवाज भी नहीं उठी है, परन्तु जबसे उत्तर-प्रदेश विश्वविद्यालय विधेयक लाने की बात हो रही है तब से अचानक विश्वविद्यालय के शिक्षक मुखर हो उठे हैं। जगह-जगह सेमिनार और गोष्ठियाँ की जा रही हैं और चिल्ला चिल्ला कर कहा जा रहा है कि यह विधेयक अप्रजातान्त्रिक ही नहीं, शिक्षकों के हित में भी नहीं है। विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का अपहरण हुआ तो विचारों का 'रेजिमेण्टेशन' होगा और देश में एकाधिपत्यवादी राजनीति पनपेगी, और अन्ततोगत्वा लोकतन्त्र का नाश हो जायगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रवक्ता डाक्टर रघुवंश ने तो यहाँ तक कह डाला है—(और मैं नहीं समझता कि उन्होंने गलत कहा है) कि "प्रस्तावित उत्तर प्रदेश विश्वविद्यालय विधेयक के पीछे सरकार की अपनी पचीस वर्ष की असफलताओं को, अपनी झूठी कथनी-करनी के अन्तर को, और अपने भ्रष्टाचार की दुर्गन्ध को छिपाने का प्रयास है। केन्द्र हो या प्रदेश, शिक्षा क्षेत्र की सरकारी नीतियाँ पूरी तरह असफल सिद्ध हो चुकी हैं और सरकार का एक ही काम रह गया है—अपनी असफलताओं पर पर्दा डालना।" इसी लेख में लेखक ने लिखा है कि 'स्वराज्य प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालय एक्टों में जितने भी सुधार हुए हैं सरकारी प्रभावों को बढ़ाने के लिए ही हुए हैं। विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता के सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति अधिक उदार थी। वहाँ विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को आर्थिक अनुदान

के नाम पर छीना नहीं जाता था। हमारे यहाँ तो सरकार जनता के प्रतिनिधित्व और आर्थिक अनुदान की दुहाई देकर सरकारीकरण की प्रक्रिया चला रही है—जिससे विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता समाप्त होती जा रही है।"

उत्तर प्रदेश का प्रस्तावित विश्वविद्यालय विधेयक विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को समाप्त करने का एक कुचक्र है और यदि यह विधेयक पारित हो गया तो शिक्षा का पूर्णत सरकारीकरण हो जायेगा। पूर्णत इसलिए कि प्राथमिक शिक्षा का सरकारीकरण तो हो ही चुका है और माध्यमिक शिक्षा के सरकारीकरण के लिए तीव्र आन्दोलन हो रहा है—जिसका विरोध कोई नहीं कर रहा है।

इस प्रस्तावित विधेयक की प्रमुख संस्तुतियों को देखा जाय तो इस तर्क की पुष्टि हो जायेगी

१—इसके अनुसार विश्वविद्यालय के कुलपति का चुनाव कुलाधिपति पर निर्भर करेगा। कुलाधिपति गवर्नर होता है जिसकी नियुक्ति सत्तारूढ़ दल द्वारा की जाती है। अभी तक कार्यकारिणी द्वारा तीन नाम भेजे जाते थे जिनमें से कुलाधिपति किसी एक को चुनता था परन्तु वर्तमान विधेयक म कुलाधिपति आवश्यकता पड़ने पर स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा के अनुसार कुलपति चुनेगा। प्रस्तावित एक्ट में विशेषाधिकार कुलपति के स्थान पर कुलाधिपति को प्राप्त हो गये हैं, और कुलाधिपति की शक्ति का अर्थ है मुख्यमंत्री या शिक्षा मन्त्री की शक्ति।

२—कुलाधिपति विशेष स्थिति में पूरी कार्यकारिणी को निरस्त कर सकते हैं और वर्ष दो वर्ष के लिए नामनद सदस्यों की कार्यकारिणी घोषित कर सकते हैं।

३—सरकार ने विश्वविद्यालयों के निरीक्षण का अधिकार ले लिया है।

४—विधेयक में अपील का एक मात्र अधिकारी कुलाधिपति ही हैं—न्यायालयों की शरण की मनाही है।

५—प्रस्तावित विधेयक के अनुसार लेखाधिकारी और कुल सचिव (सहायक सचिव भी) रकार के द्वारा केवल नियुक्त नहीं होंगे, वे एक प्रकार से सरकारी आदमी होंगे। विश्वविद्यालय के प्रति उनका

कोई प्रतिश्रुति (कमिटमेण्ट) नहीं होगा। लेखाधिकारी आर्थिक मामलों की ही देख-रेख नहीं करेगा वरन् हर मामले में निर्णायक होगा। आर्थिक समिति में एक भी सदस्य विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नहीं रखा गया है।

६—संकायों के डीन का कार्यकाल एक वर्ष का ही कर दिया गया है। विभागीय अध्यापकों की स्थिति स्थायी है और उन्हें कुलपति के व्यक्ति के रूप में स्थायी कर दिया गया है।

७—विद्यार्थी-सहयोग के नाम पर कोर्ट में दो विद्यार्थी प्रतिनिधि रहेंगे।

८—नियुक्तियों में चयन समिति और कार्यकारिणी में मतभेद होने पर कुलाधिपति का निर्णय सर्वोपरी होगा।

यह है संक्षेप में विश्वविद्यालय विधेयक। इस विधेयक के पारित हो जाने पर विश्वविद्यालयीन जीवन प्रजातान्त्रिक नहीं रह जायेगा। और इससे विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगी। विचारों का रेजिमेण्टेशन लोकतंत्र का सबसे बड़ा खतरा है और इस विधेयक के अधिनियम बन जाने से यह खतरा बढ़ता है। इसलिए इस विधेयक का विरोध होना चाहिए। परन्तु यह भी समझ लेना चाहिए कि विरोध अगर इस सरकारीकरण की प्रकृति का शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर नहीं हुआ, तो विरोध का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। शिक्षा की स्वायत्तता एक पवित्र वस्तु है और वह विश्वविद्यालय के क्षेत्र में जितनी पवित्र है उतनी ही पवित्र प्रारम्भिक और माध्यमिक क्षेत्र में भी है। वह एक ऐसी पावन धारा है जिसे उद्गम स्थल से समुद्र-मिलन-स्थल तक अजस्र प्रवाहित होना चाहिए, यह दूसरी बात है कि कहीं यह धारा क्षीण हो और कहीं विशाल अथवा कहीं इसकी गति धीमी और कहीं वेगवती!

—वंशीधर श्रीवास्तव

राममूर्ति

सत्य ही शिक्षक की सत्ता

[२८, २९ अक्टूबर '७२ को पवनार मे महाराष्ट्र आचार्यकुल परिषद के प्रथम अधिवेशन मे परिषद के प्रमुख अतिथि आचार्य राममूर्ति के प्रेरक भाषण का एक अंश नयी तालीम के पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत है।—स०]

मैं सोच रहा था कि किस अधिकार से आपका समय लूँ। पूज्य विनोबाजी का अधिकार मेरे पास नही। दादा धर्माधिकारी का मामा क्षीरसागर का भी नही। अध्यक्ष महोदय उमाशकर जोशी का अधिकार भी मेरे पास नही। अगर कोई अधिकार हो सकता है तो सिर्फ इतना ही कि कई वर्ष पहले मैं भी एक शिक्षक था। तेरह वर्षों तक शिक्षण का काम करने के बाद ही सार्वजनिक क्षेत्र में आया हूँ। या यो कहिए कि सर्वनाश से सर्वोदय की तरफ आ गया। इतिहास पढ़ता था, पढाता था, लेकिन ऐसा लगा कि लोकतन्त्र और विज्ञान के इस जमाने में कक्षा में बैठकर इतिहास पढना या पढाना पर्याप्त नही। अपनी थोडी सी शक्ति से ही सही इतिहास बनाने में योगदान देना चाहिए।

मेरे इतिहास के अध्ययन ने मुझे बताया कि मानव का विकास अनेक अवसरों पर ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है जिसको सभ्यता के मोड़ का बिंदु कह सकते हैं। और आज भी ऐसी बात दिखायी देती कि जिन मूल्यों को विज्ञान की और लोकतन्त्र की बदौलत मनुष्य ने प्राप्त किया है उन्हें वह अपने पास रख भी सकता है गवाँ भी सकता है। इसलिए इस मोड़ के बिन्दु पर पढ़ने और पढ़ाने से कुछ ज्यादा करने की भी जरूरत है।

हम यह अस्वीकार तो नहीं कर सकते कि आज का युग विज्ञान का है। और, किसी सत्ता में विज्ञान का विश्वास नहीं, सिवा कि बुद्धि की। आज जिस सत्य को विज्ञान मान रहा है, उसे कल छोड़ सकता है और कल तक जो सत्य माना गया था उसे आज छोड सकता है। बहुत पुराना एक प्रसग है गॅललीयो के जीवन का। यूरोप में प्रथम गैलिलीयो ने आविष्कार किया कि पृथ्वी चलती है, सूर्य नहीं। यहां, हमारे देश में तो यह प्राचीन काल से मालूम था, पश्चिम की तरफ मालूम नहीं था। गैलिलीओ ने यह जब कहा, तब जितने सत्तापति थे, धर्मगुरु थे, उस जमाने के बड़ बड़े विद्वान और पडित थे उन्होंने कहा कि यह ईश्वर के खिलाफ है, यह आदमी भगवान को चुनौती दे रहा है, पृथ्वी को चाहता है, सूर्य को नहीं। विद्वानो और सत्तापतियो कि सभा हुई और उसमें गैलिलीओ से पूछा गया कि क्या तुम्हारा कहना है कि पृथ्वी चलती है और सूय चलता नहीं? तब गैलिलीओ ने कहा, मैं नहीं कहता पृथ्वी चलती है, वह चल रही है, *मैं सिर्फ देख रहा हू मेरे प्रयागो ने सिद्ध किया है कि पृथ्वी चलती है।"* तब नाराज हो गये विशिष्ट लोग और उन्होंने कहा तुम अपना कहना वापस लेते हो कि दण्ड के भागी होते हो।' वह बेचारा वैज्ञानिक, उसने सोचा, भले पृथ्वी न चले, सूय ही चले अपनी जान खतरे में है क्यो मैं इसके पीछे पडूँ। इसलिए वह तैयार हो गया लिख देने के लिए कि सूर्य चलता है, पृथ्वी नहीं। उसे कागज दिया गया और वह लिखने लगा तब उसके हाथ कांपने लगे। क्योंकि सारी जिंदगी भर का प्रयोग था उसकी साधना थी। लोग देख रहे थे और वह बोल उठा लिखते लिखते—"वट व्हाट कॅन आई डू इट इज दी अथ दैन मूव्हज... मैं क्या करूँ, पृथ्वी है, जो चल रही है। इसलिए सत्य की अपनी सत्ता है। वह अपनी जगह रहती है। बुद्धि की अपनी सत्ता है। और इतिहास के अवसर थे जब धर्म की सत्ता को सत्य की सत्ता ने चुनौती दी और इस चुनौती को बुद्धि की सत्ता ने स्वीकार किया है। और उस स्वीकृति में से मानव के विकास का रास्ता निकला है।

अंग्रेजों के जमाने से, जब से शिक्षण का विभाग सरकारी विभागों में से एक विभाग हुआ, शिक्षक नौकर हो गया—सरकारी नौकर। हम भी काम करते थे, हमारा भी एसोसिएशन था, हम भी वेतन सिविल रूल आदि के लिए लडते थे। और ठीक था वैसा करना। लेकिन हम लोग भी बार-बार सोचते थे कि अगर किसी दिन शिक्षा-मत्रालय से सर्क्युलर निकल जाये कि भारत का गणित आज से बदल गया है २×२=४ नहीं होगे, २×२=४$\frac{1}{2}$ होगे, *तो हम क्या करेंगे? यह सब आचार्यों की मण्डली है, वह क्या करेगी?*

गैलिलीओ की स्थिति होगी हमारी, "वट व्हाट कैन वी डू, टू इन्ट्र टू इज इवक्ल टू फोर।" यह इतना सत्य है कि हम उसका अस्वीकार नहीं कर सकते। यही चीज शिक्षकों को दूसरे नागरिकों से अलग करती है। राजनैतिक नेता कितना भ्रष्ट होगा, व्यापारी कितनी मिलावट करेगा, इसकी सीमा नहीं। लेकिन शिक्षक कितना असत्यवादी हो सकता है इसकी सीमा है। हम गलत काम नहीं करते ऐसा दंभ शायद कोई शिक्षक नहीं करेगा, फिर भी शिक्षकों को नीचे गिरने की सीमा होती है। और जहाँ गिरते-गिरते हम सीमा पर गिर जाते हैं, वहीं हमारे आगे बढ़ने का प्रारम्भ हो जाता है।

एक पहलू शिक्षक के जीवन का यह है कि वह गृहस्थ है। गृहस्थ के नाते उसका परिवार है, जिसका पालन-पोषण करना उसकी जिम्मेदारी है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि ट्रेड यूनियन के जैसे अनेक मार्गों का वह उपयोग करता है वह गलत करता है। उस पहलू की जो माँग है, उसकी माँग उसी तरह से हो सकता है। इसलिए शिक्षक कहता है कि 'यह क्या आपने आचार्यकुल का तमाशा खड़ा कर दिया है? जब आपने देखा कि शिक्षकों की शक्ति बढ़ रही है, तब आचार्यकुल का साइन बोर्ड लेकर निकल आये।' लेकिन, हमने दूसरे कुछ अपराध किये होंगे, पर यह कभी नहीं किया, न करना चाहते हैं कि बनी हुई शक्ति को तोड़ दें। हम सरकार की ओर से नहीं आये। न हम भारतीय सी आई ए हैं। हम भी शिक्षकों की ताकत बनाना चाहते हैं।

लेकिन, हमने यह देखा है कि दलबंदी ने, राजनीति ने मजदूर आन्दोलन को खतम कर दिया है। आज कहाँ है श्रमशक्ति—मजदूरों की संगठन शक्ति? आज क्या दिखेगा मिलों में? एक दल का एक मजदूर, दूसरे दल का दूसरा मजदूर। एक-एक कारखाने में मजदूर एक-दूसरे के दुश्मन जैसे हैं। विरोधी पक्षों में बँट गये हैं। इस दलबंदी ने विद्यार्थियों की शक्ति को खतम कर दिया। एक एक पार्टी में एक-एक विद्यार्थी। जिसकी हत्या होती है, वह भी विद्यार्थी और जो हत्या करता है वह भी विद्यार्थी। क्यों? क्योंकि एक एक पार्टी में, दूसरा दूसरी पार्टी में, और दोनों भूल गये कि दोनों विद्यार्थी हैं। एक ही कक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थी राजनीति में बँट जाते हैं और उनकी एकता समाप्त हो जाती है। एक विद्यालय में एक पक्ष का बोलवाला, दूसरे में दूसरे का। विद्यालय भी पक्षों में बँट गये हैं। कुछ शिक्षक एक एसोसिएशन में बैठते हैं, कुछ शिक्षक दूसरे एसोसिएशन में बैठते हैं। शिक्षक शिक्षक की हैसियत खो बैठता है। श्रमिक श्रमिक की

हैसियत खो बैठता है। क्या खो बैठता है ? पार्टी-पॉलिटिक्स। पावर पॉलिटिक्स। इससे सदेह और अविश्वास की दीवार इतनी ऊँची बन जाती है कि टूट नहा सकती। अगर शिक्षक अपनी शक्ति बनाना चाहते हैं तो इतना तो करिये कि सगठन को तोडनेवाली जो शक्ति है उससे अलग रहिये। सगठन ठोस होना चाहिए। किसी तरह सगठन में दरार पडती है और वह राजनीति के कारण पडती है तो वह सगठन दरार का सहन नहा कर सकता।

हम नागरिक भी हैं। आज नागरिक अपनी सामाजिक जिम्मेवारी को उतना महसूस नही करता। सामाजिक उत्तरदायित्व से वह अलग रहता है। लेकिन शिक्षक कितना भी ट्रेड यूनियनिस्ट (मजदूर सघवादी) बने, उसका पेशा इस तरह का है कि समाज ने जबरदस्ती विद्यार्थी को उसके मत्थे पर बैठाया है। वह यह कह दे कि क्यो जबरदस्ती यह बोझ मेरे मत्थे पर दिया है कह दे वह एसा तो क्या होगा ? विद्यार्थी चले जायेंगे तो फिर वह शिक्षक ही नही रहेगा। विद्यार्थी नही, शिक्षक भा नही और ट्रेड यूनियन भी नही। इसलिए सामाजिक उत्तरदायित्व से वह हट नही सकता।

हमने शिक्षक की क्या क्या हैसियत हो सकती है देखा। एक इस देश के नागरिक की हैसियत। दूसरी गृहस्थ के नाते, एक विशिष्ट पेशे के कारण ट्रेड यूनियनिस्ट की हैसियत और तीसरी शिक्षक के नाते शिक्षक की हैसियत जिसका उल्लेख मैंने आरम्भ में किया कि दो गुना दो बराबर चार होते हैं साढे चार नहा। ऐसे कुछ सत्य और मूल्य हैं जिनको हम छोड नही सकते। और उन मूल्यो को खुद हम ही नही मानते बल्कि हमारे द्वारा समाज भी मानता और समझता है।

आज सारी शक्ति पालिटिक्स (राजनीति) और बिजिनेस (व्यापार) के हाथ में है। सरकार पालिटिक्स के हाथ में और समाज बिजिनेस के हाथ में है क्याकि बाजार उसके हाथ में है। या यो कहिए पॉलिटिक्स और बिजिनेस का ज्वाइंट सेक्टर (सयुक्त क्षेत्र) है। शिक्षक को कहा जाता है कि तुम भविष्य के निर्माता हो इसलिए वर्तमान की चिन्ता मत करो। मगर आज अगर समाज का और हमारे देश का भविष्य भी पालिटिक्स और बिजिनेस के हाथ में जा रहा है तो शिक्षक किस भविष्य का निर्माण करेगा ? शिक्षक का भविष्य के निर्माण में कोई स्थान हो इसके पहले यह तो तय हो कि जैसे पालिटिक्स एक पावर (शक्ति) है और बिजिनेस एक पावर है वैसे शिक्षण भी एक पावर है। शिक्षण भी एक शक्ति बने।

आज विश्वविद्यालय अपने को चाहे जितना स्वायत्त समझ ले, लेकिन शिक्षण सरकार द्वारा संचालित एक विभाग ही है। यानी जब हमसे यह कहा जाता है कि हम भविष्य के निर्माता हैं, तब उसका अर्थ यह है कि हम वन-पाप्यूलर गवर्नमेण्ट (लोक-अप्रिय सरकार) के पाप्यूलर एजेण्ट (लोकप्रिय प्रतिनिधि) है। यह काम आज शिक्षकों को सौंपा गया है। एक-एक विद्यालय एक-एक पद था। प्राथमिक शिक्षक चुनाव में बच्चों को ले कर नारे लगाता फिरता है। ऐसी विवशता कर दी है पक्षों ने कि शिक्षक उनके हाथ का खिलौना बन गया है। जैसे जमींदारी होती है, वैसे विद्यालय जमींदारी होने लगे हैं पक्षों की। "कोल्ड पोलिटिकल सिविल वॉर!" एक कोनशुद्ध राजनीति को ले कर शिक्षण-संस्था तक में चला है।

आज शिक्षक माँग रहा है कि शिक्षा का सरकारीकरण हो। जो गैर-सरकारी शिक्षण-संस्थाएँ हैं वे आज किसी-न-किसी सेठ या साहूकार के हाथ में हैं। वे विद्यालय उन सेठ, साहूकारों की मालमत्ता बन गये हैं। बिहार में तो विद्यालयों की खरीदी-बिक्री भी चलती है। उससे तंग आकर शिक्षक सरकारीकरण की माँग कर रहे हैं, शासन की शरण जाने को तैयार हैं। लेकिन वे यह समझते नहीं कि शासन में भी वे ही सेठ और वे ही नेता होते हैं।

और एक बात बहुत सोचने की है। सरकारीकरण से हम अपना स्थान बना भी लें समाज में, लेकिन हमारे बच्चों का क्या स्थान होगा? यह सोचना जरूरी है। और उनकी माँग तो हमारी माँगों से कई गुना ज्यादा होगी। संख्या की समस्या और जीवनस्तर की समस्या, ये दो चीजें ऐसी हैं, जो इस देश का भविष्य बनायेंगी या बिगाड़ेंगी। आज पुराना आसान, सरल जीवन नहीं रहा, आज जीवन में जटिलता है।

आज इस देश में शक्ति है एक ही, सरकार की। और वह भी कितनी शक्ति है उसका अनुमान लग सकता है। जब देश की रक्षा करनी होती है, शिक्षा का प्रचार करना होता है, भ्रष्टाचार का निर्मूलन करना होता हैं, जब-ये प्रश्न सामने आते हैं, तब हर वक्त कहा जाता है कि यह प्रश्न एक पक्ष का नहीं है, यह राष्ट्रीय प्रश्न है। ये सारे प्रश्न अगर राष्ट्रीय है, तो फिर पार्टी पालिटिक्स (पक्ष-राजनीति) किसका प्रश्न है? किसी ने कहा है, सम्प्रदाय, भाषा, जाति, अनेक प्रकार के क्षोभ हैं भारत में, उनका गुणन यानी भारतीय राजनीति होगी। जब तक क्षोभ उभाड़ेंगे नहीं, तब तक जनता का समर्थन

मिलेगा नही। वास्तव में यह दलबंदी है और इसी को हम लोकशाही कहते है। हर दल का एक घोषणा-पत्र होता है। और दल अपने घोषणा-पत्र को राष्ट्रीय सत्य कहता है—नेशनल ट्रुथ। हर पक्ष के पास सत्य है, लेकिन देश के पास भी कोई सत्य है? जो है वह पार्टी-सत्य है।

विज्ञान 'पार्टी-सत्य' को नही मानता। विज्ञान राष्ट्रीय सत्य को भी नही मानता। यह केवल सत्य मानता है। विश्वव्यापी सत्य मानता है, क्योंकि वह विश्वव्यापी है। शिक्षकों को भी 'पार्टी-सत्य' मानना नही चाहिए, राष्ट्रीय सत्य भी मानना नही चाहिए। विज्ञान के सत्य का 'फ्रांटियर (क्षितिज) विश्व-व्यापी है, वैसे शिक्षक के सत्य का फ्रांटियर भी विश्वव्यापी है। शिक्षक अपने को असुरक्षित महसूस करता है, तो उसकी रक्षा होनी चाहिए। यानी सरकार को शिक्षा के लिए साधन देना चाहिए। परन्तु इसके बाद क्या हमारी यह मांग होगी कि जिस सत्य को हम सिखाते हैं वह सत्य भी सरकार के हाथ में सुरक्षित रहे? इसलिए सत्य हमारा और साधन सरकार का, यह मांग हो सकती है। इग्लैण्ड में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को सरकार मदद करती है, लेकिन हस्तक्षेप नही करती। सरकार और समाज में कोई डिवाइडिंग लाईन—विभाजक रेखा है या नही? यह सारा समाज सरकार के पेट में समा जायेगा? इतना बड़ा पेट किसी समय फूट गया तो क्या हालत होगी? दूसरे देशों में जो परिणाम हुए हैं वे यहाँ भी होंगे। आज सरकार ने प्रजातंत्र की घोषणा कर अपना पेट इतना बढ़ाया है कि सारा समाज उसमें समा लिया है। इसलिए शिक्षक सुरक्षा की मांग करे, लेकिन शिक्षण सरकारी तंत्र से मुक्त रहे। प्रत्येक विद्यालय का अंतर्गत जीवन स्वायत्त चाहिए। निर्णय का अधिकार हमारे हाथ में चाहिए। अगर यह नही होगा तो विद्यालय सरकार और राजनीति में फंस जायेंगे और गतव्य तक पहुँच नही पायेंगे। ●

अ० भा० शान्तिसेना-रैली

शान्तिसेना की अखिल भारत रैली २१ वें सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर कुरुक्षेत्र (हरियाणा) में दिनांक १३ अप्रैल १९७३ को सवेरे ७ बजे होगी।

सब शान्ति सैनिकों, शान्ति सेवकों, तरुण-शान्तिसेना के सदस्यों तथा सहयोगियों को गणवेश के साथ रैली में भाग लेने का निवेदन है।

—कार्यालय
अ० भा० शान्तिसेना मंडल

वी० आर० मेहता

सरकारी नौकरियों से डिग्री का सम्बन्ध-विच्छेद हो

१—१४-१५ अक्तूबर १९७४ को वर्धा (महाराष्ट्र) में हुए अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन ने यह संस्तुति की है कि "सार्वजनिक व निजी, इन दोनों ही क्षेत्रों के लिए भर्ती करते समय नौकरी के साथ डिग्री की अनिवार्यता समाप्त करने की पूरी कोशिश होनी चाहिए।" सरकारी नौकरियों के लिए डिग्रियों की अनिवार्यता समाप्त करने की बात पहले भी उठ चुकी है और भारत सरकार को यह संस्तुति दी जा चुकी है कि आई० ए० एस० (भारतीय प्रशासन सेवा) जैसी कुछ अखिल भारतीय नौकरियों को छोड़कर बाकी सरकारी नौकरियों के लिए सरकारी विभाग अपना पाठ्यक्रम निर्धारित करें और डिग्रियों का आग्रह रखे बिना योग्य प्रत्याशियों के चुनाव के लिए इम्तहान लें।

२—चूंकि ज्यादातर मामलों में यह माना जाता है कि डिग्रियाँ बेकार होती हैं, और यह भी अनुभव किया जाता है कि किसी खास काम के लिए योग्य व्यक्ति के चुनाव में सिर्फ डिग्री कोई ठोस मापदण्ड नहीं बनती, फिर भी सरकारी नौकरियों के लिए डिग्रियों की अनिवार्यता खतम करने की दृष्टि से कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये हैं। इस निबंध का उद्देश्य यह सुझाना है कि इस समस्या का विश्लेषण हो प्रत्याशियों के चुनाव के तरीका और उसकी आवश्यकताओं का परीक्षण हो और यह विचार किया जाय कि सरकारी और निजी नौकरियों के लिए डिग्रियों की अनिवार्यता कहाँ तक खतम की जा सकती है।

३—जैसा कि सभी जानते हैं हिंदुस्तान की शिक्षा-प्रणाली विदेशियों की देन है। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य था पढ़े लिखे ऐसे लड़के-लड़कियों को तैयार करना, जो प्रशासकीय ढाँचे में क्लर्की तथा दूसरी नीचे स्तर की नौकरियों के लिए इस्तेमाल किये जा सकें। इस प्रणाली से बीते जमाने में उद्देश्य की प्राप्ति चाहे हुई हो लेकिन आजादी के बाद के जमाने में देखने से ही इसका विरोधाभास नजर आ जाता है। अब यह प्रतीति बढ़ रही है कि इस प्रणाली में आमूल परिवर्तन किया जाय और करीब-करीब इस बात की भी सर्वसम्मति बन गयी है कि परिवर्तन किस तरह किया जाय। शिक्षा आयोग ने राष्ट्रीय विकास के सम्पूर्ण कार्यक्रम में शिक्षा के कर्तृत्व के पुनर्मूल्यांकन और यदि शिक्षा को अपना सही रोल अदा करना है तो वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन का सही स्वरूप निश्चित करने और उन पर आधारित शैक्षिक विकास का एक

कार्यक्रम तैयार करने और इस कार्यक्रम को दृढ निश्चय और शक्ति से पूरा करने पर जो जोर दिया है वह ठीक ही है। आयोग ने जो सस्तुतियां की हैं उनका मूल अर्थ यही है कि शिक्षा को विकास और सामाजिक न्याय से जोडा जाय। इस विचार और शिक्षा के विभिन्न स्तरो पर उसके प्रचारो की विशद व्याख्या श्री श्रीमन्नारायण ने अपने "विकास और सामाजिक न्याय के साथ शिक्षा का अनुबन्ध" शीर्षक निबन्ध में अच्छी तरह किया है। उस निबन्ध में विभिन्न निष्कर्ष निकाले गये हैं उन्हे यहाँ दुहराना जरूरी नही है। वास्तव में उस निबन्ध में दिये सारे निष्कर्षों का अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन के "सर्वानुमति सम्बन्धी प्रतिवेदन" में समावेश कर लिया गया है।

४—सारी समस्या है मूल्य व दृष्टि परिवर्तन की। ज्ञान के किसी क्षेत्र-विशेष में डिग्री के साथ प्रतीक रूप में योग्यता का जो मूल जुडा हुआ है और यह दृष्टि कि डिग्री सफेदपोश नौकरी का साधन है, इन दोनो को एकदम बदल देना है। यह एक बडी समस्या है जो शिक्षा-प्रणाली, परीक्षा व नौकरी-व्यवस्था पर छाई हुई है।

५—कभी भी यह नही माना गया है कि शिक्षा जीविका की साधन मात्र है। दुर्भाग्य से शिक्षा की अब तक जो प्रणाली रही है उसने सिर्फ ऐसे मैट्रिकुलेटो व ग्रेजुएटो की ही संख्या बढाने मे मदद की है जो रोजगार, विशेषकर सरकारी नौकरियो के पीछे मारे-मारे फिरते हैं। शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओ के तीव्रगामी प्रसार से यह समस्या और बडी है, जिसका नतीजा यह हुआ है कि शिक्षा में गुणात्मक तो कम लेकिन संख्यात्मक वृद्धि काफी हुई है। शिक्षित बेकारो के प्रश्न ने राजनीतिक-सामाजिक व आर्थिक, गम्भीर समस्याओ को जन्म दिया है। शिक्षा व रोजगार के बीच अनुबन्ध स्थापित करने के लिए बडी तेजी से सुझाव दिये जा रहे हैं। हालांकि शिक्षा को रोजगार के साथ जोडने के उद्देश्य से शिक्षित बेकारो के लिए थोड दिनो के रोजगारपरक पाठ्यक्रम के रूप में कुछ अल्पकालिक हल जरूर सुझाये जा रहे हैं। फिर भी शिक्षा व रोजगार के बीच विधायक व निषेधात्मक दोनो प्रकार के अनुबन्ध बैठाकर समस्या का और सम्यक हल निकालना चाहिए।

६—शिक्षा व रोजगारी के बीच जो विधायक कडी है वह है शिक्षा का उत्पादक रोजगार से समवाय। इस सम्बन्ध में अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन की यह सस्तुति कि ग्रामीण व शहरी दोनो क्षेत्रो में सभी स्तरो पर शिक्षा सामाजिक रूप से उपादेय व उत्पादक, ऐसी क्रियाओ के माध्यम से दी

जाय, आर्थिक उन्नति व विकास के साथ अनुबंधित हो, ऐसा प्रशासकों व शिक्षाविदों, दोनों के ध्यान देने योग्य है जिनका ध्येय शिक्षा में परिवर्तन करना है। प्राइमरी स्कूलों के बच्चों को सजनात्मक क्रियाओं के माध्यम से सामान्य शिक्षा दी जाय और साथ ही उन्हें सामाजिक व प्राकृतिक परिवेश का निकट परिचय प्रदान किया जाय और जहाँ तक माध्यमिक स्कूलों के शिक्षार्थियों का सम्बन्ध है उन्हें स्थानीय आवश्यकताओं व श्रमशक्ति की दृष्टि से ऐसा क्रियात्मक प्रशिक्षण देना चाहिए जो कोई-न कोई रोजगार को देनेवाला हो हो, साथ ही सामाजिक दृष्टि से उपयोगी व क्रियात्मक भी हो। उच्च माध्यमिक स्तर पर जर्मनी तथा अन्य पश्चिमी देशों के नमूने पर पालिटेक्नीक (बहुशिल्प शिक्षणालय) प्रशिक्षण में प्रयुक्त होनेवाले अनेक विषयों में क्रियात्मक व धन्धे सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करनेवाली शिक्षा की एक बहुमुखी प्रणाली को तात्कालिक आवश्यकता के रूप में लागू किया जाना चाहिए। शिक्षण का सारा ढाँचा ऐसा हो कि प्रत्येक लड़के या लड़की को शिक्षा देकर न केवल कोई-न कोई खास काम करने योग्य बनाया जाय बल्कि उसे ऐसे उपयोगी नागरिक के रूप में भी तैयार किया जाय जो किसी भी उत्पादक कार्य में लगाया जा सके और जो राष्ट्रीय विकास-कार्यक्रम में भी प्रभावोत्पादक ढंग से हिस्सा ले सके। शिक्षा की विषय-वस्तु में सुधार से आज की शिक्षा को दिये गये मूल्य में भी निश्चित ही अभिवृद्धि होगी और यदि सैद्धान्तिक विषय वस्तुओं के बजाय व्यावहारिक एवं सामान्यमूलक समस्या समाधानमूलक शिक्षा पर जोर दिया जाने लगेगा तो सिर्फ डिग्री को जो महत्त्व दिया जाता है वह खत्म हो जायगा।

७—एक दूसरा पहलू यह है कि शिक्षा व रोजगार के बीच आज जो सम्बन्ध है उसका विश्लेषण हो और डिग्री व सरकारी नौकरियों के बीच जो अवांछित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उसका विच्छेद किया जाय। तब परिवर्तित हो रही शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में रोजगार व्यवस्था का प्रश्न सामने आता है और तभी सरकारी व निजी क्षेत्र दोनों प्रकार की नौकरियों से डिग्री के सम्बन्ध-विच्छेद की भी समस्या सामने आती है। इसे दुहराने की जरूरत नहीं है कि यदि एक बार शिक्षा व डिग्री का सम्बन्ध विच्छेद हो जाय या यों कहिये कि रोजगार का डिग्री से सम्बन्ध विच्छेद हो जाय तो आज डिग्री के साथ जो एक झूठी प्रतिष्ठा जुड़ जाती है वह खत्म हो जाय। ज्यादातर यही होता है कि डिग्री से जो प्रतिष्ठा जुड़ जाती है उससे लड़के-लड़कियों की यह धारणा बन जाती है कि शिक्षा के जरिये ज्ञान प्राप्ति नहीं बल्कि डिग्री की प्राप्ति कहा

ज्यादा महत्वपूर्ण है। इससे होता यह है कि डिग्री पाने के लिए किसी भी तरह इम्तहान पास करने की मनोवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। नतीजा यह होता है कि इस व्यावसायिक बाहरी इम्तहान को न केवल एक झूठा महत्त्व मिलता है बल्कि परीक्षा की पूरी प्रणाली ही भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए रोजगार के साथ डिग्री का सम्बन्ध-विच्छेद करना ज्यादा मौलिक सुधार है। जिससे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की कई बुराइयों पर प्रहार होगा और इससे भर्ती व परीक्षाओं में सुधार के जरिये शिक्षा की गुणात्मकता बढ़ाने के लिए बहुत ही आवश्यक सुधार का भी रास्ता साफ हो जायगा। सवाल यही है कि शुरुआत कैसे हो। इस सम्बन्ध में सरकार, शैक्षिक-संस्थाओं और रोजगार देनेवाले माध्यमों द्वारा कई कदम उठाने पड़ेंगे। समुदाय से कड़ी बैठाना एक उपाय होगा। शिक्षित युवकों की बेरोजगारी की आज की समस्या और सफेद-पोश नौकरियों के लिए इस अन्धाधुन्ध दौड़ का कारण है एक तरफ शैक्षिक-संस्थाओं द्वारा तैयार किये गये विभिन्न योग्यताओं व कुशलताओंवाले शिक्षार्थियों तथा दूसरी ओर समाज के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार से प्रशिक्षित लोगों के बीच की दूरी। यह दूरी परम्परागत शैक्षिक-प्रणाली व समाज के बदलते स्वरूप के बीच की है। यह शिक्षा-व्यवस्था व रोजगार-व्यवस्था के बीच एक अनुपयुक्त सम्बन्ध है। शिक्षा-प्रणाली के लिए सुझाये गये विभिन्न उपाय यह दूरी हटाने में कारगर हो सकते हैं। लेकिन उपयुक्त महत्त्वपूर्ण व जैविक सम्बन्ध-स्थापन के लिए नौकरी-व्यवस्था में सुधार का काम भी साथ-ही-साथ हाथ में लेना है। वैसे ऐसा वातावरण बन गया है जिसमें शिक्षा-सम्बन्धी सुधार के लिए शिक्षा आयोग द्वारा की गयी महत्त्वपूर्ण संस्तुतियाँ और सर्वानुमति सम्बन्धी प्रतिवेदन में दी गयी अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन की भी संस्तुतियाँ केन्द्र, राज्य सरकारों, विश्व-विद्यालयों व शैक्षिक-संस्थाओं द्वारा स्वीकार कर ली जायगी, फिर भी जब तक रोजगार-व्यवस्था के सुधार के लिए भी वैसे ही कदम नहीं उठाये जाते, तब तक कोई खास फर्क नहीं होगा।

८—रोजगार-व्यवस्था के फिर से संयोजन के लिए कुछ उपाय निम्न-लिखित हैं जिन पर ध्यान देना चाहिए :

(१) सरकारी विभागों की भर्ती के सम्बन्ध में लागू नियमों में प्रभावशाली परिवर्तन किया जाय।

(२) सचिवालय एकाउन्ट, प्रशासन और मंत्रालय सम्बन्धी नौकरियों के लिए व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाये जायें।

(३) नौकरी देनेवालो व नौकरी में आनेवाल लोगो की दूरी कम करने के लिए रोजगार दफ्तरो को और अधिक क्रियाशील बनाया जाय। इन दफ्तरो को पेशे व रोजगार दोनो के स्वरूप का व्यवस्थित अध्ययन करना चाहिए।

(४) डिग्रियो पर अनावश्यक जोर और उन कामो के लिए भी जहाँ कम योग्यताएँ भी काम दे सकती हो। ज्यादा योग्यतावाले व्यक्तियो पर जोर देने का प्रोत्साहन न दिया जाय।

(५) केन्द्र व राज्य दोनो स्तरो पर पेशो के विश्लेषण व वर्गीकरण आवश्यक खास रोजगार की परख व उसकी खोज रोजगार-व्यवस्था में व्यावहारिक प्रशिक्षण के समावेश व विभिन्न शिल्पो एव पेशो से सम्बन्धित प्रशिक्षण के आयोजन के लिए घटको का निर्माण होना चाहिए।

१. भर्ती के नियम-उपनियम

सरकारी तमाम विभागो के भर्ती के चालू नियम उपनियम अब पुराने पड गये हैं। करीब-करीब सभी कामो के लिए कम से कम योग्यता स्नातकीय स्तर से थोडा ही कम है। कुछ खास पेशे सम्बन्धी जैसे डाक्टरी इजीनियरी या औद्योगिक कार्यों के लिए किसी कम-से-कम डिग्री की माग ठीक कही जा सकती है लेकिन मत्रालयी या उससे कम के प्रशासकीय ज्यादातर कामो के लिए डिग्री पर जोर देना जरूरी नही भी हो सकती है। क्लर्की की जगहो के लिए तो भर्ती उन लोगो के लिए खुली होनी चाहिए जिन्होंने माध्यमिक स्तर की शिक्षा पूरी कर ली। इसके लिए डिग्री पर जोर नही दिया जाना चाहिए। ऐसी जगहो की भर्ती के लिए जो भी प्रशिक्षण या अनुभव जरूरी हो वह नौकरी में आ जाने पर भी दिया जा सकता है। दफ्तर काय प्रणाली प्रशासकीय रीति-परम्पराओं मत्रालयी रिवाजो व हिसाब किताब व्यवस्था के प्रशिक्षण के लिए व्यावसायिक स्कूलो व आई० टी० आई० (भारतीय औद्योगिक सस्थाओं) में सुविधाए प्रदान की जानी चाहिए। यही नहीं कि ऐसी नौकरियो के लिए डिग्री की अनिवार्यता खतम कर दी जाय बल्कि यह एक निश्चित नियम बना दिया जाय कि ऐसे कामो के लिए डिग्री को अयोग्यता में शुमार किया जायगा। डाक्टरी इजीनियरी कृषि और दूसरे क्षेत्रो के पेशे सम्बन्धी विशेष कामो के लिए किसी कम-से-कम डिग्री का आग्रह रखा जा सकता है लेकिन यहा भी भर्ती व चुनाव के नियमो में काफी सशोधन की जरूरत है। डिप्लोमा स्तर के प्रशिक्षण प्रौद्योगिक शिक्षा और व्यवसाय के अतिरिक्त प्रशिक्षण के लिए

भी अब काफी सुविधाएँ हो गयी हैं, और जहां भी स्नातकीय योग्यताओं की जरूरत न हो, वहां आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त लोगों की नियुक्ति की जानी चाहिए। एक ही काम के लिए डिप्लोमा रखनेवालों व डिग्री रखनेवालों के बीच जो कशमकश होती है उसे खतम किया जाना चाहिए। जिन कामों के लिए ऊँचे किस्म की जिम्मेदारी की जरूरत हो वे डिग्रीधारियों को दिये जा सकते हैं लेकिन औसत स्तर की देखभाल की जिम्मेदारीवाली जगहें तो डिप्लोमा रखनेवालों को ही दी जायँ। अब विशेष प्रकार के प्रशिक्षण व बहुमुखी पाठ्यक्रम के लिए भी प्रशिक्षण की सुविधाएँ हो गयी हैं। ऐसे पाठ्यक्रमों के लिए भर्ती के नियम अक्सर सामान्य प्रकार के ही होते हैं। उदाहरण के लिए मोटर-विज्ञान, वातानुकूल और रेफ्रिजेरेशन, यंत्र-उपकरण और उत्पादन तकनीक आदि के लिए आवश्यक योग्यता के तौर पर यांत्रिक-इंजीनियरी की मोटी-मोटी बातों की जानकारी रखी गयी है। भर्ती के वर्तमान नियमों-उपनियमों को कार्य की आवश्यकतानुसार ज्यादा वास्तविक बनाने की दृष्टि से यह जरूरी है कि उनकी बारीकी से परख की जाय। भर्ती के नियमों को भी समय-समय पर जांच होती रहे ताकि वे बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप रहें।

२. व्यावसायिक और वृत्ति-सम्बन्धी प्रशिक्षण

दूसरा उपाय है व्यावसायिक और वृत्ति-सम्बन्धी प्रशिक्षण को बहुमुखी बनाया जाय। व्यावसायिकीकरण के बारे में काफी चर्चा की गयी है लेकिन इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये हैं। व्यावसायिक शिक्षा या वृत्ति-सम्बन्धी प्रशिक्षण के सम्बन्ध में गुणात्मक आयोजन करते समय वांछित लक्ष्य का ध्यान रखना चाहिए। देश की अर्थ-व्यवस्था व सामाजिक-आर्थिक ढांचे में जिन प्रशिक्षितों को उपयुक्त पार्ट अदा करना है उनके लिए जो हुनर, ज्ञान व वैयक्तिक गुण वांछित हैं उनका विश्लेषण व विकास करना आवश्यक है। निर्दिष्ट व्यवसायों के लिए जो धन्धा या काम जरूरी है उसका ठीक से विश्लेषण होना चाहिए। धन्धों व व्यवसायों के सम्बन्ध में विशिष्ट आवश्यकताएँ तय की जायें और काम सम्बन्धी निर्दिष्टताओं के अनुरूप व्यावसायिक शिक्षा और धन्धे से प्रशिक्षण को ध्यान में रखते हुए नपा-तुला कार्यक्रम विकसित किया जाना चाहिए। यहां रोजगार देनेवाले माध्यमों के रोल पर जोर देना आवश्यक है। नये भर्ती हुए लोगों के लिए काम के साथ-साथ दिये जानेवाले प्रशिक्षण को अच्छा बनाने की दृष्टि तथा स्वेच्छया शिष्यवृत्ति की एक प्रणाली अपनाने के लिए

भी रोजगार देनेवाले माध्यमों को, जैसा कि कई विकसित देशों में होता है, आगे आना चाहिए।

३. रोजगार दफ्तरों को क्रियाशील बनाना

रोजगार-दफ्तर रोजी की तलाश करनेवालों व रोजी देनेवालों के बीच की कड़ी है। आज जैसा हो रहा है काम चाहनेवाले रोजगार-दफ्तरों की शरण-जाते हैं। लेकिन नौकरियों की काफी बड़ी संख्या के लिए यह जरूरी नहीं है कि उनके बारे में रोजगार-दफ्तरों को बताया ही जाय और और न काम देनेवालों के लिए यह जरूरी है कि वे रोजगार-दफ्तरों द्वारा सुझाये नाम स्वीकार ही करें। रोजगार-दफ्तरों की यह एक मौलिक कमजोरी है और जब तक इस कमजोरी को दूर करने के लिए कदम नहीं उठाये जाते, रोजगार-दफ्तर काम देने के कोई सशक्त माध्यम नहीं बन सकते। पंजीकरण की प्रणाली में भी परिवर्तन की जरूरत है। वर्गीकरण के हिसाब से जो पंजीकरण कराया जाता है उसमें न पूरी तौर से शिक्षा सम्बन्धी योग्यताओं का ख्याल किया जाता है न खास उपलब्धियों का और न अनुभव का ही। परिणाम यह होता है कि मालिकों के लिए सही ढंग के उम्मीदवारों के चुनाव में रोजगार-दफ्तर एक बड़े ही कमजोर माध्यम बनकर रह जाते हैं। रोजगार-दफ्तर को व्यावसायिक मार्गदर्शन देना चाहिए। काम मिल सकने के मौकों के बारे में जानकारी देनी चाहिए, सलाह-मशविरा देना चाहिए और कुछ प्रशिक्षण भी। रोजगार-दफ्तर एक माध्यम है, श्रमशक्ति आँकड़ों के बारे में शायद एकमात्र माध्यम। लेकिन यह माध्यम सर्वांगीण सही आँकड़े प्रदान करने में शायद ही सक्षम हैं। रोजगार-दफ्तर शिल्प सम्बन्धी सर्वेक्षण कराते रहते हैं लेकिन इन सर्वेक्षणों में विस्तृत वर्गीकरण, वर्णन, पर्याप्त सम्पर्क और अनेक प्रभाव सम्बन्धी आँकड़े नहीं रहते। अगर यह व्यवस्था सुधारी जा सकती हो, जरूरत पड़ने पर कानून के जरिये भी, तो श्रम-शक्ति और शैक्षिक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए रोजगार-दफ्तर सही और उपयोगी आँकड़ों के माध्यम बन सकते हैं। पेशेवरों व तकनीकी कामगारों का ही वर्गीकरण कर देना काफी नहीं है। विभिन्न पेशेवरों—जैसे इंजीनियरों, इमारत बनानेवालों, पैमाइश करनेवालों, नर्सों, दवाफरोशों, केमिस्टों, डाक्टरों, वैद्यों, नक्शा बनानेवालों, इंजीनियरी सम्बन्धी टैकनीशियनों, पशु-चिकित्सकों तथा कृषि-विशेषज्ञों आदि का विस्तृत वर्गीकरण उपयोगी होगा। इसी तरह, क्लर्की सम्बन्धी कामों, पुस्तक-संरक्षण, कैशियर, विक्रेता, दूकान-

सहायकों, संकेतलिपिकों, टाइपिस्टों, इंश्योरेन्स क्लर्कों, बैंक-क्लर्कों, प्रूफ पढ़नेवालों आदि के बारे में विश्लेषण और उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। नयी विकसित होती हुई अर्थ-व्यवस्था में नये नये कामों को स्पष्ट रूप से जानने और तेजी से बदलती हुई आर्थिक स्थितिवाले क्षेत्रों में विस्तार से वर्गीकरण की बहुत जरूरत है। उदाहरण के लिए कृषि-क्षेत्र में हम किसानों, खेत पर काम करनेवाले मजदूरों, टैक्टर ड्राइवरों ग्रामीण मिस्त्रियों, फाम-व्यवस्थापकों, गोदाम की व्यवस्था करनेवालों, पशु-चिकित्सकों और बिजली मिस्त्रियों का अलग-अलग वर्गीकरण कर सकते हैं। ऐसा वर्गीकरण करने से शिक्षा व प्रशिक्षण के उपयुक्त कार्यक्रम बनाने के मौके मिलेंगे और इस सीमा तक किसी खास डिग्री या डिप्लोमा की जरूरत नहीं रहेगी। नौकरी और डिग्री का सम्बन्ध-विच्छेद रोजगार-दफ्तरों के माध्यम से रोजी देकर सबसे अच्छी प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि एक तरफ तो वे मालिकों को विशिष्ट आवश्यकताओं की ठीक-ठीक जानकारी कराने और दूसरी तरफ ज्यादातर मामलों में बिना किसी चालू डिग्री या डिप्लोमा की अनिवार्यता मानते हुए उपयुक्त योग्यतावाले प्रत्याशियों को काम दिलाकर एक सक्रिय रोल अदा कर सकते हैं।

४. ऊँची शैक्षिक योग्यता का अनावश्यक महत्त्व

नौकरी व डिग्री का सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए जहाँ भर्ती के नियमों में व्यवस्थित सुधार की जरूरत है वहीं मौजूदा नियमों-उपनियमों के अन्तर्गत भी यह निर्दिष्ट कर देने की जरूरत है कि जिन कामों के लिए कम योग्यता वाले लोगों से काम चल सकता है उसके लिए ऊँची योग्यता के व्यक्तियों को प्राथमिकता न दी जाय। इसके विपरीत, किसी खास काम के लिए ऊँची डिग्रियावाले लोगों को निश्चित ही अलग रहना चाहिए। किसी काम के लिए जो कम-से-कम योग्यता निर्दिष्ट रहती है उसके बजाय ऊँची योग्यता के व्यक्तियों के चुनाव की प्रवृत्ति से ऊँची योग्यता की प्राप्ति को अनावश्यक महत्त्व मिल जाता है। यह एक राष्ट्रीय बरबादी है। यह सामाजिक शोषण भी है। विकसित देशों में, जहाँ शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ काफी सुलभ हैं और ऊँची योग्यता के प्रत्याशी भी सुलभ होते हैं, काम देनेवालों में यह चेतना रहती है कि वह काम कम-से-कम योग्यता या अनुभव वाले व्यक्ति से भी हो सकता है तो किसी ऊँची योग्यतावाले व्यक्ति से कराकर उसकी शक्ति बरबाद न की जाय। अगर ऊँची योग्यतावाले व्यक्ति की जरूरत है तो उसे भी नौकरी दी जा सकती है। लेकिन उन लोगों की कीमत पर नहीं जो अपनी

योग्यता के अनुरूप कामों पर लगाये जा सकते हैं। इस दिशा में तुरन्त एक कदम यह नियम बनाकर उठाया जा सकता है कि कार्यों के कामों के लिए उनकी भर्ती की जायगी जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा की अन्तिम सार्वजनिक परीक्षा पास कर ली हो। ऐसे कामों के लिए ऊँची योग्यतावाले व्यक्तियों की दर्खास्त पर विचार नहीं होगा। अगर कार्यों के कामों के लिए रखी गयी कम-से-कम उम्र घटाई और कम कर दी जाय तो ऊँची योग्यतावाले लोग अपने आप छँट जायँगे।

५. केन्द्रीय व राज्यस्तरीय के घटक

अन्तत यह जरूरी लगता है कि केन्द्रीय व राज्य सरकारों के सामान्य प्रशासन विभागों या नौकरियों से सम्बन्धित विभागों में एक घटक खोला जाय। ऐसे घटक का काम होगा भर्ती के चालू नियमों का सूक्ष्म निरीक्षण और उनमें समय-समय पर सुधार। यह घटक कुछ ऐसा अध्ययन भी कराता रहेगा जिससे शिक्षा-प्रणाली व नौकरी-व्यवस्था क बीच की कडी बनी रहे। यह रोजगार दफ्तरों से भी सम्पर्क रखेगा और व्यावसायिक नमूने का व्यवस्थित ढँग से विश्लेषण भी करेगा। विश्लेषण, जानकारी प्रदान व संशोधन की प्रक्रिया ऐसे घटक की विशेष जिम्मेदारी होनी चाहिए।

९—ऊपर कुछ सुझाव दिये गये हैं। इस निबन्ध की अपनी सीमाएँ हैं। फिर भी आज सामाजिक-आर्थिक दशाओं में चतुर्दिक परिवर्तन और सामाजिक ढाँचो व आर्थिक संगठनों के पुनर्निर्माण की आज की प्रक्रिया और उसके परिणाम स्वरूप वातावरण में हो रहे परिवर्तन की शिक्षा के लिए चुनौती बनने को अच्छी तरह प्रकाश में लाना है। साथ ही समुदाय से कडी स्थापित करने की जरूरत और शिक्षा प्रणाली तथा नौकरी-व्यवस्था में सुधारों की आवश्यकता का भी लोगों के सामने लाना है। यदि लोगों की भर्ती व चुनाव सम्बन्धी हमारी नीतियों में इस निबन्ध से नये-नये सर्जनात्मक सुधारों को प्रोत्साहन मिलता है और साथ ही शिक्षा-प्रणाली तथा नौकरी-व्यवस्था के बीच सामंजस्य बैठाने में मदद मिलती है तो उद्देश्य की काफी सीमा तक प्राप्ति हो जायगी।

उपकुलपति, गुजरात कृषि विश्वविद्यालय

चाडली फ़िलूरी

अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए नये तरीके

[पढने का आदत कक्षा मे ही बनती और मिटती है। हाल ही मे ट्यूनिस के शैक्षणिक विनान-संस्थान के विशेषज्ञों ने ट्यूनीशिया के स्कूलों के लिए अध्ययन प्रेरक प्रणाली विकसित की है। इसके द्वारा न केवल जीवन पर्यन्त अध्ययन की आदत डाली जाती है बल्कि बालको की लिखित और मौखिक अभिव्यक्ति को भी मांजा जाता है।—स०]

बुजुर्ग युवको के भावाभिव्यक्ति के ढग के प्रति आजकल कुछ अधिक ही *आलोचनात्मक रुख अपनाये हुए प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में आधुनिक युवक* मूक, अनिश्चयी और यहां तक कि एकदम गूगा है और बुजुर्ग लोग इस मूकता को आधुनिक युवको द्वारा जिये जा रहे उथले जीवन का ही प्रतिबिम्ब मानते हैं। उनके *कोलाहलपूर्ण प्रदर्शनो, गीतो और सगीत पर उनकी कला और मॉड* अभिव्यक्तियो पर हमेशा ही चिढ़ोक्ति (क्लीशे) नारा और अल्पजीवी विचार हावी रहता है।

ऐसा लगता है कि शिक्षको के पास अभिव्यक्ति के स्तर में आयी इस गिरावट की केवल एक ही सफाई है और वह है अध्ययन में युवको की रुचि।

क्या हमें यह स्थिति अपने समय का अपरिहार्य रोग समझना चाहिए? *युवको में आयी* अभिव्यक्ति के स्तर की गिरावट के लिए क्या हमें एकमात्र लोक माध्यमो को उत्तरदायी ठहराना चाहिए? यह एक आवश्यकता से अधिक सरल सफाई होगी। और न ही हमें आधुनिक युवक के सम्बन्ध में बुजुर्गों की राय को *पीढ़ियो की खाई का एक और पहलू कहकर टाल देना चाहिए। सम्भवत यह* अपेक्षाकृत एक अधिक यथार्थवादी तर्क होगा कि स्वय को अभिव्यक्त करने में युवको की क्षमता में हुए ह्रास शिक्षा के स्तर में आयी गिरावट के कारण हैं।

सचाई *यह है कि जब बुजुर्ग लोग अपनी पीढ़ी के स्कूली छात्रो की* तुलना आज के स्कूली छात्रो से करते हैं तो सम्भवत वे यह भूल जाते हैं कि अनेक देशों

में वल और परसा के स्कूल आज की तुलना में वहा अधिक चयनात्मक थे। आज के अधिकाश छात्र एव एसे सुविधाजनक सामाजिक वग से आते हैं जिनके पास सास्कृतिक परम्परा क नाम पर मौलिक 'लोर' परम्परा ही हाती है।

यह कहना कि एक सुविधाजनक परिवेश के बच्चा को अध्ययन पसन्द नहा होता है किसी भा प्रकार से एक मूल्यात्मक निणय नहा है बल्कि यह ता एक सीधा सादा तथ्य कथन है। अगर वे पढ़त नहा ह अगर उन्ह अध्ययन करना पसन्द नहा है तो इसका कारण यह है कि उनके परिवेश ने उन्ह पढ़ने के लिए कभा प्रोत्साहित ही नहा किया है।

उदाहरणाथ ट्यूनीशिया में १९६६ ६८ में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चला था कि स्कूलो के पुस्तकालयो की स्थिति बहुत ही दयनीय थी, (यहाँ तक कि नये-नये खुले स्कूलों में तो उनका अस्तित्व तक न था) या फिर वे एकदम बेकार ह, शिक्षाशास्त्रीय या शक्षणिक मापदण्ड के अनुसार नहीं छाटी गयी थी।

छात्रो की सामाजिक पृष्ठभूमि की कमियों को दूर करना तो अलग रहा ये स्कूल तो अध्ययन को पाठयक्रम का एक भाग बनाकर उनमें आमतौर पर और भी अधिक वृद्धि करत प्रतीत होते है। छात्रो और अध्यापकों दोनो को ही पाक्षिक सेन्से द लैक्चर या अध्ययन का घण्टा समान रूप से अवरोधक कृत्रिम और उबाऊ लगते है।

फिर भी अभिव्यक्ति की सुविधा केवल लिखित रचनाओ में पाए जाते नमूनो की परख के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। सक्षम और सार्थक लेखको की रचनाओ से परिचित होना अपूर्व मानवाय अनुभव को अनुभूत करने का अवसर प्रदान करता है। लेकिन इससे भी अधिक पाठक प्रत्येक पृष्ठ पर यह देख सकता है कि एक कुशल लेखक एक एसे ढग से मनोभावा या विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए किस कुशलता से शब्दो और मुहावरो का प्रयोग करता है कि मनोभाव या विचार न केवल स्पष्ट हो जाते ह बल्कि वे अधिकतम गहनता और प्रगाढ़ता से सम्पन्न भी हो जाते ह।

जब अध्ययन आदत बन जाता है तो किसी भी लेखक की रचनाओ से घनिष्ठता पाठक को सहभागिता अध्ययन की ओर ले जाती है। यही वह सह भागिता है जो उस समय हैनरी मिलर के मस्तिष्क में थी जब उसने यह कहा था कि जब भी कोई व्यक्ति पुस्तक उठाता है तो उसे यही आशा होती है कि वह एक एसे व्यक्ति से मिलने जा रहा है जो स्वय उसके अपने दिल की बात कहेगा जिसके साथ वह उन त्रासदियों और आनदो का अनुभव कर सकेगा।

जिन्हे स्वय प्रकाश में लाने के मामले में हम अत्यधिक सकोची और भीरु होते हैं, वे अपने सपने देख सकेगा जो जीवन को कही अधिक मोहक बना देते हैं और सम्भवत एक ऐसा जीवन-दर्शन मिल जायेगा जो हमारे मुँह बाये खडी परीक्षाओ और समस्याओ का सामना करने में हमें और अधिक सक्षम व समर्थ बना देगा। *इस प्रकार की सहभागिता कभी भी निष्क्रिय नहीं होती है।*

किशोरावस्था स्वच्छदता और उत्साह की अवस्था होती है। सबसे अधिक तो वह अध्ययन की अवस्था होती है। कुछ परिष्कृत बुजुर्ग उस सबकी सुस्पष्ट स्मृति जीवित नही रख पाते हैं जो कुछ उन्होंने अपनी किशोरावस्था में पढा होता है। किसी भी व्यक्ति का जीवन—यहाँ तक कि उसका समूचा व्यक्तित्व-बहुत हद तक प्राय उस अध्ययन से निर्धारित होता जो उसने अपने जीवन के इस काल-खण्ड में किया होता है।

एक एसे समय में जबकि दैनदिन जीवन मे मानवीय तत्व का क्षय किया जा रहा है, यह अपने आप में एक अत्यधिक दुखद बात है कि वे ही स्कूल, जिनका मूल कार्य सीखने और जीने के लिए उनकी पूर्ण मानवीय क्षमताओ के विकास में छात्रो की सहायता करना है, आज भी उस समृद्धि की अपेक्षा कर रहे हैं जोकि एक गम्भीर अध्ययन प्रदान करती है और मिलन-स्थल का भी, जो वह अध्ययन, छात्र और लेखक के लिए उपलब्ध कराती है।

अध्ययन मात्र एक साधन है, साध्य नही और छात्रो को अध्ययन की ओर प्रेरित करने के लिए तकनीकें खोज निकालने में तीन मूल प्रश्नो ने हमारा दिशा-निर्देश किया था—हमें क्या पढना चाहिए? हमे क्यो पढ़ना चाहिए? हमें कैसे पढना चाहिए?

ट्यूनीशिया में हमारी अध्ययन अभिप्रेरणा परियोजना ने इन तीनो की ही उपेक्षा कर दी थी। हमने स्वय से प्रश्न किया था कि क्या यह सम्भव नही है कि छात्रो में अध्ययन की लगन पैदा करने के लिए वे ही दृश्य श्रव्य माध्यम प्रयोग किये जायें जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वे अध्ययन के प्रति युवको को हतोत्साहित करते हैं? दूसरे शब्दो में, एक ऐसी चीज के आधार पर, जिसकी ओर युवक अत्यधिक अभिप्रेरित हैं, क्या हम उन्हे दूसरी गतिविधियो की ओर—विशेष कर अच्छे साहित्य के अध्ययन की ओर—अभिप्रेरित नही कर सकते हैं? यह पहला कदम था।

अगली अवस्था युवको को पढ़े हुए साहित्य के बारे में चिन्तन, मनन, अनुसधान, विचार-विमर्श और विचारो के आदान-प्रदान के लिए प्रेरित करने

और इस प्रकार अध्ययन में स्वय नये आयाम खोजने में समर्थ बनाने के लिए उन्ही माध्यमो का प्रयोग करने की थी। १९६८ में हमने अपनी यह कार्य-परिकल्पना ट्यूनीशिया के शिक्षा अधिकारियो, स्कूल निरीक्षको और शैक्षिक परामर्शदाताओ को पेश करने का फैसला किया। शैक्षिक समस्याओ की अपेक्षाकृत सुनिश्चित रूप में निरूपित करने के लिए हमने अपनी सिफारिशें उपरोक्त तीन प्रश्नो पर आधारित की थी।

क्यों पढ़ें ? यह जरूरी नही है कि किसी पाठ्यक्रम की सिफारिश करने का अर्थ यह भी हो कि छात्र उसका अनुसरण करेंगे—फिर भले ही वह सिफारिश एक आदेश के रूप में हो या कि मात्र एक मैत्रीपूर्ण परामर्श। यहाँ तक कि परीक्षाओ की धमकी इस बात की कोई गारण्टी नही देती। इसलिए हमने यह फैसला किया कि हमें स्कूली परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना होगा, जिससे कि छात्र को यह महसूस कराया जा सके कि उसने स्वय चुनाव किया है और वह किसी कृति विशेष को पढने की सच्ची और निजी आवश्यकता से प्रेरित है। हम बेहतरीन शुरुआत की कल्पना लेकर चले थे अर्थात् हमने अपने दिमाग में एक ऐसा कमजोर और आलसी छात्र रखकर यह कार्यविधि तैयार की थी जिसने १५०-२०० पृष्ठ की किताब कभी भी अत तक पढी ही न थी। जहाँ तक भी सम्भव हो, पाठाभ्यास को पारम्परिक स्कूली पृष्ठभूमि से दूर रखा जाय। हम तो उसे स्कूल से एकदम अलग चलाने को तैयार थे लेकिन सुविधाओ की कमी के कारण हमें यह विचार छोड देना पडा। अत में हमने एक कक्षा में काम करने का फैसला किया लेकिन डेस्को के स्थान पर स्टूल और कुर्सियां रख कर, जो कि आवश्यकतानुसार इधर-उधर खिसकाई जा सकती थी, कमरे की व्यवस्था बदल दी थी। कमरे मे एक प्रदर्शन फलक, एक प्रोजेक्टर, एक इधर से उधर जाया जा सकनेवाला चित्रपट और एक टेपरिकार्डर भी था।

सत्र में उपस्थिति पूर्णत ऐच्छिक थी। एक मात्र शर्त यह थी कि छात्र एक ही शिक्षा स्तर और इस प्रकार कमोबेश एक ही आयु के होने चाहिए। यह अध्ययन प्रेरणा-सत्र स्कूली घण्टो से अलग लगाये गये थे और तब तक चलते रहे थे जब तक कि छात्रो की बहुसख्या ने चाहा था। एक ग्रुप में २५-३० से अधिक छात्र नहीं होने दिये थे।

क्या पढ़ें ? शुरुआत हमने प्रस्तुतीकरण के स्तर (इस मामले में सेकेण्ड्री की तृतीय वर्ष की कक्षा) और पुस्तक का चयन करने के लिए समिति की स्थापना से की। हमें यह कामचलाऊ तरीका इसलिए अपनाना पडा था, क्योंकि

ट्यूनीशिया में स्कूली बच्चों की वास्तविक अध्ययन अभिरुचियों के बारे में इससे पहले कभी कोई अन्वेषण या जाँच-पड़ताल की ही नहीं गयी थी। बाद में 'द डायरी ऑव ऐन फ्रांक' जैसी पुस्तकों का प्रयोग करते हुए हमने अपने परीक्षण जारी रखे तो हमें स्वयं यह पता चलना शुरू हो गया कि छात्रों की दिलचस्पी किसमें है।

तब से लेकर अब तक ट्यूनिस स्थित शैक्षणिक अध्ययन तथा स्कूली बच्चों के अध्ययन के सम्बन्ध में अनेक सर्वेक्षण कर चुका है और बच्चों के अध्ययन के लिए पुस्तकों का चयन करने में निष्कर्षों को पथ-प्रदर्शक की तरह इस्तेमाल कर चुका है। क्योंकि यही वह चयन है जो बच्चों को न केवल अध्ययन के लिए वास्तविक प्रेरणा देता है बल्कि उनकी समूची बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक बनावट भी निर्धारित करता है।

कैसे पढ़ें ? हेनरी मिलर ने ठीक ही कहा है कि अन्य किसी भी वस्तु की तरह पुस्तक भी उस चीज को छुपाने के लिए एक बहाने के रूप में प्रायः इस्तेमाल की जाती है जिसकी हम वास्तव में तलाश में होते हैं। इस प्रकार अध्ययन मनोरंजन का मात्र एक रूप हो सकता है। (पत्रिकाएँ और जासूसी कहानियाँ) या जल्दी से सूचनाएँ समावेशित करने का एक साधन (समाचार पत्र और किसी की रचना से सम्बद्ध लोकप्रिय किये जा चुके उद्धरण) या सीखने, स्वशिक्षा और तर्कसंगत विवेचन का एक सुअवसर।

अध्ययन-प्रोत्साहन की तकनीक प्रमारयोजना के लिए आविष्कृत सभी गतिविधियाँ अध्ययन के अन्तिम प्रकार से सम्बद्ध हैं।

पूरे सूत्र के दो चरण होते हैं और दोनों चरणों के बीच एक या दो सप्ताह का मध्यान्तर होता है जिससे कि छात्रों को प्रस्तावित पुस्तक पढ़ने के लिए समय मिल जाय।

पुस्तक छाँट लेने के बाद हम वह काम शुरू करते हैं जिसे हम चयन और सग्रंथन कहते हैं। चयन के अतर्गत कुछ ऐसे महत्वपूर्ण लेखांश छाँट लेना होता है जो शैली और कथ्य की दृष्टि से विशिष्ट हों और जिनके प्रति सम्बद्ध आयु एवं शैक्षणिक स्तर के छात्र सर्वाधिक ग्रहणशील हों।

इसके बाद हम पुस्तक से अनेक पुरुषों और महिलाओं के स्वरों में पढ़े गये लेखांशों की टेपरिकार्डिंग्स के स्वर-ग्रथन तैयार करते हैं, हालांकि यह जरूरी नहीं होता है कि वे अंश उसी क्रम में पढ़े गये हों जिस क्रम में वे पुस्तक में आये हैं। स्वर-सग्रथन का प्रयोग मात्र एक ऐसा परिवेश तैयार करने के लिए किया

जाता है जो रचना का सार उद्घाटित किये बिना ही दिलचस्पी पैदा कर सके। पुस्तक का साराश प्रस्तुत करना उन उद्देश्यो का प्रतिवाद करना होगा जो हमने परियोजना के प्रारम्भ में ही निर्धारित किये थे। हमारा उद्देश्य श्रोता की रुचि को बढाना भर है।

हमने यह फैसला किया कि अगर हम उच्चरित अंशो की पुस्तक की विषय-वस्तु के उपयुक्त शास्त्रीय सगीत के छोटे-छोटे टुकडो से समृद्ध कर दें तो स्वर सप्रयन कही अधिक प्रभावशाली होगा और कि यह बच्चो को मूल पाठ को समझने में भी सहायक होगा। चूँकि सगीत कुछ मनोभावो व सवेगो को सम्प्रेषित कर सकता है, इसलिए वह ऐसी चीजें उद्घाटित कर दे सकता है जिन्हें एक निम्न भाषा शास्त्रीय क्षमता का बच्चा लिखित पाठ से उतनी जल्दी नहीं समझ पायेगा।

हमारे छात्र द्वि-भाषाभाषी (अरबी और फ्रेंच) हैं। वे प्राथमिक पाठशाला के तीसरे वर्ष में फ्रेंच पढना शुरू करते हैं और उनका अभिव्यक्ति स्तर फ्रेंच और अरबी दोनो में ही समान रूप से नीचा है। इसलिए हमारी अध्ययन-प्रोत्साहन की तरकीब परियोजना में दोनो भाषाओं में अध्ययन समाविष्ट है। शैक्षणिक विज्ञानो के सस्थान द्वारा इस परियोजना पर प्रकाशित की जानेवाली विशेष रिपोर्ट में परीक्षणो में प्रयुक्त अरबी और फ्रेंच लेखको व रचनाओं की पूरी सूची और सकलित नैदानिक व दृश्य-श्रव्य डिटा सम्बन्धी आँकडे सम्मिलित होंगे।

स्वर सप्रयन के प्रभाव की जानकारी देने और उस प्रभाव को बढाने के लिए हम प्रदर्शन फलक और स्लाइड जैसे दृश्य सहायक भी प्रयोग करते हैं। फलको का प्रयोग लेखक और उनके जीवन के चित्र, पुस्तक में प्रयुक्त चित्रो व स्वय पुस्तक की प्रतियो के दर्शन के लिए किया जाता है।

सत्र प्रारम्भ होने पर ग्रुप का नेता (जो प्राय शैक्षणिक विज्ञानो के सस्थान का सदस्य या फिर इस सस्थान द्वारा प्रशिक्षित कोई अध्यापक होता है) छात्रो का स्वागत करता है और उन्हे प्रदर्शित वस्तुओ का निरीक्षण करने का सुझाव देता है। इसके बाद वह लगभग पाँच मिनट में पुस्तक का सक्षिप्त परिचय देता है, पुस्तक (शीर्षक, पृष्ठ सख्या आदि) प्रस्तुत करता है और लेखक के सम्बन्ध में अनेक स्लाइडें दिखायी जाती हैं। इसके बाद टेपरिकार्डिंग सप्रयन बजाया जाता है।

टेप बजने के दौरान, जिसकी अवधि २५ या ३० मिनट होती है, अतिरिक्त अभिरुचि पैदा करने के लिए अन्य स्लाइडें दिखाई जाती हैं। जिस सत्र मे

विवेच्य पुस्तक पोन्ल डी करोटे (फ्रच लखक ज्यूल्स रेनाड द्वारा अपने ही वचन का कटु व्यगात्मक चित्रण सम्पान्क) थी उसमें हमने जहाँ एक ओर चित्रपट पर अवना करने की मन स्थिति वाले एक किशोर की तसवीर न्खायी वहाँ दूसरी ओर बच्चे अन्तिम अध्याय— रिवोल्ट (विद्रोह) का एक अश सुन रहे थे।

रिकार्डिंग की समाप्ति पर बच्चो के बीच एक वान विवाद शुरू करने के लिए ग्रुप का नेता प्रश्न उत्तर का तकनीक प्रयोग करता है। वाद विवाद के दौरान उसका काम यह होना है कि वह पुस्तक की विषयवस्तु का पता नही चलने दे बल्कि पुस्तक का स्वय पढने की बच्चो की उत्कठा का बढाने में सहायक हो। यह प्रथम चरण समाप्त हाने पर बच्चो से कहा जाता है कि व चाहे ता पुस्तक की एक प्रति ले जा सकत है और ग्रुप के नेता के साथ पुस्तक के मुल तथ्यो के सम्बन्ध में विचार विमश करने के लिए एक तारीख निश्चित कर दी जाती है।

दूसरा चरण एक या दो सप्ताह बाद शुरु होता है। इस बार बच्चे स्वय वान विवान को चलात ह। इसके लिए उन्ह अपने में से ही अध्यक्ष सचिव और उनके प्रक्षक चुन लेने होते हैं। जैसे-जैसे परीक्षण आगे बढता जाता है ग्रुप के नेता द्वारा अन्ा की जानेवाली भूमिका महत्त्व की दृष्टि से कम होती चली जाती है। क्योकि बच्चे आत्म-अनुशासन लोकतत्र और उत्तरदायित्व के नियमो का पालन करना सीख लेते हैं।

उन्ाहरणाय जिन दिनो पाइल डी करोटे और डायरी आव एन फ्राक का अध्ययन सत्र चल रहे थे तब बच्चो ने किशोरावस्था युद्ध और शाति सह शिक्षा, विवाह तलाक धन डायरी रखना आदि से सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन एव सवक्षण के लिए स्वच्छा से ही विभिन्न ग्रुप बना लिये थे। इस प्रकार *अध्ययन एक एडवचर (साहसिक काय) बन जाता है।*

बच्चे स्वय ही यह निर्णय करत हैं कि कोई वाद विवान कितनी देर चलना चाहिए। ये वान विवान और अध्ययन दल द्विभाषी बच्चो को (जो मुख्यत अरबी घरो के होत हैं) उच्चारित और लिखित फ्रच का अभ्यास करने का एक अच्छा सुअवसर प्रदान करते हैं।

लेकिन परियोजना द्वारा खोली गयी सम्भवत सर्वाधक महत्त्वपूण सम्भावना इन वाद विवादो और अध्ययनो के माध्यम से खुली हैं जो नयी अध्ययन आवश्यकताएँ पदा करते हैं और बच्चो को नयी पुस्तको के चयन की दिशा में

अभिमुख करते हैं। इस प्रकार अध्ययन की एक क्रिया दूसरी क्रिया को जन्म देती है और प्रत्येक पुस्तक-अध्ययनों, जीवंत वाद-विवादों, नये सम्पर्कों और सृजनात्मक गतिविधियों का प्रारम्भ करनेवाली बन जाती है।

मुझे प्राथमिक पाठशाला के पाँचवें वर्ष के बच्चों का एक वाद-विवाद याद है जिसमें मैं उपस्थित था। वाद-विवाद विक्टर ह्यूगो के लॉ मिजरेबुल कोसोते की करुण कथा के एक अंश पर हो रहा था। लगातार डेढ़ घण्टे तक उन बच्चों के बीच एक प्रखर वाद-विवाद चलता रहा था, जिन्हें दो वर्ष से भी कम समय से फ्रेंच पढ़ाई जा रही थी। इससे पता चला कि जब दस-ग्यारह वर्ष के बच्चों के पास पर्याप्त प्रयोजन होता है तो वे न केवल एक घण्टे से भी अधिक समय तक एकाग्र रह सकते हैं, बल्कि स्वयं को एक ऐसी भाषा में अभिव्यक्त कर सकते हैं जो उन्होंने अभी-अभी बोलना सीखी है।

पुस्तकों का पढना कुछ बच्चों को किसी-न-किसी चरित्र या स्थिति को चित्रित करने के लिए चित्रकला की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने के लिए भी प्रोत्साहित करता है; क्योंकि उस चरित्र या स्थिति ने अध्ययन या वाद-विवाद के दौरान उन्हें प्रभावित किया था। हाथ किटों में ऐसे अनेक चित्र जुड़ चुके हैं और वे दूसरे बच्चों के लाभार्थ प्रदर्शन फलकों को अत्यधिक सम्पन्न कर चुके हैं।

हम यह महसूस करते हैं कि इस उबाऊ वातावरण और नीरस परिवेश से बहुत आगे निकल आये हैं। जिसमें हमें अपने युवकाकाल में रहना पड़ा था, और दुर्भाग्य से आज के भी अनेक बच्चों को रहना पड़ रहा है जो 'आदेशानुसार अध्ययन' और सरकारी पाठ्यक्रमों की पुस्तक-रिपोर्टों का परिवेश था।

अध्ययन के लिए किस प्रकार के प्रोत्साहन का हमने उल्लेख किया है वह अध्ययन कार्यक्रमों को निर्जीव और प्रभावहीन बनने की बजाय (जैसा कि प्रायः होता है), सजीव और प्रभावशाली अध्यापन विधि में रूपांतरित हो सकने में समर्थ कर सकेगा।

('यूनेस्को कूरियर' : अगस्त '७२ के अंक से साभार पुनर्मुद्रित)

सपुस्तक परीक्षा

[राजकीय सेन्ट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीच्यूट इलाहाबाद (उ० प्र०) में परीक्षा प्रणाली में सुधार की दिशा में चलायी हुई एक परियोजना।—सम्पादक]

१—परियोजना की आवश्यकता वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारे छात्रों की सामर्थ्य तथा योग्यताओं अथवा उपलब्धियों को उचित रूप से निर्धारित करने में सहायक सिद्ध नहीं हुई है। इसका अभिप्राय केवल उनकी स्मरण शक्ति को आँकना ही है। इस भाँति विद्यालयों अध्यापकों और अभिभावकों के समस्त प्रयास छात्रों की रटन्त विद्या की ओर लगे रहते हैं। उसमें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सम्प्रत्ययात्मक (कान्सेप्चुअल) ज्ञानार्जन और सर्जनात्मक चिन्तन के विकास की ओर कम बल दिया जाता है।

अध्यापन के शैक्षिक पक्ष की ओर जो बच्चे के समुचित विकास में सहायक होता है हमारे अध्यापकों और विद्यालयों का ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से यह निश्चित किया गया कि इस प्रकार के प्रश्न-पत्रों की रचना की जाय जिससे छात्रों और अध्यापकों में स्वतः चिन्तन करने की रुचि उत्पन्न हो। उन्हें रटन्त विद्या के संकीर्ण मार्गों में सीमित न रहना पड़े।

यह भी निश्चित किया गया कि प्रश्न-पत्र इस प्रकार के हों कि यदि छात्रों को पुस्तकों के प्रयोग करने की छूट प्रदान कर भी दी जाय तो उनकी उपलब्धियों में किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ेगा। इस प्रसंग में यह आशा थी कि प्रश्न-पत्रों के स्वरूप और शिक्षण में इस प्रकार के परिवर्तन से परीक्षा भवनों में गुप्त रूप से अनुचित साधन प्रयोग करने अथवा अपने साथ पुस्तकें, टिप्पणियाँ आदि ले जाने की ओर बच्चों का ध्यान कम जायगा।

२—लक्ष्य परियोजना के निम्नांकित लक्ष्य थे
इस प्रकार के प्रश्न पत्रों की रचना करना जिससे—

(क) छात्रों को वर्तमान समय में प्रचलित रटन्त अभ्यास से रोका जा सके।
(ख) सम्प्रत्ययात्मक (कान्सेप्चुअल) ज्ञानार्जन और रचनात्मक चिन्तन की क्षमता को विकसित किया जा सके और

(ग) छात्रों को परीक्षा-भवन में पुस्तकों, टिप्पणियों आदि से नकल करने के रूप में अनुचित साधन के प्रयोग को रोका जा सके।

३—परियोजना की सीमाएँ : (अ) वर्तमान अध्ययन को इस संस्थान से संलग्न राजकीय इण्टर कालेज की कक्षा ८ के दोनों वर्गों में परिसीमित किया गया।

(आ) इस परियोजना के अन्तर्गत हिन्दी, अंग्रेजी, गणित और सामान्य-विज्ञान विषयों को लिया गया।

४—शोध के उपकरण : निम्नलिखित उपकरण प्रयोग में लाये गये :

(क) संशोधित प्रकार के प्रश्न-पत्र।

(ख) इण्टरमीडिएट कालेज द्वारा संचालित षण्मासिक परीक्षा का समेकित परीक्षाफल।

५—कार्य-विधि : सितम्बर १९६९ की मासिक परीक्षा के लिए कक्षा ८ के दोनों वर्गों के १०२ छात्रों को ६ छोटे-छोटे समूहों में विभाजित किया गया। प्रत्येक छोटे समूह में १५ से २० तक छात्र सम्मिलित थे और प्रत्येक समूह संस्थान के एक छात्राध्यापक के संरक्षण में था। प्रत्येक प्रश्न-पत्र के पूर्णाङ्क २० थे और प्रत्येक प्रश्न-पत्र की समयावधि ३५ मिनट थी। छात्राध्यापकों ने छात्रों की परीक्षा का संचालन और मूल्यांकन किया। संस्थान के सम्बन्धित विषयों के विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकन के परिणामों की अन्तिम रूप से जाँच की गयी।

जनवरी, १९७० की परीक्षा के लिए छात्र छः कमरों में बैठाये गये। इण्टरमीडिएट कालेज के अध्यापकों ने निरीक्षकों का कार्य किया।

६—प्रस्तुतीकरण और प्रदत्तों (डेटा) का विश्लेषण : सितम्बर और जनवरी मास की परीक्षाओं के प्रश्न मुख्यतः कुछ सम्प्रत्ययों के द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रयोग पर आधारित थे। पाठ्यसामग्री के रटन्त विद्या पर आधारित तथ्यों की पुनरावृत्ति सम्बन्धी प्रश्न नहीं थे। इस कारण पहले से कण्ठस्थ किये हुए ज्ञान का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करने का छात्रों को कोई अवसर नहीं रह गया। प्रश्नों के उत्तरों को प्रस्तुत करने के लिए सर्जनात्मक चिन्तन और वास्तविक बोध की आवश्यकता थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कण्ठस्थ करने और रटन्त विद्या के दूषित अभ्यास को समाप्त करने का लक्ष्य प्राप्त किया गया। इसके अतिरिक्त, संशोधित रूप के प्रश्न-पत्रों के द्वारा, जिनका सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओं में प्रयोग किया गया था,

परीक्षा की यह प्रणाली छात्रों के मवल्पनात्मक ज्ञान और सर्जनात्मक चिन्तन पर बल देती थी, जिससे उन्हे परीक्षा में सफलता प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में यह प्रणाली वास्तविक ज्ञानार्जन के लिए सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान और रचनात्मक चिन्तन की क्षमता का विकास करती है। प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में कुछ शब्द उपर्युक्त कथन को और अधिक स्पष्ट कर देंगे।

हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के प्रश्न-पत्रों में ऐसे प्रश्न दिये गये थे जिनमें पूर्वार्जित ज्ञान को भी परिस्थितियों में प्रयोग करने की आवश्यकता थी। उनमें उन परम्परागत प्रश्नों को नहीं रखा गया था जो केवल रटन्त विद्या का मूल्यांकन करते हैं। इस प्रकार सशोधित प्रश्नों द्वारा यह मूल्यांकन हो जाता था कि छात्रों को समस्त विषय का कहाँ तक बोध हुआ है और उनके मस्तिष्क में समग्र वस्तु की स्पष्ट सकल्पना कहाँ तक अंकित हुई है।

गणित में भी, सूत्र अथवा समीकरण अथवा प्रमेय प्रत्यक्ष रूप से नहीं पूछे गये थे। इसके स्थान पर बोध और प्रयोग पर आधारित प्रश्न पूछे गये थे। जब कोई परिभाषा दी गयी तो उसके अन्तर्गत प्रश्न का दूसरा भाग भी सन्निविष्ट किया गया, जिससे यह विदित हो सका कि छात्र परिभाषा के वास्तविक अर्थ को समझने में कहाँ तक समर्थ हुआ।

इसी प्रकार सामान्य विज्ञान के प्रश्न पत्र में ऐसा कोई प्रश्न नहीं था जिसमें पाठ्य-सामग्री से प्रत्यक्ष रूप में कोई वैज्ञानिक तथ्य पूछा गया हो। इसके स्थान पर प्रश्न पाठ्यक्रम में सम्मिलित सकल्पनाओं के द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रयोग पर आधारित थे। किसी विशेष प्रश्न का सफलता के साथ उत्तर देने के लिए छात्रों में सकल्पना के स्पष्ट परिज्ञान और बोध की आवश्यकता थी।

परीक्षा-भवन में पाठ्य पुस्तकों तथा सहायक-पुस्तकों, टीकाओं आदि से नकल करने के रूप में अनुचित साधन प्रयोग को समाप्त करने का इस परियोजना का तीसरा लक्ष्य है, जिसके लिए निम्नांकित चार्टों के विश्लेषण की आवश्यकता है:—

सितम्बर की परीक्षा, जनवरी की परीक्षा और छमाही परीक्षा मे सफलता प्राप्त करनेवाले परीक्षार्थियों के प्रतिशत का चार्ट

विषय	सशोधित प्रश्न-पत्र के आधार पर सितम्बर की परीक्षा	सशोधित प्रश्न-पत्र के आधार पर जनवरी की परीक्षा	परम्परागत प्रश्न-पत्र के आधार पर छमाही परीक्षा
हिन्दी	३०	२३	९२
अंग्रेजी	२७	५६	८७
गणित	२०	१९	८५
सामान्य विज्ञान	५०·५	१६	८६

उक्त चाट से स्पष्ट है कि छात्रो ने सशोधित प्रश्न-पत्रो पर आधारित पराक्षाओ में उतना उत्तम कार्य नही किया जितना परम्परागत परीक्षा में किया। परम्परागत परीक्षा के प्रत्येक विषय में छात्रो की सफलता का प्रतिशत बहुत ऊँचा था। इसके अतिरिक्त सितम्बर की परीक्षा में अग्रेजी को छोड कर शेष विषयों में उत्तीण परीक्षार्थियो के प्रतिशत जनवरी परीक्षा के प्रतिशत से अधिक ऊँचे थे।

यह स्वीकार करना पडगा कि सितम्बर की परीक्षा छात्रो के लिए प्रथम अनुभव की थी। इस कारण यह उचित ही था कि छात्रो को जनवरी की परीक्षा में अधिक उत्तम परीक्षाफल दिखाना चाहिए था। किन्तु वास्तव में बात बिलकुल ही विपरीत रही। इसके लिए केवल यही सम्भावित व्याख्या है कि सितम्बर-परीक्षा केवल एक मासिक परीक्षा थी और इस कारण पाठ्यक्रम सीमित था। सितम्बर मास में जो विषय सामग्री पढाई गयी थी उसी पर प्रश्न आधारित थे। परन्तु इसके विपरीत जनवरी की परीक्षा में अधिक विस्तृत पाठ्यक्रम अर्थात् जो कुछ जुलाई से दिसम्बर तक पढाया गया था सम्मिलित था। अतएव परीक्षा फल में अवनति स्वाभाविक है।

छमाही परीक्षा के परीक्षा फल से सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओ के परीक्षा फलो की तुलना करने पर यह स्पष्टत विदित हो जाता है कि यद्यपि छात्रो को सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओ में हर प्रकार की सामग्री प्रयोग करने की सुविधा थी तथापि उन्होंने छमाही परीक्षा में, जिसमें उक्त सुविधा नही प्रदान की गयी थी अत्यधिक उत्तम परीक्षा फल दिखाये। इससे सिद्ध होता है कि सशोधित रूप के प्रश्न-पत्रो से छात्रो में परीक्षा भवन में पाठ्य-पुस्तको अथवा सहायक पुस्तको अथवा टिप्पणियो आदि से नकल करने के रूप में अनुचित साधन के प्रयोग की प्रवृत्ति कम होती है।

सितम्बर जनवरी और छमाही परीक्षा में प्रथम श्रणी के अक प्राप्त करने वाले छात्रो के प्रतिशत को दिखानेवाला चार्ट

विषय	सशोधित प्रश्न-पत्र पर आधारित सितम्बर की परीक्षा	सशोधित प्रश्न-पत्र पर आधारित जनवरी की परीक्षा	परम्परागत प्रश्न पत्र पर आधारित छमाही परीक्षा
हिन्दी	५	१	३०
अग्रजी	१४	१८	४१
गणित	५	२	५०
सामान्य विज्ञान	८	४	२६

जब हम उन छात्रों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते है जिन्होंने सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओं और छमाही परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त किये तब हम उसी प्रकार की स्थिति पाते हैं जो सफल छात्रों के प्रतिशत के सम्बन्ध में पायी गयी थी। परम्परागत प्रश्न-पत्रों पर आधारित परीक्षा के समस्त विषयों में प्रथम श्रेणी प्राप्त करनेवाले छात्रों का प्रतिशत बहुत ऊँचा है। किन्तु सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओं के प्रत्येक विषय में प्रथम श्रेणी प्राप्त करनेवाले छात्रों का प्रतिशत बहुत कम है। इसके अतिरिक्त जनवरी की परीक्षा का परीक्षा फल सितम्बर की परीक्षा के परीक्षा फल से निम्नकोटि का रहा है जैसा कि उत्तीर्ण परीक्षार्थियों के प्रतिशत के अन्तर्गत भी विवेचन किया जा चुका है। वास्तव में यहाँ भी सितम्बर की परीक्षा के समान अंग्रेजी एक अपवाद है। वही सम्भावित व्याख्या जो उत्तीर्ण परीक्षार्थियों के प्रतिशत के अधीन दी गया है वहाँ भी ठीक उतरती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि अच्छे छात्र ही सितम्बर और जनवरी की परीक्षा में अच्छा परीक्षा फल दिखा सके।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रथम श्रेणी के छात्र भी सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओं में छमाही परीक्षा की अपेक्षा अच्छा परीक्षा फल न दिखा सके। उनके परीक्षा-फल इस तथ्य को स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि छात्रों में प्रेरणा की भावना का अभाव निम्न प्रतिशत के लिए उत्तरदायी है। वास्तव में छात्रों में प्रेरणा की भावना का अभाव वनमाल परियोजना के सम्पादन में एक स्वाभाविक कठिनाई थी क्योंकि छात्र यह जानते थे कि इसका उनकी कक्षोन्नति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

सितम्बर और जनवरी की परीक्षाओं में शोचनीय परीक्षा-फलों का कारण यह तथ्य ठहराया जा सकता है कि संशोधित रूप के प्रश्न-पत्रों में केवल ज्ञान के प्रयोग पर आधारित प्रश्नों का समावेश था। सूचना-स्तर पर ज्ञान की परीक्षा करनेवाले प्रश्नों को पूर्णरूपेण हटा दिया गया था।

यहाँ यह उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि संशोधित प्रश्न-पत्रों पर आधारित नवीन परीक्षा प्रणाली विद्यार्थियों की चिंतन शक्ति तक करने की क्षमता तथा प्रत्ययात्मक ज्ञानार्जन पर तो बल देती है किन्तु शिक्षा का अथवा विद्यार्थी के विकास का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उसे कुछ सूचना स्तर तथा स्मृति पर आधारित ज्ञान प्राप्त हो। उसके लिए वस्तुनिष्ठ प्रश्न या इन पर आधारित प्रश्न-पत्र उपयोगी हो सकते हैं।

७–परियोजना के निष्कर्ष सशोधित प्रश्न-पत्रो पर आधारित परीक्षा-प्रणाली शिक्षा के उन लक्ष्यो की पूर्ति करती है जिनमें मौलिक तथा तर्कयुक्त चिन्तन का विशेष स्थान है। इस परीक्षा-प्रणाली को प्रारम्भ करना एक क्रान्तिकारी कदम होगा और यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि इस प्रकार के प्रश्न-पत्र परीक्षा मे दिये जायें तो शिक्षको को अपनी शिक्षण-विधि में भी परिवर्तन करना होगा, क्योकि जब शिक्षक अपने विद्यार्थियो को मौलिक तथा तर्कयुक्त चिन्तन का अभ्यास करायेंगे तभी उस प्रकार के प्रश्न-पत्रों के आधार पर विद्यार्थियो का मूल्याकन किया जा सकता है। उपलब्ध आँकडो से स्पष्ट है कि गणित में लगभग २० प्रतिशत विद्यार्थी नवीन परीक्षा-प्रणाली में सफल हो सके हैं। अन्य विषयो में भी उत्तीर्ण होनेवालो का प्रतिशत परम्परागत परीक्षा-प्रणाली की अपेक्षा बहुत कम है। प्रश्न यह उठता है कि विद्यार्थियो के लिए कक्षोन्नति प्राप्त करने में नवीन परीक्षा-प्रणाली द्वारा मूल्याकन का क्या स्थान होगा? वस्तु-स्थिति यह है कि हम नवीन परीक्षा-प्रणाली के आधार पर मूल्याकन करके केवल २० प्रतिशत को कक्षोन्नति देंगे तो अभिभावको में बडा असतोष होगा। इसलिए सुझाव यह है कि प्रारम्भ में हर विषय के विभिन्न क्षेत्रो पर ऐसे प्रश्नो का सकलन किया जाय जो मौलिक चिन्तन और तर्कना शक्ति के विकास को प्रेरणा देते हो और प्रश्नो के इस सकलन को हर स्तर के विद्यालयो में प्रसारित कर दिया जाय। इससे शिक्षको को एक नयी दिशा मिलेगी और वे न केवल इन प्रश्नो का प्रयोग अपने प्रश्न-पत्र बनाते समय कर सकेंगे, प्रत्युत अपनी शिक्षण-विधि को भी उनके अनुसार बदलने का प्रयास करेंगे।

नवीन परीक्षा-प्रणाली के प्रश्न-पत्रो को तैयार करने के प्रसग में यह भी निष्कर्ष निकला कि गणित, विज्ञान और भाषा में इस प्रकार के प्रश्न बनाने में अधिक कठिनाई नही है किन्तु इतिहास जैसे विषय में इस प्रकार के प्रश्न तैयार करने में बडी कठिनाई है, क्योकि इतिहास के अध्ययन में तथ्यों का प्राचुर्य है और मौलिक चिन्तन की आवश्यकता कम-से-कम विद्यालयी शिक्षा मे कम पडती है। अतएव यह भी परिणाम निकलता है कि नवीन परीक्षा-प्रणाली का प्रयोग अभी विज्ञान, गणित तथा भाषा तक ही सीमित रखा जाय। इन विषयो में जो प्रश्न-पत्र बनाये जायें, उनमें प्रश्नो की सख्या अधिक-से-अधिक रखी जाय जिससे पाठ्यक्रम का अधिक-से-अधिक समावेश हो सके, छात्रो को बातचीत का अवसर न मिले और वही छात्र पुस्तक का लाभ उठा सकें जिन्होने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ा है।

परीक्षा-प्रणाली में परिवर्तन करने से सम्बन्धित प्रयास करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि विद्यालयों में शिक्षण का कार्य पुराने ढंग से चलता है। नये ढंग से परीक्षा लेने के लिए कक्षा-शिक्षण भी नये ढंग से चलाना होगा और उसी के आधार पर उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण घोषित करने के मापदण्ड भी निर्धारित करने होंगे। वर्तमान नियमों की व्यवस्था में कक्षाप्रति के सिद्धान्त को बदलना सम्भव नहीं हो पाता। निश्चय ही पाठ्य-क्रम का संगठन भी बदलना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में जब तक विद्यालयों को पूर्ण स्वतंत्रता न मिले, तब तक परीक्षा-प्रणाली को बदलने का प्रयास सफल होना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

अन्त में यह उल्लेख करना है कि एक या दो वर्ष के अन्त में एक भारी-भरकम परीक्षा लेकर विद्यार्थियों का मूल्यांकन करना अत्यन्त अनुचित है। वास्तव में मूल्यांकन दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक होना चाहिए और बालक के विकास के सभी पक्षों बौद्धिक, संवेगात्मक, चारित्रिक तथा कौशल, अभिरुचि, आदि से सम्बन्धित होना चाहिए और इसके लिए विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि बालक के बहुमुखी विकास का मापन करने के लिए कोई एक ही विधि कदापि पर्याप्त नहीं हो सकती। इसलिए विद्यालयों को यह सुझाव दिया जाय कि वे बालकों के बहुमुखी विकास के मूल्यांकन की आन्तरिक व्यवस्था करें और उसका ऐसा अभिलेख रखें जिससे देखनेवाले को बालक की हर प्रकार की क्षमता का ठीक-ठीक ज्ञान हो सके। जब तक किसी बाह्य संगठन द्वारा विद्यार्थियों के विकास का मूल्यांकन चलता रहेगा तब तक बालक के व्यक्तित्व का व्यापक मूल्यांकन सम्भव न हो सकेगा। जहाँ तक स्तर में एकरूपता रखने की बात है, इसके लिए पाठ्यक्रम का निरूपण ठीक प्रकार से होना चाहिए। प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा, जिनका शिक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं होता, शिक्षकों के कार्य का निरीक्षण करना अनुचित है और ऐसी व्यवस्था कहीं भी प्रगतिशील देशों में नहीं है। शिक्षकों के कार्य का निरीक्षण करना प्रधानाचार्य अथवा विषय के विशेषज्ञों का कर्तव्य होना चाहिए।

—राजकीय सेण्ट्रलपेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट,
इलाहाबाद

शिक्षा-पद्धति कैसी है ? कैसी होनी चाहिए ?

वज्रागवली गुप्त

प्राय समाचार पत्रो, पत्र पत्रिकाओ एव भाषणो इत्यादि में शिक्षा पद्धति के दूषित होने की चर्चा तथा उसके आमूल परिवर्तन का आह्वान देखने तथा सुनने को मिलता है। किन्तु कोई ठोस विचार या कार्यक्रम सम्मुख नही आते। प्रत्येक विचारक प्रश्न सूचक चिह्न के साथ ही साथ विस्मयादिबोधक चिह्न भी बना कर मौन हो जाता दीख रहा है। ऐसा विश्वास नही होता कि यह कोई बहुत गम्भीर समस्या है जिसका कोई समाधान न हो। मुझे तो ऐसा लगता है कि शिक्षा-पद्धति तथा उसके दोषो की रूपरेखा एव उसका विकल्प तथा निदान भी उन विचारको के मस्तिष्क में है किन्तु कुछ व्यावसायिक प्रवृत्ति स्वार्थपरता विफलता अथवा उपहास के भय के कारण समस्या केवल समस्या ही रह जा रही है जैसे डालडा घी में रग मिलाने की समस्या। अथवा शिक्षा पद्धति का अभिप्राय ही समझ में नही आता। शिक्षा-पद्धति से हमारा क्या अभिप्राय है ? यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होना चाहिए अर्थात इसका अभिप्राय अध्यापन शैली तथा विषय से है या शिक्षा सस्थाओ की व्यवस्था से है। मेरे व्यक्तिगत विचार से इसका अभिप्राय सस्थाओ की आन्तरिक तथा वाह्य व्यवस्था से होना चाहिए।

शिक्षा की वर्तमान स्थिति तथा उसका परिणाम प्रत्यक्ष है। इसके विषय में कुछ कहना नहा है। मुझे इसमें निम्न कतिपय मूल दोष दीख पडते हैं

(१) शिक्षा का व्यवसायिक रूप ले लेना। (२) शिक्षा का उद्दश्य जीविका अर्जन की क्षमता प्राप्त करना ' मानना। (३) शिक्षको में नौकरी

की प्रवृत्ति होना। (४) शिक्षण-संस्थाओं का बेरोजगारी की समस्या के हल के रूप में प्रयोग करना। (५) शिक्षा पर सरकारी अधिकार तथा उसमें सरकारी हस्तक्षेप। (६) लार्ड मेकाले के अनुसार विषयों का विभाजन।

अनुमानतः यदि शिक्षा, शिक्षक, शिष्य एवं शिक्षा-संस्था को उपरोक्त दोषों से मुक्त कर दिया जाय तो शिक्षा स्वतः करवट बदल देगी और एक प्रभावशाली क्रान्ति होगी जो देश में व्याप्त व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक सभी समस्याओं का समाधान कर देगी।

उपरोक्त दोषों से मुक्ति की युक्तियाँ

१. शिक्षा-जगत में सरकारी हस्तक्षेप एवं अधिकार का बहिष्कार।

२. शिक्षा-संस्थाएँ पुण्य-प्राप्ति के उद्देश्य से, व्यक्तिगत प्रयास से आश्रम के रूप में स्थापित की जायें। इसकी स्थापना अथवा संचालन हेतु किसी प्रकार के दान-अनुदान इत्यादि स्वीकार्य न हो।

३. शिक्षकों की नियुक्ति उनके प्रति सहानुभूति अथवा आर्थिक सहायता (नौकरी) देने की दृष्टि से न होकर उनके प्रति श्रद्धा एवं आस्था तथा उनसे बौद्धिक सहायता लेकर आभार प्रदर्शन के भाव से प्रेरित होनी चाहिए।

४. शिक्षा-संस्थाओं में ऐसी व्यवस्था की जाय कि शिक्षा की पूर्ण अवधि तक शिष्य-गुरु परिवार के अतिरिक्त किसी भी अन्य परिवार से सम्बद्ध न हो सकें। अभिभावकों को यदा-कदा उनसे मिलने मात्र की अनुमति दी जाय।

५. अध्ययन तथा अध्यापन में सरलता एवं सुविधा (प्रमाद) के विपरीत तप की भावना भरी जाय। सार्थक जीवन के लिए अनिवार्य सभी विषयों (ज्ञान तथा धर्म) का विश्लेषणात्मक अध्ययन कराया जाय अर्थात् प्रत्येक शिष्य को विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, कला, भूगोल एवं इतिहास इत्यादि का पूर्ण तथा समान ज्ञान दिया जाय।

६. किसी भी विषय में विशेष शिक्षा देने के लिए सर्वप्रथम उस विषय में भारतीय प्राचीन विद्वानों के विचार से उन्हें अवगत कराया जाय, तत्पश्चात वर्तमान तथा विदेशी मतों से अवगत कराया जाय, जिससे उनमें अपनी संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न हो।

७. धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन शैशव काल से ही कराया जाना चाहिए। प्रत्येक शिष्य को भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन निष्पक्ष भाव से तथा समान रूप से कराया जाय।

८ संस्था में व्यवस्था देने (कानून बनाने) का अधिकार गुरुओं को ही प्राप्त होना चाहिए। यहाँ सरकारी कानून नहीं लागू होना चाहिए।

९ संस्थाएँ स्वावलम्बी होनी चाहिए अर्थात शिष्य के शिक्षा-काल तक तथा गुरु परिवार के उनके जीवन पर्यन्त अथवा विद्यादान-काल तक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उनके परस्पर सहयोग तथा अवकाश के समय में संस्था की भूमि से उत्पन्न की गयी उपज अथवा कला तथा विज्ञान के क्रियात्मक अभ्यास से प्राप्त साधनों से ही होनी चाहिए। इनका कोई वेतन निश्चित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि यह विद्या दान के भाव से प्रेरित महात्माओं का अपमान है।

साधारणत ये विचार देखने में असम्भव से प्रतीत होते हैं। इस विषय में मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ये आमूल परिवर्तन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं किन्तु सुधार एवं संशोधन के लिए ये अनुपयुक्त हैं। वर्तमान से चिपके रहने का मोह इसे असम्भव का ही रूप देगा।

इस योजना को क्रियान्वित करने की पहली कड़ी के रूप में सरकार को एक प्रलोभन, आश्वासन के रूप में देना होगा। सरकार आज शिक्षा पर प्रतिवर्ष एक बड़ी राशि व्यय करती है। उससे यह आग्रह किया जाय कि वह शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था स्वावलम्बी बनाने के लिए यदि पर्याप्त मात्रा में भूमि की व्यवस्था कर दे तो वह प्रतिवर्ष किये जानेवाले व्यय की राशि बचा सकेगी। इस प्रकार की संस्थाएँ वर्तमान विश्वविद्यालय, विद्यालय आदि को परिवर्तित करके भी स्थापित की जा सकती हैं।

सरकार को यह भी आश्वासन दिया जा सकता है उपरोक्त व्यवस्था हो जाने पर भारत की प्राय सभी समस्याएँ स्वत हल हो जायेंगी। यहाँ तक कि खाद्य-समस्या, जनसंख्या-समस्या, महँगाई, बेरोजगारी, स्वास्थ्य-रक्षा, आर्थिक एवं सामाजिक भेदभाव, साम्प्रदायिक समस्याएँ भी स्वत हल हो जायेंगी और सरकार देश की भीतरी व्यवस्था में वर्तमान विघ्नों से स्वतंत्र अन्तर्देशीय प्रगति में अग्रसर हो सकेगी।

आदर्श राष्ट्रीय शिशु पाठशाला,
धर्मशाला बाजार, गोरखपुर

आचार्यकुल का संगठन

पृष्ठभूमि

तंत्र-मुक्ति और निधि-मुक्ति के विषय में विनोबा के विचार कुछ भी रहे हों, जहाँ तक आचार्यकुल का सम्बन्ध है प्रारम्भ से ही वे इस मत के रहे हैं कि आचार्यकुल का एक संगठन बनना चाहिए नहीं तो आचार्यकुल हवा में ही रहेगा। कहलगाँव (भागलपुर) में आचार्यकुल की स्थापना के समय उन्होंने कहा — हम यहाँ दो अपेक्षाएं लेकर आये हैं। पहली बिहारदान की अपेक्षा और दूसरी यह कि शिक्षकों की एक स्वतन्त्र सत्ता खड़ी की जाय। शिक्षकों का एक संगठन हो जिसमें प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक के सभी शिक्षक हों। इसमें एक निर्णायक समिति होगी जिसमें चुनाव और निर्णय सर्वसम्मति से होंगे। कालेज के शिक्षक अपने वेतन का एक प्रतिशत इस संगठन के लिए देंगे। नीचे के शिक्षकों को यदि यह अधिक मालूम हो तो १०० रुपये में से ५० पैसे दें। (आचार्यकुल पृष्ठ ६९)

यह उस दिन की बात है जिस दिन विनोबाजी ने कहलगाँव में आचार्यकुल नाम का उच्चारण किया। परन्तु उसके भी एक दिन पहले भागलपुर में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था— एक बात और मैं कह देना चाहता हूँ। आचार्यकुल की स्थापना के लिए आपको थोड़ा धन इकट्ठा करना होगा। आफिस बनाना होगा। कुछ कार्यकर्ता उसमें रखने होंगे। सारे बिहार में सम्पर्क करने के लिए जगह जगह मीटिंग बुलानी होगी। यह सब करने के लिए थोड़ा पैसे की जरूरत होगी। इसलिए मैंने सुझाव रखा है कि आचार्यकुल के संकल्प पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले जितने सदस्य होंगे वे अपनी तनख्वाह का एक प्रतिशत चन्दे के रूप में देंगे।

आचार्यकुल का एक सगठन बने, इस अपनी बात को विनोबा बारबार दोहराते रहे हैं। मुजफ्फरपुर में बोलते हुए उन्होंने कहा—"काम को बढाने के लिए पत्र-व्यवहार एक प्रोफेसर का पूरे समय का खर्च, कार्फेंस में सबका भोजन सब जगह जाकर विचार समझाना, नये हस्ताक्षर लेना, आदि अनेक काम रहगे। बिना पैसे के नही चलेगा। आचार्यकुल हवा में रहेगा।" दूसरी जगह एक प्रकार का व्यग सा करते हुए वे कहते हैं 'उत्तर प्रदेश में आचार्यकुल हुआ है महाराष्ट्र में भी आचार्यकुल स्थापित-स्थापित करने की बात चल रही है। यह अलग बात है कि अभी कुछ हुआ नहीं। ब्रह्म का वर्णन आता है कि वह निष्क्रिय शात व्यवहारातीन है। हम एसे हो जायें तब तो ठीक है। लेकिन • ।'

वे एक दूसरे भाषण में फिर कहते हैं—"बिना पैसे के आचार्यकुल का प्रचार हो तो बिना कांचन के यह सब हुआ यह सोचकर बाबा तो नाचेगा। परन्तु बिना पैसे के सगठन नही बनेगा।' और लोग पैसा नही दे रहे हैं। एक प्रतिशत तो बहुत भारी है आधा प्रतिशत भी नही दे रहे हैं। यह बात उन्हे बराबर खटकती रही है।

लेकिन बाबा की इतनी व्यग्रता के बावजूद, १९६९ तक अर्थात् आचार्यकुल की स्थापना के डेढ वर्ष बाद तक, और बावजूद इसके कि आचार्यकुल की स्थापना के तुरत बाद मुगेर (बिहार) कालेज के अध्यापको ने आचार्यकुल के लिए एक सगठन और कार्यक्रम की रूपरेखा बनायी थी और उसमें यह स्पष्ट उल्लेख किया था कि आचार्यकुल की इकाई के प्रत्येक सदस्य को अपने निर्धारित वेतन का एक प्रतिशत सगठन के संचालन के लिए अनिवार्यत देना होगा, जिससे पूरा समय देनेवाले का वेतन दिया जा सके और अन्य दूसरी व्यवस्थाओ पर व्यय किया जा सके एसा नही हो पाया।

मेरी समझ में इसका एक बडा कारण यह था कि मुजफ्फरपुर के अध्यापको ने आचार्यकुल की सदस्यता का जो सकल्प-पत्र तैयार किया था उसमें उन्होंने पक्ष-मुक्तता और दण्ड शक्ति का प्रयोग न करने की दो धाराएँ तो रखी थी परन्तु सदस्यता शुल्क की कोई धारा नही रखी थी। फलस्वरूप बिहार के जिन शिक्षकों ने आचार्यकुल के सकल्प पत्र पर हस्ताक्षर किये, उन्होंने भी कोई सदस्यता शुल्क नही दिया जिससे बिहार में आचार्यकुल का कोई संगठन आज भी नही बन सका है। बिहार में ही नहीं दूसरे प्रदेशो में भी आचार्यकुल के विचार का भले ही प्रचार हुआ लेकिन धन के अभाव में कही भी कोई सगठन

नहीं बन सका है, भले ही किसी प्रकार चन्दा आदि एकत्र कर कोई आयोजन-समारोह कर लिया गया हो।

अतः संगठन बनाने के लिए अक्तूबर १९६९ के राजगीर सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर विनोबाजी की प्रेरणा से सर्व सेवा संघ ने केन्द्रीय आचार्यकुल समिति का निर्माण किया। संगठन बनाने की दृष्टि से इस केन्द्रीय समिति का सबसे पहला काम था आचार्यकुल का सदस्यता के संकल्प-पत्र में परिवर्तन। इस परिवर्तन के अनुसार सदस्यता शुल्क की धारा को भी संकल्प-पत्र में शामिल किया गया और यह आशा की गयी कि आचार्यकुल का सदस्य जिस प्रकार पक्ष-मुक्त होकर राजनीति के तमस से परे रह कर अहिंसा और हृदय परिवर्तन के सिद्धान्तों को अपनायेगा—वैसे ही वह नियमपूर्वक सदस्यता शुल्क भी देगा। परन्तु यह अपेक्षा पूरी नहीं हुई है और संकल्प-पत्र पर हस्ताक्षर करके भी सदस्यों ने नियमपूर्वक सदस्यता शुल्क नहीं दिया है। जाहिर है कि संगठन की दृष्टि से सबसे पहली आवश्यकता यही है कि आचार्यकुल का सदस्य नियमपूर्वक शुल्क देता रहे। यह आश्चर्य है कि अभी गतवर्ष १९७२ में जब पवनार में विनोबा के सान्निध्य में आचार्यकुल की मीटिंग हुई तब भी महाराष्ट्र के कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या आचार्यकुल की सदस्यता के लिए सदस्यता-शुल्क की शर्त अनिवार्य मानी जाय? विनोबा ने फिर एक बार दोहराया कि सदस्यता शुल्क दिये बिना आचार्यकुल का काम हवा में रहेगा।

आचार्यकुल का विधान

संगठन को मजबूत बनाने की दृष्टि से आचार्यकुल की केन्द्रीय समिति ने दूसरा काम किया है आचार्यकुल का एक विधान बनाना। यद्यपि इस विधान का लक्ष्य यही है कि आचार्यकुल का एक राष्ट्रीय संगठन बने और राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक इकाइयों का सम्बन्ध दृढ़ हो। फिर भी आचार्यकुल का यह विधान काफी लचीला है और आचार्यकुल की स्थानीय इकाइयों को कार्यक्रम बनाने और निर्णय लेने की पूर्ण स्वतंत्रता है। विधान में यह भी प्रावधान है कि सदस्यता शुल्क का ७५ प्रतिशत स्थानीय इकाइयाँ अपनी संस्थाओं में ही खर्च करें। विधान बनाते समय चेष्टा यही रही है कि आचार्यकुल संगठन से अधिक एक बिरादरी ही रहे। परन्तु प्राइमरी स्तर से ऊपर उठते हुए राष्ट्रीय स्तर तक हमारी यह बिरादरी संगठित बिरादरी रहे, यह चेष्टा की गयी है। बिरादरी ऐच्छिक होगी परन्तु असंगठित नहीं होगी। अगर हमें अन्याय और अनीति का प्रतिकार करना है तो हमारी बिरादरी में प्रतिकार का सामर्थ्य होना चाहिए,

हमारी राष्ट्रीय आवाज होनी चाहिए। अगर हमारी जोरदार आवाज नहीं हुई तो हमारी बात कौन सुनेगा ? हमें अपनी आवाज को प्रभावशाली बनाना होगा। शहकार शक्ति के विकास के लिए प्रतिकार शक्ति के विकास के लिए इस बिरादरी को इतनी ताकत तो पैदा करनी ही होगी कि जरूरत पड़ने पर वह बोल सके और कुछ कर सके। उतनी ताकत की रक्षा करते हुए इस बिरादरी के सगठन को जितना भी ढीलाढाला रखा जा सकता है रखा गया है। सगठन शब्द में कठोरता की ध्वनि है। इस कठोरता की पहचान यह ही है कि हमारे ऊपर किसी दूसरे का आदेश लादा जा रहा है। आचार्यकुल के विधान में इससे बचा गया है। इसमें किसी भी ऊपर की इकाई का आदेश नीचे की इकाई पर नहीं है।

इस विधान में भी सदस्यता शुल्क की धारा को सकल्प-पत्र की दूसरी धाराओ के साथ ही रखा गया है और प्रार्थना की गयी है कि प्रादेशिक आचार्य कुल सदस्यता शुल्क १० प्रतिशत केन्द्रीय आचार्यकुल को दें। परन्तु अब भी मध्यप्रदेश के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रदेश से इस प्रकार का धन प्राप्त नहीं हुआ है।

सर्व सेवा सघ और आचार्यकुल

केन्द्रीय आचार्यकुल समिति की स्थापना के बाद और सकल्प पत्र में सदस्यता शुल्क की धारा रखने के बावजूद भी जब सदस्यो ने नियमपूर्वक चन्दा नहीं दिया और धन के अभाव में आचार्यकुल आन्दोलन का काम रुकने लगा तो सर्व सेवा सघ ने केन्द्रीय समिति की धन से सहायता की जिससे पूरा समय देने वाले एक सगठक की नियुक्ति सम्भव हुई और एक आफिस भी रखा जा सका। इसी पैसे से आचार्यकुल-सम्बन्धी पम्फलेट आदि का प्रकाशन होता है और प्रदेशो को एक मुश्त पाँच सौ रुपये की सहायता भी दी जाती है।

आचार्यकुल की स्वायत्तता

सर्व सेवा सघ की इस आर्थिक सहायता के बाद सगठन के सम्बन्ध में एक प्रश्न बहुधा केन्द्रीय और प्रादेशिक समितियो की बैठको में पूछा जाता रहा है कि जब सर्व सेवा सघ की ओर से ही आचार्यकुल आन्दोलन चलाया जा रहा है तब आचार्यकुल को स्वायत्त सगठन कहना कहाँ तक उचित होगा ? इस सम्बन्ध में विनोबाजी से पूछा गया तो उन्होंने कहा कि अगर आचार्यकुल चाहता है कि सर्व सेवा सघ उसकी आर्थिक सहायता करे परन्तु बिलकुल दखल न दे तो वैसा सम्बन्ध रखे। परन्तु आचार्यकुल की स्वायत्तता में किसी प्रकार का

हस्तक्षेप नही होना चाहिए। और आज स्थिति यही है कि सर्व सेवा सघ से पूरी आर्थिक सहायता लेता हुआ भी आचार्यकुल पूर्णत स्वायत्त है और सर्व सेवा सघ ने उसके काम में कभी किसी प्रकार दखल नही दिया है तथा आचार्यकुल जिस प्रकार का सम्बन्ध चाहे सर्व सेवा सघ या सर्वोदय आन्दोलन से रख सकता है। उसे यह भी छूट है कि अगर वह किसी वक्त यह महसूस करे कि सर्वोदय आन्दोलन से देश का अहित हो रहा है तो अपनी राष्ट्रीय इकाई से विचार करके उसे देश के नाम यह घोषणा करनी चाहिए कि देश में सर्वोदय नाम का जो यह आन्दोलन चल रहा है, उससे देश को नुक्सान हो रहा है और उससे देश की जनता को होशियार रखना चाहिए। इससे बढकर स्वायत्तता का आश्वासन और क्या हो सकता है ? यह आश्वासन आचार्यकुल को मिला हुआ है। सर्वोदय-आन्दोलन ने माना है कि आचार्यकुल सत्य की वाणी है। जिसे वह सत्य समझेगा, कहेगा। आचार्यकुल किसी का 'मास्टर्स वायस' नही है। वह अपने कार्शंस की बात खुलकर कहेगा—कहना चाहिए।

इस समय तक यह स्थिति है, परन्तु यह स्वायत्तता कायम रहे, इसके लिए यह अनिवार्य है कि आचार्यकुल का आन्दोलन अपने पैरो पर खडा हो और सर्व सेवा सघ से आर्थिक सहायता लेना बन्द करे। 'धन वव बन्धन हो जायगा, यह कहा नही जा सकता।

केन्द्रीय और प्रादेशिक आचार्यकुल का सम्बन्ध

सगठन के सम्बन्ध में तीसरी बात, जो बहुत महत्व की है वह है केन्द्रीय आचार्यकुल का प्रादेशिक आचार्यकुलो से सम्बन्ध। इस सम्बन्ध में सगठन की दृष्टि से सस्थागत और प्रादेशिक इकाइयो की स्वायत्तता का सिद्धान्त ही सर्वमान्य होना चाहिए। जैसा पहले कहा चुका है आचार्यकुल की बिरादरी सगठित बिरादरी बने, असगठित बिरादरी न बन जाय, इतना ही प्रयास करना चाहिए। आचार्यकुल 'सत्ता के लिए नही सेवा' के लिए है, और जब तक आचार्यकुल के सामने यह लक्ष्य स्पष्ट रहेगा तब तक किसी प्रकार केन्द्रीयकरण की नीति से बचना आसान होगा। फिर भी अगर आचार्यकुल की एक राष्ट्रीय नीति बननी है, उसकी आवाज को राष्ट्रीय आवाज बननी है—ऐसी आवाज, जिसकी राष्ट्र में प्रतिष्ठा हो, तो उसकी सस्थागत, जनपदीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय इकाइया को आपस में बँधकर रहना चाहिए। सगठन की दृष्टि से सबसे महत्त्व का प्रश्न यही है कि जड न होता हुआ भी यह सम्बन्ध शिथिल न पड़े। साल भर में कम-से-कम एकबार तो प्रदेशो की सब इकाइयाँ प्रदेश में एक जगह इकट्ठी हो और स्थानीय अथवा प्रादेशिक समस्याओ पर निष्पक्ष

होकर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें और अपनी राय समाज के सामने प्रस्तुत करें। इसी प्रकार सब प्रदेशो के प्रतिनिधि राष्ट्रीय स्तर पर मिलें। यह तभी सम्भव होगा जब प्रादेशिक आचार्यकुल केन्द्रीय आचार्यकुल को नियमपूर्वक विधान के अनुसार सदस्यता शुल्क का अशदान देता रहेगा। मध्य प्रदेश के अतिरिक्त और कही से अब तक यह अशदान नही प्राप्त हुआ है। यद्यपि प्रादेशिक स्तरीय आचार्यकुल एक से अधिक प्रदेशो में स्थापित हुए हैं। किसी प्रकार के केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन दिये बिना प्रादेशिक और केन्द्रीय आचार्यकुल के सम्बन्ध में दृढता कैसे हो, इस विषय पर चिन्तन होना चाहिए।

आचार्यकुल का अन्य शिक्षक संघो से सम्बन्ध

आचार्यकुल का दूसरे शिक्षक सघो से क्या सम्बन्ध हो, सगठन की दृष्टि से यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। आज सभी राज्यो में शिक्षक सघ हैं जो अपने सदस्य अध्यापको के अधिकारो के लिए सरकार से अथवा मैनेजरो से लडते हैं। चूँकि आचार्यकुल अधिकारो को प्रमुखता न देकर कर्तव्य की जागृति पर जोर देता है अत कुछ लोग आचार्यकुल को एक विरोधी मच स्थापित करने के प्रयास के रूप में देखते हैं। उनसे कहना है कि आचार्यकुल प्रोफेशनल एकता को तोडने का नही उसकी नागरिक हैसियत को बढ़ाने का कार्यक्रम है। शिक्षक सघो की एकता अगर टूटी तो दलगत राजनीति के प्रवेश से टूटेगी। आचार्यकुल तो इससे रक्षा का कार्यक्रम है।

जहाँ तक अधिकारो का प्रश्न है आचार्यकुल अधिकारो की मांग के लिए नही, कर्तव्य की जागृति के लिए है। परन्तु अगर किसी समस्या के समाधान के लिए शिक्षक सघो की मांग न्यायपूर्ण है और उनका मार्ग शान्ति और अहिंसा का है तो आचार्यकुल उनका समर्थन करेगा। आचार्यकुल का लक्ष्य शान्तिपूर्ण ढंग से अन्याय का प्रतिकार है, और जो भी शान्तिपूर्ण तरीको से अन्याय के विरुद्ध लडेंगे, आचार्यकुल उनके साथ रहेगा। लेकिन आचार्यकुल यह समझता है कि शिक्षक-सघ ने जो लडाई छेडी है वह उचित नही है, तो समर्थन नहीं करेगा।

अक्सर दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या एक शिक्षक अपने सघ के साथ आचार्यकुल का भी सदस्य हो सकता है? मेरे विचार में अगर कोई आचार्यकुल की निष्ठाओं में विश्वास रखता है तो वह आचार्यकुल का सदस्य हो सकता है और जब किसी विशेष परिस्थिति में दोनो सघो में सघर्ष हो तो वह निर्णय करे कि उसे किसको छोडना चाहिए।

—वशीधर श्रीवास्तव

केरल में आचार्यकुल का प्रारंभिक कार्य : एक प्रतिवेदन

केरल सर्वोदय मण्डल की कोचीन में ५-११-७२ को हुई बैठक में ही यह तय किया गया कि केरल में भी आचार्यकुल का काम किया जाय। श्री ई० नारायण पिल्लई से जो केरल सर्वोदय मण्डल के एक सदस्य हैं और गांधी शान्ति प्रतिष्ठान केन्द्र त्रिवेन्द्रम के सेक्रेटरी भी यह अनुरोध किया गया कि वे इस काम की जिम्मेदारी लें। केरल के विभिन्न क्षेत्रों के आठ सदस्यों की एक अस्थायी समिति इस काम के लिए बनायी गयी और श्री पिल्लई को उसका संयोजक नियुक्त किया गया।

इस अस्थायी समिति की कोचीन में २० दिसम्बर १९७२ को एक बैठक बुलायी गयी, लेकिन संयोजक को मिलाकर कुल चार व्यक्ति ही बैठक में शामिल हुए। अतः बैठक आगे के लिए टाल दी गयी। बाद में सर्व सेवा संघ की केलप्पननगर में हुई छमाही बैठक के अवसर पर ३१ दिसम्बर १९७२ को आचार्य राममूर्ति व श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा की उपस्थिति में संयोजक ने दो अनौपचारिक बैठकें बुलायीं। सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये आए हुए शिक्षक व सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इन दोनों बैठकों में भाग लिया। इस बैठक में यह निश्चय किया गया कि १४ जनवरी १९७३ को राज्य-स्तर की एक बैठक त्रिचूर में बुलायी जाय।

आचार्यकुल के काम में रुचि रखनेवाले शिक्षकों व सामाजिक कार्यकर्ताओं की बैठक पूर्व निश्चय के अनुसार त्रिचूर के निकट १४ जनवरी १९७३ को बुलायी गयी। इस बैठक में केरल के ११ जिलों में से ८ जिलों के २५ शिक्षकों

ने भाग लिया। इनके अतिरिक्त १० सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया, जिनमें श्री मनमथन व अस्थायी समिति के सयोजक भी सम्मिलित थे। बैठक में निचले प्राइमरी स्कूलो, हाई स्कूलों व कालेजों के शिक्षक शामिल थे, जबकि सामाजिक कार्यकर्ताओं ने बैठक में गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, गांधी स्मारक निधि व केरल सर्वोदय सघ का प्रतिनिधित्व किया। बैठक ११ बजे सुबह शुरू हुई और तीसरे पहर साढ़े तीन बजे तक चली। श्री एम०पी० मनमथन ने बैठक की अध्यक्षता की। विचार-विमर्श काफी अच्छा रहा। सर्वानुमति इस पक्ष में थी कि केरल में आचार्यकुल कार्यक्रम का सगठन किया जाय। बैठक में निम्नलिखित निर्णय हुए :

(१) केन्द्रीय आचार्यकुल समिति ने जिस नमूने का सुझाव दिया है वैसे आचार्यकुल का केरल में संगठन हो। आचार्यकुल का सविधान सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया।

(२) बैठक में सभी जिलों के जो सदस्य आये थे उन्हीं में से कुछ लोगों को लेकर अस्थायी समिति का पुनर्निर्माण हुआ। पुनर्निर्मित इस अस्थायी समिति के सदस्यों के नाम निम्नलिखित हैं :

१. श्री के० के० नारायणन् नायर	
२. श्री पी० एम० कुमारन् नायर	त्रिवेन्द्रम् जिला
३. एन० एस० पनिक्कर	क्विलन ,,
४. श्री सी० जी० नारायण पनिक्कर	
५. श्री ए० नटराजन्	
६. श्री प्रो० थिकोडियनम् गोपीनाथन नायर	
७. श्री एन० शिवरमण नायर	कोट्टायम
८. श्री नीलेश्वरम् रमनकुंजी	
९. एन० पी० अब्दुलखेदर	
१०. प्रो० एम० वी० आगस्टिन	अर्नाकुलम्
११. श्रीमती एम० के० इच्छिअम्मा	
१२. श्री ईवी० छट्टकुट्टी	त्रिचूर
१३. श्री एम० नारायनन्	
१४. श्री प्रो० एन० चन्द्रशेखरन् नायर	
१५. श्री के० भीमन नायर	पालघाट
१६. श्री प्रो० पी० के० वी० नायर	इडिक्कि

१७ श्री एम० पी० मनमथन् अध्यक्ष, केरल सर्वोदय मण्डल
१८ श्री ई० नारायण पिल्लई गांधी शान्ति प्रतिष्ठान सेण्टर, त्रिवेन्द्रम्

शेष बचे तीन जिलों में से शीघ्र ही प्रत्येक में से दो-दो सदस्य शामिल किये जायेंगे। इसी तरह क्विलन और इडिक्की जिलों से भी एक एक शिक्षक शामिल किया जायगा।

(३) ग्रामस्वराज्य विद्यालय नडथारा के प्रिंसिपल श्री के० भीमन नायर तदर्थ समिति के समान्य संयोजक मनोनीत किये गये। गवनमेण्ट हाई स्कूल की श्रीमती रमन कुंजी और त्रिवेन्द्रम् गांधी शान्ति प्रतिष्ठान के श्री ई० नारायण पिल्लई संयुक्त संयोजक चुने गये। श्रीमती रमन कुंजी उत्तरी जिलों का संगठन कार्य देखेंगी और श्री नारायण पिल्लई दक्षिणी जिलों का। साथ ही ये दोनों इस तदर्थ समिति के कार्यालय का भी काम देखेंगे।

(४) आनेवाले महीनों में शिक्षकों की जिला स्तरीय बैठक बुलायी जायगी और जैसा कि संविधान में निर्दिष्ट है निचले स्तर की इकाइयों व राज्य स्तरीय समिति का भी निर्माण होगा। राज्य स्तरीय संगठन अप्रैल तक पूरा हो सकता है और मई महीने में राज्य स्तर की एक बैठक बुलायी जा सकती है।

(५) सदस्यता फार्म मलयालम् भाषा में तुरत छपवा लिये जाय तथा फरवरी व मार्च महीनों में सदस्य बनाने का अभियान रखा जाय।

(६) पत्रिकाएँ तथा अन्य आवश्यक साहित्य मलयालम में तैयार हो जिनका अंग्रेजी और हिन्दी में भी अनुवाद हो।

(७) तदर्थ समिति की फरवरी में बैठक बुलायी जाय और भविष्य का कार्यक्रम विस्तार से तय किया जाय। बैठक में शामिल सदस्यों में श्री भीमन नायर, उनके सहयोगियों और विद्यालय के विद्यार्थियों के प्रति भोजन व आतिथेय के लिए धन्यवाद प्रकाश किया गया।

यह बैठक ३ ३० बजे समाप्त हुई। १४ तारीख को ही ४ बजे राज्य स्तरीय बैठक के बाद तदर्थ समिति की बैठक हुई। तय हुआ कि दूसरी बैठक १२ फरवरी १९७३ को थिरुवाया में हो।

त्रिवेन्द्रम्, २५-१-१९७३

ई० नारायण पिल्लई
संयुक्त संयोजक
केरल आचार्यकुल अस्थायी समिति

वर्ष : २१
अंक ८
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

मार्च, '७३

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित,
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम

सर्व सेवा-संघ की मासिकी

वर्ष : २१

अंक : ९

- सोवियत रूस के विद्यार्थी
- शिक्षा का सरकारीकरण
- शिक्षा-समस्या
- शिक्षा-सुधार की एक योजना
- बुनियादी शिक्षा—आनेवाले कल की शिक्षा-पद्धति

अप्रैल १९७३

सोवियत रूस के विद्यार्थी

वर्ष : २१
अंक : ९

देश की शिक्षा प्रणाली में जो भी आमूल परिवर्तन किये जायँ उसमें सबसे पहला परिवर्तन यह करना है कि इस देश के विद्यार्थियों में ऐसी क्षमता उत्पन्न की जाय जिससे कि वे समाज की एक उत्पादक इकाई बन सकें। जो शिक्षा उन्हें केवल परोपजीवी बनाती है, ऐसी शिक्षा एक स्वतंत्र समाजवादी देश को नहीं चाहिए। प्रकृति अथवा समाज में जो उपादान उपलब्ध है, समाजवाद में उनके समान उपभोग की और उस उपभोग द्वारा सबके समान विकास के लिए समान अवसर की कल्पना है। और यह कल्पना तब तक चरितार्थ नहीं होती जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज की उत्पादक इकाई नहीं बन जाता।

और फिर आज की दुनिया में जिसमें विज्ञान और टेक्नालॉजी प्रतिक्षण नये नये परिवर्तन कर रहे हैं— उत्पादक इकाई का अर्थ है विज्ञान और टेकनालॉजी की वर्तमान उत्पादन पद्धति की समझदारी मात्र ही नहीं, भविष्य में वह पद्धति क्या रूप ले लेगी उसकी भी समझदारी। इसका अर्थ हुआ कि आज के तकनीकी युग में उत्पादक इकाई वही हो सकेगा जिसमें आज की टेकनालॉजी को समझने की ही क्षमता नहीं है। कल के तकनीकी परिवर्तन के अपेक्षित सम्भावनाओं को समझने और उसके परिवर्तन के अनुसार अपने को ढाल सकने की योग्यता भी है। दूसरे शब्दों में, कल तक के उत्पादन के लिए केवल इंजीनियर की आवश्यकता थी। आज इंजीनियर के साथ-साथ अनुसंधानकर्ता भी हो। इसके साथ उसे यह भी सीखना है कि जो टेकनीकल ज्ञान उसे प्राप्त

हुआ है उसका संगठन वह इस प्रकार करे कि आज समाज में उत्पादन की जो पद्धतियाँ चल रही हैं, उनमें वांछित सुधार करके वह उन्हें अधिक उत्पादक बना सके। इसके लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि वह कक्षा के भीतर विज्ञान और टेक्नालॉजी का अद्यतन ज्ञान प्राप्त करे, बल्कि यह भी आवश्यक है कि कक्षा के बाहर जो व्यक्ति उत्पादन की क्रिया-प्रक्रिया में लगे हैं वह उनके साथ काम करता हुआ पद्धतियों के रहस्यों का प्रायोगिक ढंग से समझे। ऐसा करेगा तभी उसका अनुसंधान अधिक व्यावहारिक होगा और तभी उसे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होंगे। और तभी वह भविष्य का मुकाबला करने के लिए सक्षम भी हो सकेगा। इस दिशा में सोवियत रूस की शिक्षा-प्रणाली अनुकरणीय है, और हमें अगर अपनी शिक्षा को उत्पादक बनाना है तो हमें भी कुछ ऐसा ही करना होगा।

सोवियत रूस के उच्च शिक्षा के कालेजों के ६ लाख विद्यार्थी जो देश की कुल संख्या के लगभग चौथाई हैं, उन "छात्र-वैज्ञानिक-सोसाइटियों" के सदस्य हैं जो अनुसंधान का काम करती हैं। दूसरे शब्दों में ये विद्यार्थी कक्षा में टेकनालॉजी का ज्ञान ही नहीं प्राप्त करते बल्कि उत्पादन-पद्धति में गम्भीरतापूर्वक अनुसंधान भी करते हैं। दो सौ से अधिक ऐसे छात्र डिजाइनिंग-ब्यूरो (शालाएँ) हैं जो उद्योग, कृषि, भवन-निर्माण आदि औद्योगिक संस्थाओं से ठीके के आधार पर विभिन्न प्रकार की योजना चलाते हैं।

छात्रों के ये सभी संगठन स्वतंत्र संस्थाएँ हैं और इनका प्रबंध छात्र ही करते हैं। यह दूसरी बात है कि अध्यापक थोड़ी वैज्ञानिक अथवा दूसरी टेकनीकल सहायता कर देते हों। परन्तु प्रबंध पूर्णत छात्रों के हाथ में ही रहता है और इस प्रकार रूस में छात्र-स्वतंत्रता की प्रवृत्ति रचनात्मक और पाजिटिव हो जाती है। इस स्वतंत्र छात्र-अनुसंधान-संगठनों के प्रयासों का परिणाम बहुत उत्साहप्रद है। १९६९-७० में इन संगठनों के ३ सौ अनुसंधान-कार्य पेटेन्ट कराये गये और लगभग ४ हजार अनुसंधान-कार्यों को उत्पादन के लिए प्रस्तुत किया गया और सात हजार शोध-लेख प्रकाशित हुए। १९७० में लेनिन शती के अवसर पर आयोजित समाज-विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान-स्पर्द्धाओं में लगभग ८ लाख छात्रों ने भाग लिया।

इस प्रकार देश के छात्रों मे उत्पादक काम के प्रति स्वतत्र रचनात्मक अनुसधानिक दृष्टिकोण के साथ साथ सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। किसी भी प्रगतिशील समाजवादी देश के विद्यार्थियों मे इस भावना का विकास आवश्यक है। सोवियत रूस का विद्यार्थी अपने देश का नागरिक है और सोवियत सविधान मे दिये गये सारे अधिकारों को भोगता है एव सारे कर्तव्यों का पालन भी करता है। इस समय १३ विद्यार्थी सुप्रीम सोवियत के, जो सोवियत रिपब्लिक की पार्लियामेण्ट है, डिप्टी है। १९७१ मे एक हजार से अधिक विद्यार्थी सुप्रीम सोवियत और इसके स्थानीय भागों के सदस्य हुए थे।

१९६९ ७० मे ७ लाख से अधिक छात्रों ने रूस के सैकडों गॉवों और कस्बों की यात्राएँ की जहाँ उन्होंने ४ लाख व्याख्यान दिये और १ लाख से अधिक सास्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये। १९७१ के ग्रीष्मावकाश मे ४ लाख छात्रों ने पावर स्टेशन बनाने, मकान बनाने, रेलवे-लाइन तथा विद्यालय के लिए भवन एव कृषि-भवन के निर्माण के काम किये।

इतना ही नही सोवियत रूस के उच्चतर विद्यालयो के प्रशासन के लिये जो कानून बनाये गये हैं वे विद्यार्थियो को अनेक महत्त्वपूर्ण कालेज सगठना मे व्यापक स्तर पर भाग लेने का अधिकार प्रदान करते हैं—जैसे कालेज की उस कौंसिल मे जो छात्रों के प्रवेश और रोजगार का प्रबन्ध करती है। (सोवियत रूस मे प्रत्येक स्नातक को रोजगार की गारण्टी रहती है) अथवा उस कौंसिल मे जो छात्रों को छात्रवृत्ति देने का काम करती है, भाग लेना।

सोवियत रूस मे कालेज के विद्यार्थी, अध्यापक और दूसरे कर्मी, एक ही ट्रेड यूनियन के सदस्य हैं। उदाहरणार्थ मास्को विश्वविद्यालय के सभी विद्यार्थी, अध्यापक और कर्मी "वर्कर्स ऑव एजूकेशन हायर स्कूल एण्ड रिसर्च इस्टीट्यूट ट्रेड यूनियन" के सदस्य हैं। इसका अर्थ यह होता है कि अपने वरिष्ठ साथियों (अध्यापकों) के साथ समानता के स्तर पर विद्यार्थी अपने हितों की सुरक्षा स्वय करते हैं। विश्वविद्यालय प्रशासन जो श्रम सम्बन्धी कानून अथवा विद्यार्थियों

के प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित जो नियम बनाते हैं उन पर नियंत्रण रखने में विद्यार्थियों का हाथ रहता है।

इस प्रकार सोवियत रूस के कालेजों में विद्यार्थियों को जन-जीवन के उत्पादक कामों में भाग लेने का और दूसरे प्रशासनिक कामों में हिस्सा लेने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाता है। भारत की शिक्षा में अगर इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन करने हैं जिससे शिक्षा जन-जीवन के साथ जुड़े तो विद्यार्थियों को अधिक अवसर इस बात का देना चाहिए कि समाज की उत्पादक क्रियाओं का वैज्ञानिक ढंग से संचालन करना ही न सीखें, वे कक्षा के बाहर निकलकर उनके साथ काम करें जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन के काम में लगे हैं। इससे दोहरा लाभ होगा। समाज में काम करनेवाले उत्पादक श्रमिकों को वैज्ञानिक दृष्टि मिलेगी और विद्यार्थियों के कामों को जीवन का ठोस आधार प्राप्त होगा।

—वंशीधर श्रीवास्तव

दादा धर्माधिकारी

शिक्षा का सरकारीकरण

[आचार्यकुल सम्मेलन सुपौल, सहरसा (बिहार) मे दादा धर्माधिकारी द्वारा दिये गये भाषण का सार।—सम्पादक]

सरकारीकरण से बचने का एक ही उपाय

अभी जो कुछ मैंने बिहार प्रदेश आचार्यकुल के संयोजक डाक्टर रामजी सिंह से सुना उससे मुझे ऐसा भास हुआ कि दूसरे प्रान्तों की तरह यहाँ भी शिक्षकों ने वह माँग की है कि हमारे वेतन देने की जिम्मेवारी सरकार पर हो। इसका मतलब यह है कि परिस्थिति से विवश होकर आज शिक्षक भी राज्यनिष्ठ अधिक हो रहा है और उसकी लोकनिष्ठा कम हो रही है। इधर लोकतन्त्र की एक माँग यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो। दूसरी तरफ वस्तुस्थिति यह है कि हमारा एक दूसरे पर विश्वास नही है। अब इस परिस्थिति का थोडा विश्लेषण आप कीजिए। साग-सब्जी बेचनेवाले कुजड़े से लेकर देश के प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित विद्वान और धनी यही कहते पाये जाते हैं कि यह सरकार बिलकुल भ्रष्ट है। यह भ्रष्ट है तो फिर उजले कौन हैं? वह कौन हैं जो निकम्मे नही हैं? अब तो जो समीकरण हो रहा है वह यह हो रहा है न कि सरकार निकम्मी है और दूसरे लोग अधिक निकम्मे हैं। तो अब बताइये कि इस देश के लिए कौन-सी आशा है? सरकार निकम्मी है इसको बदलना चाहिए। लेकिन जो बदलेंगे वे लोग अधिक निकम्मे हैं। तो फिर क्या हो? समस्या का हल क्या है?

मेरे पास समस्या का कोई जवाब नही है और जिनके पास जवाब है उनमें मेरा कोई विश्वास नही है। क्योकि वे जवाब बेचते हैं साबुन की तरह।

केरल में एक शिविर हुआ, उसमें शिक्षक थे। उन शिक्षकों से मैंने पूछा, "आप कम्युनिस्ट सत्ता के हिमायती, पक्षपाती क्यो हैं, समर्थक क्यो हैं?" उन्होने यही कारण बतलाया कि हमको हमारी तनख्वाह नहीं मिलती है, वेतन नहीं मिलता है। इसलिए इसे हम सरकार को सौंप देना चाहते हैं। और यह भूमिका सिर्फ कम्युनिस्ट सरकार की है, कम्युनिस्ट पार्टी की है इसलिए हम कम्युनिस्ट पार्टी के साथ हैं। आज भी वह आन्दोलन चल ही रहा था। दुबारा जब मैं १९७२ की मई या जून महीने में गया तो यह आंदोलन चल रहा था

कि यहाँ के सारे के सारे शिक्षण का सरकारीकरण हो। वहाँ केरल की सरकार का भी यही विचार है। अब आप शर्त क्या लगा रहे हैं कि राज्यीकरण तो हो लेकिन राज्य का शासन शिक्षण पर न हो। तो इसका मतलब यह हुआ न कि आप में इतनी शक्ति चाहिए कि आप सरकार से पैसा भी ले लें और ऊपर से अपनी अकड़ दिखायें। यह तो है नहीं। आज तो परिस्थिति यह है न कि आप विवश होकर सरकार के दरवाजे पर भीख माँगने जा रहे है। यह तुम ले लो तो हम बचेंगे। तो एक न्याय है पुराना "हो कॉलस दि ट्यून हू पेज दि पाइपर।" यानी जो शहनाईवाले को पैसा देता है वह राग फर्माता है कि कौन-सा राग बजाया जाय। इससे हमको अगर बचना है तो एक ही उपाय है और वह उपाय यह है कि हममें से मुट्ठी भर शिक्षकों को (मैं नहीं कहता कि अधिकांश) यह निश्चय करना होगा कि अब समाज की केन्द्रीय संस्था बाजार नहीं होगी। आज मनुष्य को स्वतन्त्रता है मालिक चुनने की और अपने आपको बेचने की भी। ये दो दाव हैं। लोक-सत्ता उत्तम-से-उत्तम अधिनायक राज्य से बेहतर है। और यह क्यों है? रद्दी-से-रद्दी लोकसत्ता में भी अगर मैं पालियामेण्ट में चुना जाऊँ तो पालियामेण्ट के सदन में खड़ा होकर प्रधानमंत्री की आँखों से आँख मिलाकर यह कह सकता हूँ कि शासन मूर्खों का है। लेकिन जहाँ उत्तम-से-उत्तम अधिनायक सत्ता होगी वहाँ घर में अपनी पत्नी के कान मे भी कहूँ कि यह सत्ता मूर्खों की है तो मेरी जीभ काट ली जायगी। यह शिक्षक का सत्व है लोकतन्त्र मे, शिक्षक को यह कहने का अधिकार है। आप इस अधिकार को क्यों छोड़ते हैं ? क्या शिक्षा के सरकारीकरण के बाद आपका यह अधिकार रह जायगा ? तो इस अधिकार के लिए कुछ लोग लड़ें। भले इस लड़ाई में उन्हें विष का प्याला पीना पड़े।

जब सुकरात के होठों से विष का प्याला लगाया जाता है, होठों से उसका स्पर्श होता है, तो उसमें विजय की तासीर आ जाती है। उसमें मानव विजय घोल दी जाती है। कुछ शिक्षकों को यह जहर का प्याला पीना होगा। इसमें कोई आचार संहिता आपकी सहायता नहीं करनेवाली है। इस प्रकार के जो मनुष्य होते हैं वे आउट साइडर कहलाते है। आउट साइडर से मतलब जिन पर परिस्थिति और परम्परा का कोई असर नहीं होता। वर्तमान परिस्थिति और परम्परा इन दोनों से जो ऊपर उठ सकते हैं, वे आउट साइडर हैं, क्रान्तिकारी हैं। वे प्रतिलिपि नहीं होते। यह हो सकता है और यह हुआ है।

आपके यहाँ धीरेन्दा हैं। मैं उनको पूज्यनीय मानता हूँ। ये इसी प्रकार के आउट साइडर हैं।

मनुष्य स्वनिर्मित होना चाहिए

मैं आपसे सुझाना यह चाहता हूँ कि कृपा कीजिए और जो आपकी आदर्श शिक्षण-संस्थाएँ बननेवाली हैं, उन आदर्श संस्थाओं में अपने विद्यार्थियों पर अपने व्यक्तित्व की छाप कदापि न पड़ने दीजिए। आपके जैसे विद्यार्थी होंगे तो आपसे नादान होंगे। ईश्वर के बनाये हुए हम ऐसे हैं कि किसी की नाक ऐसी और किसी की आखें ऐसी हैं, तो हमारे बनाये हुए क्या होंगे भगवान जानें। मनुष्य का निर्माण मनुष्य का काम नहीं। मनुष्य स्वयंनिर्मित होना चाहिए। सेकेण्ड हैण्ड नहीं। किसी का बनाया हुआ नहीं। मनुष्य का बनाया हुआ मनुष्य नहीं। ऐसा होगा तब दूसरी पीढ़ी में शायद यह बोध जागृत हो कि बाजार केन्द्रीय संस्था नहीं रहनी चाहिए। जब तक बाजार केन्द्रीय संस्था रहेगी आप खूब याद रखिए, गाँठ बाँध लीजिए कि विद्या भी बिकेगी, विद्यार्थी भी बिकेगा और शिक्षक तो बिक ही रहा है। अब ये सभी बाजार में बैठे हैं। गांधीजी ने किसी दूसरे सदर्भ में कहा था कि लोकसत्ता बाजार में बैठी है। इसलिए गणिका है—वेश्या है। तो यह सुनकर एक स्त्री ने लिखा कि गांधी तुम तो संत कहलाते हो, तुम्हारी भाषा मृदु होनी चाहिए। तुम ऐसे शब्दों का प्रयोग क्यों करते हो? तो उन्होंने कहा कि मैं गाली नहीं दे रहा हूँ, वर्णन कर रहा हूँ। और वर्णन निरपेक्ष होता है। वह कठोर या मृदु नहीं होता, यथावत होता है। विद्या भी अपनी मर्यादा को छोड़कर जब बाजार में आकर बैठती है तो वह गणिका होती है। वह कचनी हो जाती है। तो क्या हम विद्या को बाजार से उठा सकते हैं? जब तक बाजार में रहेगी तब तक सौदा रहेगा। तब तक आप सौ रुपये पर हस्ताक्षर करेंगे और साठ रुपये मिलेंगे। यह बिहार में ही नहीं, सारे प्रान्तों में है।

शिक्षा के मूल्यों में परिवर्तन कीजिए

प्रतिकूल परिस्थिति में से अनुकूल काम की खोज क्रांति का बीज मंत्र है। निःशस्त्र देश था, निहत्थों का। निहत्थों का देश, शस्त्र निरपेक्ष वीरता का विकास करे तो स्वतंत्र होगा। यह पकड़ की बात गांधी के (आउट साइडर) मन में आयी। इतिहासवेत्ता तो कहता कि शस्त्र के बिना स्वतन्त्रता नहीं। परम्परा को देखता तो सोचता कि राम, कृष्ण सभी शस्त्र हाथ में लिये, शिवाजी, राणा प्रताप सभी। लेकिन इतिहास और परम्परा दोनों से ऊपर उठ गया गांधी

क्योंकि, वस्तु को देख रहा था आँख खोलकर। वस्तुस्थिति यह थी कि देश निहत्थों का और निःशस्त्र होने के कारण यहाँ मनुष्य अहिंसक नहीं बना, हतवीर्य बना, हतबल बना। तो जो निःशस्त्र था, हतवीर्य था, हतबल था उसकी इस निःशस्त्र अवस्था में से क्या कोई शक्ति जागृत हो सकती है? शिक्षक भी आज ऐसी ही असहाय स्थिति में है। शिक्षक का पेट खाली है। भूख कोई संस्कृति नहीं जानती, कोई धर्म नहीं जानती, कोई अध्यात्म नहीं जानती। सारा धर्म, सारी संस्कृति, सारा अध्यात्म सारी सभ्यता जठराग्नि में भस्मसात हो जाती है। वह सहानुभूति का पात्र है। लेकिन सहानुभूति का पात्र है तो क्या हम उससे यह कहेंगे कि दूसरा खिलायेगा तब तेरा पेट भरेगा? तब तो हम उसको परोपजीवी बनायेंगे। आज जितना विवश हैं उससे अधिक विवश उसको बनायेंगे। इसका तो मतलब इतना ही हुआ न कि एक जजमान खाने को नहीं दे रहा है तो दूसरे जजमान को खोजें। और दूसरे जजमान को खोजें तो उसकी प्रशंसा भी हमको करनी पड़ेगी। प्रार्थना मेरी इतनी ही है कि आप मुट्ठीभर लोग ही क्यों न निकलें, लेकिन प्रण यह होना चाहिए कि अब नये जजमान नहीं खोजना है। प्रण यह करना है कि शिक्षा बाजार का अन्त होगा। मनुष्य नहीं बिकेगा। उसकी विद्या नहीं बिकेगी। और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। शिक्षक की भी उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए संघर्ष करना पड़े तो संघर्ष कीजिए। लेकिन मेहरबानी कीजिए कि परिस्थिति का परिवर्तन, सन्दर्भ का परिवर्तन जब हम करते हैं तब यह न भूलें कि मूल्यों का परिवर्तन भी करना है। आज समाज में मूल्य नहीं है। समाज में आज जिसे कीमत कहते हैं 'प्राइज' 'दाम' वह है, मूल्य नहीं है। मूल्य से मतलब है महत्त्व, जीवन में उपयोगिता। और दाम बाजार में जो तय होता है, निश्चित होता है उसका नाम है दाम। तो आज हर चीज की प्राइज है, हर चीज के दाम हैं, हर चीज की कीमत है, लेकिन किसी चीज का मूल्य नहीं है और यही कारण है कि इस शिक्षा को हम कोस रहे हैं।

जॉब ओरियेण्टेड शिक्षा

एक मैंने विरोध आपके सामने रख दिया, विरोधाभास नहीं प्रत्यक्ष विरोध। दूसरा विरोध आपके सामने रख रहा हूँ। राष्ट्रपति से लेकर प्राइमरी शिक्षक तक सब कह रहे हैं कि यह शिक्षण-पद्धति ही गलत है। यह निकम्मी है, अनर्थकारक है। तब मैं पूछता हूँ कि अपने लड़कों को इसमें इतने प्रयत्न से क्यों भेजते हैं? लोग कहते हैं, सरकार भी कहती है कि शिक्षा-पद्धति निकम्मी

है तो फिर इसको बदलने में सरकार को किसने रोका है ? मैं कहता हूँ अभिभावकों को किसने रोका है ? ये तो बहुत अधिक संख्या में हैं और इन शिक्षकों को किसने रोका है ? ये तो अभी अपने भी बेटों को वहीं भेजते हैं और सिफारिश करते हैं उसके लिए। और ये विद्यार्थी रोज युनिवर्सिटी का मकान जलाते हैं और रोज मांग करते हैं कि हमारे यहां एक नयी युनिवर्सिटी खोल दी जाय, नहीं खोलेंगे तो रेल की पटरियाँ उखाड़ेंगे। किसलिए युनिवर्सिटी खोलिए ? उसे जलाने के लिए। मेरी समझ में यह बात नहीं आती है। अब जब लोग यह कहते हैं कि मेरा मार्गदर्शन कीजिए तो मैं कहता हूँ कि मार्ग ही नहीं है तो क्या दर्शन करें। मैं कहता हूँ कि क्या सचमुच इस शिक्षण-पद्धति को हम बुरा समझते हैं। मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि इस देश में इस शिक्षण-पद्धति को दिल से कोई भी बुरा नहीं समझता। हम सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि आज जो समाज है, वर्तमान समाज उसमें सिर्फ हमको प्रतिष्ठा मिले। वर्तमान समाज के मूल्यों का परिवर्तन हम नहीं चाहते। इतना ही हम चाहते हैं कि समाज में सम्मान मिले, प्रतिष्ठा मिले और सम्पत्ति मिले यह एक दूसरी चीज है। हमारे देश में अंग्रेजों के आने से पहले ५ प्रतिशत आदमियों को अधिक-से-अधिक शिक्षण मिलता हो, इससे अधिक नहीं। कुछ ज्यादा ही कह रहा हूँ।

केरल में सारे ब्राह्मण साक्षर हैं उत्तर-पूर्व में तो सारे साक्षर भी नहीं हैं। और ये जो कुछ कायस्थ हुये, मुंशी, ये मुसलमानों के आने के बाद हुये। लेकिन अंग्रेजों के आने से पहले इस देश में शिक्षण सार्वत्रिक तो था ही नहीं। १० प्रतिशत भी शिक्षित नहीं थे। तब जो समाज शिक्षित नहीं था उसमें जो आकांक्षा है वह बाबूगिरी के शिक्षण की है। वे यह चाहते हैं कि हमारे बेटे शिक्षण पायें हाईकोर्ट के जज बनें वकील बनें, डाक्टर बनें, बाबू बनें, प्रोफेसर बनें। आज तक जिस समाज में उनका स्थान नहीं था उस समाज में स्थान पाना चाहते हैं। इसलिए इस शिक्षण की तरफ से उनकी जितनी घृणा होनी चाहिए उतनी घृणा नहीं है, तिरस्कार नहीं है। शिकायत इतनी ही है कि शिक्षण के बाद हमको बेकार रहना पड़ता है हमको काम नहीं मिलता है। अब इस मांग को भी थोड़ा समझने की कोशिश करें। यह हर मनुष्य की मांग है, " हमको पढ़ने के बाद काम दो।" क्या आप यह चाहते हैं कि यह देश सारा का सारा सरकारी नौकरों का बन जाय ?

जिस तरह चीन के युद्ध या पाकिस्तान के युद्ध में सिपाही जान हथेली पर लेकर गया होगा वैसे ही शिक्षक को जान हथेली पर लेकर अपने आपको इसमें

होम देना होगा। फिर तो चाहे मुट्ठी भर ही क्यों न हों उनका यह बाना होगा। समाज में आज जो मूल्य हैं वह नही रहेगे। हम हृदय-परिवर्तन करेंगे और हृदय-परिवर्तन से मतलब आज बालक का हृदय, बालक का जो मन है उसे अपना हृदय, अपना मन देंगे ऐसा हर्गिज नहीं। यह दुनिया मनुष्य के नाम की बनेगी और उसमें बालक का हृदय और बुद्धि मनुष्य की होगी, हमारा नहीं। हमारा तो विकृत है, संस्कारों से अशुद्ध है। संस्कार कलुषित हमारा चित्त है। उसका चित्त और उसका हृदय शुद्ध होगा। यह हृदय-परिवर्तन है। मैं आश्वासन दिला सकता हूँ कि जिस पर कोई संस्कार नही होगा, ऐसा संस्कार-निरपेक्ष मनुष्य का हृदय शुद्ध होगा। अस्तु, तीनो प्रेरणाएँ हमारी साथ-साथ चलनी चाहिए। मार्क्स की प्रक्रिया, सन्दर्भ-परिवर्तन की, चेंज ऑव कान्टेक्स्ट, समाजवादियो की प्रक्रिया, चेंज ऑव वैल्यूज—मूल्य-परिवर्तन, और गांधी की प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन की। ये तीनो एक के बाद एक अगर नही होंगे तो कोई क्रान्ति सफल नही होगी और समग्र नही होगी। तीनों एक साथ होंगी तो क्रान्ति समग्र होगी और सफल होगी। तो इसका जो मूल्य-परिवर्तन का, हृदय-परिवर्तन का अंश है यह सांस्कृतिक क्रान्ति का अंश है और इसमें आपकी भूमिका है। इसमें शिक्षक की भूमिका अन्यतम है। वह अद्वितीय है इस विषय में।

आचार्यकुल का संकल्प

आपका यह विशेष गौरव है कि आप विद्या को बाजार से उबारें और निवेदन मेरा यह है कि विद्या को दरबार से उबारें। बाजार और दरबार दोनो जगह विद्या नही जानी चाहिए। अगर दरबार में विद्या बैठी रहेगी तो खूब याद रखिए, वह राज्य की रखैली रहेगी और बाजार में बैठी रहेगी तो गणिका रहेगी। हमारे सारे के सारे विश्वविद्यालय, हमारे मस्जिद, हमारे गुरुद्वारे, हमारे गिरजाघर ये सारे बाजार में बैठे हैं। मनुष्य बिकता है, देवता बिकता। अब जहाँ मनुष्य भी बिकता है, देवता भी बिकता है, वहाँ पर मनुष्य की प्रतिष्ठा नही हो सकती। संकल्प हमारा यह रहे कि मनुष्य नहीं बिकेगा। किसी परिस्थिति में नहीं बिकेगा। क्रांति में कैलेण्डर नहीं होते। क्रांति कालनिरपेक्ष होती है। इसलिए जब हम पूछते हैं लोगो से कि इसमें कितना समय लगेगा तो यह कोई रेलगाड़ी है, यह कोई मोटर गाड़ी है, कोई हिसाब है इसका। एक क्षण भी नही लगना चाहिए। हमारी तो इच्छा यह होगी। वह क्षण कब आयेगा जब आप लायेंगे।

विनोबा

शिक्षा-समस्या

मेरे विचार वर्षों के सोच विचार और प्रयोग के बाद निश्चित हुए। फिर भी मैं यह अपेक्षा नहीं करता कि वे सब विचार सरकार को मान्य होंगे या विशारदों को मान्य होंगे अथवा जनता ही उन्हें पसन्द करेगी। अगर विचार लोगों को जँचे और लोग उस पर अमल करें तो अच्छी बात है। अगर नहीं जँचे और वे उस पर अमल न करें तो भी कोई खास दुख की बात नहीं है। 'ज्ञापक शास्त्रं न तु कारकम्' शास्त्रीय वृत्ति रखनेवाला ज्ञापक होता है कारक नहीं होता, यानी करानेवाला नहीं होता।

भारत का शिक्षा शास्त्र

इन दिनों यूरोप और अमरीका में अनेक नये शास्त्रों की खोज हुई है और वहाँ से हमको बहुत सीखना है—इसमें कोई शक नहीं। खास करके अनेक-विध विज्ञान का विकास इन पाँच-पचास सालों में वहाँ बहुत ज्यादा हुआ है। वह तो हमको सीखना ही चाहिए। लेकिन फिर भी भारत की अपनी भी कुछ विद्याएँ हैं और कुछ शास्त्र यहाँ पर पुराने काल से विकसित हैं। उन शास्त्रों में शिक्षा शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जिसका भारत में काफी विकास हुआ था। इसमें कोई शक नहीं कि हमको बहुत लेना है लेकिन अपने पास जो है उसे ही पहचानना चाहिए और यह इसलिए जरूरी होता है कि जो जहाँ बना होता है वहाँ की परिस्थिति और चारित्र्य के लिए अनुकूल होता है। यहाँ का बना हुआ जो शिक्षा शास्त्र है वह हमारे प्रभाव से अनुकूल होने के कारण हमको काफी मदद दे सकता है। शिक्षा शास्त्र के जो ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं उन सब में शिरोमणि ग्रंथ है पतंजलि का योगशास्त्र। उसमें शिक्षा के विषय में मानस और अति-मानस दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। पतंजलि ने योगशास्त्र में वृत्तियों का परीक्षण करके वृत्तियों के अनुकूल कैसे बढ़ा जाय और वृत्तियों से परे कैसे हुआ जाय, ये दोनों बातें बतायी हैं। यदि वृत्तियों के अनुकूल नहीं बरतते तो हम संसार में कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। वृत्तियों से परे होकर अगर नहीं सोचते तो तटस्थ दर्शन नहीं होता। और इसलिए नजदीक के ही छोटे चिन्तन में हम गिरफ्तार रहते हैं और दूर दृष्टि का अभाव हो जाता है। दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर पतंजलि ने बहुत थोड़े में योगशास्त्र में यह बात रखी है।

पतञ्जलि परमात्मा को गुरु रूप में देखते है। 'स एष पूर्वेषामपि गुरु'— यह परमात्मा कौन है? हमारे जो प्राचीन ज्ञानी हो गये हैं, उनका भी गुरु। मुझे बहुत-सी भाषाएँ पढ़ने का मौका मिला है, लेकिन किसी धर्मग्रन्थ में या परमात्मा को गुरु रूप में देखा गया हो—ऐसा मैंने नही देखा। परमात्मा को पिता के रूप में देखा ही जाता है। 'पितासि लोकस्य' इत्यादि। क्रिश्चियानिटी में तो परमात्मा के लिए 'फादर' आता ही है। माता के रूप में भी वह देखा गया किन्तु योगशास्त्र में उसे गुरु के रूप में देखा गया है। परमात्मा गुरु रूप तो है ही, वह परम गुरु है। वह हम सबको शिक्षा देता है, वैसा ही हमको उसका अनुसरण करके सीखना सिखाना है। वह अत्यन्त तटस्थ होकर सिखाता है। इसके सिखाने की विधि जो है वह तटस्थता की है। वह कोई चीज लादता नही। परन्तु इन दिनो हमारे यहाँ या दूसरे देशो में सरकारी तौर पर जो कुछ भी प्रयत्न हो रहे है वे इस बात के हो रहे हैं कि जिन-जिन विचारो की सरकारें बनी हुई होती हैं वे अपने विचारो का विद्यार्थियो पर असर डालना चाहती हैं। और विद्यार्थियो को उसकी पकड़ में रखना चाहती है। वे विद्यार्थियो को अपने साँचों में ढालना चाहती हैं। अगर कम्युनिज्म हुआ तो कम्युनिज्म की थाइडियालॉजी सिखायी जायेगी। अगर फासिज्म हुआ तो सारे विद्यार्थियो को फासिज्म सिखाया जायेगा। और इसी प्रकार से भिन्न भिन्न राज्य व्यवस्थाएँ आती हैं, और अपने बने-बनाये विचारो में विद्यार्थियों के दिमाग को ढालने की कोशिश होती है। यह सचमुच डेमोक्रेसी पर बहुत बड़ा सकट है। मत का अधिकार देते हो तो मनन स्वातत्र्य भी तो होना चाहिए। अगर मनन स्वातन्त्र्य नहीं है तो एक हाथ से वोट का अधिकार दिया और दूसरे हाथ से उसे निकाल लिया, इतना ही होता है। यह बहुत बड़ा खतरा सब देशों में मौजूद है और अपने देश में भी है।

शिक्षक के तीन गुण

शिक्षक में कम से-कम तीन गुणो की आवश्यकता है। एक गुण यह कि विद्यार्थियों पर प्रेम होना चाहिए, वात्सल्य होना चाहिए, अनुराग होना चाहिए। इसके बिना शिक्षण बन हो नहीं सकता। शिक्षक का दूसरा बड़ा गुण है निरन्तर अध्ययनशील होना। रोज नया-नया अध्ययन जारी रहे और ज्ञान की वृद्धि सतत होती चली जाय। इस प्रकार से उसे ज्ञान का समुद्र बनना है। उसको ज्ञान की उपासना करनी है।

एक तीसरा गुण और होना चाहिए जिसका थोड़ा-सा उल्लेख मैं कर चुका हूँ। मैंने कहा कि इन दिनों विद्यार्थियों के दिमाग पर पोलिटिक्स बहुत लादा जाता है और वे विद्यार्थी शिक्षकों के हाथ में हैं। अगर शिक्षक राजनीति से पड़े हुए हैं तो समझना चाहिए कि शिक्षक का व्यवसाय बेकार हो गया। तब वे कर्ता नहीं रहे, कर्म हो गये। उनको करनेवाले दूसरे हैं कर्ता और वे उनके कर्म हैं। उनके हाथ में कुदरत नहीं है। वह कर्मणि प्रयोग है, कर्तरि प्रयोग नहीं। पहले यहाँ जो कुछ विचार था उसमें राज्य सत्ता की सत्ता गुरु पर नहीं थी। गुरु उससे परे था। न्याय विभाग को शासन की तरफ से तनख्वाह मिलती है लेकिन फिर भी उस पर शासन का अंकुश नहीं है। जिस तरह यह बात ज्युडिशियरी के बारे में मान्य हो गयी है, इसी तरह शिक्षा के बारे में भी मान्य होनी चाहिए। तब शिक्षा पनपेगी। आजकल हम पालिटिशियन्स की पकड़ में हैं, उस पकड़ से छूटे बिना शिक्षा का कोई मसला हल नहीं होगा।

स्वतंत्र देश की तालीम

पुरानी बात है, १९४७ पन्द्रह अगस्त स्वातंत्र्य दिन की। लोगों ने मुझको व्याख्यान देने के लिए पवनार से वर्धा बुलाया। मैंने उनसे पूछा, "देखो भाई, स्वराज्य मिल गया तो क्या पुराना झण्डा एक दिन के लिए भी स्वीकार करोगे ?" वे बोले, "नहीं।" अगर पुराना झण्डा चले तो उसका अर्थ होगा पुराना राज्य ही चल रहा है। इसी तरह अगर पुरानी ही तालीम चली तो समझना चाहिए कि पुराने राज्य का ही एक्स्टेन्शन चल रहा है, नया राज्य नहीं आया। गांधीजी ने दूर-दृष्टि से नयी तालीम नाम की एक पद्धति सुनाई—और वह गांधीजी ने सुनाई इस वास्ते मान्य करनी चाहिए, ऐसी बात नहीं है। इसकी जिम्मेदारी हम पर नहीं है कि उनकी बात हूबहू जैसी की तैसी माननी चाहिए और न गांधीजी स्वयं ऐसा मानते थे कि उनकी चीज जैसी की तैसी मानी जाय। मगर एक पंचवार्षिक, दो पंचवार्षिक, तीन पंचवार्षिक, चार पंचवार्षिक योजनाएँ चलीं और तालीम का ढाँचा पुराना का पुराना ही रहा। कोई बदलाव नहीं हुआ। आजकल की सरकार कहती है कि शिक्षा के बारे में बड़े बड़े प्रश्न हैं। भारत में शिक्षा का बहुत ज्यादा विस्तार हुआ है और इसलिए नयी-नयी समस्याएँ हमारे सामने आकर खड़ी हो गयी हैं। मतलब यह है कि अगर आप तालीम नहीं बढ़ाते तो लोग बेवकूफ रहेंगे और अगर तालीम बढ़ाते हैं तो बेकार बनेंगे। अर्थात् बेवकूफ बनो या बेकार रहो। कहा जाता है कि भारत में शिक्षा की यह एक बड़ी समस्या है। मैं कहता हूँ कि शिक्षा वह चीज है

जिससे समस्याओं का हल होता है तो फिर वह शिक्षा भी समस्या हो गयी ? जिससे तमाम समस्याओं का परिहार होता है वह समस्या क्यों हो गयी ? इसलिए कि शिक्षा राज्य के हाथ में चली गयी ।

जो अधिकार आपने शंकराचार्य को नहीं दिया, जो अधिकार आपने तुलसीदास को नहीं दिया, वह अधिकार आपने एजुकेशन डायरेक्टर को दे दिया । जो किताब उन्होंने तय कर दी, पास कर दी, उसको पढ़ानी पड़ेगी । यह अधिकार तुलसीदास ने लिया नहीं और आपने दिया नहीं । काफी लोग रामायण पढ़ते हैं किन्तु अपनी स्वेच्छा से पढते हैं । सार यह है कि हरेक का अपना स्थान होता है । शिक्षा का सारा का सारा क्षेत्र शासनमुक्त होना चाहिए। इसे मुक्त रखना आपके अधिकार में है । उसके पंजे से आप स्वयं मुक्त हो जायें तो शिक्षा मुक्त हो जाये ।

ज्ञान और कर्म का योग

गांधीजी ने, कृष्ण ने, पतंजलि ने सबने सिखाया कि ज्ञान और कर्म इकट्ठा होना चाहिए । ज्ञान और कर्म के दो टुकड़े नहीं होने चाहिए । ज्ञान कर्म से अलग नहीं होना चाहिए । अगर ऐसा हुआ कि कुछ लोगों के पास ज्ञान और कुछ लोगों के पास कर्म तो राहु-केतु का समाज बनेगा । देहात के सारे लोग केतु बनेंगे और शहर के लोग राहु । काम करने की शक्ति किसान के हाथ में और ज्ञान की शक्ति शहरवालों के हाथ में, तो वह इसको क्या देगा और यह उसको क्या देगा ? इस वास्ते अगर उत्पादन बढ़ाना है, पराक्रम का काम करना है, विकास करना है, तो ज्ञान और कर्म को इकट्ठा होना चाहिए ।

आश्चर्य की बात है कि गांधीजी ने कहा और चीन ने सुना । उन लोगों ने सारे देश के तमाम लोगों को एक ही तरह के स्कूलों में रखा है । उसमें तीन घण्टे काम करना पड़ता है और तीन घण्टे पढ़ना पड़ता है । यह और बात है कि उनका कम्युनिज्म वाला, सोशलिज्म वाला ज्ञान रंगीन होता है । उनका रंग चढ़ा दिया जाता है, यह अलग बात है । परन्तु सबको ज्ञान, सबको काम, दोनों आधा-आधा—यह चीनवालों ने की । यहाँ पर भी हमको इस बात का आयोजन करना होगा कि हमारे सब बच्चों को काम और ज्ञान समान रूप से मिले :

अध्यात्म और विज्ञान

एक और बात मैंने जाहिर की है । राजनीति और धर्म पुराने पड़ गये ।

धर्मपंथों के दिन लद गये। भिन्न-भिन्न धर्मों की जगह अध्यात्म आना चाहिए और राजनीति की जगह विज्ञान आना चाहिए तब काम होगा। व्यापक साइन्स और व्यापक अध्यात्म स्वीकार करना होगा, तभी बुनियादी मसले हल होंगे। पुराने जो विचारक हो गये हैं, उनके विचारों को जैसा का तैसा धर्म के नाम पर स्वीकार कर लेने में सार नहीं है। इसमें अध्यात्म का आधार लेना चाहिए। सर्वोत्तम अध्यात्म विद्या जो भारत में थी उसका अध्ययन अध्यापन स्कूलों में होना चाहिए और उसके साथ माडर्न साइन्स का भी अध्ययन होना चाहिए।

माध्यम का सवाल

अगर आठ साल की शिक्षा बच्चों को देनी है और उस आठ साल की शिक्षा के अन्दर हमने अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन ऐसी कोई 'विन्डो' रखी तो वह बेकार है। उसकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वह लोग अंग्रेजी या फ्रेंच सीखेंगे, और ऐसे थोड़े-से ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि यह तो आठ साल की परीक्षा देकर चले जायेंगे। कोई खेती में जायेगा, अपना अपना काम करेंगे। उन सब लोगों पर दूसरी भाषा लादना ठीक नहीं है। अभी तो अपनी भाषा का भी ठीक से ज्ञान नहीं होता। अगर वे मातृभाषा का अध्ययन करेंगे तो उनके जीवन में उसका कुछ उपयोग होगा। मातृभाषा के द्वारा शिक्षा देनी है या नहीं, यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। इसमें दो रायें तो होनी ही नहीं चाहिए। दो रायें कैसे बनती होंगी, हमारी समझ में नहीं आता। गधे के बच्चे से पूछा जाय, 'तुझे गधे की भाषा में ज्ञान देना चाहिए या सिंह की भाषा में ?' तो वह कहेगा, 'सिंह की भाषा चाहे जितनी भी अच्छी हो मुझे तो गधे की भाषा समझ में आयेगी, सिंह की नहीं।' तो यह जाहिर बात है कि मनुष्य के हृदय को ग्रहण करनेवाली जो मातृभाषा है, शिक्षा उसी के द्वारा होनी चाहिए।

अब सवाल उठता है कि इस तालीम के लिए कितना समय दिया जाय ? कमीशन की रिपोर्ट है दस साल से ज्यादा न हो। उन्होंने जो निर्णय दिया है वह काफी अच्छा है। मेरी अपनी राय है कि अगर पूरा प्रयत्न किया जाय तो पाँच साल में भी हो सकता है। ऐसा आग्रह नहीं है, लेकिन प्रयत्न करना चाहिए। मातृभाषा के द्वारा ही शुरू से आखिर तक की पूरी तालीम दी जानी चाहिए। इसमें कोई शक नहीं होना चाहिए। ●

डा० डी० एन० कौल

बुनियादी शिक्षा—आनेवाले कल की शिक्षा-पद्धति

हिंदुस्तानी शिक्षा-शास्त्री अंग्रेजों पर जमाने से यह दोषारोपण करते रहे हैं कि उन्होंने हिंदुस्तान में विदेशी शिक्षा-प्रणाली चलायी। आज भी कुछ शिक्षा-शास्त्रियों को वैसा कहने में कोई हिचक नहीं होती। सचवाई यह है कि अंग्रेजों ने हमें जो शिक्षा-पद्धति दी वह उस जिन्दगी के ख्याल से सबसे अच्छी थी जिसमें वे खुद पलकर बड़े हुए थे, और यह बिलकुल स्वाभाविक था कि वे हमें वही शिक्षा पद्धति देते। शिक्षा के सम्बन्ध में अगर हमारे पास अपने विचार होते तो हम निश्चित ही अपनी इच्छानुसार उसे स्वीकार या अस्वीकार कर देते। लेकिन अपना शिक्षा-पद्धति क्या है यह न हम उस समय जानते थे न आज, यह निहायत अफसोस की बात है। यह सही ही कहा गया है कि लोग जिस लायक होते हैं शिक्षा की वही पद्धति उन्हें मिलती भी है। सृजन की अवधि में कोई राष्ट्र परीक्षण व विश्लेषण करता है। देश में जैसे ही इस सृजनात्मक प्रेरणा ने जन्म लिया हमने शिक्षा प्रणाली की जाँच पड़ताल शुरू कर दी और यह प्रश्न भी शुरू कर दिया कि अंग्रेजों को हमारे ऊपर यह शिक्षा-पद्धति लादने का हक क्या है? राष्ट्र के तौर पर हमने एक शिक्षा-पद्धति निकाली भी जिसे आमतौर पर शिक्षा का बुनियादी तरीका कहते हैं।

इस प्रणाली को समझने के लिए यह जरूरी है कि भारतीय चिन्तनधारा का सामान्यतः और विशेषकर शिक्षा के विकास का अध्ययन किया जाय।

अंग्रेजों के सम्पर्क से हिंदुस्तान के लोग पश्चिमी विचारों व शिक्षा के निकट आये और इससे देश के प्रबुद्ध लोगों पर बड़ा असर पड़ा। कुछ समय

बाद देश ने विचारकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, समाज सुधारकों, धार्मिक सुधारकों तथा अन्य लोगों की एक अच्छी खासी संख्या पैदा की जिन्होंने भारतीय विचार व चिंतन को उसके पूरे विस्तार में फिर से परखना शुरू किया। इन लोगों ने विदेशी लेखकों, नेताओं, विचारों व उनकी प्राप्तियों को परखा और साथ ही इन्होंने दुनिया की स्थिति तथा पूर्व व पश्चिम में चिंतन की उन धाराओं को भी परख की। इसका नतीजा वही निकला जिसे हम भारतीय चिंतन व विचार की जागृति या रिनेंसा कहते हैं। उन लोगों में से जिनके कारण यह रिनेंसा सम्भव हो सका, धार्मिक क्षेत्र के कुछ बड़े नाम ये हैं : राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी रामतीर्थ। राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र के प्रमुख नाम हैं बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, चितरंजनदास, आगरकर तथा विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रमुख नाम हैं सी० वी० रमण और टैगोर। शुरू-शुरू में यह जागृति साहित्य-रचना, सम्मेलन आयोजित करने, भाषण देने और नम्र प्रस्तावों के रूप में ही प्रकट हुई, जो ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर सही भी लगता है, क्योंकि क्रिया सम्बन्धी किसी भी कार्यक्रम के लिए यह जरूरी है कि सामान्य चेतना और असंतोष की भावना उसकी पूर्ववर्ती रह चुकी हो। भारतीय राजनीति में जब गांधीजी का पदार्पण हुआ तभी कांग्रेस में नवीनता आयी और क्रिया सम्बन्धी कोई भी कार्यक्रम जरूरी समझा गया। वास्तव में, बुद्धिवादियों, यहाँ तक की नेहरू की नजर में भी गांधीजी की खास देन यही रही कि उन्होंने देश के सामने कोई कार्यक्रम रखा।

क्रिया सम्बन्धी इस कार्यक्रम के पीछे विचार क्या था और औचित्य क्या था? हम जानते हैं कि भारतीय संस्कृति धर्म, कला, विज्ञान, दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाज तथा उसकी बुराइयों व अच्छाइयों को समझने व उनकी व्यवस्था के लिए काफी कोशिश की गयी थी। पाश्चात्य विचार-प्रणाली, अंग्रेजी पार्लियामेंटरी व्यवस्था, अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध, फ्रांसीसी राज्य क्रांति, रूसी क्रांति तथा अन्य आन्दोलनों को समझने के लिए भी काफी ध्यान दिया गया। साथ ही साथ पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के कारण हुए परिवर्तन, उनके सर्वसाधारण, श्रमिक व पूँजीपति पर पड़े प्रभाव, लोगों का जीवनमान उठाने के संदर्भ में औद्योगिक उत्पादन का नया दर्शन और उसकी पूर्तिस्वरूप कच्चे माल की खरीद और बने माल की बिक्री के लिए बाजारों की खोज और इसी तरह की अन्य बातों के अध्ययन के लिए भी काफी कोशिश की

गयी। विचार के इन विविध क्षेत्रों की तरफ भारतीय भी अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न रूपों में व्यक्त कर रहे थे। कुछ लोग प्राचीन भारतीय गौरव को फिर से लाने की बात कर रहे थे। कुछ चाहते थे कि भारतीय अपने धर्म को फिर से ऊँचा उठायें और इन सबसे अलग कुछ बुद्धिवादी भी थे जो कोई बात तब तक स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे जब तक कि वह विचार या तर्क पर न आधारित हो। वे न पुनरोद्धार सम्बन्धी नारों से प्रभावित थे न धर्म सम्बन्धी। और कुछ वैसे भी लोग थे जो सार-सग्रह में आस्था रखते थे या जो मध्यम मार्गी कहे जा सकते थे अर्थात् जो इनमें से प्रत्येक में सत्यांश की खोज करते थे।

यह कहा जा सकता है कि गांधीजी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। दूसरों की तरह उन्होंने भी अपने मानस में उस समाज का एक चित्र बना लिया जो वह लाना चाहते थे। और यह चित्र उनकी क्रियाओं व उनके कार्यों का वैचारिक आधार बन गया। उन्होंने जिस किसी भी कार्यक्रम की रचना की वह उनकी समाज-निर्माण सम्बन्धी कल्पना से परिचालित था।

आइये हम देखें कि गांधीजी की समाज सम्बन्धी कल्पना क्या थी और तब यह जानने की कोशिश करें कि इस कल्पना से एक क्रियाशील दर्शन की उत्पत्ति कैसे हुई। "गांधी के आदर्श समाज में कोई ऊँचा या नीचा वर्ग नहीं होगा, सभी मिलकर एक ऐसे भारत के लिए काम करेंगे जिसमें कोई ऊँचा या नीचा नहीं होगा, ऐसा भारत जिसमें सभी प्रेम और सद्भाव से रहेंगे। ऐसे भारत में छुआछूत, दारू-मदिरा या नशीली वस्तुओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा। स्त्रियों के भी वही अधिकार होंगे जो पुरुषों के। चूँकि बाकी दुनिया के साथ हमारा सम्बन्ध प्रेम और सद्भावपूर्ण होगा, यानी न हम किसी का शोषण करेंगे न शोषित होंगे, अतः हमारी सेना छोटी-से-छोटी होगी। सभी रुचियों व इच्छाओं का, वे चाहे देशी हों या विदेशी, यदि वे देश के लाखों-लाख निरीह लोगों के विरुद्ध न हुई हों तो उनका जरूर सम्मान किया जायेगा। व्यक्तिगत रूप से मैं देशी या विदेशी जैसे फर्क से घृणा करता हूँ। यही मेरे सपनों का भारत है—इससे कम किसी चीज से सतुष्ट नहीं होऊँगा।[1]" यह चित्र कितना सरल है, फिर भी हिन्दुस्तान जिस हालत में था और आज भी है उसके सदर्भ में विचार करने पर बहुत क्रान्तिकारी भी। हर आदमी, स्त्री

१ एसेन्शल गांधी में उद्धृत-लुई फिशर, पृष्ठ १९६, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड लंदन।

व पुरुष तथा समुदाय, समुदाय की बराबरी पर फिर से जोर देता है। यह एक ऐसी दुनिया चाहता है जहाँ एक दूसरे का शोषण नहीं करता, यह देशी विदेशी का फर्क भी स्वीकार नहीं करता। इस चित्र में एक खास चीज यह है कि इसमें अधिक उत्पादन या समाज के लोगों के लिए ऊँचा या उच्चतर जीवन स्तर की बात नहीं है, इसके विपरीत, पृथ्वी पर बसे सभी मनुष्यों की बराबरी की बात जरूर है। अतः गांधीजी अमीर या ताकतवर हिन्दुस्तान नहीं बल्कि अच्छे हिन्दुस्तान के अर्थों में सोचते थे। उनका तुरन्त लक्ष्य था हिन्दुस्तान की आजादी की प्राप्ति। उन्होंने महान शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से परम्परागत पाशविक शक्तियों द्वारा नहीं बल्कि उसका मनुष्य के सीधे-सादे व भले विचार द्वारा सामना करने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप हिन्दुस्तान में मनुष्य की गुण-वृद्धि ही उनका दर्शन बन गया। उन्होंने जो भी कार्यक्रम चलाये वे मनुष्य के विकास के लिए थे। ये रचनात्मक कार्यक्रम हरिजन व आदिवासी, पिछड़े लोगों, स्त्रियों के उद्धार व नशीली चीजों के बहिष्कार के लिए थे। वास्तव में वह कई मोर्चों से एक साथ हमला था जिसमें कई प्रकार के लोग जैसे राजनीतिक, समाज सेवी, धर्म सुधारक व शिक्षाविद लगे हुए थे।

डा० जाकिरहुसेन के नेतृत्व में जो बाद में हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति हुए, शिक्षाविदों ने गांधी का यह कार्यक्रम स्वीकार किया। कांग्रेस द्वारा मन्त्रिमंडल बनाने से इसको देश भर में फैलाने में सहायता मिली। इससे कई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि एक केन्द्रीय संगठन हो जो बेसिक शिक्षा में अनुसंधान करे, विभिन्न राज्यों के कार्यों में समन्वय स्थापित करे, बेसिक शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के लिए सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करे और इस क्षेत्र में नये तरीकों का विकास करे, परिणामस्वरूप भारत सरकार ने बेसिक शिक्षा के राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की। इस संस्थान ने अपने क्षेत्र में कुछ मूल्यवान काम किया और बाद में, जब शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण की राष्ट्रीय समिति की स्थापना हुई तो यह संस्थान "नसर्ट" का एक अन्तरंग भाग बन गया। बाद में यह "पाठ्यक्रम व मूल्यांकन" विभाग में मिला दिया गया।

प्रारंभिक स्तरों में इस बात से बड़ा बल मिला कि यह सारी योजना देश के सामने एक विचारक द्वारा रखी गयी जो मूलतः राजनीतिक व एक प्रसिद्ध व्यक्ति था। राजनीतिज्ञों ने इस विचार को उसके सामान्य रूप में ग्रहण किया और वे बड़े उत्साह के साथ उसके प्रसार में लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि स्वयं गति प्रणाली से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन बैठी।

बेसिक शिक्षा के प्रति वैसे हमेशा ही प्रतिरोध रहा है। यह प्रणाली फैली जरूर लेकिन काम अच्छी तरह चला नहीं। पाठ्यक्रम के कुछ पहलुओं, शिक्षा के तरीके, प्रशासकों व शिक्षकों के रुख व कुछ समय बाद बेसिक स्कूलों से निकले बच्चों के प्रति सामान्यतः असंतोष ही व्यक्त हुआ। बेसिक शिक्षा के समर्थकों का यह दृष्टिकोण रहा कि योजना वैसे अच्छी तो है लेकिन उस पर अच्छी तरह अमल नहीं हुआ। इस प्रणाली के निर्माताओं में से एक डा० जाकिर हुसेन ने तो यहाँ तक कह दिया कि यह प्रणाली जैसे चलायी जा रही है वह एक धोखा ही है। परम्परावादियों ने कहा कि यह योजना, जैसा कि इनका रूप था, चल नहीं सकती। १९६४-६६ के शिक्षा आयोग के माध्यम से इस प्रतिरोध को अपना जोर और भी सशक्त रूप से प्रकट करने का मौका मिला। आयोग ने बेसिक शिक्षा की उपयुक्तता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसने कहा, "बेसिक शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्त यानी उत्पादक क्रिया, वातावरण व स्थानीय समुदाय से सम्पर्क, इतने महत्वपूर्ण हैं कि उन्हें शिक्षा का सभी स्तरों पर मार्गदर्शन व उसका रूप निश्चित करना चाहिए और इन संस्तुति में जो सुझाव दिये गये हैं उनका यही मर्म है। शिक्षा का कोई एक स्तर बेसिक शिक्षा के नाम से नहीं चलाया जाना चाहिए।" किसी भी राष्ट्रीय प्रलेख में दर्ज किया हुआ यह एक ऐतिहासिक विरोधाभास है। घोषणा तो यह की गयी कि प्राथमिक हो या विश्वविद्यालयी, बेसिक शिक्षा किसी भी स्तर के लिए अच्छी व उपयुक्त है लेकिन ऐसी नहीं है कि उसका नाम बनाये रखा जाय। असल बात यह है कि परम्परावादियों को बेसिक शिक्षा के दर्शन से कभी भी संतोष नहीं हुआ। वे यह नहीं चाहते थे कि यह चले। लेकिन उसके यथार्थ, उसकी तर्कसंगतता का वह विरोध भी नहीं कर सके। लेकिन चूँकि वे ऊँची जगहों पर पदासीन थे इसलिए उन्होंने उसे एक अच्छा-सा नाम देकर उसे पच्ची फाँसी दे दी। उस समय जो सामाजिक मूल्य थे उनके होते तो ऐसा होना ठीक ही था। लेकिन यह हुआ यह दुःख की ही बात है। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली २०० वर्षों से चली आ रही है और ५४ विश्वविद्यालयों, ३०० से ऊपर शिक्षक-प्रशिक्षण कालेजों व १२०० प्रशिक्षक स्कूलों के बावजूद हम विचार का कोई एक प्रणाली, कोई एक विशिष्ट तरीका, मनोविज्ञान या दर्शन की आभा-समात्र ही सही लेकिन कोई एक प्रणाली, शिक्षण का कोई भी तरीका या एक अच्छी किताब भी पैदा नहीं कर सके हैं। सामान्य तरीका यही चला आ रहा है कि पाँच किताबें देखकर छठी किताब गढ़ दी जाय। हममें से दस में

म लो को अपने अनुभव या अपने प्रयोग के आधार पर कुछ भी कहना नहीं रहता। और सच पूछिये तो हमने पैदा भी कुछ नहीं किया है। हमारा गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र अभी हिन्दुस्तान के बाहर ही चल रहा है। परिणाम स्वरूप हम स्वाश्रित नहीं हैं बल्कि प्रेरणा, सहारा व निर्भरता के लिए पश्चिमी विचारों की ओर देखते रहना चाहते हैं। शैक्षिक अनुसंधान, प्रयोग व नवीनीकरण के इस दुखद अभाव की स्थिति में गांधीजी की देन ही आशा की किरण है जो यह बता रही है कि देश की आत्मा मर नहीं गयी है। इस वीरान शैक्षिक दुनिया को शिक्षा आयोग ने बड़ा ही महत्वपूर्ण सेवा की होती यदि उसने एक तरफ तो विदेशी विचारों व विशेषज्ञों पर निर्भर रहने की हमारी प्रवृत्ति का विरोध किया होता और दूसरी तरफ साधारण ही सही लेकिन स्थानीय कोशिशों को प्रोत्साहित कर बल्कि शिक्षा को गर्व से अपनाया व स्वीकार किया होता। उसे इसे सिद्ध करने, इसमें सुधार करने का पूरा हक था। लेकिन दुर्भाग्यवश उसने ऐसा किया नहीं। उसमें तो इसके नाम को ही एकदम छोड़ दिया और इसकी आत्मा का स्वीकार नहीं किया।

बेसिक शिक्षा के प्रति विरोध या इस प्रणाली की असफलता के कारणों की खोजबीन रुचिकर होगी। बात रुचिकर जरूर है लेकिन निर्दिष्ट जगह में यह सम्भव नहीं है। फिर भी, स्पष्ट और प्रमुखतम कारणों पर विचार-विमर्श टालना भी सम्भव नहीं है। इस प्रणाली को सत्तारूढ़ दल ने बड़े उत्साह से अपनाया व लागू किया था। इसके कारण यश व शक्ति प्राप्त करने के भी काफी मौके मिल सकते थे। इसलिए कई ऐसे लोग जो सत्ता व यश को ज्यादा महत्व देते हैं इसे क्रियान्वित करने के बजाय इसे सफल होते दिखाने में जुट गये। इसलिए जिस यथार्थ व जिन वास्तविकताओं के बीच इसका जन्म हुआ था उनसे यह अलग हट गयी।

बेसिक शिक्षा प्रणाली की यह कृत्रिम समृद्धि उन्हीं शिक्षकों, प्रशासकों तथा अन्य लोगों द्वारा लायी गयी जिन्हें इसमें कोई आस्था नहीं थी। उनकी समझ से यह बाहर था कि उद्योग केन्द्रित शिक्षा व शिक्षण की समवाई तकनीकें राष्ट्र की सर्जनात्मक वृत्ति को कैसे प्रेरित या अध्ययन के विविध विषयों की व्यवस्थित व अनुशासित समझ प्रदान कर सकती थी।

यह प्रणाली इसलिए चलायी गयी ताकि एक नये प्रकार के नागरिक उत्पन्न हों और कुछ स्कूलों ने इस प्रकार के नागरिक उत्पन्न भी किये। लेकिन सामयिक, सामाजिक मूल्यों को इनकी जरूरत नहीं थी। सरकारी व गैर-

सरकारी विभिन्न संस्थाओं यानी विश्वविद्यालयों, परीक्षा के विभिन्न संगठनों, राजकीय नियुक्ति अधिकारियों और लोक सेवा आयोग को ऐसे विद्यार्थियों की जरूरत थी जो सूचनाएँ इकट्ठी करने व स्मरणशक्ति के नमूने पेश कर सकते न कि विकसित एवं संतुलित व्यक्तित्व। बेसिक प्रणाली से जिस प्रकार के लोगों के निकलने की आशा की जा सकती थी वैसे लोगों की इन संगठनों को जरूरत ही नहीं थी। इन्होंने एक अच्छे नागरिक या अच्छे व्यक्ति के व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों के निर्धारण का कोई मापदण्ड आज तक तय नहीं किया है। इसलिए बेसिक शिक्षा से निकले लोगों को एक निश्चित हानि उठानी पड़ी। उनका निर्माण ऐसी समाज-व्यवस्था के लिए किया गया था जो अभी था नहीं। अतः उन्हें उसी पुराने समाज में खपना पड़ा जहाँ वे फिट नहीं हो सकते थे। स्वाभाविक था कि शोर-शराबा होता। परम्परावादियों ने बेसिक स्कूलों को निम्नस्तरीय उत्पादन के लिए बुरा-भला कहा। अभिभावकों ने उसे बन्द कर देने की बात कही, क्योंकि वह समझ नहीं सके कि सार्वजनिक नौकरियों में उनका लड़का क्यों सफल नहीं हो सका। उदाहरण के लिए, दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्रों ने यह प्रश्न उठाया कि अगर बेसिक शिक्षा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अच्छी है तो शहरी क्षेत्रों के लिए क्यों नहीं ?

बेसिक शिक्षा योजना के विभिन्न पहलुओं का परीक्षण करने के लिए जब मूल्यांकन समिति के लोग विभिन्न राज्यों में घूमे तो उन्हें पता चला कि जो लोग बेसिक स्कूलों को चला रहे थे उनमें उनके प्रति कोई आस्था नहीं थी। उन लोगों ने कहा "हमें अच्छे प्रशासक दीजिए, हम आप को अच्छी बेसिक शिक्षा देंगे।" सामान्यतः यह बात निराशाजनक रूप से देखने में आयी कि जैसे काफी लोग जो बेसिक स्कूलों में पढ़ा रहे थे या इसके प्रशासन से सम्बद्ध थे या वे लोग भी जो इसके पक्ष में बोलते थे स्वयं अपने बच्चों को गैरबेसिक स्कूलों में ही भेजते थे। एक परम्परावादी ने बेसिक शिक्षा की जो परिभाषा की उसमें इस ढोंग का सबसे अच्छा वर्णन निहित है। उसने कहा . "बेसिक शिक्षा वह शिक्षा है जो दूसरों के बच्चों के लिए अच्छी है।"

परम्परागत और बेसिक प्रणाली के बीच जैसे-जैसे फर्क बढ़ने लगा तो लोगों व कुछ शिक्षावादियों ने यह जानना चाहा कि यह प्रणाली क्यों असफल हो रही है या असफल हो भी रही है या नहीं। विभिन्न स्तरों पर कई अध्ययन किये गये। लेकिन सामान्यतः यही हुआ कि बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन बेसिक शिक्षा के उद्देश्यों और लक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में नहीं बल्कि परम्परागत,

शिक्षा के उद्देश्यों और लक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में किया गया। कारण यह था कि अनुसंधान या सर्वेक्षण करने या उसका मार्गदर्शन करनेवाले ज्यादातर विश्वविद्यालयों के ही लोग थे जिन्हें बेसिक प्रणाली की कोई जानकारी नहीं थी या यदि थी भी तो बहुत थोड़ी। इनमें से ज्यादातर लोग गांधीजी को बौद्धिकता का विरोधी मानते थे यानी एक ऐसा व्यक्ति जो ऐसी स्थिति में नहीं था कि विश्वविद्यालयों के लायक तेज बुद्धिवाले लोग तैयार कर सकता।

ऊपर जो कारण दिये गये हैं वे काफी उपयुक्त हैं। लेकिन एक सबसे बड़ा कारण है जिसे अभी पूरी तौर से न जाना ही गया है और न उसे स्वीकार ही किया गया है। वास्तव में, जितने भी कारण ऊपर बताये गये हैं या जिनका जिक्र नहीं भी किया गया है वे सभी इस एक कारण में आ जाते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, गांधीजी एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे, जो सत्य और अहिंसा पर आधारित हो, जहाँ शोषण न हो, देशी-विदेशी का भेद न हो, और जहाँ मनुष्य सारी दुनिया के साथ शांतिपूर्वक रह सके। ऐसे समाज में व्यक्ति सदैव बढ़ते रहनेवाले जीवन स्तर पर जीवन के सुखों के लिए वस्तुओं के निरन्तर बढ़नेवाले उत्पादन का आकांक्षी नहीं होगा। ये मूलतः विदेशी परिकल्पनाएँ हैं जिनका उनके लिए कोई मूल्य न था। वह जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए अपनी शक्ति खर्च करने के बदले सादी जिंदगी बिताने, खादी बुनने व पहनने और अपनी शारीरिक व मानसिक आवश्यकताओं के अनुसार ही भोजन ग्रहण करना अधिक अच्छा मानते थे। उन्हें सुविधा सम्पन्न थोड़े से लोगों की नहीं बल्कि लाखों लाख मूक व विभिन्न लोगों की परवाह थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे गरीबी के पोषक थे। उन्होंने अपना सारा जीवन लोगों की भयकर गरीबी के विरुद्ध लड़ने में लगाया। कहा करते थे, "पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की मांसरहित पसलियोंवाली भीड़ मेरे दिमाग में नाचा करती है।" पुनः "किसी ने कभी यह नहीं कहा कि भयकर गरीबी का परिणाम नैतिक पतन के अलावा और कुछ होगा।" उन्होंने आगे फिर कहा, "ऐसे लोगों के सामने जो भूख से मर रहा हो और बेकार हो, भगवान भी काम व भोजन तथा मजदूरी की ही शक्ल में आने की हिम्मत करेंगे।" लेकिन इतना तो निश्चित है कि वे किसी ऐसे जीवन-दर्शन के पक्ष में नहीं थे जिसमें मनुष्य अपने पर अंकुश न रखे। जीवनमान की उनकी कल्पना उस मापदण्ड के अनुरूप नहीं थी जिसमें "मुख्यतः भौतिक वस्तु-आधिक्य या भोगवादिता पर जोर दिया जाता है

वल्कि उन अर्थों में निहित थी जिनमें मनुष्य की पवित्रता, सत्य, अहिंसा और अच्छाई को महत्त्व दिया जाता है।" म्योर सेण्ट्रल कालेज के विद्यार्थियों के समक्ष बोलते हुए उन्होंने कहा था, "महाराष्ट्र सचमुच आध्यात्मिक तभी बनेगा जब हम स्वर्ण के मुकाबिले अधिक सत्य और आत्मप्रेम के मुकाबिले अधिक त्याग व दान भावना प्रदर्शित करेंगे। अगर हम अपने मकानों, महलों और मंदिरों में धन के उपादानों को नहीं बल्कि नैतिकता के उपादानों का प्रदर्शन करें तो एक बड़ी सेना रखने का भार उठाये बिना हम कितनों भी विरोधी शक्तियों के गठबंधन का मुकाबिला कर सकते हैं। आइये हम पहले ईश्वर का राज्य और उसकी करुणा की तलाश करें और इसका अवश्यम्भावी परिणाम यही होगा कि हमें बाकी प्रत्येक वस्तु मिल जायगी। यही वास्तविक अर्थशास्त्र है। ईश्वर आपको तथा हम इनको सुरक्षित रखने और जीवन में उतारने लायक बनाये।[२] अतः गांधीजी का अर्थशास्त्र बड़ा सरल था। उनका विश्वास आवश्यकताएँ कम से कम रखने में था। लेकिन ये आवश्यकताएँ इतनी जरूर रहें ताकि शरीर व मन अच्छी तरह काम करने लायक सशक्त बना रहे। उनका विश्वास ऐसे दर्शन में नहीं था जिसमें उद्योग व तकनीक अनिवार्य बन जायें आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाय आपूर्ति और बढ़ जाय और घर व बाहर और अधिक वस्तुओं का उत्पादन होने लगे। उनकी यह धारणा थी कि उद्योगों के अंकुश रहित उपयोग से शोषण और बढ़ेगा। उन्होंने घोषणा की, मुझे डर है औद्योगीकरण दुनिया के लिए एक अभिशाप बनने जा रहा है।[३]

गांधीवादी अर्थशास्त्र की नैतिकता को देश के बुद्धिवादियों ने स्वीकार नहीं किया। उनके शिष्य जवाहरलाल नेहरू तक को भी उनसे इस बात में सहमती नहीं थी। नेहरू ने कहा, 'यह सही है कि जीवन के प्रति उनके सामान्य दृष्टि को और आधुनिक दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। वे निरंतर बढ़ते जीवन स्तर आध्यात्मिक मूल्यों को दबाकर वह भोग विलास बढ़ाने के कायल नहीं है। उन्हें आरामतलबी की जिंदगी पसन्द नहीं है। उनके लिए सीधे रास्ते का अर्थ है कठोर रास्ता जबकि सुख सुविधाओं के प्रति प्रेम बद-

२ म्योर कालेज इलाहाबाद की अर्थशास्त्र समिति के समक्ष २२ दिसम्बर १९१६ को दिये गये भाषण से।

३ यंग इण्डिया १९१९ १९३२ १२ ११-३१, ३६५।

नीयती लाना व सद्गुणों का विनाश करना।" गांधीजी के ग्रामस्वालम्बन या ग्रामीण अर्थशास्त्र या बड़े उद्योग धन्धों के प्रति उनके विरोध को भी बुद्धि-वादियों ने स्वीकार नहीं किया। इसे कई आधारों पर अस्वीकृत कर दिया गया। पहला, "सादा जीवन उच्च विचार" या "आत्म निग्रह" के जीवन को "अभाव की संस्कृति" से उत्पन्न माना गया। दूसरे, कुटीर उद्योगों व आत्मनिर्भरता सम्बन्धी विचारों को मशीनों की उत्पादकता के सामने ठहरने लायक नहीं समझा गया। बुद्धिवादियों ने सर्वोपरि रूप से मशीनीकरण व अच्छे जीवन के आदर्श में कोई विरोधाभास नहीं देखा।

और जब कांग्रेस सत्ता में आयी और उसने देश का भाग्य बनाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली तो निर्णय लेने की जिम्मेदारी भी कांग्रेसियों और वैसे बुद्धिवादियों की एक बड़ी संख्या पर आ पड़ी जो सत्तारूढ़ दल के प्रति निष्ठा के हामी थे या जिन्होंने अपनी निष्ठा उसके पक्ष में कर ली थी। अतः स्वाभाविक ही था कि बुद्धिवादियों का अन्दरूनी जो वास्तविक चिंतन था उसे कार्यरूप में परिणत किया जाता। जैसे बुद्धिवादियों के चिंतन का उद्गमस्थल पश्चिम की संस्कृति और चिंतनप्रणाली में था। अनुरूपतः देश के औद्योगीकरण और उसी चिंतन को कृषि तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में उतारने की गम्भीर चेष्टा की गयी। जो तर्क दिया गया वह सरल था। हिन्दुस्तानी भी वैसी ही आराम की जिंदगी बिताने लायक क्यों न बनें जैसाकि किसी भी विकसित देश में कोई व्यक्ति बिताता है। 'जीवन स्तर" व जी० एन० पी० (कुल राष्ट्रीय उत्पादन) की परिकल्पनाओं का यही भी यही अर्थ लिया जाने लगा जो पश्चिम में देश का सारा प्रयास इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति बन गया और "पंचवर्षीय योजनाओं" की परिकल्पना, निर्माण व क्रियान्वयन भी इन्हीं आधारों पर किया गया। आज हमारा देश दुनिया के अच्छे दस से विकसित व औद्योगीकरण सम्पन्न देशों में से एक है। अपनी अन्य आवश्यकताओं के सन्दर्भ में औद्योगीकरण की सीमा पर विचार-विमर्श करने का यहाँ अवसर नहीं है। अधिकारी विद्वानों ने कहा है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ—अमेरिका और रूसी नमूनों से अधिक प्रभावित हैं जबकि इन देशों का सांस्कृतिक व जनसंख्या सम्बन्धी आधार हम से बहुत भिन्न है।

यह भी कहा गया है कि ये योजनाएँ भारतीय वास्तविकताओं पर आधारित नहीं हैं और उन्होंने कुछ आधारभूत तथ्यों को ध्यान में नहीं रखा

है। एक तथ्य यह है कि हमारी ८२ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है। और विकास की कोई बात जनसंख्या के इन बड़े हिस्सों को ध्यान में रखकर सोचनी चाहिए थी। दूसरा तथ्य यह है कि ऐसे देश का औद्योगीकरण जिसमें श्रमशक्ति की बहुलता हो, एक विशेष प्रकार का होगा। यह स्वरूप वैसा ही नहीं होगा जैसा कि सीमित श्रमशक्तिवाले देशों का होता है। तीसरा तथ्य यह है कि यह औद्योगीकरण किस सीमा तक या लोगों के किस अंश को रोजगारी दे सकेगा। यह भी कहा गया है कि हमारी योजनाएँ हमारे साधनों के संदर्भ में विशाल जरूर हैं लेकिन हमारी आवश्यकताओं के संदर्भ में नहीं। फिर भी हम अच्छे-खासे तौर पर औद्योगीकरण के रास्ते पर हैं। अतः यह देखना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि इन औद्योगीकरण का अब तक क्या असर रहा है और आगे की दशा क्या है ?

पहला और शायद सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि देश के लिए गांधीजी द्वारा सोचे गये कठोर किन्तु अच्छे जीवन-दर्शन से हटकर उस सुखकर सांसारिक जीवन को महत्त्व मिल गया जो बुद्धिवादी देश में लाना चाहते थे। एक औसत भारतीय बड़प्पन व अच्छाई को सांसारिक सुख व कल्याण की दृष्टि से नापने लगा। श्रमिक कार्यकर्ता, क्लर्क, डाक्टर, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ, सभी मानवीय बड़प्पन व मूल्य को श्रमिक या डाक्टर की दुनिया की हैसियत की दृष्टि से नापने लगे, उनके अच्छे बनने या अच्छा करने की योग्यता की दृष्टि से नहीं। इस दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि साधन सम्पन्नों और साधनविहीनों के बीच तनाव उत्पन्न हो गया, श्रम व पूँजी के झगड़ों व मनभेदों की शुरुआत हो गयी, श्रम या ट्रेड यूनियनों या पूँजीपति-यूनियनों की स्थापना में सहायता मिली। और इस तरह आदमी से आदमी अलग हो गया। श्रमिक ने कम काम करना और अधिक दाम माँगना शुरू कर दिया, जबकि पूँजीपति अधिक काम लेने और कम दाम देने की तलाश में रहने लगा। इन दृष्टि के कारण दूसरे स्तर पर पानी व हवा के दूषण की शुरुआत हो गयी, और जहाँ एक समय लहलहाते हरे खेत थे वहाँ गंदी बस्तियों का निर्माण शुरू हो गया। इससे चोरबाजार की भी शुरुआत हुई और हाल ही में वित्त मंत्री ने पार्लियामेण्ट में कहा है कि बाजार में छुपा काला धन करीब-करीब समानान्तर अर्थव्यवस्था चला रहा है। एक दूसरे स्तर पर औद्योगीकरण का विस्तार नयी-नयी आदतें जैसे मादक द्रव्यों व नशीली वस्तुओं का सेवन पैदा कर रहा है। १९६३ से ६८ के पाँच

वर्षों में ही कत्ल में ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस तथ्य पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। चूंकि हम हिन्दुस्तान की धरती पर पश्चिम का जीवन दुहरा रहे हैं इसलिए दुनिया के इस हिस्से में भी हम मनुष्य के इस विकास और पतन का इतिहास दुहरा रहे हैं। जीवन के निरतर बढते स्तर व जी० एन० पी० यानी कुल राष्ट्रीय उत्पादन पर जोर देने की वृत्ति दुनिया के औद्योगीकरण प्राप्त देशों में सफल हुई। उससे ऐसी भौतिक समृद्धि आयी जो मनुष्य ने कभी देखा नहीं था। आज औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में एक औसत आदमी भी जो चाहे पा सकता या पाने की आशा रख सकता है। भौतिक विकास में तो आदमी ने चोटी छू ली है। बौद्धिक विकास में भी उसने बहुत ऊँचा स्तर पा लिया है। उसने चाँद पर कदम रख दिया है, और दूसरे ग्रहों, नक्षत्रों पर भी ऐसा ही करने की सोच रहा है।

फिर भी, यह चित्र का सिर्फ एक पहलू है। धन-दौलत की इस विपुलता ने समाज को बीमार बना दिया है। समाज तब अपनी नाक से आगे नहीं देख सकता। विनाश की जिन शक्तियों के निर्माण के लिए उसने इतनी कड़ी मेहनत की उन्हीं के आगे अब वह असहाय होता जा रहा है। उसने जीवन का एक ऐसा प्रकार विकसित कर लिया है जो अब उसकी मजबूरी बन गया है, और जहाँ से वापस लौटने की कोई गुंजाइश नहीं है। धरती माता के पेट में जो सीमित साधन पड़े हैं वह उन्हें बड़ी तेजी से खतम कर रहा है। उसने पानी और वायु को दूषित किया है और आगे भी करता जा रहा है। उसने धरती व जल कई चीजों को नश्ट ही खतम कर दी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस जीवन-पद्धति ने मानसिक व शारीरिक एक बीमारी पैदा कर दी है, जिस पर नियत्रण कर पाना कठिन होता जा रहा है। मानसिक बीमारियाँ तो बढ़ोत्तरी पर हैं ही, यही दशा अपराध व किशोर-अपराध की भी है। यहाँ तक की स्त्रियों द्वारा किये गये अपराध भी बढ रहे हैं। इस तनावपूर्ण स्थिति ने सबको चौंका दिया है और दुनिया भर के विचारक यह सोचने में लगे हैं कि मनुष्य को निकट विनाश से कैसे बचाया जाय। निरतर बढते जानेवाले उत्पादन व जी० एन० पी० के इस दर्शन के विरुद्ध जैसा कि स्वाभाविक है, दुनिया के समृद्ध देशों से ही आवाज उठ रही है।

प्रचुरता और उसके परिणामों के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ है। विचार व व्यवहार के कट्टरपन के विरुद्ध भी विद्रोह है। सच पूछा जाय तो स्वय वैज्ञानिकों की तरफ से दर्शन के खिलाफ विद्रोह है। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध

जीव वैज्ञानिक प्रोफेसर लडविग यान वरटेन लैंड फ्लाई कहते हैं, "बीमारी का निदान यह है कि वह मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं को तो कम-बेस रूप में पूरा करती भी है लेकिन आत्मिक आवश्यकताओं को एकदम भुला देती है।' इसके अलावा कुछ प्रमुख वैज्ञानिक निरंतर बढ़नेवाले उत्पादन और जी० एन० पी० जैसी परिकल्पनाओं की बुद्धिमत्ता में संदेह प्रकट करने लगे हैं। वे यह सीधा प्रश्न पूछने लगे हैं 'क्या पृथ्वी के सीमित साधनों से इस दशन की निरंतर बढ़ती रहनेवाली मांगों की पूर्ति हमेशा हो सकती है ?"[४] इस समस्या पर सोचने विचारनेवाले विद्वान वैज्ञानिक इस अनिवार्य निष्कर्ष पर आये हैं कि जी० एन० पी० बढ़ाने के पीछे हमारा जो पागलपन भरा मोह है उसे अब उलट देना चाहिए और प्राकृतिक साधनों का इस्तेमाल न केवल थोड़े समय के पैसे सम्बन्धी मतव्यों की पूर्ति के लिए बल्कि वातावरण के दूरगामी परख के आधार पर भी होना चाहिए। हाल ही में ३५ प्रमुख वैज्ञानिकों, विद्वानों मनीषियों, पत्रकारों और इंगलैंड के कुछ पार्लियामेण्ट सदस्यों ने दुनिया की अर्थव्यवस्था में क्रांतिकारी उलट फेर की माँग की, क्योंकि "आर्थिक प्रगति मनुष्य जाति के लिए बरबादी ला सकती है।' उन्होंने कहा "सरकारें वास्तविक हल प्रस्तुत करने में अक्षम रही हैं, वे समस्या का आकार भी निर्धारित करने में अक्षम रही हैं। हमारा लक्ष्य स्थायी अर्थव्यवस्था होना चाहिए। इसे उस स्तर पर स्थायी होना चाहिए जिसे पृथ्वी अनिश्चित काल तक बर्दाश्त कर सके। हमारी आज की व्यवस्था धन, स्वार्थ, अज्ञानता व सीमित साधनों के बेतहाशा शोषण पर आधारित है। विशेषरूप से, वस्तुएँ ऐसी बनें जो निर्दिष्ट समय तक चल सकें न कि ऐसी जो एक बार इस्तेमाल करके फेंक दी जायें।'

इन दूरद्रष्टा विद्वानों के अनुसार दुनिया को आज जिस चीज की जरूरत है वह न तो जीवन का निरन्तर बढ़नेवाला स्तर है न तो निरन्तर बढ़नेवाला जी० एन० पी० बल्कि एक स्थायी अर्थव्यवस्था है। इन विद्वानों की 'स्थायी अर्थव्यवस्था' का अर्थ गांधीजी के 'आत्म संयम" के अलावा और कुछ नहीं है। यानी मनुष्य के गुणों न कि उसके सुखों के दर्शन का ही दूसरा नाम है। यह सुखमय जीवन के मुकाबिले अच्छे जीवन को महत्त्व देता है। यह आत्मा के संसार व विज्ञान तथा तकनीकी की दुनिया के बीच संतुलन स्थापित करना

---

४ प्रावलम्स एण्ड इसुज इन कानटेंमपोरेरीज एजुकेशन एण्ड एथानॉजी, पृष्ठ २४९, स्वाट, फोरमैन एण्ड क०, यू० एस० ए०

है इस दृष्टि से, यदि मनुष्य जाति को आदमियों का जीवन जीना है तो वैसिक शिक्षा का दर्शन ही वह अनिवार्य दर्शन है जिसे मनुष्य को अपनाना ही होगा। आज दौड़ ज्ञान और अज्ञान के बीच नहीं बल्कि ज्ञान और अच्छाई के बीच है। आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान इस प्रकार प्रयुक्त हो ताकि उससे अच्छाई उद्भूत हो न कि और अधिक ज्ञान और इन्द्रीयसुख और गांधीजी बेसिक शिक्षा की प्रणाली द्वारा यही लाना चाहते थे। जहाँ तक कुछ कार्यप्रणालियों और तकनीकों का सम्बन्ध है हम गांधीजी से असहमत हो सकते हैं लेकिन बेसिक शिक्षा द्वारा प्रतिपादित दर्शन से हम किसी भी हालत में असहमत नहीं हो सकते और यदि यह सत्य है तो हिंदुस्तान ही नहीं सारी दुनिया के लिए बुनियादी स्कूल आनेवाले कल का स्कूल है।

कई शिक्षाशास्त्री जो अपने को मानवमात्र से सम्बद्ध महसूस करते हैं, एक ऐसा स्कूल विकसित करने में लगे हुए हैं जिसे अब 'मनुष्यजाति का स्कूल' कहा जा रहा है। यह आशा की जा रही है कि इस स्कूल से एक ऐसी प्रणाली विकसित होगी जिससे विभिन्न राष्ट्रों को अपने आत्म-प्रेम के पाश से बाहर आकर सारी दुनिया के मानव को भ्रातृभाव के एक विस्तृत दायरे में गले से लगाने और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षण की प्रक्रिया विकसित करने में मदद मिलेगी। यह प्रणाली शिक्षक व शिक्षार्थी दोनों को पूरी स्वतंत्रता प्रदान करने की ओर उन्मुख रहेगी ताकि दोनों जीना सीखने के लिए पर्याप्त रूप से स्वतंत्र रहें।

इसका लक्ष्य एक नयी दुनिया का निर्माण है जहाँ मनुष्य जागतिक होगा, ऐसा मनुष्य जिसका वास्तविक व्यक्तित्व, जाति, मत, वर्ण, धर्म, भाषा, भौगोलिक व राष्ट्रीय व्यवधानों को पार कर जायगा। ऐसी आशा है कि यह सस्थान मनुष्य जाति की शक्तियों को पदार्थ व आत्मा के संसार को अबाधित रूप से नष्ट करने से विमुख करके मनुष्य के उस व्यक्तित्व-निर्माण में सहायक होगा जो दोष जगत के साथ मेल बैठा सकेगा। गांधीजी ने हमें जो शिक्षा प्रणाली दी उसके द्वारा भी वह यही प्राप्त करना चाहते थे। आज सामान्य-तौर से हम उन्हें भले ही अस्वीकृत कर दें लेकिन विश्वशक्तियाँ जल्दी ही इस प्रणाली की अनिवार्यता समझ जायगी, क्योंकि यह निश्चित ही आनेवाले कल की प्रणाली है।

मूल अंग्रेजी से,

भावानुवाद : रामभूषण

कामेश्वरप्रसाद बहुगुणा

शिक्षा-सुधार की एक योजना

१ कोई भी समाज, उसकी शिक्षानीति और कार्यक्रम के माध्यम से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। उसे यो भी कह सकते हैं कि शिक्षानीति और कार्यक्रम ही किसी समाज को उसका लक्ष्य प्रदान करता है। अत शिक्षा और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। हमारे देश में राष्ट्रपिता महात्मा गाधी, विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द जैसे कई विचारको ने भी इसी बात पर जोर दिया है कि शिक्षा को ही सामाजिक परि-वर्तन और विकास का माध्यम बनना है। आज विनोबाजी जैसे महान आचार्य भी यही कर रहे है। अभी गत अक्तूबर '७२ में सेवाग्राम में हुए राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में ही उन्होंने शिक्षा के तीन महान सूत्र दिये हैं। वे हैं योग, उद्योग और सहयोग। इन सूत्रो में ही सारा शिक्षा-सिद्धान्त आ जाता है। इसके आधार पर ही हम व्यक्ति-शिक्षा-समाज के सम्यक त्रिभुज का निर्माण कर सकते हैं।

२ किन्तु हमारी आज की शिक्षानीति और कार्यक्रम न तो शिक्षा के इन मूल्यो का ही पोषण कर पा रहे हैं और न हमारी राष्ट्रीय आकाक्षाओ की ही पूर्ति कर पा रहे हैं। हमने भारत में समाजवादी समाज-रचना का सकल्प किया है किन्तु यह शिक्षा असमानता, शोषण और हिंसा को पोषण दे रही है। शिक्षा में आज कुछ थाडे-से विधायक मूल्य हैं भी तो हमारी राजनैतिक और आर्थिक नीतियाँ और कार्यक्रम उनके ठीक विपरीत हैं। विद्यालयो में पाठ्यक्रमो का देश की आर्थिक और राजनैतिक नीतियो तथा कार्यक्रमो से कोई विधायक सम्बन्ध नही रह गया है। हमको आज भी यह बात साफ नही हो सकी है कि विद्यालयो में पढ़ाये जानेवाले क्राफ्ट को देश की आर्थिक और औद्यो-गिक कार्यनीति से मिलाकर चलाना होगा। यही कारण है कि आज हमारे विद्यालय दमन, शोषण, हिंसा और उद्देश्यहीन उत्पातो के स्थल बन गये हैं। छात्र, शिक्षक और समाज आमने-सामने की स्थिति में आ गये हैं और हमारे इन जीवनरूपी त्रिभुज को तीनो भुजा एक दूसरे के विपरीत जा रही है।

३ अतः उपरोक्त दोनों ही दृष्टियो से आज की शिक्षा में आमूल परिवर्तन अपरिहार्य है। शिक्षा में परिवर्तन समाज में परिवर्तन के बिना सम्भव नहीं है। और ये दोनो काम हमें साथ-साथ हाथ में लेने होगे। यही हमारा आज का

लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार का एक समग्र परिवर्तन का राष्ट्रीय प्रयोग पिछले दो साल से बिहार के कुछ क्षेत्रों में आरम्भ हुआ है जिसका नेतृत्व देश के महान नेता और विचारक श्री जयप्रकाश नारायण कर रहे हैं। यह प्रयोग मुजफ्फरपुर जिले के मुसहरी प्रखण्ड में, पूर्णिया जिले के रुपौली और भवानीपुर प्रखण्ड में, तथा सहरसा जिले के कुछ हिस्सों में चल रहा है। इस प्रयोग में दो तरफा काम हो रहा है। एक तरफ तो ग्राम-समुदायों को स्वायत्त और स्वावलम्बी धरातल प्रदान कर उन्हें राष्ट्रीय एकता और विकास की बुनियादी कड़ियों के रूप में संगठित करने का प्रयोग किया जा रहा है। दूसरी तरफ देश की शिक्षानीति और कार्यक्रम में तदर्थ परिवर्तन के लिए परिस्थितियाँ पैदा कर शिक्षा को विधायक सामाजिक परिवर्तन और विकास का माध्यम बनाने का प्रयास हो रहा है।

४. अब यह विचार आया है कि शिक्षा में इस प्रकार की समग्र क्रान्ति के सम्बन्ध होने तक भी हम चुप न बैठें बल्कि उसके लिए आज से ही कुछ विधायक क्रिया आरम्भ करें, और यह हमारे वर्तमान शिक्षाक्रम को लेकर किया जाय। बिहार का वर्तमान माध्यमिक शिक्षाक्रम देश के कुछ उत्तम शिक्षाक्रमों में से माना जाता है। किन्तु हम इस पर भी अभी तक सही और पूरे अर्थ में अमल नहीं कर पाये हैं। यदि यह भी हो जाता तो भी शिक्षा और शिक्षकों के स्तर में काफी बड़े सुधार होने की पूरी सम्भावना है। अब यह सोचा गया है कि यह काम हाथ में लिया जाय। यह आचार्यकुल के माध्यम से चले यह भी निश्चय किया गया है, क्योंकि इसका सम्बन्ध एक व्यापक रचनात्मक सन्दर्भ से है जिस सन्दर्भ के बिना हम शिक्षा में कोई भी विधायक परिवर्तन नहीं कर सकते। हमारा तात्पर्य यह है कि आचार्यकुल में शिक्षा और समाज पर एक साथ विचार होता है और यह एक ऐसे राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का भाग है जो शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करता है।

५. गत दो सालों में इन क्षेत्रों में काम करते हुए आचार्यकुल ने एक त्रिविध-कार्यक्रम का विकास किया है। उसमें यही समग्र दृष्टिकोण है कि शिक्षा, शिक्षक और समाज को एक साथ ही परिवर्तन की दिशा में लगाया जाय। इस त्रिविध-कार्यक्रम में पहला कार्यक्रम है आचार्यत्व-दीक्षा का कार्यक्रम, जिसके अन्तर्गत शिक्षकों के लिए एक आधार संहिता का विकास किया गया है। इसका दूसरा कार्यक्रम है शिक्षा में क्रान्ति-कार्य, जिसमें इस तरह के सुधार-कार्य भी शामिल हैं। और तीसरा कार्यक्रम है लोक-स्वराज्य की, स्थापना की, जिसमें स्वावलम्बी और

कार्य सम्पादित करना और इसे गाँव के विकास के साथ समन्वित करने का प्रयास करना।

(४) छात्रों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान की भावना का विकास हो इसके लिए उन्हें फीस के बदले काम करने के लिए प्रोत्साहित करना और विद्यालयों में तदर्थ योजनाएँ बनाना और क्रियान्वित करना।

(५) समाज सेवा और लोक-शक्ति-निर्माण की दिशा में सतत जागरूक कार्यक्रम हाथ में लेना। उसके लिए समाज-शिक्षण (रात्रि शालाएँ) की योजना चलाना। इस कार्य में छात्रों को आगे किया जाय और शिक्षक केवल उन्हें मार्गदर्शन करें। छात्रों के मूल्यांकन में उनके इस कार्य को भी शामिल किया जाय। ग्राम-सफाई और स्वच्छता के संस्कार स्थायी बनाने के लिए साप्ताहिक या मासिक अभियान चलाना, विद्यालय में और गाँव में कम्पोस्ट बनाने की योजना क्रियान्वित करना। लोक-शक्ति का जागरण और संगठन हो इसके लिए समाज में अन्याय-प्रतिकार का छात्रों को प्रशिक्षण देना, स्वयं अन्याय से विरत रहना और समाज में अन्याय के अवसर आवें तो उसका निराकरण करने का प्रयास करना।

(६) अशांति शमन के लिए सतत जागरूक रहना और अशांति के अवसर आने पर उसका निराकरण करने का सक्रिय प्रयास करना। इसके लिए विद्यालय की शांतिसेना का गठन करना।

(७) परीक्षा-पद्धति को सतत मूल्यांकन-पद्धति में बदलने का प्रयास और क्रियान्वयन, विद्यालय के दैनिक काम में छात्रों का प्रत्यक्ष सहकार का आयोजन और क्रियान्वयन करना। इसके लिए छात्र-शिक्षक समितियों का गठन हो सकता है। सामूहिक छात्र-दूकानें भी कायम की जा सकती हैं।

(८) लोक-शिक्षण के अन्य कार्य।

शिक्षकों के लिए आचार संहिता

(१) विद्यालय और सामान्य जीवन में समय की पाबंदी।

(२) नित्य नियमित स्वाध्याय।

(३) सादगी और मितव्ययिता के साथ व्यसन-मुक्ति। शराब से पूर्ण मुक्ति व कम से-कम विद्यालय में छात्रों के साथ एवं उनके माध्यम से पान-तम्बाकू का सेवन न करना।

(४) वर्ग-प्रेम एवं छात्रों के साथ पढ़ाई, परीक्षा तथा अन्य प्रकार की प्रामाणिकता। वात्सल्यपूर्ण बर्ताव एवं सखात्व की स्थापना का प्रयास।

(५) पाठ की सम्यक पूर्व तैयारी।

(६) विद्यालय उन्नयन और समाज सेवा का दैनिक प्रत्यक्ष कार्य।

(७) श्रम-प्रतिष्ठा, नित्य किसी-न-किसी उत्पादक शरीर-श्रम का कार्य।

(८) जाति, सम्प्रदाय और राजनैतिक दलबन्दी से मुक्ति।

शासन से अपेक्षा

(१) शासन इस योजना को मान्य करे और कम-से-कम एक ऐसा आदर्श विद्यालय कायम करना।

(२) विभाग इन विद्यालयों के लिए बनी स्वायत्त समितियों की सलाह पर विद्यालयों के लिए योग्य शिक्षकों की व्यवस्था करे और बिना समिति की सलाह और स्वीकृति से कम-से-कम सात साल तक उनका तबादला न करे।

(३) यह विद्यालयों को भवन, छात्रावास और अन्य उपकरणों के लिए पर्याप्त धन दे। यह धन अनुदान या लम्बी अवधि का बिना ब्याज का ऋण हो जिसकी वसूली की किस्तें उदार हो। साथ ही वह सात साल तक विद्यालयों को मा० वि० को कुल व्यय का ७५ प्रतिशत और उ० वि० को कुल व्यय का ६५ से ७० प्रतिशत तक धन दे। आगामी तीन सालों में यह रकम घटकर क्रमश: ५० और २५ प्रतिशत हो जाय। दस साल के बाद शासन शिक्षकों के वेतन को छोड़कर अन्य कोई रकम विद्यालयों को न दे।

(४) विभाग इन विद्यालयों के सामान्य निरीक्षण और नियंत्रण के लिए जिम्मेदार रहे किन्तु वह हस्तक्षेपीय न होकर सलाहकार स्वर का हो। वह स्वायत्त समिति की सर्वसम्मत राय को स्वीकार और क्रियान्वित करे।

संचालन और नियंत्रण

इस योजना का संचालन और नियंत्रण आज की सामान्य परम्परा से कुछ भिन्न होगा। वह इस तरह का हो कि ऐसे सभी विद्यालयों के संचालन और नियंत्रण के लिए शिक्षक, छात्र, शिक्षाविद, अभिभावक और शासन के प्रतिनिधियों को लेकर एक जिला स्तरीय स्वायत्त समिति बनायी जाय। इसका कोई भी सदस्य किसी भी राजनैतिक पक्ष का सदस्य न हो यह रोक रहे। शिक्षकों की समिति के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव शिक्षक संघ और आचार्यकुल मिलकर करेगा और बाकी को सरकार नियुक्त करेगी। विभाग के लोगों का बाहुल्य न हो यह रहे। इस समिति के सभी निर्णय सर्वसम्मति या कम-से-कम ८० प्रतिशत बहुमत के आधार पर हो और इसके निर्णयों को सभी शिक्षक, विद्यालय, समाज तथा विभाग मान्य और क्रियान्वित करे। इस

स्वायत्त सामुदायिक सगठन की प्रणाली पर आधारित समाज व्यवस्था कायम करने का प्रयास हो रहा है। इस कार्यक्रम का विकास मुसहरी, रुपौली और भवानीपुर तथा सहरसा में हुई अनेक चर्चा गोष्ठियों के फलस्वरूप हुआ। मुसहरी में श्री जयप्रकाश नारायण के मार्गदर्शन में गांधी विद्यापीठ, वेड़छी, गुजरात के श्री ज्योति भाई द्वारा सचालित शिक्षा-सुधार की एक योजना भी बिहार सरकार ने मान्य की है। इस योजना-सचालन में नयी तालीम के सम्पादक और केन्द्रीय आचार्यकुल के सयोजक श्री वशीधर श्रीवास्तव का भी सहयोग प्राप्त हुआ है। रुपौली और सहरसा में भी हम वह करने का प्रयास कर रहे हैं। रुपौली में बिहार के प्रसिद्ध सर्वोदय नेता श्री वैद्यनाथ प्रसाद चौधरी के नेतृत्व में इस पर विचार चल रहा है। सहरसा में जिला आचार्यकुल समिति ने जिला शिक्षा पदाधिकारी के सयोजकत्व में एक शिक्षा सुधार उपसमिति का गठन किया है जो श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा के मार्गदर्शन में काम कर रही है। सहरसा में हमें सौभाग्य से देश के विख्यात शिक्षा शास्त्री श्री धीरेन्द्र मजूमदार-का भी मार्गदर्शन प्राप्त है और उनसे भी इस पर चर्चा हुई है। उनकी स्वीकृति इसे प्राप्त है। हमारे लिए यह भी सतोष की बात है कि इस योजना में भागलपुर मडल के क्षेत्रीय शिक्षोपनिदेशक श्री उमा प्रसाद सिंह भी इसमें गहरी रुचि ले रहे हैं। उन्होंने इसमें हमें कई मुख्य सुझाव दिये हैं तथा विभाग की ओर से हर तरह के सहयोग का आश्वासन भी दिया है। इसमें बिहार के एक अन्य शिक्षाशास्त्री खासकर बुनियादी शिक्षानीति के निर्धारक श्री द्वारिका सिंह से भी इस बारे में चर्चाएँ हुई हैं और उनकी भी इसमें सहमति है। योजना सक्षेप में इस प्रकार है

उद्देश्य

इस योजना का उद्देश्य बिहार के वर्तमान माध्यमिक शिक्षालय को आधार मानकर शिक्षा और शिक्षक के स्तर में इस प्रकार का सुधार करना है ताकि —

(१) शिक्षा समाज के दैनिक जीवन के साथ सामयिक सम्बन्ध कायम कर सके और वह सामाजिक विकास और निर्माण की वाहिका बन सके।

(२) शिक्षकों को ऐसा व्यावहारिक परिवेश प्राप्त हो सके ताकि वे समाज में उचित सम्मान व सुरक्षा प्राप्त कर सकें।

(३) शिक्षा स्वायत्त हो सके।

रूपरेखा

अब तक हुई चर्चाओं के आधार पर इसकी रूपरेखा इस प्रकार है

(१) इसके अन्तर्गत आनेवाले विद्यालय आदर्श विद्यालय कहलाये जायें।

(२) ऐसे सभी विद्यालयों के लिए एक सामान्य कार्य-प्रणाली और विद्यालय योजना का एक सामान्य ढांचा हो।

(३) ऐसे सभी विद्यालय पूर्णतः आवासीय हों और यदि आरम्भ में ही यह सम्भव न हो तो कम-से-कम ३० प्रतिशत से आरम्भ कर तीसरे साल तक ७५ प्रतिशत तक पहुँचाया जाय।

(४) ऐसे सभी विद्यालय कक्षा १ से कक्षा ७ तक या कक्षा १० तक की सम्पूर्ण प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध करे।

(५) ऐसे सभी विद्यालयों के सचालन और नियत्रण के लिए आज की परम्परागत व्यवस्था से भिन्न ऐसी व्यवस्था हो ताकि वे स्वराज्य का उपभोग कर सकें।

विद्यालय चयन की कसौटी

(१) ऐसे सभी विद्यालय इस योजना को स्वेच्छा से स्वीकार करें।

(२) उनके शिक्षक आचार सहिता का पूर्ण पालन करते हो।

(३) विद्यालय के पास म० वि० कम से-कम १० एकड़ और उ० वि० २० एकड़ भूमि रखते हो, या प्राप्त करें।

(४) विद्यालय अपने व्यय में कम-से कम म० वि० २० से २५ प्रतिशत और उ० वि० ३० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत का स्वय पंदा करे। यह सात सालों में हो। फिर आगामी तीन साल में यह प्रतिशत म० वि० को ५० और उ० वि० को ८५ प्रतिशत हो और दस साल के या ये शिक्षकों के वेतन को छोड़कर अन्य कोई रकम सरकार से न लें।

(५) विद्यालय में शिक्षा किसी उत्पादक हुनर के माध्यम से देने का प्रयास हो। यह उद्योग, खेती, पशुपालन या शहरों में कोई अन्य उद्योग हो सकता है।

विद्यालयों के लिए प्रस्तावित कार्यक्रम

(१) विद्यालय उन्नयन का पूर्ण प्रयास। आँगन, फुलवारी, मकान आदि की स्वच्छता और सौन्दर्य को बनाये रखने का सतत प्रयास।

(२) प्रातः साय सर्वधर्म प्रार्थनाएँ, सत्साहित्य का वाचन, धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर विद्यालय के नेतृत्व में शैक्षिक कार्यक्रम आयोजित करना और त्योहारों को सांस्कृतिक परिवेश प्रदान करने का प्रयास करना।

(३) स्वावलम्बन की दिशा में हर सम्भव प्रयास करना। इसमें खाद, बीज आदि का उत्पादन एव वितरण से लेकर अन्य प्रकार के विकास और उत्पादन-

समिति की प्रखण्ड स्तरीय शाखाएँ हों जो प्रखण्ड स्तर पर समिति की ओर से सामान्य देखरेख करे किन्तु विद्यालय के सामान्य काम में हस्तक्षेप न करे। यह माना जाय कि विद्यालय अपने कार्यक्रम में सामान्यत स्वतन्त्र हो किन्तु वह समिति के द्वारा दी गयी निर्देश परम्परा का पालन करे। हर विद्यालय की भी इस तरह की अपनी समिति हो और उसके सर्वसम्मत निर्णयों को ऊपर की सभी समितियां मान्य करें। किन्तु शिक्षकों की नियुक्तियां, विमुक्तियां और अनुशासनात्मक कार्यवाइयां आदि जैसी बातों में विद्यालय समिति की राय ली जाय लेकिन प्रखण्ड के लिए अंतिम निर्णय का अधिकार प्रखण्ड समिति का हो और जिले के लिए जिला समिति का। प्रखण्ड समिति के निर्णय से कोई पक्ष असंतुष्ट हो तो जिला समिति का निर्णय अंतिम माना जाय और उसके भी निर्णय से कोई असन्तुष्ट हो तो फिर सरकार का निर्णय अंतिम माना जाय। किन्तु साथ ही जिला समितियों को यह अधिकार रहे कि वे कभी आवश्यक माने तो सर्वसम्मति या सर्वानुमति के आधार पर सरकार (केन्द्र या राज्य) के किसी भी आदेश को अमान्य कर दें।

योजना का क्रियान्वयन

इसके तीन कारण होंगे

(१) विद्यालय चयन करना।

(२) शिक्षकों का प्रशिक्षण। यह प्रशिक्षण स्थानीय ग्रामसभाओं के पदाधिकारियों या उनके प्रतिनिधियों को भी दिया जाय। अत वे भी इसमें शामिल किये जायेंगे। ऐसे प्रशिक्षण के लिए पहले तीन से लेकर पांच दिन के शिविर लगे और आवश्यक माना जाय तो फिर अधिक दिन के लिए भी व्यवस्था की जायेगी। शिक्षकों को ऐसे प्रशिक्षण के लिए सुविधा देने का दायित्व विभाग का होगा और ग्रामसभाओं को तैयार करने का काम सामाजिक कार्यकर्ता करेंगे। जो विद्यालय इस योजना के लिए अपनी सहमति देंगे उनके गाँवों को इसके लिए अप्रोच करना होगा। प्रशिक्षण के दौरान एक विद्यालय को अभ्यास विद्यालय के रूप में लेकर काम करेंगे।

(३) फिर इसे विद्यालय में लागू कर क्रियान्वित किया जायेगा।

यह संक्षिप्त योजना है। क्रियान्वयन होने के क्रम में इसमें अनेक सुधार होने की पूरी पूरी सम्भावनाएँ हैं और हमारे साहस को निमंत्रण है। शिक्षा विभाग और शिक्षक तथा समाज को मिलाकर यह साहस करना होगा। यह हो सका तो हमारा पूरा विश्वास है कि हम शिक्षा को उसके वर्तमान सन्दर्भ में ही आमूल मोड़ दे सकने में समर्थ हो सकेंगे।

सहरसा जिला आचार्यकुल सम्मेलन

सहरसा जिला आचायकुल का द्वितीय वार्षिक सम्मेलन दिनांक १३-१४ फरवरी को सुपौल (सहरसा) में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में जिले भर से आये हुए ५०-५५ प्रतिनिधि और इतने ही अन्य शिक्षकों ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्घाटन और समापवर्त्तन प्रसिद्ध सर्वोदय विचारक आचार्य श्री दादा धर्माधिकारी के हाथों सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में केन्द्रीय आचार्य-कुल समिति के संगठक श्री कामेश्वर प्र० बहुगुणा, बिहार प्रदेश आचायकुल के संयोजक डा० रामजी सिंह, सर्वोदय नेता श्री कृष्णराज मेहता और श्री चिरंजीव झा ससद सदस्य विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थे। उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता ससद सदस्य श्री चिरंजीव झा और समापन समारोह की अध्यक्षता जिला आचार्यकुल के अध्यक्ष श्री लाला सुरेन्द्र प्र० ने की।

स्वागत समिति की ओर से स्वागताध्यक्ष श्री गुणानन्द पाठक, प्राचार्य, विलियम बहुद्देशीय उच्च विद्यालय, सुपौल ने सम्मेलन में आये विशिष्ट अतिथियों और प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए कहा, "आज ज्ञान शक्ति कुंठित और तेजहीन होकर सत्ता की दासी हो गयी है। इस स्थिति में न तो लोकतंत्र पनप सकता है, न मनुष्य का विकास ही हो सकता है। हमारी आज की सारी समस्याओं की जड़ यह है कि हम समाज को दण्ड शक्ति के सहारे चलाना चाहते हैं, जबकि आकांक्षाएँ स्वतंत्रता की हैं। इस अन्तर्विरोध को विवेकपूर्ण आचरण एवं समाज रचना करके ही दूर किया जा सकता है। यह काम सत्ता से नहीं हो सकता है। इसलिए ज्ञान शक्ति पर आस्था रखनेवाले ज्ञानी आचारवान आचार्य ही यह काम कर सकते हैं। आचायकुल ऐसे ही आचार्यों का एक परिवार है। इस परिवार को यह दायित्व ग्रहण करना ही होगा कि वह ज्ञान की शाश्वत वाणी के रूप में संगठित होकर तटस्थता और निर्भिकता से वैयक्तिक और सामाजिक मुक्ति के लिए काम करे।'

स्वागत भाषण के बाद जिला आचायकुल के संयोजक डा० जयदेव ने वार्षिक प्रगति का विवरण देते हुए कहा, 'यद्यपि संगठन की दिशा में हम को अभी बहुत कुछ करना बाकी है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से आचार्यकुल का

विचार सारे जिले में फैलाने में हम सफल हो सके हैं। आज हम आचार्यकुल के विचार और कार्यक्रम के बारे में काफी स्पष्ट हैं और इस जिले में ग्राम-स्वराज्य का जो राष्ट्रीय प्रयोग चल रहा है, आचार्यकुल का उसमें अग्रणी सहयोग रहा है। आचार्यकुल ने पिछले एक डेढ़ वर्ष में एक त्रिविध-कार्यक्रम—(१) आचार्यत्व दीक्षा (२) शिक्षा में क्रान्ति और (३) लोक स्वराज्य की स्थापना का विकास किया है। यह सतोष की बात है कि इस त्रिविधि कार्यक्रम पर आचार्यकुल की अनेक जिलो में हुई गोष्ठियो में भी चर्चाएँ हुई और सर्वत्र इस पर सहमति जाहिर की गयी। पूज्य विनोबाजी ने भी इसे सराहा है। इस कार्यक्रम पर जिला आचार्यकुल अमल करने का प्रयास कर रहा है और ग्रामस्वराज्य में सहयोग देने के साथ साथ बिहार के वर्तमान मा० पाठ्यक्रम के आधार पर एक शिक्षा-सुधार-योजना बनायी गयी है। अनेक विद्यालयो ने इसे स्वीकार किया है और अब सरकार के सहयोग से इस पर अमल करने की तैयारियाँ चल रही हैं।''

सम्मेलन में आचार्यकुल सगठन पर भी विस्तृत चर्चाएँ हुई। श्री कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा और डा० रामजी सिंह दोनों ने अपने-अपने भाषणों में सगठन को मजबूत बनाने पर जोर दिया। श्रद्धेय दादा धर्माधिकारी ने अपने दो भाषणो में मुक्त विचार की आवश्यकता बताई। ससद सदस्य श्री चिरंजीव झा ने अपने भाषण में कहा, ''आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम राजनीतिक सत्ता को नागरिक सत्ता पर हावी होने से रोकें और आचार्यकुल यह काम कर सकने में समर्थ हो।'

सम्मेलन में एक महत्वपूर्ण निश्चय यह भी किया गया कि आगामी जून माह में, जब बिहार के विद्यालयों में ग्रीष्मावकाश रहता है, आचार्यकुल द्वारा ग्रामस्वराज्य का एक सघन अभियान चलाया जाय। इसका प्रस्ताव गत २६ जनवरी को गया जिला आचार्यकुल सम्मेलन की ओर से आया था।

अत में स्वागत समिति के संयोजक श्री दीनेशकुमार सिंह अधिवक्ता, सुपौल की ओर से श्री गुणानन्द पाठक ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सयोजक कार्य व्यस्तता के कारण स्वागत भाषण नही कर पाये। इस सम्मेलन की सही व्यवस्था सुपौल प्रखण्ड आचार्यकुल समिति के मत्री श्री चन्द्रशेखरजी के सयोजकत्व में स्थानीय शिक्षकों और नागरिकों ने मिलकर की। सम्मेलन में सुपौल अनुमण्डल के शिक्षा अधिकारी अपने सहयोगियो के साथ उपस्थित रहे। ●

चन्द्रनाथ सहाय

२१ वाँ सर्वोदय सम्मेलन : कुरुक्षेत्र

आकलन तथा उद्‌बोधन

[अभी हाल मे हो ११ से १४ अप्रैल '७३ को सम्पन्न हुए २१ वाँ सर्वोदय सम्मेलन, कुरुक्षेत्र की एक झाँकी पाठकों, विशेषत नयी तालीम के पाठकों के लिए प्रस्तुत को जा रही है जो किसी कारणवश सम्मेलन न जा सके हो ।–स०]

"अगर देश की प्रगति का उल्लेख हम करें तो देखने में आयेगा कि अन्तिम वर्ग को लाभ सबसे कम हुआ है। सबसे ज्यादा लाभ ऊँच वर्ग को हुआ है। जितना लाभ हुआ उससे ज्यादा लाभ छोटी छोटी योजनाओं से राष्ट्र को हो सकता था। इस भूल को नेहरूजी ने भी महसूस किया लेकिन बाद में। अगर हम इस तरह कहे कि शुरू से ही गांधीजी के अनुसार देहातो में उत्पादन बढ़ाने का काम हुआ होता तो आज देश का नक्शा ही कुछ दूसरा होता। इन विचारो के साथ २१ वें सर्वोदय समाज सम्मेलन के मनोनीत अध्यक्ष श्री रामकृष्ण पाटिल ने अपना (लिखित भाषण के अतिरिक्त) अध्यक्षीय भाषण किया। यह अध्यक्षीय भाषण हुआ कुरुक्षेत्र में जो इस वर्ष सर्वोदय सम्मेलन का स्थान था। ११ से १४ अप्रैल '७३ तक चलनेवाला यह चतुर्दिवसीय सम्मेलन हर वर्ष की ही तरह लोगो के आकर्षण का केन्द्र रहा और देश के कोने कोने से आये प्रतिनिधियो तथा लोगो का मिलन स्थल भी। श्री पाटिल साहब ने आगे अपने भाषण में आज की नाजुक स्थिति का मूल्यांकन किया तथा लोगो को एकजुट होकर अपना कर्तव्य समझते हुए जनसाधारण के बीच काम करने की प्रेरणा दी। सर्वोदय के पाँच महारथियो—विनोबा जयप्रकाश शंकरराव धीरेनदा तथा दादाधर्माधिकारी—के सम्मेलन में न आ सकने पर उन्होंने खेद भी प्रकट किया।

नवोदित हरियाणा प्रदेश की होनेवाली राजधानी कुरुक्षेत्र की अपनी खास ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इसी कुरुक्षेत्र में विभिन्न स्थलो से आये तथा सर्वोदय आन्दोलन में लगे करीब पाँच हजार स्त्री-पुरुषो ने एक सप्ताह तक विचार मंथन किया। लोगो के सामने साल भर के काम का लेखा-जोखा तथा काम के दौरान रास्ते में आनेवाली बाधाएँ रखी गयी। आपस में एक दूसरे को देखने एवं समझने की लोगो की कोशिश रही। सभी के मन में बराबर यह प्रतीति रही कि हमारे रास्ते भले ही भिन्न

हो, पर हम सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक ही मंजिल के राही हैं। अत विचारो के उतार-चढाव के बावजूद लोग सर्वसम्मति से एक निर्णय पर पहुँचे।

सम्मेलन का पहला दिन

दिनांक ११-४-७३ से १४-४-७३ तक सम्मेलन का कार्यक्रम चलता रहा। सम्मेलन के उद्घाटन कर्त्ता ईश्वर भक्त, नयन विहीन, बाल ब्रह्मचारी, संत स्वामी शरणानदजी का परिचय श्री जैनेन्द्र कुमार ने दिया। वैसे ही सम्मेलन के मनोनीत अध्यक्ष श्री आर० के० पाटिल का परिचय सुश्री निर्मला बहन ने दिया। श्री पाटिल साहब बचपन से बुद्धि के प्रखर एव कुशाग्र रहे हैं। आई० सी० एस० करने के बाद जिलाधीश एव कमिश्नर रह चुके हैं। इतने बडे गौरवपूर्ण ओहदे को गाधीजी के आवाहन पर तिलाजलि देकर वह राष्ट्रीय स्वाधीनता आदोलन में कूद पड़े। उनका पूरा जीवन सेवापरायण, सादगी एव त्याग का है। आजादी के बाद विचार की परिपक्वता देखकर तत्कालीन प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने प्रथम पचवर्षीय योजना में उन्हे योजना आयोग का सदस्य बनाया। वर्षों तक राजनीति में रहने के बाद भी राजनीति के दलदल से बेदाग निकल कर पाटिल साहब सर्वोदय आन्दोलन में जुटे हुए हैं। ऐसी बेदाग तथा ऊँची जिन्दगी कितनो की है ?

दूसरा दिन : समस्याएँ

दिनांक १२-४-७३ को हरिजन समस्या पर श्री जीवनलालजी ने अपना विचार व्यक्त किया। उन्होंने कहा, "आज भारत में ९ करोड़ हरिजन हैं। अगर ये किसी खास जगह पर होते तो इनकी सख्या दुनिया के ७ वें देश में होती। लेकिन पूरे देश में ये इस कदर बिखरे हुए हैं जैसे इनकी कोई सख्या ही न हो। यही कारण है कि इनका सामाजिक तथा शैक्षणिक विकास जिस अनुपात में होना चाहिए नही हो रहा है। शैक्षिक आँकडों की तरफ ध्यान खीचते हुए उन्होंने बताया कि १९४७ में हरिजन विद्यार्थियो की सख्या कालेजो में १६ हजार थी, आज २५ लाख है। इनकी समस्या सिर्फ नौकरियो में कुछ प्रतिशत स्थान आरक्षित कर देने मात्र से हल नही होगी, इनकी गरीबी तथा अस्पृश्यता पर ध्यान देते हुए कोई दूसरा रास्ता ढूँढना होगा।"

इसी तरह श्री चिन्तामणिजी ने भगी-मुक्ति के प्रति अपनी वेदना एव बेचैनी प्रकट करते हुए हरिजनो को समाज में स्थान तथा उनका अधिकार दिलाने का सवाल पेश किया। उनका कहना था कि भगी-कार्य में कुछ सुधार कर देने

मात्र से ही हरिजनो की समस्या नही सुलझ जायेगी। इसके लिए उन्हें समाज में आदमी का दर्जा देना होगा।

नशाबन्दी समस्या पर बोलते हुए डा० सुशीला नैयर ने सर्वोदय-कार्य में लगे साथियो का ध्यान इस जागतिक समस्या की ओर आकृष्ट किया और कहा कि जब तक हम सर्वोदय कार्यकर्ता अपना-अपना राग अलग-अलग अलापते रहेंगे, अपनी-अपनी खिचडी अलग-अलग पकाते रहेंगे तब तक यह ज्वलत समस्या असगठित शक्ति से हल नही होगी। इसके लिए सगठित अहिंसक शक्ति चाहिए जो इसका मुकाबला डटकर कर सके।

पूर्वाह्न के बाद पूर्ण रोजगारी पर अपना विचार व्यक्त करते हुए श्री श्रीमन्नारायण ने कहा कि आज देश में ३ करोड हरिजन तथा आदिवासी ऐसे हैं जो बिलकुल बेकार हैं। देश की पाँचवी पचवर्षीय योजना बन रही है। इसमें ऐसा विधान किया जा रहा है कि जो काम चाहेगा उसे सबसे पहले काम दिया जायगा। देश भर में फैली सारी रचनात्मक सस्थाओं को चाहिए कि जिस व्यक्ति के पास कोई काम न हो उसे कम से-कम दो तकुए का चरखा दिया जाय। चरखा एक ऐसा साधन है जिससे आदमी भूखा नही मर सकता। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ की हड्डी कृषि है। अत कृषि में अधिकाधिक सुधार लाकर अनाज उत्पान मात्र में वृद्धि करनी होगी।

तीसरा दिन : ग्रामस्वराज्य

सम्मेलन के तीसरे दिन १३-४-७३ को ग्रामस्वराज्य विषय पर देश के कोने-कोने में ग्रामदान-ग्रामस्वराज्य आन्दोलन में कार्य कर रहे साथियो ने अपनी प्रगति एव रास्ते में आ रही रुकावटो का ब्योरा दिया। अन्त में ग्रामस्वराज्य समिति के अध्यक्ष आचार्य राममूर्ति ने इस विषय पर उठाये गये प्रश्नो एव प्राप्ति-पुष्टि में आ रही कठिनाइयो का सरल तरीके से समाधान किया। उन्होंने कहा कि आज देश के ३१ क्षेत्रों में ग्रामदान का कार्य हो रहा है। इनमें सभी सक्रिय भी नही हैं। अगर हम तूफान पैदा करने के लिए तैयार नही होंगे तो क्रान्ति नही आयेगी। आज हम वास्तविकता से हट गये हैं। कुछ मित्रो के सुझाओ का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि सिर्फ राजनीति में प्रवेश करने मात्र से ही हमारे आन्दोलन पर प्रभाव नही होगा। इसके लिए जनता की सगठित एव सत्याग्रह शक्ति को विकसित करना होगा। २२ वर्ष पहले हमने तीसरी राह पर चलने का, तीसरी शक्ति पैदा करने का तय किया। कहाँ है

वह तीसरी शक्ति ? तीसरी शक्ति का मतलब है लोक-शक्ति का निर्माण। पर अभी तक हम इस काम में सफल नहीं हो सके। हमारी क्रान्ति में तेज आवे इसके लिए आवश्यक है हम अपने सामने का चित्र, एक निश्चित उद्देश्य सामने रखें। तभी क्रान्ति होगी। ग्रामदान-ग्रामस्वराज्य को गति देने के लिए हमारा विचार-प्रचार हो। आम लोगों की रूढ़िवादी धारणा को बदल कर लोक-शक्ति विकसित करने की आवश्यकता है। इसके लिए आवश्यक है हमारा साहस सबल, सरल और सस्ता हो।

११ अप्रैल को रात्रि मे भोजनोपरान्त आचार्यकुल में रुचि रखनेवाले मित्रों की एक अनोपचारिक बैठक कानपुर विश्वविद्यालय के भू० पू० कुलपति श्री राधाकृष्ण अग्रवाल की अध्यक्षता में हुई जिसमे ३९ साथियों ने भाग लिया। केन्द्रीय आचार्यकुल समिति के सयोजक श्री वशीधर श्रीवास्तव अपनी अस्वस्थता एवं बड़े लड़के की बीमारी के कारण सम्मेलन में उपस्थित न हो सके। अबतक देश के भीतर ११ प्रदेशो में हुए आचार्यकुल का संगठन मात्र सर्व सेवा संघ की मदद तथा सयोजक श्रीवशीधर श्रीवास्तव के पुरुषार्थ एवं प्रयासों की परिणति है।

बैठक में अब तक की प्रगति पर संतोष व्यक्त करते हुए विभिन्न सदस्यों ने आगे के लिए कई सुझाव दिये जिनमें कुछ मुख्य ये हैं :

(१) सभी प्रदेश सर्वोदय मडल आचार्यकुल को अपने कार्य का अग मानकर इसमें रुचि लेनेवाले शिक्षकों से सम्पर्क एव उन्हें संगठित करें। (२) आचार्यकुल को गति देने के लिए नागरी लिपि को सक्रिय बनाया जाय। (३) आचार्यकुल सर्वोदय आन्दोलन में भाग लेने या न लेने के लिए स्वतंत्र है। इसका कार्य राष्ट्रीय मौलिक तथा सामाजिक विषयो पर तटस्थ राय व्यक्त करना है। (४) आचार्यकुल चुनाव में भाग ले या न ले यह स्वयं तय करे। (५) आचार्यकुल अपने दैनिक जीवन में न्यूनतम व निश्चित कोई काम अवश्य करे। (६) जहाँ आवश्यक हो एवं सुविधा हो तो आचार्यकुल शिक्षा के नये प्रयोग एव केन्द्र भी कायम कर सकता है।

शांतिसेना रैली इस बार के सम्मेलन में लोगों के लिए आकर्षण रही। केसरिया स्मान बांधे हजारों लोगों की क्रमबद्ध पंक्तियाँ ध्यान तो आकर्षित करती ही थीं, शांतिसेना के प्रति लोगों की बढ़ती निष्ठा की परिचायक भी थी।

महिला सम्मेलन इस बार के सम्मेलन का एक प्रमुख अंग था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता की उड़ीसा की प्रमुख समाजसेवी महिला श्रीमती रमादेवी ने। गुजरात के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण की पत्नी श्रीमती मदालसा नारायण ने अपने सारगर्भित भाषण में नारी-जागृति की महत्ता पर प्रकाश डाला और स्त्रियों को सर्वोदय क्रान्ति के लिए आह्वान किया। गाधीजी ने आजादी की लड़ाई के माध्यम से स्त्रियों की स्वतंत्रता और उनकी जागृति का द्वार खोल दिया था। सर्वोदय आन्दोलन भी स्त्री-शक्ति में पूर्ण विकास की तरफ सतत सचेष्ट है। विनोबाजी की नारी की विधायिका शक्ति में बडी श्रद्धा है।

सर्वोदय सम्मेलन में जनता के लिए सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र रही खादी एव ग्रामोद्योग प्रदर्शनी। हाथ एव कुटीर उद्योग द्वारा देश की गरीबी तथा बेकारी का काफी सीमा तक निराकरण और आजादी के पचीस वर्षो में हरियाणा राज्य की प्रगति के कीर्तिमान प्रदर्शनी, ये दो प्रमुख प्रतिपाद्य थे। रात्रि को प्रदर्शित होनेवाली सिनेमा स्लाइड लोगो का आकर्षण और भी बढा देती थी। ये सभी चीजें एक सप्ताह तक कुरुक्षेत्र के अपेक्षाकृत शान्त जीवन को चहल-पहल से भरे रही।

चौथा दिन : सामयिक प्रश्न

सम्मेलन के अन्तिम दिन १४-४-७३ को चार विषय लिये गये। नागरीलिपि, तरुण-शांतिसेना, गीताई मिशन तथा आध्र की समस्या। समय के अभाव के कारण इन विषयो पर वक्ताओ ने अपना विचार सक्षेप में रखा। श्रीकृष्णराज भाई ने आगे सम्मेलन का स्वरूप कैसा हो, दिशा क्या हो, इसको सरल ढग से श्रोताओं के सामने रखा।

अन्त में सर्वोदय साथियों को सदेश देते हुए सुश्री निर्मला बहन ने कहा कि हम एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति और बिखरी हुई शक्ति को जोड़ने के लिए काम कर रहे हैं। जिस तरह गगा की धारा में पाँच सौ नदियाँ आकर मिलती हैं उसी तरह सर्वोदय विचारधारा में अन्य विचार मिलते जा रहे हैं। लेकिन सागर तक जाने में गगा की जो धारा है—ग्रामस्वराज्य की धारा—उसे हमें काफी मजबूत बना कर आगे की दिशा में ले जाना होगा। ग्रामस्वराज्य जनता एव बुद्धिजीवियो का विचार बने यह हमारी आकाक्षा होनी चाहिए।

आन्दोलन की प्राप्ति, उसकी दिशा

दो शब्द, सर्वोदय आन्दोलन की प्राप्ति और उसकी दिशा के सम्बन्ध में। यो सरसरी तौर पर देखा जाय तो साफ है आन्दोलन का जनजीवन पर कोई

व्यापक असर नही हुआ है। ग्रामस्वराज्य आन्दोलन के चरण बढ जरूर रहे हैं लेकिन देश सर्वोदय से उल्टी दिशा में भी उसी तरह तेजी से बढ रहा है। देश में सिर्फ हिंसा में ही वृद्धि नही हुई है बल्कि हिंसा में आस्था में भी वृद्धि हुई है। आर्थिक और जिन चीजों में वृद्धि हुई वे है आर्थिक विषमता महिलाओ आदिवासियो तथा हरिजनो की दुर्दशा भ्रष्टाचार बेकारी पश्चिम का अन्धानुकरण और राजनीतिक आकाक्षा। इसके लिए हमें अपनी स्ट्रैटजी में जो परिवर्तन करना हो हम करे। जनता में यह भावना बढ रही है कि आज की शक्तियो के पास अब उसकी मूल समस्याओ का समाधान नही है। जनता की इस भावना को और विस्तृत कर हम सर्वोदय विचार को अधिकाधिक ग्राह्य बना सकते हैं। इसके लिए विचार तथा भावनाशील—थोड़े ही सही किन्तु हठव्रती साथियो की जरूरत है। जब तक यह नहीं होता है तब तक सर्वोदय आन्दोलन व्यापक धरातल पर नही आ सकेगा।

सम्मेलन में आये अन्य राज्यो की अपेक्षा हरियाणा प्रदेश के भाई बहनो की सख्या ज्यादा रही। स्वागत समिति के अध्यक्ष श्री बनारसीदास गुप्ता तथा मन्त्री श्री सामभाई के अथक परिश्रम से पाँच हजार लोगो के रहने खाने-पीने नहाने धोने तथा शौच आदि की व्यवस्था बडी ही व्यवस्थित ढग से की गयी था। प्रदेश भर की विभिन्न रचना मक एव सर्वोदय विचार में आस्था रखने वाली शैक्षिक-सस्थाओ के स्त्री पुरुष कार्यकर्ताओ ने बाहर से आये अतिथियो की और इस तरह वे सबके श्रद्धा के पात्र बने। रात दिन एकजुट होकर भोजन नाश्ता तथा सभा स्थल में पूरी व्यवस्था रख इन लोगो ने अपनी कार्य कुशलता का परिचय दिया।

सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य

कुरुक्षेत्र को हम जब ऐतिहासिक एव सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है यह नवनिर्मित प्रदेश हरियाणा देश के सास्कृतिक क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह प्रदेश आरम्भ से ही भारतीय सस्कृति का आदि स्रोत रहा है। हरियाणा शब्द का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रथो तथा शिला लेखो में मिलता है। इस प्रदेश के नदी नाना पर्वतो तथा भूखण्डो तक के नाम भी वैदिक शब्द के आधार पर रखे गये प्रतीत होते हैं। इस पवित्र भूमि पर ही सरस्वती के तट पर ऋषियो ने वैदिक ऋचाओ का गान किया। यह प्रदेश वीर योद्धाओ की जननी रही है। वीर हेमू वीर चूडामणि नाहर सिंह तथा रावकृष्ण गोपाल आदि महान योद्धाओ का नाम स्वर्ण अक्षरो में लिखा जायेगा।

गीता जैसी अमर ग्रंथ की रचना यहीं हुई। इसी अमर ग्रंथ में भगवान कृष्ण ने जीवन का मर्म समझाया है। कर्म में लगने के गीता के उसी प्राचीन उपदेश की आज नये परिप्रेक्ष्य में आवश्यकता है। यहीं थानेश्वर में १३ सौ वर्ष पूर्व सम्राट हर्षवर्द्धन ने अपना गौरवमय साम्राज्य स्थापित किया था। यहीं पर महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी की रचना की। पानीपत का वह ऐतिहासिक मैदान यही है जहाँ एक बार नहीं तीन-तीन बार भारत के भाग्य का फैसला हुआ है।

कुरुक्षेत्र में आप आज भी जाइए तो वहाँ आपको हरियाणा जीवन की पूरी झलक मिल जायेगी। कुरुक्षेत्र शहर में सिक्ख तथा गुजर जाति के लोगों की प्रधानता है। दोनों जातियों के लोग काफी मेहनती, बलवान, कर्मठ एवं पुरुषार्थी होते हैं। इनकी जीविका का मुख्य साधन कृषि है। नये तरीके की खेती, नये वैज्ञानिक औजार, रासायनिक खाद का संतुलित रूप में प्रयोग, ये अच्छी तरह करते हैं। कुरुक्षेत्र के गाँवों में शायद ही कोई ऐसा दरवाजा दिखता था जहाँ ट्रैक्टर या थ्रेसर न हो। खेतों में गेहूँ की फसल के टाल लगे हुए दिखे। यहाँ की मुख्य फसल गेहूँ तथा उरद है। यहाँ के पशु, खासकर गाय तथा बैल तो भारत में अपनी अच्छी नस्ल के लिए मशहूर हैं। कुरुक्षेत्र निवासी अपनी संस्कृति के प्रति बड़े कट्टर होते हैं। अभी इनके रहन-सहन, इनकी पोशाक पर अन्य कौमों की छाप नहीं पड़ी है।

सर्वोदय सम्मेलन मंच की हरियाणा के लोगों ने जैसी साज-सज्जा की थी वह उनकी संस्कृति का ही प्रतीक थी। एक मीटर ऊँचे, दस मीटर लम्बे, ६ मीटर चौड़े मंच की चारों तरफ नक्काशी तथा फूल-पत्तियों को देखकर हरियाणा की सदियों पुरानी संस्कृति एवं कला की बरबस याद आ जाती थी। मंच पर चढ़ने के लिए तीन तरफ से दो-दो सीढ़ियाँ बनी थीं। सीढ़ी के दोनों तरफ कला से ओतप्रोत सुन्दर तथा आकर्षित कर लेनेवाले घड़ों की सजावट थी। मंच के अगले हिस्से के ठीक बीचों-बीच श्री आर० के० पाटिल की मेज थी। मंच के पिछले हिस्से पर सर्वोदय विचार माननेवाले, राजनीतिक तथा स्थानीय प्रतिष्ठित परिवारों के लोग बैठे थे। मंच के पीछे दीवाल पर टंगे गांधी, विनोबा तथा बुद्ध की तस्वीरों के नीचे प्रेरणादायी सुभाषित एवं बड़े-बड़े अक्षरों में सूक्तियाँ लिखी हुई थीं।

आगे की दृष्टि

कुरुक्षेत्र की भावी योजना भी अपने आप में अनोखी योजना है। हर गाँव

मे विजली, पक्की सड़क, सिंचाई के लिए नदी-तालाव पूर्ति की योजना चल रही है। अभी-अभी रोहतक से २ हजार किलो मीटर लम्बी नहर निकालने की योजना बनी है, जो हरियाणा की सूखी करीव ढाई लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी। विजली तो हरियाणा के हर गाँव तक पहुँच ही गयी है। खास कुरुक्षेत्र में ही जल परियोजनार्थ करोड़ों रुपये की लागत से एक बहुत बड़े तालाव का निर्माण हो रहा है।

बशीलाल सरकार के प्रति लोगों की कोई खास आलोचना या टिप्पणी सुनने को नही मिली। अब जब चडीगढ़ को नये राज्य हरियाणा की राजधानी बनाने में हरियाणावासी सफल नही हुए, तब कुरुक्षेत्र को ही उन्होंने हरियाणा की राजधानी बनाने का तय किया है। ऐसा निर्णय होते ही सरकार की तरफ से कुरुक्षेत्र मे ६ शराव की दूकानो को लाइसेन्स मिल गया जिसमें तीन दूकानें खुल भी गयी। इस पवित्र भूमि में शराव का व्यापार हो और सरकारी आमदनी हेतु लोगों को शराब का आदी बनाया जाय, यह कुरुक्षेत्रवासियों के लिए असहनीय है। इसकी प्रतिक्रिया युवा वर्ग से लेकर बुजुर्गों तक में सुनने को मिली।

कुरुक्षेत्र में दो कुण्ड हैं। एक सूर्य कुण्ड तथा दूसरा वाणगंगा। हर पूर्णिमा को सूर्य कुण्ड में स्नान करनेवालो की संख्या हजारों में होती है। राज्य भर से स्त्री-पुरुष-बच्चे ट्रक, बस, जीप तथा अन्य सवारियों में स्नान करने खचाखच भरे आते हैं। सड़क के किनारे मेला लग जाता है। सूर्य कुण्ड की खास विशेषता यह है कि उसमें एक करोड़ पत्रों पर रामनाम लिखकर डाला गया है। उसी तरह वाणगंगा उस समय की याद दिलाती है जब शरशैय्या पर सोये भीष्मपितामह की प्यास बुझाने के लिए अर्जुन ने तीर द्वारा पाताल से पानी खीचा था। कुरुक्षेत्र में रेगिस्तान की झलक भी मिलती है पर अब सिंचाई योजना के दौरान सारी ऊसर भूमि को ऊर्वर बना दिया गया है।

सामान्य लोगों पर सम्मेलन का कोई खास असर पड़ा हो ऐसा महसूस नही हुआ। सम्मेलन के प्रति सामान्य लोगों में उदासिनता ही दिखी। लेकिन कुछ युवा मित्रों से चर्चा के दौरान यह आभास हुआ कि उनका मानस सर्वोदय की ओर झुका है। अच्छे वक्ताओं के भाषण भी अच्छे लगे। जब कुछ युवा मित्रों के सामने ग्रामदान-ग्रामस्वराज्य की तसवीर रखी गयी तो उनका उत्साह और आगे बढ़ता मालूम हुआ। उन्होंने सर्वोदय आन्दोलन में हिस्सा लेने तथा सम्पर्क बनाये रखने की अपनी इच्छा भी जाहिर की।

अगला सर्वोदय समाज सम्मेलन पश्चिम बगाल सर्वोदय मडल के साथियों के अनुरोध पर पश्चिम बगाल में, गुरुदेव रवीन्द्र के आश्रम, शाति निकेतन में होने का तय हुआ। सम्मेलन में आये लोक सेवका तथा प्रतिनिधियो की अल्प सख्या एव समापन के पूर्व ही लोगों के भागने पर रोक लगाने हेतु यह निर्णय लिया गया कि सम्मेलन में आने पर प्रवेश पत्र के साथ वापसी टिकट भी जमा करा दिया जायेगा ताकि सम्मेलन से पूर्व कोई न जाय।

प्रतीति जग चुकी है

आज देश जिस विषम परिस्थिति से गुजर रहा है उसके लिए लाजिमी है कि हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागकर राष्ट्रहित की भावना का विकास करें। आज देश की सबसे बडी ज्वलत समस्या सूखे की है। हमारी अधिक-से-अधिक मदद सूखा पीडितो को मिल सके एसा प्रयास हम करें। सर्वोदय सम्मेलन के पूरे वातावरण में यह भावना बराबर गूँजती रही।

आज दुनिया के किसी भी राष्ट्र में चाहे वह साम्यवादी हो या समाजवादी —जनता का सर्वांगीण विकास कदापि सम्भव नही। सर्वोदय ही एक एसा विकल्प है जिसमें छोटे-बडा धनी-गरीब छूत अछूत आदि का भेदभाव मिटा कर एक आदर्श परिवार, समाज तथा राष्ट्र की स्थापना हो सकती है। भले ही आज की परिस्थिति में सर्वोदय की महत्ता को लोग स्वीकार नही करें लेकिन आने वाले दिनो में सर्वोदय ही एक एमा विचार है जो टिक पायेगा। जैसे गाधी को जीतेजी मनकी ही समझा गया लेकिन आज सिर्फ भारत में ही नही दुनिया भर में गाधी-विचार के प्रति लोगो की रुझान बढ रही है। इस अनुभूति की झलक सम्मेलन में आई भीड के किसी-न-किसी भाग में मिल ही जाती थी कि आनेवाले दिनो में जनता की रुचि सर्वोदय आन्दोलन की तरफ ही होगी। मनुष्य की बढती महत्वाकाक्षा का जीवन की परिस्थिति से मेल बैठानेवाला आज सर्वोदय से बढकर अन्य कोई विचार नही है। प्रश्न है आज की परिस्थिति में सम्मिलित और अथक प्रयास की। कुरुक्षेत्र सर्वोदय सम्मेलन लोगो में यह प्रतीति जगा सका है ऐसी आशा है। ●

वर्ष : २१
अंक ९
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

अप्रैल, '७३

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

सम्पाक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार : प्रधान सम्पादक
श्री वशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक ९
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

अप्रैल, '७३

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
- 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित,
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

वर्ष : २१
अंक : १०

महाराष्ट्र एवं बिहार आचार्यकुल सम्मेलन विशेषांक

मई १९७३

यह आचार्यकुल विशेषांक

वर्ष : २१
अंक : १०

विगत चार वर्षों में आचार्यकुल आन्दोलन की इतनी प्रगति हुई है कि शिक्षा सत्र १९७२-७३ में तीन प्रदेशों में—मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और बिहार में, प्रादेशिक स्तर के सम्मेलन हुए हैं। प्रादेशिक स्तर के सम्मेलन अर्थात् ऐसे सम्मेलन जिनमें प्रदेश के अधिकाश जिलो अथवा सभी जिला के प्रतिनिधियों ने भाग लिया हो। महाराष्ट्र सम्मेलन हुआ तो उसमें महाराष्ट्र के प्रत्येक जिले से कुल मिलाकर ३६५ प्रतिनिधि सदस्य आये और बिहार तथा मध्यप्रदेश के अधिकाश जिलों से कुल मिलाकर क्रमश १५० और २००प्रतिनिधि आये। मतलब यह कि आचार्यकुल की निष्ठाओं में विश्वास रखनेवाले और उसकी शिक्षा-नीति मे रुचि रखनेवाले शिक्षकों की एक बिरादरी बनी है। ऐसे लोग साथ मिलकर बैठे हैं, अपने लिए आचार सहिता बनायी है, और शिक्षा की समस्याओं पर चिंतन मनन कर यह विचार किया है कि शिक्षा तारक शक्ति कैसे बने।

आज शिक्षा जगत की सबसे बडी समस्या है—शिक्षा की स्वायत्तता। आचार्यकुल मानता है कि लोकतत्र मे शिक्षा को सरकार मुक्त होना चाहिए, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो दलीय लोकतत्र मे जिस दल की सरकार होगी वह शिक्षा का अपने दल की नीति सिखाने का माध्यम बनायेगी और शिक्षा इन्डाक्ट्रिनेशन का जरिया बनेगा, जो लोकतत्र के लिए बहुत बडा खतरा होगा। लेकिन स्वातत्र्योत्तर काल मे शिक्षा के सरकारीकरण की

माँग बढ़ी है और स्वयं शिक्षक-संगठनों ने शिक्षा के सरकारीकरण की माँग की है, उसके लिए आंदोलन भी किये हैं। कई प्रदेशों में उच्च शिक्षा को सरकार के प्रतिबन्धों से अधिकाधिक जकड़ने की चेष्टा हो रही है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। आचार्यकुल ने शिक्षा की स्वायत्तता, उसके स्वरूप, व्यवहार और उसकी मर्यादा पर विचार किया है। महाराष्ट्र और बिहार दोनों ही सम्मेलनों में इस पर लाभप्रद चर्चाएँ हुई हैं।

इसी प्रकार यह अनुभव किया गया है कि देश की शिक्षा में अगर क्रांति नहीं हुई, और शिक्षा देशवासियों और विकास के साथ न जुड़ी, तो देश की किसी भी समस्या का हल नहीं होगा। शिक्षा की क्रांति का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है—शिक्षक। जब तक शिक्षक योग्य और अच्छा नहीं बनता, तब तक शिक्षा की कोई क्रांतिकारी योजना सफल नहीं होगी। आज के शिक्षक में बड़ी कमजोरियाँ हैं। वे कैसे दूर होंगी इस विषय पर भी चिंतन मनन हुआ है। और, इसके लिए बिहार आचार्यकुल सम्मेलन में शिक्षकों की एक आचार-संहिता भी बनी है।

यह संयोग ही कहा जायगा कि बिहार और महाराष्ट्र के दोनों ही आचार्यकुल सम्मेलन का उद्घाटन प्रसिद्ध सर्वोदय विचारक पू० दादा धर्माधिकारी द्वारा हुआ। दादा के विचार मौलिक होते हैं और उनको प्रकट करने की शैली उत्तेजक होती है। उनका मार्गदर्शन आचार्यकुल का सौभाग्य है। अपने भाषणों में आज की शिक्षा की अनेक समस्याओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है। महाराष्ट्र आचार्यकुल सम्मेलन में पू० विनोबाजी का मार्गदर्शन और प्रसिद्ध सर्वोदय नेता आचार्य राममूर्ति जी का सहयोग प्राप्त हुआ। (उनके भाषण को हम मार्च के अङ्क में प्रकाशित कर चुके हैं।) महाराष्ट्र सम्मेलन को गुजरात के उपकुलपति और साहित्यिक श्री उमाशंकर जोशी का भी सहयोग प्राप्त हुआ।

ये सम्मेलन आचार्यकुल आंदोलन की प्रगति की दृष्टि से नहीं, आज की शिक्षा-जगत की समस्याओं की दृष्टि से भी इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि हम चाहते हैं कि नयी तालीम के पाठक इन सम्मेलनों की चर्चाओं से लाभान्वित हों। यही कारण है यह विशेषांक निकालने का।

—वंशीधर श्रीवास्तव

महाराष्ट्र आचार्यकुल सम्मेलन

उद्‌घाटन भाषण

शिक्षा और शिक्षक कैसे हों ?

दादा धर्माधिकारी

[आचार्य दादा धर्माधिकारी ने महाराष्ट्र आचार्यकुल सम्मेलन के अवसर पर अपने उद्‌घाटन भाषण मे जो विचार व्यक्त किये वह आज की परिस्थिति में शिक्षण, शिक्षक तथा शिक्षार्थी—तीनों के लिए एक नया मार्गदर्शन है। आशा है नयी तालीम के पाठक इससे ज्यादा लाभान्वित होंगे। —सम्पादक]

शिक्षक का कर्तव्य

आपको श्री उमाशंकर भाई जैसे विद्वत्ता मान्यता सत्ता आदि विविध अधिकारों से सम्पन्न अध्यक्ष मिले हैं। साहित्य, शिक्षा और अब इधर राजनीति—इन तीनों क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। मैं सब ओर से निवृत्त हो गया हूँ और मुझे सूक्ष्म में आने की सुविधा नहीं है। अतएव मुझे जो कुछ कहना है वह संक्षेप में कहनेवाला हूँ। आरम्भ मैं करनेवाला हूँ शिक्षक के शील से। पहली बात आपसे मुझे यह कहनी है कि नया समाज और नया मानव निर्माण करने

की आसुरी महत्त्वाकांक्षा आप न रखें। यह भगवान का काम है और भगवान के काम को जो भगवान से छीन लेता है उसका नाम शैतान है। विश्वामित्र ने यह बेकार का श्रम करके देख लिया। फजीहत हो गयी उसकी। अरे भगवान के बनाये हुए हम मनुष्य कैसे हैं यह आइने में देखो तो। और हम शिक्षक जब मनुष्यों का निर्माण करने लगेंगे तब उनकी क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना कीजिए। मैं तो कल्पना तक नहीं कर सकता। अतः शिक्षक को पहली बात यह ध्यान में रखनी है कि जगत में उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक बालक अद्वितीय होता है वह एक विभूति है। उसको गढनेवाले हम नहीं हैं। उस विभूति के विकास में जो बाधाएँ हमारे संस्कारों की हमारी सामाजिक परिस्थिति की आती हैं उन्हें दूर करना और उसके विकास का अवसर प्रदान करना ही शिक्षक का कर्तव्य है।

शासन का ह्रास

दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि जैसे-जैसे शिक्षण का विकास होगा वैसे-वैसे शासन का ह्रास होना चाहिए। जहाँ शिक्षण होता है वहाँ शासन नहीं हो सकता। शासन सर्वाधिक हो जाय तो शिक्षण समाप्त हो जायेगा। इतना ही नहीं इस विश्व में चप्पाभर जगह भी शिक्षण के लिए नहीं बचेगी। लड़के का और शिक्षक का—दोनों का कर्तव्य एक ही है। कहीं भी उसकी बुद्धि बधक नहीं रहनी चाहिए। गुरु ग्रंथ संस्था समाज राष्ट्र कहीं भी शिक्षक की सुबुद्धि बंधक नहीं रहेगी। कहीं भी वह कुंठित नहीं होगी। बौद्धिक स्वतंत्रता शिक्षक का बाना है और बुद्धि की शक्ति उपकरण शस्त्र सम्पत्ति और सत्ता की अपेक्षा सौगुनी अधिक है। इस पर उसकी श्रद्धा चाहिए।

शिक्षक का मिशन नहीं

तीसरी बात यह है कि शिक्षक को उपदेशक अथवा प्रचारक नहीं होना चाहिए। उसका कोई मिशन नहीं है। उसका कोई संदेश नहीं होना चाहिए और उसे अपने व्यक्तित्व या कोई संदेश विद्यार्थियों तक पहुँचाने की आकांक्षा भी नहीं रखनी चाहिए। यह आसुरी आकांक्षा है। शिक्षकों को सत्यनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ होना चाहिए। वस्तुनिष्ठा के आधार पर सत्य का शोध यह उसका प्रयोग है और इसीलिए वह विद्यार्थियों का सहपाठी है।

समान शिक्षण

स्वायत्त शिक्षण के विषय में मुझे एक छोटी-सी बात आपसे कहनी है। सरकार नियंत्रित शिक्षण न हो लेकिन वह राष्ट्रव्यापी होना चाहिए। भारत

व्यापी ही नहीं बल्कि विश्वव्यापी। इसलिए उसमें एक समानत्व की पैठ होनी चाहिए। असम से लेकर गुजरात-सौराष्ट्र तक और कश्मीर से कन्या-कुमारी तक प्रत्येक विद्यार्थी को समान शिक्षण मिलना चाहिए। विशिष्ट शिक्षण अलग, सामान्य शिक्षण समान होना चाहिए, तभी वह सार्वत्रिक हो सकेगा। इसे कौन साकार करेगा ? इसका विचार हमें करना है। यह मैं कह नहीं सकता। सरकार को अगर यह नहीं करना है तो किसी को यह तय करना होगा। ढेड-महार लडके-लडकी को और ब्राह्मण के लडकों को मराठी, कन्नड बोलनेवाले लडके को एक ही शिक्षण, समान सामान्य शिक्षण मिलना चाहिए, यह एक सार्वत्रिक नीति तय करना अत्यंत आवश्यक है। न्याय-विभाग की तरह शिक्षण-विभाग को भी स्वतंत्र होना चाहिए। ऐसा मैं समझता हूँ। न्याय-विभाग जिन कानूनों को कार्यान्वित करता है वे सार्वत्रिक होते हैं। इसी तरह शिक्षण की नीति सार्वत्रिक होनी चाहिए। शिक्षण को इन्डाक्ट्रिनेशन का, अपने विचारों को विद्यार्थियों के दिमाग में ठूसने का अथवा किसी भी सरकार के प्रचार का साधन नहीं बनना चाहिए। इसलिए जब हम कहते हैं कि सरकारी नियंत्रण नहीं होना चाहिए, तब इसका अर्थ यह है कि यह शिक्षण सबको समान रूप से बराबर मिलना चाहिए। यदि यह बात हम ध्यान में नहीं रखेंगे, तो मुझे लगता है कि हमारे देश में साम्प्रदायिक शिक्षण तेजी से फैलेगा। बौद्धों की शालाएँ, जैनों की शालाएँ, खालसा मिशनरी कालेज, बौद्ध कालेज और ऐसे ही दूसरे कालेज यदि निकलने लगे तो एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी के जैसा कुछ नहीं होगा। एक की भाषा दूसरे नहीं समझेंगे और अराजकता फैलेगी। अतः इसका विचार करना बहुत आवश्यक है।

साम्प्रदायिकता का खतरा

मित्रों, मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि जो शिक्षण मुझे मिला है वह न मिला होता तो बहुत अच्छा होता। अब तक तथा भगवान की कृपा से आगे भी कभी लगेगा नहीं। यह अंग्रेज अगर इस देश में नहीं आया होता तो आपको सामान्य शिक्षण का दर्शन भी नहीं हुआ होता। आप कहेंगे कि यह तो बाइप्रॉडक्ट है आदि। वह चाहे जो हो। परन्तु अंग्रेज के आने के कारण इस देश में सामान्य शिक्षण इतना व्यापक हुआ, यह हम देख रहे हैं। और सम्प्रदायों के विषय में उसके तटस्थ रहने से डामिनेशनल एजुकेशन, साम्प्रदायिक शिक्षण का प्रादुर्भाव हमारे देश में नहीं हुआ। बाइबिल भी सिखायी गयी है। कुरान भी सिखाया जाता है। गीता-उपनिषद् की शिक्षा का तो पार ही नहीं है, फिर भी

साम्प्रादिक भावना का हमारे शिक्षण में जो कुछ प्रचार हुआ, वह बहुत कम प्रमाण में हुआ है। यह सेक्युलरिज्म आदि की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। सामान्य मानवता, सामान्य आस्तिकता, सार्वजनिक आस्तिकता, मानवनिष्ठा और ईश्वर-निष्ठा को शिक्षण के साथ जोड़ना हो तो अवश्य जोड़िए, लेकिन डामिनेशनल शिक्षण नहीं होगा, साम्प्रदायिक-शिक्षण नहीं होगा।

प्रचलित शिक्षण

अन्त में एक प्रश्न मैं स्वयं अपने से पूछता हूँ और आप भी अपने से पूछें—औपचारिक ढंग से नहीं, सचमुच पूछिए यह प्रश्न। आज जो शिक्षण इस देश में प्रचलित है क्या उसे लोग सचमुच नहीं चाहते हैं ? वास्तव में क्या वह उन्हें रद्दी और निकम्मा लगता है ? मामा क्षीरसागर ने मेरा नाम लिया, मेरे लड़के का भी नाम लिया। कालेज खुलते ही एक महीना तो प्रवेश पाने में बीत जाता है और परसों ही एक सज्जन ने मुझसे कहा कि मेडिकल कालेज में प्रवेश प्राप्त करने के लिए उसको १० हजार रुपये देनेवाला हूँ। बाद में लड़के का १० हजार रुपया दहेज लूँगा। उनके पास हिसाब तैयार था। क्या यह शिक्षण लोग नहीं चाहते ? यह निकम्मा मालूम होता है ? सन् १९१५ के सैंडलर कमीशन से लेकर अब तक शिक्षा के लिए जितने कमीशन नियुक्त किये गये और उनके जो विवरण प्रकाशित हुए उनका उपयोग मेरी समझ में नहीं आता। हम नये कालेज चाहते हैं। और एक सज्जन ने नये कालेज के लिए ५ लाख रुपये दिये। दानवीर! उससे किसी ने नहा कहा कि आपने वाहियात शिक्षण के लिए दान दिया है। दान-अ-नूर कोई नहीं कहता। बल्कि ऐसे लोगों का नाम लिया जाता है और स्मारक खड़े किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन से हम ऐसा शिक्षण नहीं चाहते, इस बात में मेरा विश्वास नहीं है। अब तक तो विश्वास नहीं है।

अंग्रेजी परकीय नहीं

अंत में एक बात और कहनी है। जैसे शिक्षा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता नहीं रहनी चाहिए वैसे ही अब उसमें भाषाभिमान नहीं रहना चाहिए। यह बात मैं हमेशा से कहता आया हूँ और मैं नितान्त एक के अल्पमत (मायनॉरिटी आव वन) में हूँ। अब इस देश में, २०-२५ वर्षों में कभी भी हो शिक्षा का माध्यम एक ही बनना चाहिए और उस दिशा में प्रगति होनी चाहिए। हिन्दी, अंग्रेजी कोई भाषा रहे, मुझे किसी भी भाषा का रोग नहीं है। मैंने अंग्रेजी को परकीय भाषा नहीं माना है। मनुष्य की भाषा परकीय होती ही नहीं। शत्रु की हो तो भी उससे झगड़ने के लिए सीखना होगा। लेकिन हमारे देश में

शीलाबनी करकर नलिनी सेनगुप्ता—इन बहनों की भाषा ही अग्रजी थी। अब क्या आप यह कहेंगे कि यह विदेशी भाषा है ? उसका परीक्षण अन्य दृष्टियों से कीजिए। लेकिन हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं का झगड़ा मुझे नहीं करना है। आपसे प्रार्थना कर इतनी ही प्रार्थना है कि जैसे उमाशंकर भाई और दाना धर्माधिकारी एक व्यास पाठ पर बैठ सके हैं वैसे ही आगे की पीढ़ी में ए० के० गोपालन का लड़का और कर्णीसिंह का लड़का एकत्र बैठ सकने चाहिए।

मातृभाषा नहीं होती

एक धृष्टता मैंने और की है। यहाँ सब शिक्षा शास्त्री आदि बैठे हुए हैं। मैंने कहा कि अपनी लेन साफ कर लीजिए इसलिए मैं पुनः उच्चारण करने का साहस करता हूँ। मनुष्य की मातृभाषा होती है। इस पर मेरा विश्वास नहीं है। प्रत्येक भाषा मनुष्य को सिखानी ही पड़ती है। माँ कहना तक सिखाना पड़ता है। जिस परिस्थिति में बच्चा पैदा होता है उस परिस्थिति की जो भाषा होती है उसे वह बच्चा सीखता है। सारे शिक्षा शास्त्रियों से मेरी प्रार्थना है कि बच्चा के जन्म की परिस्थिति बदल डालिए। नारायण देसाई (जिससे यह परिवार परिचित है) उसका सास बंगाली। उसका ससुर उड़िया। तो उसकी पत्नी ? बंगाडिया। लड़की गुजबंगोडिया। क्योंकि यह नारायण देसाई गुजराती है। उनकी का पति ? महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण। अब उसकी संतति ? अखिल भारतीय। ऐसे अवसर शिक्षा के क्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक उपस्थित करने चाहिए।

आवश्यक सूचना

[नयी तालीम के पाठकों को सूचित किया जाता है कि गत अप्रैल माह में कुरुक्षेत्र में हुए सर्वोदय सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि जुलाई ७३ से नयी तालीम का प्रकाशन सेवाग्राम वर्धा (महाराष्ट्र) से होगा। अब नयी तालीम के प्रधान सम्पादक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री व गुजरात राज्य के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण रहेंगे। सहायक के रूप में काम देखने के लिए वाराणसी से श्री बद्रीनाथ सहाय सेवाग्राम जायेंगे।

अतः पाठकों से निवेदन है कि नयी तालीम सम्बन्धी पत्र व्यवहार जुलाई ७३ से सम्पादक नयी तालीम मासिक सेवाग्राम वर्धा (महाराष्ट्र) के पते से करें। —सम्पादक]

आचार्यों के प्रश्न—विनोबा के उत्तर

[महाराष्ट्र आचार्यकुल सम्मेलन के अवसर पर पूज्य विनोबा से पूछे गये विभिन्न प्रश्नों के उत्तर नयी तालीम के पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हैं।—सं०]

प्रश्न शिक्षकों को राजनीतिक पार्टियों का सदस्य नहीं बनना चाहिए, यह आचार्यकुल के सदस्यत्व की शर्त है। यह शर्त रखने का प्रयोजन क्या है?

उत्तर प्रयोजन स्पष्ट है। राजनीतिक पार्टी का जो सदस्य रहेगा, उस पर राजनीतिक पार्टी का अंकुश रहेगा। उस पर वह अनुशासनात्मक कार्रवाई भी कर सकेगी। इस बंधन से शिक्षक को मुक्त रहना ही ठीक है।

नागरिकत्व से आचार्यत्व महान है

प्रश्न शिक्षक नागरिक भी है, उसे मत का अधिकार है। उसे जो मत जँच गया है उसका प्रचार प्रकटरूप में करने में क्या खराबी है?

उत्तर खराबी कुछ नहीं है, अच्छा ही है। लेकिन अपने इस नागरिकत्व के अधिकार को एक ओर रखकर आचार्यत्व का अधिकार प्राप्त करने के लिए इस काम से अलिप्त रहना ज्यादा अच्छा है। पहला अच्छा है, दूसरा ज्यादा अच्छा है।

राजनैतिक प्रचार करने में हानि क्या है?

प्रश्न शिक्षक को शिक्षक के रूप में व्यवहार करते हुए राजनीतिक पार्टियों से अलिप्त रहना चाहिए, यह ठीक है। लेकिन नागरिक के रूप में बर्ताव करते हुए शिक्षक राजनीतिक मत का प्रचार करे तो इसमें क्या हानि है?

उत्तर उन्हें जँचे हुए जो राजनैतिक मत हों, उनका व्यक्तिगत रूप से प्रचार करने की अपेक्षा समूह के रूप में एकत्र हों और सारे शिक्षक मिलकर अभिप्राय निश्चित करें तथा सबका जो एकत्र विचार हो, उसी का प्रचार करें। इससे ज्यादा ताकत पैदा होगी। प्रत्येक व्यक्ति अपना अलग-अलग विचार करने लगेगा, तो संसार के ऐसे अनेकों में यह भी शामिल हो जायेगा। अर्थात् शक्ति खड़ी नहीं रहेगी। शक्ति के लिए क्या करना होता है? समूह को एकत्र

करना होना है। फिर सामूहिक रूप से सारे शिक्षक मिलकर जो तय करें, वह करना उचित है।

नदियों से सीख लें

प्रश्न शिक्षक नागरिक के रूप में दिलचस्पी से राजनीति में भाग लेने लगे तो राजनीति के शुद्ध होने में क्या मदद नहीं होगी ?

उत्तर यह प्रयोग अनेक नदियों ने करके देखा है। गंगा यमुना ब्रह्मपुत्र, ताप्ती, नर्मदा और अन्य सब नदियाँ मीठे पानी की हैं। उन्होंने समुद्र को मीठा बनाने का प्रयत्न किया। बड़ी तेजी से वेग से समुद्र की ओर जाने लगी। लेकिन समुद्र थोड़ा भी मीठा नहीं बना। इसलिए मेरा निवेदन है कि आप इन सब नदियों से शिक्षण प्राप्त करें।

राजनीति का अभ्यास करें

प्रश्न शिक्षक को राजनीति से अलग रहना चाहिए लेकिन उसे लोकनीति का व्यवहार तो रसपूर्वक करना चाहिए ऐसा आपका कथन है। इस विषय में आपका क्या विचार है ?

उत्तर शिक्षक को राजनीति का उत्तम अभ्यास करना चाहिए समाजनीति का भी करना चाहिए। उत्तम अध्ययन करके तटस्थ रूप से अपना विचार बनाना शिक्षक का कर्तव्य है। यदि वह राजनीति का अध्ययन नहीं करेगा, तो वह अपने आचार्यत्व का एक अंग दुर्बल बना डालता है। उसे अध्ययन अवश्य करना चाहिए। लेकिन अध्ययन करके तटस्थ रूप से देखना चाहिए। राजनीति के 'जाल' से अपने को अलग रहकर लेकिन उसका अध्ययन करते रहकर जो मनुष्य अपना विचार बनायेगा वह तटस्थ रहेगा और उसका समाज पर असर होगा।

आज की राजनीति निकम्मी है

इस वास्ते मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आज की यह राजनीति किसी काम की नहीं है। उसके नष्ट हुए बिना समाज सुखी नहीं होगा। आज १३० राष्ट्र हैं और ये राष्ट्र अपने मतभेद भी रखेंगे परस्पर भिन्न मान्यताएँ रखेंगे, इन पक्की समझेंगे और राजनीति चलायेंगे तब आपके ध्यान में आयेगा कि हमेशा अशांति बनी रहेगी और वह कभी भी दूर नहीं की जा सकेगी। इसलिए अब विश्व-साम्राज्य बनना चाहिए। विश्व राज्य का मतलब ही है राजनीति का दूर होना और लोकनीति का आना। सम्पूर्ण विश्व का राज्य। अब ऐसी

विशाल कल्पना करनी चाहिए, तभी जगत में शांति फैलेगी। क्योंकि साइंस के कारण सब लोग निकट आ गये हैं।

पहले क्या था? पहले हिमालय हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा की रक्षा करता था। आज वायुयान द्वारा हिमालय को एक ओर से दूसरी ओर पाँच मिनट में पहुँच सकते हैं। मानलीजिए तिब्बत से निकलकर इस ओर बम गिराना हो तो केवल सात मिनट लगेंगे। वह अब इतना निकट आ गया है। वह सतत हैं कि वह इतना छोटा हो गया है। पहले जो प्रचण्ड सागर था, वह अब कुछ भी नहीं रह गया है। फार ईस्ट और फार वेस्ट। जापान और अमेरिका बिलकुल नजदीक आ गये हैं पड़ोसी देश हो गये हैं। ऐसी स्थिति में सारे देशों के निकट आने के कारण आज की जो फुटकर राजनीति है, वह मारक है। अतः उससे मुक्ति कैसे मिलेगी, यही विचार समाज को सिखाना है।

शिक्षा का राष्ट्रीयकरण

प्रश्न कुछ शिक्षक-संगठनों ने प्रस्ताव किया है कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और उसका पृष्ठपोषण भी कर रहे हैं। आचार्यकुल मानता है कि शिक्षा को सरकारमुक्त होना चाहिए। ये दोनों परस्पर-विरोधी सिरे हैं। तो क्या ऐसे संगठनों के पदाधिकारियों को और सदस्यों को आचार्यकुल की सदस्यता स्वीकार करनी चाहिए? अथवा क्या वे स्वीकार कर सकते हैं?

उत्तर शिक्षण के राष्ट्रीयकरण की जिन लोगों ने माँग की है, वह इसलिए कि जो निजी विद्यालय चलते हैं, उनमें अन्धेरगर्दी चल रही है और सब प्रकार की अनुचित बातें वहाँ चलती हैं। इससे त्रस्त होकर अतः राष्ट्रीयकरण हो अर्थात् सारा शिक्षण सरकार के हाथ में जाय, यह माँग की गयी है। लेकिन इसका भी उपाय है। यहाँ उमाशंकर भाई बैठे हैं। इनके हाथ में उपाय है। ये एक युनिवर्सिटी के वाइसचांसलर हैं। देश भर में सत्तर युनिवर्सिटियाँ हैं, उनके सत्तर वाइसचांसलर हैं। ये अपनी एक मीटिंग करें, यह मेरा प्रपोजल है। वे सब मिलकर शिक्षण का एक ढाँचा तैयार करें। वे जो रचना तय करेंगे उस सब विद्यालयों को मानना चाहिए। फिर वे सब प्राइवेट हों या सरकारी हों। सब उसे मान्य करें, यह मेरा प्रपोजल है। ऐसा न माना जाय कि वह अव्यावहारिक है। क्योंकि वे सब वाइसचांसलर हैं, जिनसे अधिक चिन्तनशील, अधिक विचारयुक्त मनुष्य बहुत कम मिलेंगे।

अतः ऐसे कुछ लोग तथा इनके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक, जो किसी का पक्ष लेनेवाले नहीं हैं, जैसे जैनेन्द्रजी, दादा धर्माधिकारी आदि कुछ साहित्यिक

मिलकर भी कर सकते हैं। लेकिन मानलीजिए प्रारम्भ में सत्तर ने भी योजना को ता भी चनेगा और उसे सब मान्यता प्रदान कर। वह योजना इतनी ढीली हो कि उस योजना में प्राइवेट आदि विद्यालयों को एक मर्यादा में अपनी बात चलाने की इजाजत रहे। इतना ही देखा जाय कि उनका उलघन न हो। शिक्षण विषयक कौन-सी पुस्तक रखी जाय क्या रखी जाय और अन्य बहुत सी बातों में उन्हें स्वतन्त्रता दी जा सकती है। नविन प्रत्येक पुस्तक जो चुनी जायगी उसकी सम्मति भी वाइसचासलर के पास भेजकर प्राप्त की जानी चाहिए। उन्हें उसमें कुछ विपरीत या विरोधी बात लगे तो वे ध्यान में ला दगे और उतना अश निकाल देना होगा। ऐसा यदि हम कर सक तो यह जो प्राइवेट विद्यालयों का अधेरगर्दी का प्रश्न है हम हल कर सकगे ऐसा मुझे लगता है।

नैतिक सामर्थ्य कैसे बढ़गी

प्रश्न शिक्षकों की वैयक्तिक नैतिक सामर्थ्य कैसे बढ़ेगी ?

उत्तर एक उपाय है। हमारे भारत में परमात्मा की कृपा से विपुल सन्त-साहित्य है। उससे नैतिक सामर्थ्य की प्रेरणा मिलेगी। इसे कहना चाहिए स्वाध्याय। उनके साहित्य का अध्ययन। दूसरी बात है सत्सग अर्थात् आध्यात्मिक चर्चा के लिए शिक्षकों के सम्मेलन हों। दूसरी चर्चाओं के लिए कभी-कभी हम एकत्र होते ही हैं। लेकिन आध्यात्मिक चर्चा के लिए मानलीजिए हम श्रावण महीने में एकत्र हो १० १५ दिन बैठकर अध्ययन विचार चर्चा आदि की जाय।

अपना ही अवमान न करें

प्रश्न जिस स्वतन्त्रता या स्वायत्तता की मुक्तता की माँग हम कर रहे हैं उसके लिए हम आज के आचार्य मात्र हैं। योग्य आचार्य के शिक्षा-क्षेत्र में आने के लिए क्या उपाय करने चाहिए ?

उत्तर हम उत्तम पात्र हं यह मान बैठना गलत है और यह कल्पना भी छोड देनी चाहिए कि हम अपात्र हं। हमें अब तक यश नहीं मिला इसलिए अपना अवमान न कर। भगवान मनु ने एक आज्ञा दी है— न आत्मानाम् अवमन्येत्। पहले हमें समृद्धि मिली नहीं यश मिला नहीं इसलिए हम अपात्र हं ऐसा भास जिसको हुआ उसी क्षण वह पात्र बन गया। यह बहुत महत्त्वपूर्ण विचार है। हम अपात्र हं यह बात अपात्र तो समझते ही नहीं। अपात्र का मुख्य लक्षण ही यह है और जिसे महसूस होता है कि हम अपात्र हं वह अपात्रता का साक्षी बन गया अपात्रता से अलग हो गया।

सुकरात का उत्तर

एक बार सुकरात से प्रश्न किया गया था। सुकरात को उस जमाने के लोग सबसे सयाना समझते थे। लोगों ने उनसे पूछा, "आपको सबसे ज्ञानी क्यों कहा जाता है?" तब उन्होंने कहा, "यह बात लोगों से ही पूछनी चाहिए कि मुझे सबसे ज्ञानी क्यों कहा जाता है। मुझसे क्यों पूछते हैं? फिर भी पूछते हैं तो कहता हूँ। लोगों में जितना अज्ञान है, मेरे पास भी उतना ही अज्ञान है और मेरे पास अज्ञान का ज्ञान है इसीलिए लोग मुझे ज्ञानी कहते हैं। मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञानी हूँ और लोगों को यह मालूम ही नहीं कि वे अज्ञानी हैं।"

शिक्षक सज्जन

मुझे महाराष्ट्र के शिक्षकों का अनुभव कम है। क्योंकि पिछले १५ वर्ष का समय महाराष्ट्र के बाहर ही बिता है। बिहार का अनुभव मुझे ज्यादा है। उधर के आचार्यों ने जितनी सहानुभूति सर्वोदय के लिए दिखाई, उतनी दूसरे किसी भी वर्ग ने नहीं दिखाई, और मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि आचार्य उनमें अधिक समरस हैं। मैं शाला के सामान्य शिक्षकों के विषय में नहीं कह सकता। क्योंकि जो सामान्य शिक्षक हैं, वे अन्य नौकरियाँ ढूँढते हैं। और नौकरी न मिलने पर ही शिक्षक बनते हैं, ऐसी उनकी स्थिति है। उनकी तनख्वाह भी कम ही होती है। उनकी बात मैं नहीं करता, परन्तु सामान्यतः हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक और कालेज के आचार्य-प्राचार्य आदि लोगों में पर्याप्त सज्जनता है, ऐसा मेरा अनुभव है।

उपमा एकांगी ही होती है

प्रश्न न्यायविभाग की स्वतन्त्रता की जो उपमा आपने शिक्षण स्वातंत्र्य का विषय समझाने हुए दी है, वह कोई उत्तम उपाय नहीं है।

उत्तर : वह मुझे स्वीकार है, क्योंकि उपमा सर्वांगीण नही हो सकती, एकांगी ही होती है।

गाय का दूध कैसा है ? राजहंस की तरह सफेद। तो उन्होंने कहा 'दूध की चोंच होती है क्या ? अरे भलेमानुष दूध के लिए यह जो उपमा दी गयी है, वह चोंच के लिए नही दी गयी है। इसी प्रकार न्याय विभाग की जो उपमा दी गयी वह बिलकुल छोटी उपमा है। शिक्षकों के हाथ में भरपूर स्वतन्त्रता होनी चाहिए। न्याय-विभाग को जो स्वतन्त्रता है वह बहुत ही मर्यादित है। यह उपमा केवल समझने के लिए ही दी गयी है। बाबा भले ही आलसी हो तो भी घड़ी आलसी नहीं है। ग्यारह बजे शुरुआत की थी अब बारह बज गये हैं। काटा आगे सरक गया है।

जब तक मस्कार है तब तक

प्रश्न आज की परिस्थिति में सामान्य जनता तक शासन शिक्षा को पहुँचाता है। अर्थात् शासन ने इतनी व्यापक योजना बनायी है कि वह गांव-गांव में शालाएँ खोलता है। यानी शिक्षण का प्रसार शासन ने किया है। यह कहते हैं कि शासन की मदद के बिना शिक्षण सर्वत्र कैसे पहुँचाया जा सकता है ? अर्थात् स्वतन्त्र शिक्षण कैसे सम्भव है ? इतनी व्यापक योजना सरकार को एक ओर रखकर कैसे बनायी जा सकती है ?

उत्तर इसीलिए मैंने आप से कहा कि हमें वृक्ष की छाया का उपयोग उसे तोड़ने के लिए करना है। पेड की छाया में खड़ रखकर उसे तोड़ना है। तोड़ते समय वह सिर पर न गिरे इसलिए थोडा सरक जाना है। लेकिन वह टूटते समय। वैसे ही सरकारी शासन को जो मदद हमें मिलती रहेगी उसे लेने में कोई हर्ज नहीं। वे भी मदद दें। वह इसी वृत्ति से दी जाये कि हमारी वह छोटी-सी अल्प मदद है, मुख्य कार्य आपका ही है। यह पूरी योजना आपकी हो, बुद्धि आपकी लेकिन बाह्य योजना हमारी ओर से मदद के रूप में है, ऐसा उन्हें स्वीकार करना चाहिए और आपको भी उसे मान्य करना चाहिए। इस समय यानी कब तक ? जब तक शासन-संस्था कायम है तब तक।

मुख्य उद्देश्य

प्रश्न शिक्षण में सुधार लाने के लिए संशोधन, प्रयोग, निष्कर्ष निकालने की योजना क्या आचार्यकुल को तैयार करनी चाहिए ?

उत्तर आचार्यकुल को जगत में और भारत में जो घटनाएँ हो रही हैं उनका परिणाम जगत पर और सर्वत्र मनुष्यों पर होनेवाला है। उन महत्व-पूर्ण घटनाओं के विषय में अपना अभिप्राय जो सर्वानुमति से तय हो उसे प्रकट करना चाहिए और उसकी शक्ति जगत में प्रकट करनी चाहिए, ऐसी कल्पना है। आचार्यकुल का मुख्य उद्देश्य वही है। उदाहरण देता हूँ—मान लीजिए इधर सरकार के मार्फत जुआ चल रहा है उसका नाम लाटरी है। अब यह लाटरी अनेक राज्यों में चल रही है।

गुजरात राज्य लाटरी मुक्त है। शेष सभी प्रान्तों में है। अब इस लाटरी के विषय में आचार्यकुल के लोगों ने एकत्र होकर—जैसाकि मेरा कहना है वाइसचांसलर आदि विद्वानों तथा आचार्यों ने एकत्र होकर—अपना निर्णय लिया। मानलीजिए अपना मत अनुकूल हो गया तो उन्हें अनुकूल प्रस्ताव करना चाहिए। ऐसी बात नहीं है कि बाबा के कहे अनुसार ही प्रस्ताव करना चाहिए। उन सबका मत प्रतिकूल हो जाय कि यह बात अच्छी नहीं है इससे पौरुष की हानि होती है मनुष्यत्व की हानि होती है पैसे कमाने का वह एक उद्योग है—ऐसा मत उन्होंने व्यक्त किया तो उसका सारे भारत पर असर होगा। यह एक उदाहरण है। ऐसी और भी बातें हैं।

नीचे की कक्षाओं के लिए हेडमास्टर

मेरी एक योजना है। वह यदि जँच जाय तो शिक्षक सुधरेगा। वह क्या है? शाला का हेडमास्टर किस कक्षा को पढ़ायेगा? मेट्रिक आदि। मेरा कहना यह है कि जो हेडमास्टर होगा वह सबमें विद्वान होगा। उसे पहली क्लास को पढ़ाना चाहिए। क्योंकि पहली कक्षा को पढ़ाने में बुद्धि की अधिक आवश्यकता है। उससे अपेक्षा ऊपर के शिक्षक को जानकारी रही तो बस है। जानकारी के बल पर वह पढ़ा सकेगा। उसे शिक्षण की उत्तम कला अवगत रहनी चाहिए ऐसी बात नहीं, लेकिन नीचे की कक्षाओं को पढाने के लिए सबसे उत्तम शिक्षक आवश्यक है। मानलीजिए मैं शिक्षक बना तो ऐसे लड़कों को एकत्र करूँगा जो बहुत पढ़े हुए नहीं हैं। उनको सिखाने में मेरी बुद्धि का विकास होगा। मुझे मालूम होगा कि कैसे सिखाया जाता है। इसलिए सबसे अधिक कलावन्त शिक्षक नीचे की कक्षाओं को चाहिए। मेरी यह बात अगर कार्यान्वित की जा सके तो काफी सुधार होगा।

अच्छे संस्कार

प्रश्न बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने के लिए आप कौन-से उपक्रम सुझाते हैं?

उत्तर यदि हममें अच्छे संस्कार होंगे तो वे बच्चों को सहज ही मिलेंगे। गुलाब में यदि सुगंध होगी तो सहज में वह लोगों की नाक में घुस जायेगी। बच्चा पर अच्छे संस्कार डालने के लिए माता को भक्त होना चाहिए। पिता को योगी होना चाहिए। माता भक्त पिता योगी और आचार्य ज्ञानी। अर्थात् यदि माता भक्त है तो उसकी भक्ति का संस्कार बच्चा को सहज रूप से मिलता है। और भक्ति के अलावा और किसी भी चीज में इतनी शक्ति नहीं है। बच्चों पर संस्कार डालने के लिए भक्ति ही माता है। पिता समत्व युक्त चित्त से संसार कार्य करे। यह पिता का कर्तव्य है। और गुरु को मैं ज्ञानी कहता हूँ। याना उसमें माता की भक्ति पिता के योग (समत्वयुक्त चित्त) के अतिरिक्त ज्ञान होता है। इसलिए बच्चों पर अच्छे संस्कार डालने की पहली जवाबदारी माता पिता पर है एसा समझना चाहिए। हम क्या करते हं ? माता पिता की कल्पना न करके सारी जवाबदारी अपने सिर पर ले लेते हैं।

मैंने देखा है कि इधर बहुत से माँ-बाप बच्चों से परेशान रहते हैं। और वे छोटे-छोटे बच्चे घर पर तग करते हं। उनके लिए काफी समय देना पड़ता है। इसलिए उन छोटे बच्चों को शालाएँ खोली गयी है। ३-४ ५ वर्षों के सारे बच्चे किसी महिला के पास जाते हैं। यानी माँ की ९क झंझट मिटो। एसी जो माताए हं जिन्हें बच्चा का धंझट मालूम होती है उनको कभी माँ कहें ? इसलिए गृह जीवन पर मुख्य बात अवलबित है। और शिक्षक के पास भी बच्चों के आने पर उन्हें पता नही चलना चाहिए कि वे सीख रहे हैं। बच्चे खेलते हं तब उनका व्यायाम होता रहता है। लेकिन इसका उन्हें पता नहीं चलता। एसे ही शिक्षक के साथ हम काम कर रहे हैं बात कर रहे हैं भजन करते हैं शिक्षकों के साथ बगीचे में काम करते हैं ऐसा प्रतीत होना चाहिए और कुछ सिखाया जा रहा है यह बच्चा को महसूस नहीं होना चाहिए। *शिक्षण-कार्य चल रहा है एसा जितना भास होगा उतना ही वह शिक्षण निम्न दर्जे का समझना चाहिए।*

शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता का स्वरूप, व्यवहार और मर्यादा

स्वायत्तता का स्वरूप

१ सरकार हमारा मार्गदर्शन स्वीकार करे, इतनी सामर्थ्य जन-शक्ति के आधार पर शिक्षकों को अर्जित करनी चाहिए।

२. सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्र का उत्तरदायित्व स्वायत्त शिक्षा-परिषदों को सौंपना, यह स्वायत्तता का स्वरूप रहे। सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्र का अर्थ शिक्षा से सम्बन्धित सारे विषय।

सम्पूर्ण स्वायत्तता—अर्जन-मार्ग के प्राथमिक तीन कदम

१. शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था केवल शिक्षा के हित की अपेक्षा अन्य हित-साधन करने की नीति से चलानेवाले व्यवस्थापकों के हाथ से तत्काल निकाल लेना और शिक्षा-हितैषी स्वायत्त परिषदों के अधीन करना।

२ स्वयं शिक्षकों को राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग की अपनी भूमिका समझकर आचार्यकुल की अपेक्षा के अनुसार शिक्षक का कार्य करना।

३ शिक्षकों को भारतीय तथा राज्य-स्तर पर जो प्रशस्ति पत्र दिये जाते हैं, उनके लिए शिक्षकों की परिषद नियुक्त करना।

शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए ये तीन बातें लोकशक्ति के भरोसे पर साध्य करनी चाहिए।

शिक्षक की गातुवित् भूमिका

समाज-जीवन सदा ही गतिमान रहा है। स्वाभाविक रूप से परिवर्तन ही समाज का प्राण है। इसीलिए समय-समय पर परिवर्तन की उचित दिशा दिखानेवाले मार्गदर्शकों की समाज को आवश्यकता पड़ती है। यह दिशा दिखानेवाला कौन है? इस प्रश्न का उत्तर वेद ने शिक्षकों को गातुवित् अर्थात् मार्ग खोजनेवाला सम्बोधित किया है। 'गातु यानी गगनमार्ग और वित् यानी खोज निकालनेवाला।' इस पर से गातुवित् के कार्य का उद्देश्य भी स्पष्ट हो गया है। जिससे समाज-जीवन अधिकाधिक उन्नत अवस्था को पहुँचे, गगन-मार्गी बने, ऐसा ही मार्गदर्शन जिसमें अपेक्षित है वह है गातुवित्। जिसे यह ऊँची जवाबदारी निभानी है उसके अध्ययन-अध्यापन पर तथा विचार-प्रचार की स्वतन्त्रता पर किसी की भी कोई लगाम नहीं रहनी चाहिए—यह स्पष्ट है।

जिसे समाज का नेतृत्व करना है, उसका किसी भी बंधन में रहना ठीक नहीं। इस दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता की तथा शिक्षक की प्रतिष्ठा की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

मानव-समाज के इतिहास में अनेक आचार्यों ने समाज का मार्गदर्शन किया है, तो भी समाज-जीवन का प्रत्यक्ष नियंत्रण शासन-संस्था करती आयी है। ऐसा हम देखते हैं कि शासन-संस्था साधारणतः (स्टेटस-क्वो) यथास्थिति को बनाये रखना चाहती है।

लेकिन, यथास्थितिवाद कुल मिलाकर समाज-जीवन के प्रवाह की—विरोधी होने से समाज के बहुविध जीवन के स्थित्यन्तर में हस्तक्षेप शासन-संस्था को समय पर ही करना चाहिए। समाज में अशांति उत्पन्न न हो, इसके लिए शिक्षा को शासन-संस्था का मार्गदर्शन करना चाहिए। लेकिन यह मार्गदर्शन शासन के स्वीकार करने पर ही समाज-जीवन का प्रवाह सरलतापूर्वक चलेगा। इस दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता की चर्चा ही नहीं होनी चाहिए। शिक्षा के विषय में शासन को शिक्षा-जगत की ही बात माननी चाहिए।

शासन की यथास्थितिवाद प्रकृति के कारण और शिक्षक की दृष्टि भविष्य निर्माण की ओर होने के कारण, समाज-जीवन में शिक्षक को अपना यह उच्च-स्थान पहचानना चाहिए। यह दृष्टि प्राप्त होने पर वह इस पात्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। शिक्षण की स्वायत्तता प्राप्त होने के लिए शिक्षक को यह भूमिका स्वीकारनी चाहिए।

विनोबाजी की छटपटाहट

आज दुर्भाग्य से विपरीत स्थिति हो गयी है। इसीलिए शिक्षा का क्षेत्र स्वायत्त हो और शिक्षक को समाज-मार्गदर्शन की प्रतिष्ठा प्राप्त हो, इसकी छटपटाहट विनोबाजी को है। लोकतंत्र होते हुए भी उस पद्धति के लिए आज आवश्यक बनी हुई पक्षनिष्ठ राजनीति और शिक्षा-क्षेत्र पर उसके परिणाम को देखते हुए, विनोबाजी की यह छटपटाहट और भी तीव्र हो गयी है।

विनोबाजी की मिसाल

इस बारे में अपने मन का प्रतिपादन करते हुए पूज्य विनोबाजी ने न्याय-विभाग की स्वायत्तता और न्यायाधीशों की प्रतिष्ठा की मिसाल दी है। वे कहते हैं, 'न्याय विभाग की जितनी स्वतंत्रता है, दुर्भाग्य से उतनी स्वतंत्रता भी शिक्षा-विभाग को नहीं है। न्याय-विभाग का शासन पर एक विशिष्ट प्रकार का वजन होता है। वह शासन के विरुद्ध निर्णय तक दे सकता है और शासन को वह मानना पड़ता है। शासन से वेतन लेकर भी न्याय-विभाग शासन के अधीन नहीं

रहता। इसी प्रकार शिक्षा-विभाग का भी होना चाहिए। वेतन भले ही शासन की ओर से मिले लेकिन विचार-स्वातंत्र्य उस विभाग को होना चाहिए।'

मिसाल की उपयुक्तता के विषय में शंका

सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता होनी चाहिए और शिक्षण शासन-मुक्त होना चाहिए, यह ठीक है। लेकिन इस क्षेत्र की स्वायत्तता के समर्थन में पूज्य विनोबाजी द्वारा रखी गयी ऊपर की मिसाल की उपयुक्तता के विषय में मेरे मन में शंका है। उसे पूज्य विनोबाजी के अधिकृत मार्गदर्शन के लिए उनके आगे रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

एक जमाने में न्याय-विभाग शासन-संस्था से अलग और स्वतंत्र नहीं था। जिस समय कानून से प्राप्त स्वतंत्रता तो नागरिकों को उपलब्ध होनी चाहिए ऐसा समाज को लगने लगा, तब शासन-संस्था की तीन स्वतंत्र शाखाएँ बनीं—कानून बनानेवाली, कार्यकारी और न्यायिक (पार्लियामेण्ट, लोकसभा, विधान-सभा आदि)। पहली दो शाखाओं के पारस्परिक सम्बन्धों से हमारा निकट का सम्बन्ध नहीं है। लेकिन जो न्यायिक शाखा स्वतंत्र मानी जाती है उसकी स्वतंत्रता का स्वरूप मुझे केवल तांत्रिक ढंग का और अल्पजीवी प्रतीत होता है। न्याय-विभाग स्वतंत्र है, इसका अर्थ शासन की कार्यकारी शाखा द्वारा किये गये या न किये गये कृत्य कानून के अन्तर्गत शब्द और अर्थ की दृष्टि से ठीक है या नहीं इतना ही तय करने का अधिकार न्याय-विभाग को है। यह स्वातन्त्र्य बहुत हुआ तो कार्यकारी विभाग पर न्याय-विभाग का आतंक जमाता है, लेकिन विधि-विभाग (विधानसभा-लोकसभा) पर न्याय-विभाग का नियंत्रण बिलकुल नहीं रहता। क्योंकि कानून के शब्दों का अर्थ अपेक्षा से भिन्न होता है, ऐसा विधि-विभाग को प्रतीत हुआ तो कानून और उसके शब्दों को बदलने का उस विभाग का अधिकार अबाधित रहता है और है।

स्वायत्तता का लोकतांत्रिक पद्धति में व्यवहार कैसा हो ?

भारत ने लोकतंत्र को जीवन-पद्धति के रूप में पूरी तरह प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार नहीं किया है। इस पद्धति के अनुसार जनता के हित के लिए परिवर्तन की दिशा कौन-सी हो, यह तय करना विधि-विभाग के लिए अपरिहार्य है। अपने अध्ययन के भरोसे पर और दृष्टाजन की सामर्थ्य पर आचार्य अधिक-से-अधिक विधि विभाग का मार्गदर्शन कर सकेगा। लेकिन लोकतांत्रिक शासन-पद्धति में सम्पूर्ण स्वायत्तता केवल विधिशाखा को ही रह सकती है। अन्य कोई भी जीवनशाखा न्याय-विभाग तक—सम्पूर्णतया स्वायत्त नहीं रह सकती। यह हमें

मान्य करना ही होगा। इसलिए इस शासन-पद्धति में शिक्षा जगत को सम्पूर्ण *स्वायत्तता प्राप्त होना और माँग करना मुझे जरा कठिन लगता है।*

अतएव शिक्षा-क्षेत्र को और आचार्य को मार्गदर्शन का अपना कार्य विधि-विभाग का मार्गदर्शन करके उसे अपनी सामर्थ्य से ही मान्य करना होगा, यह स्पष्ट है।

विनोबाजी को जन-शक्ति का सहारा स्वीकार

पूज्य *विनोबाजी को भी लोकतांत्रिक शासन-पद्धति का यह गृहीत कृत्य पूरी* तरह मान्य है, ऐसा मुझे लगता है। क्योंकि पक्षनिष्ठ राजनीति से आचार्यों को दूर रहना चाहिए। ऐसा वे कहते हैं। उनका कहना है कि शिक्षकों को जन-शक्ति पर आधारित लोकनीति अंगीकार करनी चाहिए और जन-सम्पर्क के बिना राजनीति पर प्रभाव पड़ना असम्भव है। इसका मतलब यह हुआ कि लोकतांत्रिक शासन-पद्धति में शिक्षकों को पक्षनिष्ठ राजनीति से दूर रहकर जन शक्ति जागृत करना चाहिए, ऐसा पूज्य विनोबाजी को अभिप्रेत है।

इस मार्ग को अपनाना है तो सर्वसाधारण शिक्षकों पर अपनी क्षमता बढ़ाने की बहुत बड़ी जवाबदारी आ जाती है। उसका कार्यक्षेत्र कक्षा मर्यादित नहीं रह जाता। वह लोक-शिक्षक बन जाता है। प्रत्यक्ष सत्ता को न स्वीकारते हुए जन-शिक्षक रहना हो तो शिक्षकों को *अपनी सामर्थ्य जन-शक्ति के भरोसे पर* बढ़ाना शिक्षा-क्षेत्र को स्वायत्त करने का और स्वायत्तता बनाये रखने का एकमेव मार्ग है।

स्वायत्तता की माँग क्यों ?

शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता का विचार करना जिन अनेक कारणों से आज आवश्यक हो गया है उनमें से सबसे प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा-शास्त्रियों के विचार आज का विधि-विभाग तुरन्त स्वीकार नहीं करता। स्वीकार करने में हस्तक्षेप करता है। और स्वीकार करने के बाद उनको दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित नहीं करता।

केन्द्रीय और राज्य स्तर पर स्वायत्त शिक्षा-परिषदों की स्थापना

पिछले २५ वर्षों में अनेक शिक्षण-आयोग स्थापित हुए हैं। उन्होंने शिक्षा-क्षेत्र में परिवर्तन के अनेक सुझाव दिये लेकिन उनमें से एक भी सुझाव का भारतीय स्तर पर सतत, दीर्घकाल तक अमल नहीं हुआ है। कुछ सुझावों की ओर तो शासन ने बिलकुल ध्यान ही नहीं दिया।

लोकतान्त्रिक-पद्धति में विधि-शाखा का प्रभुत्व मान्य करके भी, और आज सामान्य शिक्षक की क्षमता शास्त्रविद् की नहीं है, यह मान्य करने पर भी जिन

उद्देश्यो से शिक्षा की स्वायत्तता मान्य करनी है, उन उद्देश्यो की सफलता की दृष्टि से भारतीय स्तर पर एक स्वायत्त शिक्षण-महामडल की ओर सब राज्यो में राज्यस्तर पर स्वायत्त शिक्षण-मडलो की स्थापना करके, उनको शिक्षा क्षत्र का सम्पूर्ण सचालन सौंप देना आवश्यक है। आज के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस योजना का कुछ अशो में प्रतीक माना जा सकता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग स्वायत्त है, उसे भारत सरकार विशिष्ट धनराशि देती है और आयोग उस धनराशि का विनियोग अपने निणयानुसार करता है। उपरोक्त शिक्षा मडलो को शासन इसी प्रकार धनराशि दे और उसका विनियोग मडल अपनी योजनानुसार करे एसी योजना होनी चाहिए।

विचारणीय मुद्दे

इस शिक्षण मडल में केवल शिक्षक ही रहने चाहिए यह सामान्य तत्व मान्य होने जैसा है। फिर भी इस मडल की रचना कसी हो, सदस्यो का चयन हो या निर्वाचन हो सभी मडलो के ध्येयो और नीतियो में सुसूत्रीकरण कैसे रखा जायगा इस बारे में सूक्ष्म विचार करना होगा। केन्द्र तथा राज्य सरकारें कितनी धनराशि इन मडलो को दें—यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहेगा। लेकिन इन सबके पूर्व निम्नलिखित दो बातो पर निणय होना अत्यन्त आवश्यक है।

१ पहली बात यह कि इन स्वायत्त मडलो में शिक्षा क्षत्र से सम्बधित विविध विषयो में मतैक्य होना चाहिए। मतैक्य न हो तो बहुमत का निणय मान्य करना चाहिए, सवमत का आग्रह न रखा जाय।

२ दूसरी बात यह कि इस क्षेत्र तक ही सही, भारत में शासन व्यवस्था के समानातर एक ऐसा सगठन रहेगा और इसे चलाने के लिए शासन द्वारा धन दिये जाने पर भी उस पर शासन करने का अधिकार शासन (राज्य सत्ता) को नही रहेगा। तुरही (वाद्य-यत्र) के लिए हम भले ही पैसा दें, तो भी वह कैसे और कब बजायी जाय, इसका हमें तनिक भी अधिकार नही है, वह कडुवी घूँट शासन को पीनी पडेगी।

स्वायत्तता के मार्ग पर दूसरा कदम

शिक्षा क्षत्र की स्वायत्तता का विचार करना पडता है, इसका दूसरा प्रमुख कारण है अनेक स्तरो पर शिक्षा-सस्था, सारे स्तरो के विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय—की व्यवस्था पर उन लोगो की पकड, जिनका प्रत्यक्ष शिक्षा की गुणवत्ता से कोई सम्बन्ध नही है। इस पकड के कारण ही शिक्षा-क्षेत्र का नाश हो रहा है।

अंग्रेजो के जमाने में शासन को शिक्षा के प्रचार, ध्येय-नीति और व्यव-

स्थापन की कोई चिन्ता नहीं थी। अगर थी तो इतनी ही कि उनकी व्यवस्था ब्रिटिश अनुकूलन-जन ही करें। इसलिए उस जमाने में समाजसेवा के बहुत बड़े साधन के रूप में अनेक समाजसेवक इस क्षेत्र में आये और उन्होंने ऐसा निःस्वार्थ प्रयत्न किया कि इन्हीं संस्थाओं से भारत का प्रिय नागरिक बाहर निकले। स्वातन्त्र्योत्तर काल में स्वयं शासन को शिक्षा-प्रसार करना तथा शिक्षा की नीति-रीति संविधान में स्पष्ट की गयी नीति-रीति के अनुसार हो, ऐसा अपना कर्तव्य प्रतीत हुआ। उन उद्देश्यों के अनुसार स्वयं शासन शिक्षा-प्रसार का और पाठ्यक्रम तैयार करने का कार्य करने लगा तो भी समाजसेवक शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित करें और चलायें, यह नीति कायम रही है। शिक्षा की ओर देखने की शासन की दृष्टि पूरी तरह बदल गयी है। तो भी यह नीति मूलभूत रूप से न बदलने के कारण आज भारत की सारी शिक्षा-संस्थाएँ अनेकानेक व्यक्तियों के लिए सत्ता और सम्पत्ति की उत्पादन स्थल बन गयी हैं। उनमें राजनीति ही नहीं, अनेक नीतियाँ घुस गयी हैं। ये संस्थाएँ सत्तारूढ़ दल के व्यक्तियों की ही सत्ता और सम्पत्ति-स्थल बन गये हैं, ऐसी बात नहीं है। सब दलों के, धर्मों के, सम्प्रदायों के और समाज के व्यक्तियों के अथवा व्यक्तिसमूहों के वे सत्ता सम्पत्ति स्थल बन गये हैं। शिक्षा की स्वायत्तता का और शिक्षक का शिक्षण-कार्य में स्वतन्त्रता देने की दृष्टि से आज अत्यन्त शीघ्रता इस बात में होनी चाहिए कि इन सबके शिकंजे से सारी शिक्षाएँ मुक्त हो जायँ। विविध स्तरों पर विशिष्ट क्षेत्र की शिक्षण-संस्थाओं की अपेक्षा केवल उत्कृष्ट शिक्षण-संस्था, संचालक स्वायत्त-मंडल स्थापित करना आज की परिस्थिति में शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता की दृष्टि से पहला और शीघ्रता का कदम है।

सौभाग्य से महाराष्ट्र में तो भारतीय संविधान के घोषणा पत्र से सुसंगत प्रेरणा देनेवाले पाठ्यक्रम की शुरुआत हो गयी है। अभी-अभी आचार्यकुल की केन्द्रीय समिति ने शिक्षा-विषयक नीति और कार्यक्रम प्रकाशित किया है। महाराष्ट्र की शिक्षानीति और पाठ्यक्रम उससे मिलता-जुलता है। निकट भविष्य में इस नये पाठ्यक्रम में विशेष फर्क करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल ऐसी व्यवस्था करने की है कि पाठ्यक्रम जिस संस्था में कार्यान्वित होनेवाला हो, उस संस्था की व्यवस्था उसी उद्देश्य से चले और अपनी सत्ता तथा सम्पत्ति बनी रहे, ऐसी व्यवस्था के हाथ में संस्था की जो पकड़ है, वह नष्ट हो। इस पकड़ के नष्ट होने पर तो वे शिक्षक ऐसी व्यवस्था के शिकंजे से मुक्त हो जायेंगे जिसको शिक्षा में कोई रस नहीं है। और फिर सही अर्थ में उसे शिक्षक होने का अवसर प्राप्त होगा।

दूसरा कदम : शिक्षक द्वारा अपने कार्य की भूमिका

शिक्षक को स्व-प्रयत्न से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिए। इसके लिए उसे पाठ्यक्रम की पुडिया बांधकर उन्हें विद्यार्थियों के आगे स्मरण-शक्ति में ठूँसने की पद्धति छोड देनी चाहिए। हमें ऐसा विद्यार्थी निर्माण करना है जो गतिमान विश्व का समय-समय पर मार्गदर्शन करने की योग्यता रखे, ऐसी निष्ठा शिक्षक को रखनी चाहिए। भविष्य में शिक्षा का क्षेत्र स्वायत्त बने और स्वयं शिक्षक को ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त होने की दृष्टि से शिक्षक के ही मन में अपनी कार्य-विषयक भूमिका में ही ऐसी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना आवश्यक है। स्वायत्तता के मार्ग पर यह दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम है।

तीसरा कदम : शिक्षकों का सम्मान

जब डा० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति थे, तब शिक्षकों का सम्मान करने की पद्धति प्रारम्भ हुई। इसके लिए शासन ही शिक्षकों का चुनाव करता है। यह चुनाव उचित ही होता है, ऐसी बात नहीं। चुनाव करने के लिए शिक्षक प्रबोधिनी (टीचर्स एकादमी) स्थापित की जाय। यह ऐसे ही शिक्षकों का चयन करेगी जिसका मार्गदर्शन शिक्षण संस्था और समाज स्वीकार करेगा। इस तरह सामान्य शिक्षक स्वयं समझेंगे कि उन्हें अपने में कैसी क्षमता पैदा करनी है।

मर्यादा नहीं, मार्ग

इस प्रतिपादन से शिक्षा-क्षेत्र की आवश्यकता, स्वरूप और व्यवहार को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। सच्ची स्वायत्तता की मर्यादाएँ मर्यादित प्रमाण में स्पष्ट की गयी हैं। अन्य नहीं की गयी है, लेकिन स्वायत्तता की प्राप्ति का उपाय बनाने का प्रयत्न किया गया है।

कार्यक्रम

सारी शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था शिक्षा-हितैषी लोगों के स्वायत्त मण्डलों को तत्काल सौंपना और शिक्षक को अपनी 'गातुवित्' भूमिका सदा जागृत रखकर कार्य करना, इस मार्ग पर हम तत्काल चल पडें, यही शिक्षा-क्षेत्र की स्वायत्तता-प्राप्ति का उपाय है। यही हमारा कार्यक्रम होना चाहिए। ऐसी मेरी धारणा है।

विनोबा

आचार्यकुल कार्य की सही दिशा

मौन परम् सत्यतम्

आज शंकराचार्य के एक वचन की याद आती है। हम उन्हें अद्वैतवादी मानते हैं। ज्ञानेश्वर को द्वैताद्वैत विवर्जित समरसवादी कह सकते हैं। ज्ञानेश्वर समरसावस्था माननेवाले हैं। वास्तव में मौन सर्वसम्मत होता है फिर भी बोलने से जो कहा जाता है वह ऐसा ही कि वह मौनप्राय रहे। सब भाषाओं का समन्वय मौन में होता है। जब भाषा शुरू होती है तब मराठी हिन्दी नाम देने पड़ते हैं। आज टालस्टाय की पुण्यतिथि है। किसी की जयन्ती और पुण्य-तिथि मनाती हो तो मैं वर्ष के ३६५ दिन का कार्यक्रम (सत्पुरुषों की जयन्ती-पुण्यतिथि के निमित्त) देने में समर्थ हूँ। इसके कारण शिक्षकों को पढ़ाना नहीं पड़ेगा और विद्यार्थियों को पढ़ाई नहीं करनी पड़ेगी। टालस्टाय मार्क्स इस युग के प्रेरक थे। टालस्टाय प्रेरक भी हैं और तारक भी। इस देश में प्रेरक और तारक शक्ति इसके पहले ही महात्मा गौतमबुद्ध और महात्मागांधी में दिखायी दी। इसके पहले मैंने सेवाग्राम की शिक्षा-परिषद में बहुत कुछ कहा है। अब फकत कहने का बाकी बचा है। मैंने उस परिषद में तीन शब्दों पर जोर दिया था—योग उद्योग और सहयोग। अब तक शिक्षा के लिए बुनियादी तालीम मौलिक शिक्षा और वर्क-ओरियेण्टेड आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते थे। मैं उसे त्रिसूत्री शिक्षा-पद्धति कहूँगा।

आज कुछ शिक्षक मुझसे मिलने आये थे। उनसे मैंने पूछा कि इस समय स्वाति नक्षत्र चल रहा है। इस समय वर्षा हो जाय तो उसके मोती बनते हैं। आपके खेत में ज्वार बोयी हो तो उसकी भी बढिया फसल होगी। फिर हमारे आचार्यकुल के शिविर के लिए दो दिन वर्षा न हो तो भी चलेगा या वर्षा का होना आवश्यक है, इस दृष्टि से आपकी क्या इच्छा है ? उन्होंने कहा, 'खूब वर्षा होनी चाहिए। मैंने उन्हें ३३ प्रतिशत अंक देकर उत्तीर्ण किया। क्योंकि किसानों के प्रति उन्हें अपनत्व प्रतीत हुआ और उन्हें लगा कि इस सम्मेलन की अपेक्षा कृषि का महत्त्व अधिक है। तब भी उन्हें ३३ प्रतिशत अंक ही दिये थे। इतने कम अंक देने का कारण बताते हुए मैंने उनसे कहा, 'किसानों से अगर हम पूछें कि स्वाति नक्षत्र का पानी अगर बरसे तो दिन चाहिए कि रात।' तो वे कहेंगे, 'रात की वर्षा श्रेयस्कर है, क्योंकि दिन में काम किया जा सकेगा।' अर्थात् हमारे और किसानों के हित में वैसे कोई फर्क नहीं है। दोनों ही वर्षा चाहते हैं। किसान श्रमनिष्ठ के नाते श्रम-परायणता का विचार करता है। हम आचार्य के नाते ज्ञाननिष्ठा से ज्ञानपरायणता का विचार करते हैं। इन दोनों शक्तियों का समन्वय हमारे लिए उपकारक है। वस्तुतः इन दोनों में विरोध नहीं है। जीवन में इन दोनों शक्तियों का उत्तम समन्वय निर्माण होना चाहिए। इससे शिक्षण उत्कृष्ट होगा और खेती भी उत्कृष्ट होगी। (आपके कथन में यह सामंजस्य नहीं था इसलिए ३३ प्रतिशत अंक दिया)।

अगस्त्य का आदर्श रखें

ज्ञाननिष्ठा और श्रमनिष्ठा का समन्वय नया नहीं है। प्राचीन काल से यह आदर्श है ही। वेदों में अगस्त्य का वर्णन इस प्रकार है

> "अगस्त्य खनमान खनित्रैः
> उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष'

कुदाल लेकर अगस्त्य खोदता था। इस उग्र ऋषि ने कृषि-कार्य के साथ-साथ ज्ञानोपासना भी जारी रखी थी। और दोनों वर्णों का पोषण किया था। वे द्रष्टा थे, ऋषि थे, परन्तु उनका स्वभाव उग्र प्रवृत्तिमय था। कुल्हाडी और कुदाल लेकर जंगल साफ करके उन्होंने दक्षिण भारत को बसाया। उनकी इस लगन के कारण सामंजस्य या समन्वय इन उभयविध वर्णनों में हो गया था। ठीक-ठीक यही कार्य हमें करना है। सबसे पहले स्वयं अपने में ही आचार्यों को यह क्रांति करनी होगी। समाज के श्रम-विभाग की दृष्टि से एक

वर्ग ज्ञानप्रधान होना चाहिए और दूसरा श्रमप्रधान। किन्तु ज्ञानप्रधान वर्ग को ६ घण्टे अध्ययन, अध्यापन करना चाहिए और दो घण्टे श्रम। इसी तरह श्रमप्रधान वर्ग को ६ घण्टे श्रम करके २ घण्टे ज्ञानोपासना करनी चाहिए। परमेश्वर ने मनुष्य को दस अंगुलियाँ दी हैं। लेखन की शिक्षा केवल तीन अंगुलियों में समाती है। हमें तो दस अंगुलियों की शिक्षा चाहिए। दस अंगुलियों—हाथों से श्रम करने की। तीन अंगुलीवालों के मन में विचार शुरू हुआ है कि पाँच अंगुलियों पर समझौता करने में हर्ज नहीं। ऐसा कोई समझौता इसमें न हो।

महाराष्ट्र आचार्यकुल : प्रगति विवरण

गत अक्तूबर के आखिरी हफ्ते में पवनार आश्रम में महाराष्ट्र प्रदेश की आचार्यकुल परिषद सम्पन्न हुई। इस परिषद के फलस्वरूप आचार्यकुल संगठन को एक विशेष रचनात्मक आकार प्राप्त हुआ है। पवनार परिषद में आचार्यकुल का एक संविधान बना जो व्यवस्थापन और संयोजन की दृष्टि से एक ठोस कदम समझा जाता है। इस परिषद की प्रमुख फलश्रुति यह है कि समूचे महाराष्ट्र का एक प्रादेशिक स्तर का महामण्डल स्थापित हुआ, जिसके लगभग पचहत्तर सदस्य हैं। गत फरवरी की १०।११ तारीख को बोर्डी में महाराष्ट्र सर्वोदय मंडल का जो सम्मेलन सम्पन्न हुआ उसके अंतर्गत आचार्यकुल की भी एक छोटी-सी बैठक हुई, जिसमें एक नयी कार्यकारिणी का भी चुनाव हुआ। इस प्रदेश में आचार्यकुल की नीति और कार्य चलाने की पूरी जिम्मेदारी अब इस कार्यकारिणी के कंधे पर है। गत चार साल से यह जिम्मेदारी अकेले मामा क्षीरसागर प्रमुख संयोजक की हैसियत से हल कर रहे थे। अब इस काम को एक ऐसा रचनात्मक और संस्थानुकूल स्वरूप प्राप्त हुआ है जिसके फलस्वरूप भविष्य में महाराष्ट्र के आचार्यकुल का कार्य संगठनात्मक व्यवस्था की पद्धति से जारी रहेगा।

आगामी वर्ष का आयोजन

इस नयी रचना के अनुसार गत मार्च महीने की ११ तारीख को जलगांव जिले के चालीसगांव नगर में नयी कार्यकारिणी की प्रथम बैठक हुई जिसमें

आगामी एक वर्ष की मुद्दत के एक विधायक कार्यक्रम का संयोजन निर्धारित किया गया। इस कार्यक्रम के कुछ विशेष पहलू इस प्रकार हैं

(१) आचार्यकुल के संस्कार प्रसार के लिए शिक्षा संस्थाओं तक पहुँचाने का एक व्यापक अभियान निर्धारित हुआ है। आचार्यकुल की ज्ञाननिष्ठा, श्रमनिष्ठा और विद्यार्थी निष्ठा इन तीन निष्ठाओं के अभियान के माध्यम से समाज में शिक्षकों की नैतिकता की ओर कर्तव्यनिष्ठा की जागृति का प्रसार महाराष्ट्र में किया जायेगा।

(२) इस वर्ष की ग्रीष्मकाल की छुट्टियों में अकाल की परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए चालीसगाँव के नजदीक के एक देहात में २५ दिन का एक श्रम शिविर आयोजित हुआ है। इस शिविर में अकाल पीडित देहातों में मुख्यत पानी के दुर्भिक्ष को हटाने के लिए नये कुए खोदने का कार्यक्रम क्रियान्वित होगा।

(३) आचार्यकुल का जितना सम्पर्क सामान्यत महाविद्यालयीय तथा माध्यमिक शिक्षकों के साथ रहता है उसकी तुलना में बहुत ही कम सम्पर्क प्राथमिक शिक्षकों के साथ होता है। आचार्यकुल का शिक्षक समानता का जो सिद्धान्त है उसके विपरीत यह स्थिति है। इस विषमता को दूर करने के लिए महाराष्ट्र के महामण्डल ने और कार्यकारिणी ने आगामी वर्ष में प्राथमिक शिक्षकों के सम्पर्क का क्षेत्र विस्तार करने का कार्यक्रम मंजूर किया है।

कुछ नये उपक्रम

इन महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों के साथ आचार्यकुल के विकास के उद्देश्य से विशेष महत्त्व के कुछ अन्य निर्णय भी मंजूर किये हैं। उनका ब्योरा नीचे लिखे अनुसार है

(१) पवनार परिषद के आदेश के अनुसार कार्यकारिणी महाराष्ट्र के लिए आचार्यकुल का एक स्वतंत्र संकल्पपत्रक बना लिया है जिसमें केन्द्रीय संकल्प पत्रक के साथ मेल रखते हुए कुछ अन्य विचारों का भी जिक्र किया है।

(२) इस संकल्प पत्रक के अतिरिक्त दूसरा भी एक संकल्प पत्रक आचार्यकुल के सहयोगी मित्रों के लिए बना है। सहयोगी मित्र वे कहलाते हैं जो आचार्यकुल के लिए मन में रुचि रखते हैं और अपना सहयोग भी देना चाहते हैं। किंतु राजनैतिक पक्ष के सदस्य रहने के कारण मूल संकल्प पत्रक की पक्षमुक्ति की प्रतिज्ञा लेने के बारे में वे लाचार हैं।

(३) महाराष्ट्र में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का हायर सेकेण्डरी के साथ जोड़ रखनेवाला एक नया सुधारित पाठ्यक्रम १९७२ से निर्धारित हुआ है। यह पाठ्यक्रम अध्यापकों को समझाकर और उसका कुशलता से अध्यापन करने के लिए प्रेरणा देकर अपने कर्तव्य के प्रति वफादारी की भावना बढ़ाने के लिए उद्बोधन शिविर चलाने का काम आचार्यकुल के एक निकट मित्र नागपुर के श्री दि० ह० सहस्रबुद्धे बहुत लगन से कर रहे हैं। महाराष्ट्र के आचार्यकुल ने श्री सहस्रबुद्धेजी को इस सेवा का आदरभाव से पुरस्कार किया है।

(४) दिल्ली के गांधी स्मारक निधि द्वारा सर्वोदय विचार-परीक्षा का एक नया आयोजन फरवरी १९७३ से आरम्भ हुआ है। अन्य परीक्षा की तुलना में इस परीक्षा-पद्धति का स्वरूप केवल स्मरणशक्ति की परीक्षा का नहीं है। इस परीक्षा-पद्धति का स्वरूप भी वे बिलकुल-आधुनिक ढंग का है। इसमें परीक्षा गौण है, विचार प्रधान है। अपनी पिछली बैठक में केन्द्रीय आचार्यकुल ने भी इस परीक्षा का आचार्यकुल के लिए पुरस्कार किया है। अतएव महाराष्ट्र आचार्यकुल कार्यकारिणी के सामने भी यह विषय विचाराधीन है। महाराष्ट्र में इस परीक्षा के ५ केन्द्र चालू हैं जिसमें नासिक का केन्द्र प्रयोग के तौर पर आचार्यकुल द्वारा चलाया जा रहा है।

(५) शिक्षा-क्षेत्र में हमेशा सरकारी और गैर-सरकारी समस्याएँ अचानक उत्पन्न होती रहती हैं। इन समस्याओं के बारे में आचार्यकुल का भी एक स्वतंत्र दृष्टिकोण होता है। महाराष्ट्र आचार्यकुल की कार्यकारिणी ने ऐसी समस्याओं के बारे में समय-समय पर अपना दृष्टिकोण निर्भयतापूर्वक प्रकट करने के लिए एक छोटी-सी समिति नियुक्त की है। यह समिति समस्याओं का संशोधन करेगी और अपना स्पष्ट अभिप्राय शासन और समाज तक पहुँचाने का प्रयास करेगी।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ

महाराष्ट्र के आचार्यकुल को तरक्की के इस कार्यक्रम में महामंडल और कार्यकारिणी को कुछ विशेष कठिनाइयाँ भी पेश आती हैं। इन कठिनाइयों का स्वरूप आर्थिक और व्यवहारिक है। कार्य के विस्तार के साथ योग्य कार्यकर्ताओं की कमी तीव्रता से महसूस हो रही है। लेकिन महाराष्ट्र में इन कठिनाइयों के निवारण का भी विचार हो रहा है।

—कृ० द० बेदरकर

शिक्षा पर सामाजिक नियंत्रण हो

उमाशंकर जोशी

परिषद के अध्यक्ष श्री उमाशंकर जोशी ने प्रतिनिधियों से विदा लेते हुए कहा 'शिक्षा तंत्र की धारणा के विषय में आज जितना कहा जाता है वातावरण उतना बिगड़ा हुआ नहीं है। अभी भी सुधार के लिए काफी अवकाश है। कोई क्या करे और क्या न करे यह विवाद का विषय हो सकता है तो भी हम वहीं न कहीं कम पड़ रहे हैं इसमें इनकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने आगे कहा शिक्षा शासनमुक्त हो यह बात जोरदार शब्दों में कही गयी। शासनमुक्ति की यह कल्पना उतना ठीक नहीं है। कुछ-न-कुछ बंधन रहने ही। वे होने ही चाहिए। मुक्ति के इस माहौल में दो एक ने विरोध किया तब मुझे लगा कि शासनमुक्ति का विचार सामाजिक नियंत्रण के विचार जितना ही महत्त्वपूर्ण है। हमने लोकतंत्र स्वीकार किया है इसलिए शासन से कोई भी इकाई छुट्टी नहीं ले सकती। लेकिन शिक्षण के राष्ट्रीयकरण की अपेक्षा उस पर सामाजिक नियंत्रण रहना आवश्यक है। इस नियंत्रण में शिक्षक की साझेदारी रहनी चाहिए।

विद्यापीठों में राजनीति

आपने आगे कहा आज हमारे विद्यापीठों में राजनीति घुस गयी है। नेता बाहर हैं ऐसा लगता है। उन्हें भीतर मत आने दो, ऐसा भी प्रतिपादित किया जाता है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि ये सब नेता भीतर घुस गये हैं। प्रश्न यही है कि उन्हें बाहर कैसे निकाला जाय ?

राजनीति छोड़ी नहीं जा सकती

शिक्षकों को राजनीति से अलग रहना चाहिए। विनोबाजी के इस विचार से सहमति व्यक्त करते हुए उमाशंकरजी ने कहा शैक्षिक ही क्या आज समाज का कोई भी वर्ग राजनीति नहीं छोड़ सकता। दलीय राजनीति का हम कितना ही तिरस्कार करें तो भी दल रहने ही वाले हैं। लोकतन्त्र में यह अपरिहार्य है। राजनीति दलदल ही होगी बहुत कुछ है भी लेकिन हम इस दलदल से अलिप्त रह भी नहीं सकते।

अन्त में उन्होंने कहा 'गुरु की इस भूमि में आज शिक्षक आया है। विद्यार्थियों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूट गया है। वह उसे जोड़ना चाहिए। इस जवाबदारी को वह स्वीकार कर ले तो शिक्षक के गौरव के दिन दूर नहीं।

खण्ड : २

बिहार आचार्यकुल सम्मेलन

स्वागत भाषण

आचार्यकुल में आचार्यप्रवर

आचाय कपिल

सम्मान्य बंधुओ !

आचार्य विनोबाजी द्वारा स्थापित अपने इस आचार्यकुल के अधिवेशन में हम आपका सादर स्वागत करते हैं। आज जब सोचने तक का अवकाश निकाल पाना कठिन हो गया है तो कुछ करने का सवाल तो और भी मुश्किल है। सोचते कुछ लोग हैं, विचारते और भी कम लोग हैं और इससे भी कम संख्या कुछ करनेवालों की है। कहते हैं कि महाकवि अकबर सरसैयद अहमद खाँ के समर्थन या पक्ष में कभी नहीं लिख सके। सर सैयद ने भी उनके समर्थन की कभी जरूरत नहीं समझी। वे जो भी काम करते थे, करते रहे। पर जब सर सैयद का इंतकाल हो गया तो उन्हीं अकबर साहब ने लिखा—

'हमारी बातें ही बातें हैं, सैयद काम करता था,
न भूलो फर्क जो है कहनेवाले करनेवाले में।'

इसलिए चिन्तनशील आचार्यगण आपका कष्ट करके यहाँ पधारना हमें अच्छा लग रहा है और यह भी लग रहा है कि आप कुछ सोचना, विचारना और करना भी चाहते हैं। तभी तो आपने यहाँ आने की कृपा की। हम आपका अहसान मानते हैं और आपका हृदय से स्वागत करते हैं।

आज जहाँ हम मिल रहे हैं यहीं सन् १९६८ में विनोबाजी भी पधारे थे। हमने 'जा दिन संत पाहुने आवत' गाकर उनका स्वागत किया था। इसी प्रांगण में उन्होंने दस दिनों का प्रवासकाल बिताया था। विनोबा कॉलिज में आये और यहाँ रहे, इसका भी एक किस्सा है।

विनोबा का कार्यक्रम जब मुंगेर के लिए बना तो उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि वे किसी विद्यालय के प्रांगण में ही ठहरेंगे। ठहरने के लिए पड़ाव के लिए कोई नेता अधिनेता सेनापति या सन्त संन्यासी किसी विद्यालय को क्यों चुनेगा? उसे तो परिसदन चाहिए बंगला चाहिए या मठ चाहिए। पर आचार्य विनोबा ने विद्यालय की ही खोज की और उन्होंने निस्संकोच भाव से पूरी आत्मीयता के साथ इस प्रांगण में प्रवेश किया। दस दिनों तक हमें अपने साहचर्य का सौभाग्य दिया। वे दस दिन कालेज की जिन्दगी की तवारीख में अच्छे-से-अच्छे दिनों को गिनती में रहे। दस दिनों में कालेज की रूटीन और उनकी अपनी रूटीन में एक ऐसा सामंजस्य उनके पावन व्यक्तित्व ने स्थापित कर दिया कि हम सब एक हैं ऐसा बोध होता रहा। उन्हें छात्रों से भी बहुत कुछ कहना था। उन्होंने उनसे कहा भी। वे *उनके साथ एन०सी०सी०की परेड तक में शामिल हुए।* छात्रावासों की कोठरी-कोठरी में जाकर टंगे हुए कैलेंडरों को भी हटवाया—जो या तो उनके अधीक्षकों को करना था या मुझे। कॉलेज का घंटा एक दिन जब नहीं बजा तो सौम्य विनोबा को चिंता हो गयी। दूसरे ही दिन आचार्यकुल की परिकल्पना को अभिव्यक्ति दी और कहा आचार्यो तुम अपनी हैसियत का ऊपर उठाओ। उन्होंने शिक्षा की स्वायत्तता का प्रश्न उठाया और उसका समर्थन करते हुए कहा कि यह तभी सम्भव है जब आचार्य आचार्यत्व के धर्म को निभायें।

इसलिए आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी के संदर्भ में हम फिर आपका स्वागत करते हैं। पूना में आचार्यों की एक सभा में बोलते हुए एक बार विनोबा ने कहा वे इस सभा में स्वास्थ्य की दृष्टि से आने की नहीं सोच रहे थे। पर आ इसलिए गये कि यह आचार्यों की सभा है पंडितों का सभा है। ये तो किसी बिन्दु पर एकमत होते नहीं हैं। इसलिए चलो एक बिन्दु उनके विचार विमर्श के लिए दे दें। विचार का वही बिन्दु आचार्यकुल का मूल है उसकी जड़ है। हम वैमत्य के लिए नहीं पांडित्य के प्रमाद के प्रदर्शन के लिए भी नहीं बल्कि क्रिया की एकता के लिए एकमत होना चाहते हैं। एक क्रिय भवेमित्र —एक क्रियावाले स्वतः मित्र हो जाते हैं और मित्रों की राय भी एक होती है। देशकाल का यह तकाजा स्वीकारना चाहिए—इनकारने का खतरा हमें नहीं लेना है। इस देश में आचार्यों ने ही जीवन के सूत्र दिये हैं दिग्भ्रमितों को दिशा दी है और जन-मानस को तमस से ज्योति में लाया है।

बिहार की विशेषताओं में से एक विशेषता यह भी रही है कि यहाँ के लोग काम शुरू जरूर कर देते हैं। थोड़ा कर चुकने पर सुस्ताना चाहते हैं और अगर

सुस्ताने का सुअवसर उन्हें मिल जाता है तो वे सो जाना चाहते हैं। आचार्यकुल की भी यही स्थिति रही। हम छिटपुट ढंग से ही अभी तक कुछ कर सके हैं। केन्द्रित होकर राज्य स्तर पर खड़े होकर फैलने की वह चेष्टा हम नहीं कर सके जिसकी अपेक्षा थी। आज यह पहला दिन है कि हम सारे राज्य से आकर इकट्ठे हुए हैं। हम आशा करना चाहेंगे कि अब फिर ढील नहीं होगी। बिना संकल्प के कोई आन्दोलन चल नहीं सकता है। इसका ख्याल हमें रखना चाहिए। आचार्यकुल विचार भी है और विचारों का आन्दोलन भी।

हमने आपको बुला लिया है। आप आ भी गये। पर यह सब कुछ बात की बात में ही हो गया है। रामजी बाबू ने रामनारायण बाबू से बातचीत की और फिर इसमें महादेवजी शामिल हो गये। तय हुआ कि यह अधिवेशन यहीं हो। मैंने अपने सहयोगियों से भी राय-मशविरा किया। करना तो सब कुछ उन्हीं को था पर वे भी राजी हो गये। फिर हाँ और नहीं के बीच की जो मेरी मनःस्थिति थी वह निश्चय पर आ गयी और अधिवेशन आज हो रहा है। इसे हम स्वागत समिति के सदस्यों तथा अपने शुभचिन्तकों के साथ अपना सौभाग्य मानते हैं। भीड़ चाहे छोटी हो या बड़ी थोड़ी असुविधा होगी ही, तकलीफ होगी ही पर आप आचार्यगण निश्चय ही क्षमाशील होंगे। सारे दोषों का, त्रुटियों का ख्याल नहीं करेंगे ऐसी आशा है।

हम अपने विशिष्ट अतिथियों का भी अभिनन्दन-वन्दन के साथ स्वागत करते हैं। सम्मान्य दादा जो आचार्यों में भी धर्माधिकारी हैं उनके पधारने से हमें बड़ा संतोष हुआ। अपनी इस अवस्था में भी वे हमें नसीहत देते रहे हैं और आज भी हम उनके आशीर्वाद के आकांक्षी हैं। सम्मान्या महादेवीजी अपने स्वास्थ्य के कारण नहीं आ सकी हैं इसका हमें खेद है। बिहार आचार्यकुल के संयोजक डा० रामजी सिंह तो हमारी स्वागत समिति के भी सदस्य हैं और हमारे परम प्रिय छात्रों में से एक विशिष्ट छात्र हैं। इन्होंने ही अपने महाविद्यालय को यह सुयश देना चाहा इसलिए अपने घर में ही उनका स्वागत करते हमें हर्ष हो रहा है। भाई वंशीधरजी अभी कुछ दिनों से प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ गये हैं। वे हमारे केन्द्रीय कुल के संयोजक हैं। वह भी अपनी विपत्ति के कारण नहीं आ सके हैं इसका हमें दुःख है। हम उनके साथी श्री बहुगुणाजी का स्वागत करते हैं।

अन्त में फिर अपनी त्रुटियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं और स्वस्तिनोऽस्तु प्रियेभ्य कहते हुए आपके कल्याण-मंगल की कामना करते हैं।

समग्र क्रान्ति की खोज लक्ष्य बने

दादा धर्माधिकारी

मैं स्वागताध्यक्ष महोदय का भाषण बड़े ध्यान से सुन रहा था तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि थोड़े-से शब्दों में सब कुछ कह देने की कला उनको हासिल है। उनका भाषण इतना संक्षिप्त किन्तु इतना सारगर्भित है कि मेरे जैसे चौराहे पर भाषण करनेवाले के लिए वह कठिन काम है। वे सचमुच धन्यवाद के पात्र हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं भी उसी तरह संक्षिप्त भाषण करूँगा। मुझे सदाप में भाषण करना आता नहीं है, किन्तु फिर भी आपके बीच आ गया। सयोजकजी के प्रतिवेदन को सुन कर मुझे न्यूटन का स्मरण हुआ। उसने कहा है कि ज्यों-ज्यों हमें यह भान होता है कि हम कितना कर पाये हैं उतना ही प्रतीत होता है कि हम कितना नहीं कर पाये हैं।

जीविका और जीवन का अनुबन्ध

मैं इधर कई वर्षों से एक बात के विषय में सोचता रहा हूँ। आज हम जिस समाज में रहते हैं उसमें दो वर्ग हैं। मैं वर्ग कोई मार्क्स की परिभाषा में नहीं कह रहा हूँ बल्कि मेरा आशय यह है कि आज समाज में दो तरह के लोग हैं। एक तो वे हैं जिनके पेट में भूख है, जो भूख के और किसी तरह का विचार ही नहीं कर पाते। यह वर्ग कभी भीख की भाषा बोलता है तो कभी अत्याचार की भाषा बोलता है। किन्तु इन दोनों में से किसी प्रकार के सास्कृतिक परिवर्तन की बात नहीं हो पाती है। जठराग्नि की ज्वाला में सारी सास्कृतिक

निरासतें, धर्म आदि सब स्वाहा हो जाता है। दूसरा वर्ग वह है जो पेटू है। इसे ससार की हर चीज पेट में भरने की लालसा रहती है। यह एक प्रकार का व्यापारवाद या सौदेबाजी है। मनुष्य के पास ऐसा कुछ नही है जिसे वह बाजार मे न रखता हो। आज बाजार में रखे गये सौदे ही सौदे हैं। धर्म, विज्ञान, मदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या गिरजाघर सभी आज बाजार में बैठ गये हैं और इनसे हमने आकाक्षा रखी है कि इसमे से सास्कृतिक मूल्यो का विकास होगा। यानी हम जहर के बीज बोकर अमृत प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु यह हो नही सकता। भूख मनुष्यता का हनन करती है तो पेटूपन ने ससार की हर वस्तु को और मनुष्य को भी वस्तु बना दिया है, सौदे के बाजार में रख दिया है। इसमें से कोई सस्कृति नही पनप सकती। अब प्रश्न यह है कि क्या आज कही कोई ऐसा समूह है जो पेट के साथ और भी कुछ रखता है जिसके पास पेट के साथ बुद्धि भी है ? क्या आप आचार्यों का ऐसा वर्ग (समूह) हो सकता है जो पेट के साथ बुद्धि भी रखता हो ? यह एक ऐसा समूह है जो जीविका के साथ जीवन भी रखता है। जीविका एव जीवन के अनुबन्ध से ही सस्कृति का सृजन होना है। अध्यापको का वर्ग ऐसा है जो पेट के साथ बुद्धि का, जीविका के साथ जीवन का परिपोष कर सकता है। मनुष्य का जीवन उसकी आत्मिक स्वतत्रता में है। आज दो छावनियां हैं। एक छावनी में राजनैतिक स्वतत्रता और कुछ हद तक आर्थिक सुस्थिति है, वैचारिक स्वतत्रता कुछ है किन्तु समानता नही है। आर्थिक सुस्थिति होते हुये भी असमानता हो तो भी जीवन विषमय हो जाता है। दूसरी छावनी है जहाँ किसी मर्यादा तक आर्थिक समानता है किन्तु वहाँ राजनैतिक और वैचारिक स्वतत्रता का अभाव है। वहाँ मनुष्य एक सुखी पशु है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम अभ्युदय के साथ प्राप्ति कर सकते हैं ? क्या दुनिया में ऐसा पुरुषार्थ नहीं हो सकता जहाँ मनुष्य की इन दोनो आकाक्षाओ की पूर्ति साथ साथ हो सके ? इसे मैं सास्कृतिक समस्या मानता हूँ।

पेन अमरीका का क्रान्तिद्रष्टा है। उसने 'राइट्स ऑव मैन' पुस्तक लिखी है। सुकरात ने मनुष्य की बौद्धिक स्वतत्रता के लिए ही आत्मबलिदान स्वीकार किया। फ्रास की सामाजिक क्रान्ति सास्कृतिक क्रान्ति नही थी। रूस, चीन में भी राजनैतिक एव आर्थिक क्रान्ति सांस्कृतिक क्रान्ति से अलग ही हुई है। किन्तु यदि क्रान्तियाँ इस प्रकार अलग अलग हों तो फिर ये क्रान्तियाँ समग्र नही होतीं। इनमें से कोई भी क्रान्ति समग्र नहीं थी। हमें इसे समझना होगा कि हमें इस देश में समग्र क्रान्ति की खोज करनी है। हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी

नाकि राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति के बाद अलग से फिर सांस्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता न रहे। इसी खोज के लिए आचार्यों की विशिष्टता है। मनुष्यता की यह एक बडी सेवा होगी।

बुद्धि पर लेबुल न लगे

मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ विचार की स्वतन्त्रता नहीं, विचार करने की स्वतन्त्रता से है। इसलिए हम विचार का प्रचार न करें, विचार करना सिखायें। हम विचार न दें। मनुष्य को विचार देना उस पर प्रभाव डालना, उसकी आत्मा के साथ बलात्कार करना है। आज तक मानवात्मा पर ऐसे ही बलात्कार किये गये हैं। धर्मग्रन्थों पैगम्बरों अवतारों एवं धर्मों ने मनुष्य के विचारों का इस कदर सैनिकीकरण किया है जितना सेना ने भी नहीं किया। धर्म ने कहा है कि धर्म ग्रंथों के अनुकूल अपनी बुद्धि करलो। यानी बुद्धि धर्म ग्रंथ की अनुगामिनी, अनुचरी बन गयी। किन्तु बुद्धि का स्थान कोई नहीं ले सकता। क्या मानव की अन्तरात्मा का कोई स्थान ले सकता है? यह स्थान धर्म, ग्रन्थ, पीर या पैगम्बर, अवतार, राजा, गुरु या नेता कोई नहीं ले सकता। यदि हम यह होने देते हैं तो अपने को मूल अधिकारों से वंचित कर देते हैं। विचार के सम्बन्ध में दो बातें हैं। विचार जब संगठित हो जाता है तो वह सम्प्रदाय बन जाता है। उसमें से फिर विचार का प्रवाह रूंध हो जाता है। सम्प्रदाय यानी जमा हुआ विचार। इस प्रकार का विचार आक्रामक और असहिष्णु होता है। अपने विचार का दुनिया में दूसरे विचारों को परास्त करने में लगाने का, यानी वैचारिक दिग्विजय करने का विचार यहीं से पैदा होता है। ये विचार जब राजनैतिक रूप ग्रहण करते हैं तो साम्राज्यवाद और तानाशाही को जन्म देते हैं। इस प्रकार का संगठित और आक्रामक विचार ही पार्टी बन जाता है। इस हालत में विचार रहता है किन्तु विचार की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसलिए आज हम जब कहते हैं कि विद्या सत्ता-निरपेक्ष होनी चाहिए, तो मुझे यही डर है कि कहीं हमारी विद्या साम्प्रदायिक न बन जाय। इस प्रकार का अक्सर खतरा है। लाला लाजपतराय ने 'राष्ट्रीय शिक्षा' नामक अपने ग्रंथ में कहा है, "हम जो राष्ट्रीय शिक्षण दें उसे साम्प्रदायिक होने से बचायें। साम्प्रदायिक शिक्षण में शिक्षण प्रधान हो जाता है मनुष्य गौण बन जाता है।" आज तो शिक्षा में भी लबुलों का बाजार गर्म है। किन्तु तब यह सत्ता-निरपेक्ष शिक्षण क्या हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, जैन या पारसी शिक्षण होगा? आज सनातन धर्म कालेज, जैन कालेज, मुस्लिम कालेज आदि होते हैं, किन्तु इन कालेजों में शिक्षण तब पूर्णत डिनामिनेशनल बन जाता है। किन्तु

मनुष्य की बुद्धि पर कोई लेबुल नही लगना चाहिए। शिक्षण को मनुष्य की अतरात्मा की आवाज बनने दो। बौद्धिक स्वतत्रता का अर्थ ही है नरक में भी जाने की स्वतत्रता। मनुष्य का मनोविज्ञान हमेशा सस्कार से मुक्त होना चाहिए। टेरिच ने अपनी पुस्तक मे यही कहा है कि मानव मन को सस्कार-मुक्त होना चाहिए। सा विद्या या विमुक्तये का यही अर्थ है न। यही मनुष्य की प्रतिष्ठा है। उसकी अतरात्मा की आवाज भी यही है। इस आवाज को गूँजने दो। मनुष्य की अतरात्मा की आवाज गूजने दो। शब्द आकाश का गुण है तो इस गुण का विकास होने दो। पेन ने कहा, "मैं मनुष्य के अधिकारो की घोषणा करूगा।' किन्तु बाद को मोहनदास कर्मचन्द गाधी नाम के मनुष्य ने कहा, 'मैं अधिकार और कर्तव्य का ऐसा समन्वय करूँगा कि दोनो में फर्क ही न रह जाय।"

आचार्यकुल दिल-दिमाग मुक्त रखे

जमशेदपुर में मजदूरो ने वेतन बढाने के लिए हडताल की। वे मेरे पास आये और कहने लगे कि मैं उनकी कुछ मदद करूँ। तो मैंने कहा, 'आपकी यूनियन यह घोषणा करे कि कामचोर मजदूरो को सजा मिलेगी।" तो उन्होने कहा "इससे तो हम बरबाद हो जायेंगे। न हमारी यूनियन रहेगी और न हमारी लीडरशिप ही रहेगी।' आज तो लीडरशिप की लडाई चलती है न! आज तो भीड होती है। भीड यानी एमोरफिक ब्लॉक ऑव पॉपुलेसन, जिसमें कुछ दिमाग नही होता। मानवता को एसी गिनती को भीड कहते हैं। भीड मे सिर तो बहुत होते हैं किन्तु दिमाग एक भी नही होता। आज का नेता चाहे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक कैसा भी हो उसे प्रचार की पद्धति और मनोविज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाता है। आज के शिक्षण में कोई केस स्टडी नही होती। किसी आदमी ने कहा कि एवरेस्ट २९ हजार फुट ऊँचा है तो दूसरे ने कहा कि हम तो इस पर कई बार चढ चुके हैं। केस स्टडी मनुष्य की नहीं मनुष्यता की होनी चाहिए। यही बात टिर्कनिक ने अपनी 'मारेलिटी एण्ड बियान्ड' (नैतिकता और उससे आगे) में लिखा है कि मनुष्य के मन का भी शुद्धिकरण होना चाहिए। उसकी अन्तरात्मा का जागरण होना चाहिए। यह काम भीड में नहा हो सकता, न यह किसी धर्म, गुरु, राजा, नेता, वीर, पैगम्बर अथवा धर्मग्रन्थ का अनुसरण करने से ही हो सकता है। मनुष्य की प्रतिष्ठा, उसका ईमान, उसकी अपनी चीज है। इसलिए आचार्यकुल का अपना दिल-दिमाग मुक्त रखना चाहिए। उसे गाधी, विनोबा, माओ-चाओ किसी के पास नहीं रखना चाहिए। मैं कहूँगा कि उसे केवल कैपिटल आई के पास ही रखना

है। मैं हिन्दी व्याकरण का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उसमें प्रथम पुरुष को ही उत्तम पुरुष बना दिया है। *एक तरफ मनुष्य की अन्तरात्मा की आवाज और दूसरी तरफ मानवीय अन्तरात्मा का आवाहन होना चाहिए।* आज इसी की आवश्यकता है। आज विश्व विद्यालयों में यह नहीं हो रहा है। आज तो वहाँ न विश्व है न विद्या ही है। वह शुद्ध क्षेत्रवाद और मानववाद के अंग बन गये हैं। अब इसमें से जो आदमी निकलेंगे वे किस नाप के होंगे? उनका नाप उस कूपमंडूक का होगा, किन्तु बैठेंगे अखिल भारतीय कुर्सी पर। उसमें से क्या होगा? हमने बचपन में एक कविता पढ़ी थी। पूसी बिल्ली लंदन गयी तो उसे रानी के महल में रानी की कुर्सी के नीचे एक चूहे के अलावा और कुछ नहीं दिखाई दिया। यही आज के विश्व विद्यालयों का दर्शन है। इसी दर्शन को लेकर जब वह चाँद पर गया तो उसने झंडा अमेरिका का ही लगाया। आज का मनुष्य नक्शे पर जीनेवाला है। हमें श्रीनगर में कहा गया कि आप नीचे (त्रिवेन्द्रम्) से आये हैं। अब जमीन पर तो कोई उत्तर-दक्षिण नहीं होता, नक्शे पर होता है। क्या हम इस नक्शे की दृष्टि से ऊपर उठ सकते हैं? क्या वह हो सकता है कि हमारे विश्व विद्यालय विश्व की प्रतिकृति बन सकें? ऐसी प्रतिकृति जिसमें कहीं कोई क्षितिज नहीं है। यदि मानव आत्मा विश्वव्यापी है तो ज्ञान भी विश्व व्यापी है और मानव आत्मा ज्ञान से उत्तम है।

विज्ञान और अध्यात्म का केवल सामंजस्य नहीं वरन् दोनों का एक समन्वय होगा। *विज्ञान यानी वस्तुनिष्ठा, ऑब्जेक्टिविटी। जैसा है वैसा देखना, यह नहीं* कि जैसा आप देखना चाहते हैं। बड़े पुरुषों ने हमें चश्में दिये हैं पर हमारी आँखें छीन ली हैं। हमें हमारी आँखें मिलनी चाहिए। इसके लिए जिस अंजन की आवश्यकता हो वह मिलना ही चाहिए। यदि हम भी विचार उधार ही लें तो फिर *निराशा ही होगी। एक शिक्षण शास्त्री है जो कहते हैं कि* प्रतिभाशाली लोग बनाये जा सकते हैं। अतः प्रतिभाशाली लोगों की औलाद बढ़ाओ। व्यवहारवादियों ने कहा कि हम लोगों को लेकर तो जो चाहे बना लें मल्लाह, सिपाही, मदारी या भिखारी, किन्तु बाइबिल में कहा गया है कि भगवान ने मनुष्य को अपनी *शक्ल में बनाया है। पर यदि उसे भगवान ने* अपनी शक्ल में बनाया है तो वह कहीं भी भीतर होगी। वह तभी प्रकट होगी जब मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि में बैठा भगवान भी एक ही होगा। जहाँ भगवान दो हुए, वहाँ उसके दावेदार भी दो होंगे ही। भगवान की गद्दी के दावेदार का नाम ही शैतान है। *जिसकी बुद्धि स्वतंत्र होगी वह वस्तुनिष्ठ होगी।* यह है विज्ञान।

दूसरी चीज है मानव-निष्ठा, जिसका क्षितिज कही नहीं है। आज का यह विज्ञान तो सम्प्रदाय का अनुचर है। आज भाषिक युनिवर्सिटी का झगडा, लिपि का झगडा हो गया है। विनोबा कहते हैं कि लिपि तो एक करो। शिक्षण सरकार निरपक्ष हो, किंतु सार्वभौम हो। त्रिवेन्द्रम् एव श्रीनगर का छात्र, द्वारका एव कोहिमा का स्नातक एक साथ बढ सके। इसमें केवल एकरूपता ही नही, रिश्तेदारी हो। अत शिक्षण का माध्यम एक ही होना चाहिए। भाषा अपने लिए नही दूसरो के लिए होता है, अभिव्यक्ति के लिए होती है। मनुष्य की तीन विशेषताएँ हैं—वह अपनी भाषा भी सीखता है, दूसरे की भाषा सीख सकता है और उसकी भाषा का अनुवाद हो सकता है। विश्व विद्यालय तब बनेंगे जब मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्पर्क—यानी सीधा सम्पर्क हो। यदि कही दुभाषिया मूर्ख हुआ तो क्या होगा ? पर आज विश्वविद्यालय ही भाषिक विवाद में उलझे हैं। पर बात बन्द को जा सकती है खत्म नहीं की जा सकती। आज का सत्ताधीश और आज का सम्पत्तिशाली मनुष्य के विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। बुद्धिवादी वाद के नाम पर सारे विश्व को पदाक्रान्त करना चाहता है। इसमें हमें अपने आप को उबारना है। यही मनुष्य की बौद्धिक स्वतत्रता है। आत्मवान् पुरुष में ही सामर्थ होता है। सामान्य मनुष्य के हाथ में हथियार नही, दौलत नही, हुकूमत नही, जो हमारी जिन्दगी को सुखी करता है वही हमारे सुख का आधार होगा। हमें मनुष्य-मनुष्य के बीच से हर प्रकार के बिचौलियो, पडे, पुजारी, मौलवी आदि को हटाना होगा। बाजार में बिचौलिया है, व्यापारी है, मदिर में पुरोहित, नागरिक जीवन में नेता, यह सब बिचौलये हैं। इन सबको हटाना होगा। तीसरी चीज यह है कि शिक्षा पर सरकार का नियत्रण नहीं हो, तो शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी कौन-सी सत्ता होगी जो सारा-का-सारा शिक्षण भारत में समान कर सके, ताकि आगे आनेवाला बच्चा केवल मुक्त हो ? तो इसके लिए मेहरबानी करके अपनी छाया इन पर मत डालिए। यह चडाल की छाया है। उससे गभवती को भी बचाइये। विज्ञान एव अध्यात्म का समन्वय हो इसके लिए और हमारे लिए कोई भाषा पराई नहीं है। अग्रेजो राज पराया था शेक्सपियर पराया नहीं है। कन्फूसियस भी पश्चिम में जाय, गोर्की भी भारत का नही किन्तु ये सब हमारे अपने ही हैं। समाज-परिवर्तन के लिए नैतिकता की खोज की जानी चाहिए।

बिहार आचार्यकुल : प्रगति विवरण

डा० रामजी सिंह

आदरणीय अध्यक्षजी, पूज्य दादा, गुरुजनो एवं बन्धुओ,

७ दिसम्बर १९६७ को पूसा रोड में बिहार के शिक्षाविदों की गम्भीर परिषद के समक्ष शिक्षा की समस्या पर जो चिन्तन प्रस्तुत किया गया उसे हम शिक्षा-शास्त्र के क्षेत्र में एक विस्फोट कह सकते हैं। ज्ञान एवं कर्म के पार्थक्य के कारण शिक्षा की शकुंतला रो रही है। इसीलिए एक ओर तो उन्होंने आचार्यों के लिए ज्ञान-निष्ठा, विद्यार्थियों के लिए वात्सल्य एवं तटस्थ वृत्ति पर जोर दिया तो दूसरी ओर राजनीति को शिक्षा के लिए खतरा बताते हुए न्यायालय को भांति शिक्षा-विभाग को भी शासन से ऊपर रखने की बात को समाज में मान्य

करने का विचार रखा। उस सभा में भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्री डा० त्रिगुणसेन एवं केन्द्रीय शिक्षा सचिव श्री नाइक भी थे। बिहार सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री कर्पूरीजी ने तो यह बैठक ही आहूत की थी। दूसरे दिन ८ दिसम्बर को उसी गोष्ठी के समापन भाषण में विनोबाजी ने शिक्षा में अहिंसक क्रांति का विचार रखते हुए यह अफसोस प्रकट किया कि उन्होंने शिक्षा एवं शिक्षकों का काम पहले नहीं उठाया। ९ जनवरी '६८ को जब वे बिहार विश्वविद्यालय के प्रधान मुख्यालय, मुजफ्फरपुर में आचार्यों के बीच पहुँचे और शिक्षा के प्रांगण में पुलिस के प्रवेश का दुखद दृश्य देखा तो शिक्षकों से अपील की कि व अपना नैतिक असर डाल कर समाज में अशान्ति-शमन का सामाजिक दायित्व सम्भालें। इसके लिए उन्होंने केवल शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति की योजना ही नहीं रखी बल्कि इसके लिए शिक्षकों को संकीर्ण साम्प्रदायिक और दलगत राजनीति से ऊपर उठकर लोक-नीति से जुड़ने को कहा। इसके लिए वहीं संकल्प पत्र का भी निर्माण हुआ। पटना में भी उन्होंने इसी विषय पर शिक्षाविदों से चर्चा की।

अब तो बाबा जहाँ जाते किसी-न-किसी शिक्षण-संस्था में ही अपना प्रवास रखते। फरवरी १९६८ में लगभग दस दिनों तक बाबा मुंगेर के आर०डी० एण्ड डी० जे० कालेज में रहे और शिक्षकों से व्यक्तिगत एवं सामूहिक चर्चा कर १६-२-६८ को उन्होंने समाज का मार्गदर्शक बनने के लिए आह्वान करते हुए अध्यापकों के लिए एक भाईचारा बनाने का भी सुझाव दिया। मुंगेर से फिर बाबा ६-३-६८ को भागलपुर विश्वविद्यालय पहुँचे और उसी दिन बड़ी आकुलता से पहले कुलपति, कुलसचिव एवं कुछ वरिष्ठ अध्यापकों के साथ इस विषय पर चर्चा की, जिसे उन्होंने उपनिषद की संज्ञा दी। फिर ७-३-६८ को भागलपुर विश्वविद्यालय के लगभग ५०० सौ शिक्षकों के बीच टी० एन० बी० कालेज हाल में उन्होंने सर्वप्रथम आचार्यकुल शब्द का उच्चारण किया। शिक्षकों का धर्मारम्भ जो आज नीचे गिर गया है उसे देखकर उन्होंने अपनी अन्तर्वेदना व्यक्त की और शिक्षकों से अपने और अपने ही कर्त्तव्य को पहचान कर सामान्य स्तर से ऊपर उठने की अपील की। दूसरे दिन ८-३-६८ को प्राचीन कहोल मुनि के आश्रम एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय की पार्श्वभूमि, आधुनिक कहलगांव में विनोबाजी ने आचार्यकुल की स्थापना की। इसके बाद आचार्यकुल की भावना फैलती गयी और बाबा की जिन्दगी की यह आखिरी लेकिन सबसे बेहतरीन धुन बन गयी। उन्होंने आचार्यकुल में योगदान देने के लिए सरस्वती के समस्त वरद पुत्रों का आह्वान किया। प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी ने

अप्रैल '६९ में बिहार में एक सप्ताह का समय दिया और उनका कार्यक्रम मुंगेर, भागलपुर, बेगूसराय, भगवानपुर, मुजफ्फरपुर, वैशाली, दरभंगा, पटना एवं गिरीडीह में रखा गया। विद्वत वर्ग ने इस विचार का सर्वत्र आदर किया।

३० दिसम्बर '६९ को अ० भा० शिक्षा सम्मेलन के अवसर पर आचार्यकुल मंच से एक कार्यक्रम रखा गया, जिसमें दादा धर्माधिकारी, जयप्रकाश नारायण, बंशीधर श्रीवास्तव, आचार्य कपिल आदि ने लगभग १० हजार शिक्षकों के समक्ष आचार्यकुल का विचार रखा। ३१ दिसम्बर '६९ को पटना में केन्द्रीय आचार्यकुल के संयोजक बंशीधरजी एवं जैनेन्द्रजी आदि के सामने बिहार आचार्यकुल का नवगठन हुआ, जिसमें पटना विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति श्री महेन्द्र प्रताप अध्यक्ष, आचार्य कपिल उपाध्यक्ष, डा० रामजी सिंह संयोजक एवं आचार्य राममूर्ति सदस्य हुए। इसी समिति को भार दिया गया कि सम्मेलन तक के लिए एक सघर्ष समिति बना ले। तदनुसार २१ व्यक्तियों की एक समिति गठित की गयी। लेकिन हमारे बीच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो सम्पूर्ण समय देकर आचार्यों के बीच घूम कर इस विचार का संगठन करे। परन्तु इसी समय केन्द्रीय आचार्यकुल ने श्री० कामेश्वर प्रसाद बहुगुणा को सहरसा में आचार्यकुल का संगठन करने के लिए भेजा। चूंकि सहरसा ग्रामस्वराज्य का अखिल भारतीय मोर्चा है इसलिये बहुगुणाजी ने सहरसा में ही सघन रूप से आचार्यकुल का काम किया। परन्तु बिहार के दूसरे स्थानों पर काम करने के लिए भी उनका सहयोग प्राप्त हुआ। १७ १८, १९ अप्रैल, १९७१ को मधेपुरा में सहरसा जिला आचार्यकुल का प्रथम शिविर तथा सम्मेलन हुआ। फिर तो जिले के २१ प्रखंडों में प्रखंड आचार्यकुल समितियाँ बनी और ७०२ सदस्यों ने निष्ठापत्र भरे। अभी सहरसा जिला आचार्यकुल का दूसरा सम्मेलन १३ नवम्बर, १९७३ को सुपौल में हुआ। वहाँ लाला सुरेन्द्र प्रसाद अध्यक्ष एवं डा० जयदेव मंत्री हैं। सहरसा में पुष्टि-अभियान में शिक्षकों ने अभूतपूर्व योगदान दिया। सहरसा के बाद सघन काम पूर्णिया जिले के रुपौली एवं भवानीपुर प्रखंडों में हुआ। दिसम्बर '७१ के अन्त में वहाँ के २०० शिक्षकों का एक त्रिदिवसीय शिविर हुआ। उन प्रखंडों में आचार्यकुल ने अपने लिए आचार संहिता बनायी। विद्यालय-विकास के ठोस कार्यक्रम बनाये तथा शिक्षा की स्वायत्तता के विषय में व्यावहारिक योजना बनी। यहाँ वयोवृद्ध नेता श्री बैद्यनाथ प्र० चौधरी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। भागलपुर प्रमंडल के शिक्षोपनिदेशक श्री उमाप्रसाद सिंह ने आचार्यकुल द्वारा चलनेवाली इस योजना को सब प्रकार का सहयोग देने का वचन दिया। पूर्णिया जिला आचार्यकुल के संयोजक डा० अरुण शास्त्री हैं और वहाँ आचार्य-

कुल की एक जिला स्तरीय समिति है किन्तु भवानीपुर, रुपौली के अतिरिक्त और कहीं उल्लेखनीय काम नही हुआ है। पूर्णिया के बाद गया का स्थान आता है। गया में आचार्यकुल की स्थापना म भाई केशव प्रसादजी ने बडा प्रयास किया है। यहाँ के आचार्यगण शुरू से ही सजग एव सतर्क हैं। वहाँ समय-समय पर आचार्यकुल के सदस्यो ने जगह-जगह एक दो दिनो के लिए इकट्ठे होकर अपनी अपनी समस्याओ पर चर्चा की है। ऐसी गोष्ठियाँ सोखोदेवरा, वजीरगज, गया, बेला एव टेकारी में हुई। गया कालेज के भूतपूर्व एव दिवगत प्राचार्य डा० भुनेश्वर नाथ मिश्र माधव हमारे साथ रहे। डा० कुवर चन्द्र प्रकाशजी के सहयोग से हमने मगध विश्वविद्यालय में भी प्रवेश किया। गया जिला आचार्यकुल का प्रथम सम्मेलन बेनागज में '७१ में हुआ जहाँ दिनकरजी मुख्य अतिथि थे। इसका दूसरा सम्मेलन अभी-अभी २६ २७ जनवरी '७३ को टेकारी राज हायर सेकेन्ड्री स्कूल पर हुआ। इस अवसर पर डा० रामतवक्य" शर्मा, डा० वचनदेव कुमार, श्री कामेश्वर वहुगुणा विशेष अतिथि थे। जिला आचार्यकुल के अध्यक्ष श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह एव मन्त्री श्री गिरिजानन्दन मिश्र हैं। गया के बाद हम मुगेर का स्मरण कर सकते है। असल में मुगेर इसका घर ही है। साथ-साथ सूयगढा में श्री महादेव झा सुदैव खडगपुर में प्रो० रामचरित्र सिंह एव मुगेर कालेज में प्रो० जाबिर हुसैन, बेगूसराय में प्रो० गोरेश्वर प्रसाद सिंहा धर्मपुरी, श्री हेमनाथ सिंह एव श्री लक्ष्मी कान्ताजी इसके मुख्य प्राण थे। मुगेर का सारा सर्वोदय परिवार आचार्यकुल का अपना परिवार है। आखिर लोक शिक्षक होने के नाते वे भी तो आचार्यकुल के सदस्य हैं ही। मुगेर के बाद भागलपुर आता है जहाँ आचार्यकुल शब्द का प्रथम उच्चारण हुआ और जहाँ इसका जन्म भी हुआ। जिले में शुरू में तो धडल्ले से २२०० सदस्य बन गये लेकिन पीछे लगा कि यह भीड़ भाड ठीक नही। तो भी आचार्यकुल का विचार फैलाने के लिए लगभग ५० शिक्षकों की कई गोष्ठियाँ की गयी। उत्तर भागलपुर में अधिक गोष्ठियाँ हुई। इसमें शिक्षा विभाग का योगदान अधिक रहा। भागलपुर शहर में आचार्यकुल, तरुण शान्तिसेना एव गाधी शान्ति प्रतिष्ठान के सयुक्त तत्वावधान में प्रत्येक सप्ताह एक विचार-गोष्ठी पिछले चार वर्षों से निर्बाध रूप से हो रही है।

भागलपुर में आचार्यकुल का विचार फैलाने के लिए जैनेन्द्रजी, प० रामानन्दन मिश्र, संयोजक वंशीधर श्रीवास्तव, वहुगुणाजी आदि आये। प्रिंसिपल कपिल ने विश्वविद्यालय का विद्वत परिषद के समक्ष भी एक बार इसका विचार रखा। भागलपुर के साथ हम मुजफ्फरपुर को नहीं भूल सकते। वहाँ

यद्यपि पुराने सात सदस्य हैं फिर भी प्रिंसिपल गौड ने यदाकदा विचार गोष्ठियों का आयोजन किया। जे० पी० ने भी शिक्षकों को कई बार सम्बोधित किया। ग्रामस्वराज्य की प्रयोगशाला मुसहरी में गुजरात के शिक्षाशास्त्री ज्योति भाई ने मुसहरी प्रखण्ड के शिक्षकों के सहयोग से वहाँ की एक शिक्षा योजना बनायी और उसका कार्यान्वयन किया जा रहा है। वहाँ यशोधरजी एवं बहुगुणाजी भी जाकर कुछ दिन रहे। मुसहरी प्रखण्ड में प्रखण्डस्तरीय आचार्यकुल की तदर्थ समिति भी बनी, साथ-साथ प्रखण्ड की एक योजना भी तैयार हुई है। दरभंगा में एक बार जैनेन्द्रजी के कार्यक्रम एवं शिक्षा विभाग के द्वारा आयोजित कुछ विचार-गोष्ठियों के अतिरिक्त हम कुछ नहीं कर पाये। यद्यपि दरभंगा दो विश्वविद्यालयों का मुख्यालय है। रांची में भी प्रिंसिपल एम० आर० चौरसिया एवं श्री कृष्णानन्द गिरि तथा क्षेत्रीय शिक्षोपनिदेशक के सहयोग से आचार्यकुल का विचार यदाकदा शिक्षक-समाज के सामने रखा जाता रहा है। जमशेदपुर में भी मुहम्मद अयूब एवं डा० सत्यदेव ओझा तथा अन्य मित्रों के सहयोग से शिक्षकों की कई गोष्ठियाँ की लेकिन संगठन विधिवत नहीं हो पाया है। संथाल परगना में भी विनोबाजी के प्रवास के समय साहेबगंज कालेज एवं देवघर में आचार्यकुल की सभा हुई।

दरभंगा—नवम्बर १९७१ में जिला पदाधिकारी श्री नन्दजी सिंह ने बिरौल प्रखंड के शिक्षकों की एक गोष्ठी बुलायी। इसी अवसर पर बिरौल प्रखंड आचार्यकुल की भी स्थापना की गयी जिसके अध्यक्ष प्रभयलाल हुए। ५० शिक्षकों ने निष्ठा व्यक्त की थी।

आरा—३० अप्रैल एवं १ मई '७२ को शाहाबाद जिला प्राध्यापक सम्मेलन के समय बहुगुणाजी ने आचार्यकुल का बीज रखा एवं अवधबिहारीजी जिला संयोजक चुने गये। अबतक ३२ सदस्य हैं। कभी कभी विचार-चर्चा होती रहती है। इस सम्मेलन में आरा से ७ प्रतिनिधि आये हैं।

पलामू—७-१२-७२ को पलामू जिला आचार्यकुल को विचार देने के लिए एक बैठक हुई जिसमें बहुगुणाजी ने आचार्यकुल का विचार रखा। २७ सदस्यों की एक तदर्थ समिति बनी जिसका संयोजक श्री नागेश्वर तिवारी हुए। फिर अनुमंडल स्तर पर बैठकें हुईं। १०-२-७३ को गढ़वा अनुमंडल की बैठक में जनार्दन द्विवेदी संयोजक हुए। इस समय दो सदस्यों ने निष्ठा पत्र भरे।

शिक्षा में क्रान्ति के विचार को आचार्यकुल ने तरुण शांतिसेना के साथ मिलकर राज्य भर में फैलाने का प्रयास किया और इस सम्मेलन में गया, सहरसा एवं

पटना में एक बड़ी रैली हुई। इसके अलावे भागलपुर जमशेदपुर गया एव मुजफ्फरपुर में गाधी शान्ति प्रतिष्ठान के विशेष सहयोग से शिक्षा में क्रान्ति विषयक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। आचार्यकुल तरुण शान्तिसेना साथ मिलकर काम करता है। वस्तुत शिक्षक एव विद्यार्थी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए हम यह अपेक्षा भी रखते हैं कि युवान और विद्वान का समन्वित शक्ति से समाज को एक नयी दिशा मिले।

सदस्यता शुल्क के अभी तक जो पैसे हुए या तो स्थानीय इकाइयो की सहायता के लिए या केन्द्रीय आचार्यकुल के पास। प्रान्तीय आचार्यकुल को ग्रामस्वराज्य कोष से मात्र ५०० मिले थे जिसमें १५ २-७३ तक ३४२ ७५ खर्च हुए और अभी भी १५७ २५ बाकी हैं। यहाँ हम कह देना चाहते हैं कि हमारे काम में अनेक व्यक्तियो ने सहयोग दिया एव राज्य के गाधी शान्ति प्रतिष्ठान केन्द्रो सर्वोदय मडलो तरुण शान्तिसेना ने विशेष सहयोग दिया। सबसे सौभाग्य की बात है कि बिहार के शिक्षक सघ ने भी आचार्यकुल का अपनी ही सस्था मानकर हमें यह विश्वास और बल दिया है कि आचार्यकुल का यह बीज एक दिन वट वृक्ष होकर भारत भर के २५ ३० लाख शिक्षको साहित्यकारो लोक शिक्षकों का यह विश्व भ्रातृत्व बन सके।

हमारा यह सम्मेलन कब से टलता आ रहा था। हमने प्रयास की कि जितने साथी और मित्र इस सिलसिले में अपने सम्पर्क में आये है वे एकबार कहीं मिलें ताकि इस सगठन को एक नयी दिशा एव एक नया आयाम दिया जा सके। यह गुरुतर भार मुगेर के मित्रो ने ही उठाया इसके लिए यहा के सभी मित्रो के प्रति मेरा रोम रोम कृतज्ञ है।

दो वर्षों के कार्यकाल में यदि समर्थ मित्र मेरी जगह रहते तो शायद आचार्यकुल का सगठन और भी अधिक व्यापक होता। आशा है हमारे नये मित्र हमारे इस अभाव को पूर्ण करेगे और मुझसे जो त्रुटियाँ हुई हो उन्हें क्षमा करेंगे।

शिक्षा की स्वायत्तता का स्वरूप क्या हो ?

[दिनांक १७-३-७३ को सात बजे साय से नौ बजे रात तक प्राचार्य कपिलजी की अध्यक्षता में "शिक्षा में स्वायत्तता" विषय पर हुई विचार-गोष्ठी में भाग लेनेवाले आचार्यों ने काफी मनोयोगपूर्वक विचार-विनिमय किया। चर्चार्थ प्रस्तुत विषय-चर्चा सकेतो के हर बिन्दु पर विस्तार से मनन के बाद लोगो ने जिन तीन बिन्दुओ पर निर्णय लिये वे निम्न हैं।—स०]

(१) क्यों ? (२) क्या ? (३) कैसे ?

क्यों ?

स्वायत्तता की सोमा निर्धारण पर चिन्तन हुआ। शिक्षा जीवन जीने को एक कला से सम्बन्धित ज्ञानार्जन की प्रक्रिया है। अत: इस सस्था को किसी खास वर्ग या दलीय निहित स्वार्थ रखनेवाली सरकार के नियत्रण से मुक्त रखकर मनुष्य को शिक्षा मिले, तभी शिक्षा में वास्तविक पूर्णता आ सकेगी। शिक्षा "सा विद्या या विमुक्तये" के तत्व चिन्तन को साकार कर पायेगी। एतदर्थ निम्न बिन्दुओ पर निर्णय लिये गये :

१. शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा में स्वायत्तता जरूरी है। जो सस्था स्वय स्वतत्र नही होगी उससे स्वतत्र जीवन-कला का विकास-प्रसार कहाँ से होगा ?

२. भारत में परम्परा रही है कि शिक्षा-सचालन में शिक्षण-कार्य करनेवाले और विद्यार्थी ही उसका नियत्रण, सचालन और पोषण करते रहे हैं। राज्य धन-दान जरूर देता रहा है परन्तु गुरुकुल की स्वायत्तता अक्षुण थी। अत. परम्परा के अनुकूल आचरण देश की प्रतिमा के भी अनुकूल होगा।

३ समाज शास्त्रीय दृष्टि से भी समाज में सामाजिक-नीति एवं सामाजिक मत के निर्धारण को दान आनो है। इस लोकनीति एवं लोकमत पर विचारते हुए तय पाया गया कि राजनीति लोकनीति को बनाती है। लोकनीति दिशा एवं निर्देश देती है। अत भूमिका में लोक शिक्षा या जीवन-शिक्षा काम करते है। जब तक वह स्वायत्तता नहीं रहेगी तब तक सुनीति पर बल नहीं पड़ेगा। अत समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी शिक्षा स्वायत्त रहनी चाहिए।

४ सत्ता की दलीय राजनीति से शिक्षा को अप्रभावित रहना अपेक्षित है। यह तभी होगा जब शिक्षा सत्ता से अलग रहे और स्वायत्त हो।

क्या ?

स्वायत्तता में क्या हो ? इस तत्व पर चिंतन किया गया और निम्न बिन्दुओं पर निणय हुए

१ जिस प्रकार राजसत्ता अथ की व्यवस्था करते हुए भी न्याय-विभाग को न्याय निर्णय में पूर्णत स्वायत्त किये हुए है, उसी तरह वह शिक्षा अधिष्ठानों के लिए भी अनुदान दे और शिक्षा को शिक्षा सम्बन्धी हर निणय के लिए स्वायत्तता दे।

२ शिक्षा-स्वायत्तता में न्यूनतम सीमा

(क) शिक्षा-नीति-निर्धारण की स्वायत्तता।

(ख) छात्र चयन की स्वायत्तता।

(ग) शिक्षकों की नियुक्ति, प्रोन्नति एवं विमुक्ति की स्वायत्तता शिक्षा-नीति निर्धारण समिति को ही हो, जिसके सदस्य शिक्षक प्रतिनिधि, राजकीय प्रतिनिधि तथा विधायक प्रतिनिधि हों। परन्तु समिति में ८:१० के अनुपात में शिक्षक हो रहें।

(घ) पाठ्यक्रम निर्धारण तथा पाठ्यविधि निर्धारण की स्वायत्तता,

(ङ) शिक्षा के माध्यम निर्णय की स्वायत्तता,

(च) शिक्षकों की सेवा-संहिता के निर्धारण की स्वायत्तता।

३ शिक्षा और सरकार

(क) केन्द्रीय सरकार

१ यू० जी० सी० के कार्यालयों में भी स्वायत्तता हो और इस संस्था का गठन भी शिक्षकों के प्रतिनिधि, वरिष्ठ छात्रों के प्रतिनिधि, अभिभावकों के प्रतिनिधि सरकार के प्रतिनिधि तथा विधायकों के प्रतिनिधि सदस्यों द्वारा हो। लेकिन ८:१० के अनुपात में शिक्षक-प्रतिनिधि ही इसमें रहें।

२ शिक्षा-अनुदान का वितरण भी समिति के स्वायत्त निर्णय से हो, न कि राजनेता एव मत्री आदि के निर्देश से ।

३ केन्द्रीय सरकार के अधिनस्थ विश्वविद्यालयो में भी, सचालन कार्य में स्वायत्तता हो ।

(ख) राज्य सरकार और शिक्षा

१ राज्य सरकारो द्वारा सचालित विश्वविद्यालयो को स्वायत्तता हो ।

२ विश्वविद्यालयों के कुलपति के चुनाव में भी अधिष्ठान (शिक्षा) को ही स्वायत्तता रहे ।

३ राज्य सरकार से मिलनेवाले अनुदानो के व्यवस्थापन में शिक्षा अधिष्ठानो के प्रतिनिधि मडल को ही स्वायत्तता मिले ।

४ शिक्षको को नियुक्ति, प्रोन्नति एव विमुक्ति के कार्यों में भी स्वायत्तता रहे ।

कैसे ?

शिक्षा में स्वायत्तता कैसे हो ? इस बिन्दु पर भी चिंतन हुआ और निम्न निर्णय लिये गये

१ शिक्षको को इतना योग्य और चरित्रवान होना है जिससे समाज उस पर पूरा पूरा विश्वास करता रहे ।

२ शिक्षक सम्प्रदाय एव दल आदि की सीमा से अपने आपको ऊपर रखें ।

३ शिक्षकगण अपनी आचार-सहिताओ का अक्षरश पालन करें ।

४ प्रातीय एव केन्द्रीय स्तरो पर शिक्षा को कम से-कम न्याय विभागीय स्तर की स्वायत्तता मिले—इस पर परिसवाद गोष्ठी हुआ करे और तथ्य बिन्दुओ पर चिंतन प्रस्तुत हो ।

५ जितने भी शिक्षक सगठन हैं उन सबों की माँग सूची में सर्वप्रथम शिक्षा में स्वायत्तता की रखी जाय ।

६ केन्द्रीय एव राज्य सरकारों से कहा जाय कि वह केन्द्रीय राज्य स्तरो तथा क्षत्रीय शिक्षा-परामर्शदातृ समिति गठित करे और उस समिति के सभी परामर्शों को वह माने ।

७ सभी राजनैतिक दलों का एक सम्मेलन बुलाकर उसमें 'शिक्षा-स्वायत्तता' पर अनुकूल चिंतन किया जाय । तब बने वातावरण के अनुकूल विधानसभा में तदनुसार विधान पारित हो ।

बिहार आचार्यकुल सम्मेलन में प्रस्तावित शिक्षकों की आचार संहिता

भारतीय आचार्यकुल के सदस्य जिस निष्ठा-पत्र पर हस्ताक्षर द्वारा सकल्प प्रकट करते हैं उसमें सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए अहिंसात्मक उपाय का अवलम्बन और राजनीति के तमस से दूर रहने की बात है। शिक्षा की स्वायत्तता के लिए दल वर्ग, जाति, सम्प्रदाय तथा निरपेक्ष स्वातंत्र्य चिन्तन की अपेक्षा है। शिक्षा समाज-निर्माण की एक विधायक प्रक्रिया है। भारत में जिस शोषण-विहीन अहिंसात्मक समाज रचना का काय लोकतांत्रिक समाजवाद का लक्ष्य रखकर करना है, उसके अनुरूप शिक्षा-सस्थान का सचालन शिक्षक-समाज तभी कर सकता है जब उसके जीवन में स्वत आदर्शों की निष्ठा प्रकट हो। वर्तमान शिक्षा की यथास्थिति के प्रति विद्रोह का विधायक स्वरूप देना आचार्यकुल का कार्य होगा। इस दृष्टि से आचार्यकुल की आचार संहिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विचाराथ प्रस्तुत हैं

(क) छात्रों के प्रति

(१) स्वाध्याय और समर्पण आचार्यकुल के अस्तित्व की नैतिक घोषणा है। आत्मचिन्तन, नियमित पाठ और सत्संग द्वारा ज्ञानार्जन से क्षमता का विकास और सम्यक् पूव तैयारी के बाद ही अध्यापन का कार्य किया जाय।

(२) छात्रों के हित और कल्याण को प्राथमिकता दी जाय। छात्रों की स्वाभाविक श्रद्धा, जिज्ञासा और विश्वास को वात्सल्यभाव से भेदभावविहीन होकर प्रोत्साहन दिया जाय। छात्र सहज स्नेह के अधिकारी हैं।

(३) छात्रों के लक्ष्य निर्धारण और समाज से स्वीकृत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न के सम्बन्ध में अभिभावकों के मार्गदर्शन के लिए उनसे सम्पर्क और विचार-विनिमय आवश्यक है।

(४) आचार्यों के जीवन की सादगी, श्रमनिष्ठा और समय की पाबन्दी से ही छात्रों के जीवन में चरित्र निर्माण का आदर्श प्राप्त होगा। इसलिए विद्यालय के अन्दर और बाहर आचार्यों का आचार अनुकरणीय हो।

(ख) समाज-निर्माण

लोकतान्त्रिक अहिंसक समाज-रचना की दृष्टि से यह आवश्यक है कि

(१) निष्पक्ष और तटस्थ वृत्ति से विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विभेद अथवा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक समूह की आशाओं-आकांक्षाओं के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाया जाय।

(२) सहकारी प्रयास और सामूहिक चिन्तन की प्रक्रिया में विश्वास के साथ समस्याओं के समाधान के लिए विद्यालय और विद्यालय के बाहर भी छात्रों की क्षमता का विकास किया जाय।

(३) छात्रों की विधायक वृत्ति के निर्माण के लिए अवसर प्रदान किये जायँ, जिससे उन्हें साहस, उत्सर्ग, सेवा, सहिष्णुता, सामाजिक न्याय स्वातन्त्र्य-प्रियता के लिए प्रेरणा प्राप्त हो।

(४) समाज के सांस्कृतिक स्तर के उन्नयन के लिए रचनात्मक प्रवृत्तियों एवं कला कौशल की अभिवृद्धि के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। श्रम-निष्ठा और प्रत्यक्ष उत्पादन में सहयोग का अभ्यास स्वदेशी वृत्ति का विकास हो।

(५) विद्यालय का कार्य भवन के कमरों में सीमित न होकर उस सम्पूर्ण क्षेत्र में माना जाय जिसकी आबादी के लिए उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया हो।

(ग) अध्यापन पेशे के प्रति

(१) सेवाभाव से उत्साह और भक्तिपूर्वक मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए अध्यापन-व्यवसाय को अपनाया जाय।

(२) स्वाध्याय, अनुसंधान, व्यावसायिक साहित्य का अध्ययन, सभा-सगोष्ठियों, सम्मेलनों में उपस्थिति, यात्रा एवं लम्बे अवकाशों में आयोजित विशेष वर्गों में सम्मिलित होकर क्षमता का विकास किया जाय।

(३) सक्षम व्यक्तियों को शिक्षण पेशे में आकर्षित किया जाय।

(४) शिक्षण संयोजना में सक्रिय सहयोग दिया जाय तथा उसकी कार्यान्विति के यथासम्भव प्रयास हों।

(५) शैक्षणिक विकास के लिए संगठित संस्थाओं की सक्रिय सदस्यता कायम रखी जाय तथा शिक्षकों के सामाजिक उत्पादन का प्रयास किया जाय।

(घ) इन उद्देश्यों एवं आदर्शों के सफल कार्यान्वयन के लिए समाज की ओर से निम्नलिखित अधिकार स्वीकृत किये जायें :

(१) व्यावसायिक गौरव, सामाजिक स्थिति और योग्यता के अनुकूल वेतनक्रम का अधिकार, जिससे वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सपरिवार सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें।

(२) ऐसे हीन व्यक्तियों से सुरक्षा जो कम वेतन पर व्यवसाय में प्रवेश के लिए प्रगतिशील हों।

(३) विद्यालय संगठन से बाहर के राजनीतिक, आर्थिक, साम्प्रदायिक तत्वों के अनैतिक आक्रमण से सुरक्षा।

(४) शिक्षा के लिए अनुकूल वातावरण, उचित प्रसाधन और उपस्कर प्राप्त करने का अधिकार।

(५) व्यावसायिक विकास, पारिवारिक कार्य तथा समुचित विश्राम के लिए उचित अवकाश प्राप्ति का अधिकार।

(६) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, खासकर शिक्षा सम्बन्धी बातों और समस्या के सम्बन्ध में।

(७) सेवा निवृत्ति के बाद अवकाश ग्रहण की स्थिति में जीवन-यापन की सुविधा एवं पेंशन की व्यवस्था।

(८) सेवा काल में कार्यकारी वर्ष में प्रशिक्षण की सुविधा के लिए सेमिनार, सम्मेलन तथा शिक्षण-संस्थाओं का निरीक्षण।

(९) योग्यता और क्षमता वृद्धि की स्थिति में स्तरोन्नति द्वारा प्रोत्साहन।

(ङ) शिक्षकों के सामाजिक दायित्व

(१) लोकनीति निर्माण, (२) लोक शक्ति निर्माण, (३) अशान्ति शमन, (४) अन्याय प्रतिकार, (५) सांस्कृतिक पुनर्जागरण, (६) सामाजिक क्रान्ति, (७) शिक्षा में क्रांति, (८) विद्यालय विकास आदि।

सम्मेलन का वक्तव्य

बिहार आचार्यकुल का यह प्रथम सम्मेलन सम्पूर्ण देश में एवं विशेषकर अपने राज्य में शिक्षा की यह दुरावस्था देखकर अपनी गम्भीर चिंता प्रकट करता है। एक ओर तो सामान्य रूप से हम अपने कर्तव्य से च्युत हो रहे हैं और दूसरी ओर सरकार का हस्तक्षेप शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ता ही जा रहा है। शिक्षा यदि केवल वेतनभोगी अध्यापकों के हाथ में रहेगी तो उससे निष्पन्न शिक्षा भी मृत प्राय होगी। उसी तरह यदि शिक्षा सत्ता, सम्पत्ति या सम्प्रदाय की दासी रहेगी तो वह निस्तेज एवं निर्जीव रहेगी। इसीलिए शिक्षा शासन-मुक्त और स्वायत्त होनी ही चाहिए। भारत की परम्परा में राज्य की सत्ता गुरू पर नहीं थी। गुरू उससे परे था। इसीलिए सम्मेलन पूरे समाज और अपनी सरकार से यह अपील करता है कि शिक्षा की स्वायत्तता का मूल्य स्वीकार करे। यह ठीक है कि शिक्षा-स्वायत्तता का सम्बन्ध स्वावलम्बन से है, शिक्षा का उत्पादक श्रम से जोड़ने में है। लेकिन अभी जब तक यह स्थिति नहीं है तब तक सरकार न्याय-विभाग की तरह शिक्षकों की आजीविका का भार ले, किन्तु उनके कार्यों में दखल न दे। स्वायत्तता को मूर्तरूप देने के लिए वर्धा (महाराष्ट्र) में आयोजित राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की अनुशसाओं को जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने मान्य किया है आधार मान कर राज्य में भी शिक्षा परिषद का अविलम्ब निर्माण हो।

आचार्यकुल यह अनुभव करता है कि कर्तव्य बोध के बिना शिक्षा की स्वतंत्रता का हमारा जन्मसिद्ध अधिकार भी हमें प्राप्त नहीं हो सकता। फिर आचरण तो हमारा धर्म है, यह कोई प्रतिदान नहीं। इसलिए आचार्य के लिए जो आवश्यक आचार-संहिताएँ हैं, उनको हम अपने जीवन-मृत्यु के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने अन्य शिक्षक संघों से भी हमारी प्रार्थना है कि वे भी इसको अंगीकार करने पर विचार करें। अपने इस कर्तव्य-बोध से हमें आत्म संतोष तो होगा ही साथ-साथ समाज का गौरव एवं सम्मान मिलेगा और समाज का उपकार भी होगा।

शिक्षा में क्रांति भी सामाजिक क्रांति के बिना असम्भव है। इसलिए हमें अपने सामाजिक दायित्व का भी भान होना चाहिए।

शिक्षा—सम्पत्ति, सत्ता एवं शस्त्र निरपेक्ष बने

दादा धर्माधिकारी

शिक्षक अपनी सत्ता स्वीकार करें

इस सम्मेलन का पुण्याहवाचन भी मैंने ही किया। इधर प्रथा चल पडी है कि जिस व्यक्ति में जो दोष होता है लोग उसी को ग्रहण कर लेते हैं। आपने भी मेरे दोष का ग्रहण कर लिया कि मैं बहुत भाषण करता हूँ। तो आज भी मैं ही भाषण करूँ, शायद यह मेरी अधिक उम्र के कारण भी किया है, क्योंकि आदमी जब बूढा हो जाता है तो वह कुछ सयाना हो जाता है। इसलिए मैं कुछ सावधानी की बातें करना चाहता हूँ। महाराष्ट्र के एक अग्रगण्य नाटककार हैं। उनके नाटक में राघोबा ने पेशवा की गद्दी छीननी चाही। इसलिए उसकी हत्या कराने की भी सोचा। न्यायाधीश से पूछा गया कि जिसने हत्या की हो उसके लिए कौन-सा दण्ड है? उस न्यायधीश ने कहा, "जिसने मनुष्य की हत्या की हो उसको मृत्युदंड के अतिरिक्त कोई दूसरी सजा नहीं है। डर और लोभ के कारण उस न्यायाधीश ने अन्य कोई बात नहीं कही। शिक्षक का स्थान तो न्यायाधीश से भी ऊँचा है। राजसत्ता और धर्मसत्ता दोनों के सामने निर्भिकता से अपने सिद्धान्त की बात कह सके, वही शिक्षक है। उसे लोकमत के अनुरूप नहीं होना है। उसका अनुगामी नहीं होना है। उन्हें समाज का नेता होना है। किन्तु आज तो नेता भी डेमागोग हो गये हैं। नेता मनुष्यों की दुर्बलताओं और विकारों से लाभ उठाकर अपना काम करते हैं। जाति, वर्ग, सम्प्रदाय में जो अविश्वास होता है उससे वे लाभ उठाते हैं। भीड के खासकर कुछ लक्षण होते हैं, उनसे लाभ उठाने से दंगे हो सकते हैं, विद्रोह हो सकते हैं, किन्तु समाज-परिवर्तन नहीं हो सकता है। समाज-परिवर्तन होना चाहिए। किन्तु मूल्य-परिवर्तन के लिए सन्दर्भ-परिवर्तन करना होता है और आज के शिक्षण से यह नहीं हो रहा है। हम किसी नेता के पीछे चलकर कुछ इधर-उधर के सामान्य परिवर्तन भले ही कर लें किन्तु उससे सन्दर्भ और मूल्य-परिवर्तन नहीं होगा। यह काम शिक्षक को करना है। हृदय-

परिवर्तन की आवश्यकता है यह काम बाहर से कोई नहीं कर सकता। धर्मसत्ता और राजसत्ता के खिलाफ उठाकर जो हुतात्माएँ बनी उनसे भी आपका काम कठिन और ऊँचा है।

संस्थावाद से दूर रहें

आज शिक्षकों की भूमिका अलग है। बर्नार्ड शा ने कहा कि ईसा आया, सुकरात आया और उन्हें सजाएँ दी गयीं; क्योंकि वे मुँहफट थे। बात कहने का ढंग नहीं जानते थे। फावडे को फावडा कहने के बजाय एक चतुष्कोणीय औजार वह सकते थे। सुकरात ने कहा, "मनुष्य तू सोया है, मुश्किल घोड़ा है, मैं तुझे जगाने आया हूँ।" इसके लिए उसे जहर दिया गया। यही बात गैलिलियो के साथ हुई, जिसे केवल सत्य बोलने पर सजा दी गयी थी। अतः सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्। नेवर गेन एन आरग्यूमेण्ट एण्ड लूज ए फ्रेन्ड (किसी विवाद के लिए मित्र नहीं खोना चाहिए)। औपचारिक संगठन में नियम गौण होता है, मनुष्य मुख्य होता है। आजकल बच्चे लोग बहुत क्रान्ति की बात करते हैं, कई बार कई चीजों को वे जला भी देते हैं। उन्हें आज की शिक्षा से भी शिकायत है। किन्तु प्रश्न यह है कि जो शिक्षा इतनी निकम्मी है इसके लिए इतनी अर्जियाँ क्यों पड़ती हैं? इतना प्रमाद क्यों करते हैं? छात्र बराबर नयी-नयी युनिवर्सिटियाँ खोलने के लिए आन्दोलन करते हैं। यह क्या इसलिए करते हैं कि फिर उन युनिवर्सिटियों को लंका जैसा दहन किया जाय। अगर ऐसा नहीं तो और क्या कहा जायेगा? असल बात यह है कि यदि मनुष्य की मनुष्यता को उबारना हो तो फिर संस्थावाद को समाप्त करना ही होगा। आज तो समाज में मनुष्य या तो किसी संस्था का सदस्य है या वस्तु की तरह से उसकी खरीद-बिक्री होती है। संस्थाएँ अक्सर मनुष्य को हजम कर जाती हैं। संस्था का मनुष्य पर कैसा प्रभाव होता है यह इससे पता लगेगा कि जब गांधीजी ने बहिष्कार-आन्दोलन आरम्भ किया और स्कूल-कालेज छोड़ने का आवाहन किया तो मालवीयजी ने मुझसे कहा कि तुम अब कालेज छोड़ दो, गांधीजी की बात मान लो। अपने बारे में उन्होंने कहा कि मैं ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ; क्योंकि मेरा इससे (हिन्दू विश्वविद्यालय से) अपत्य प्रेम है, सन्तान मोह है। संस्था के नाम पर मनुष्य जब अपनी आत्मा का हनन करता है तो उसका यही हस्र होता है।

सामाजिक और शैक्षणिक क्रान्ति का अनुबंध हो

आज हमारे देश में जे० कृष्णमूर्ति जैसे कुछ लोग हैं जो इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान दिला रहे हैं, पर वही अन्तिम नहीं हैं। हाँ, वे अब तक के

नवीनतम है। हमें यह बात हमेशा ध्यान में रखनी है कि हमें सत्य का अन्वेषी होना चाहिए और सत्य कभी टुकड़ों में नहीं प्रकट होता। टुकड़ा कभी सत्य हो ही नहीं सकता। वह संगठित भी नहीं हो सकता। सत्य जब संगठित होता है तो वह भयानक हो जाता है और शैतान की आवाज बन जाता है। तब मनुष्य पूरे तौर पर गौण और तिरोहित हो जाता है। आज हमारे मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों और गिरजाघरों में हम सब असत्य का पूजन ही तो कर रहे हैं। यहाँ पर मनुष्य की नहीं, भगवान की भी नहीं, पंथ की, खंडित विचार की, संगठित विचार की पूजा होती है। किन्तु मैं और मेरा अंगोछा तो दो अलग अलग चीजें हैं न। तो मैं मेरे अंगोछे से बड़ा हुआ न। सत्य जब मेरा तेरा बनता है तो फिर वह सत्य रह नहीं जाता। सज्जनता संगठित हो, लोकनिष्ठा संगठित हो, किन्तु मनुष्य सर्वोपरि हो यही मेरा निवेदन है। मैन इज द मेजर ऑव आल थिंग्स' मनुष्य ही सब चीजों का नाम है, उसका कोई नाम नहीं। वह स्वयं ही अपना नाम है। आज तो मनुष्य की, उसकी कला, उसकी विद्या, उसकी प्रतिभा सबकी सब पैसे से नापी जाती है। किन्तु मनुष्य की कीमत मनुष्य का मूल्य नहीं है। हमें कीमत का नहीं, मूल्य का चिंतन करना चाहिए। यह काम शिक्षण का है। अत सामाजिक क्रान्ति और शैक्षणिक क्रान्ति का अनुबन्ध होना चाहिए और जब तक यह नहीं होता तब तक शिक्षण स्वायत्त नहीं हो सकता है। आज तो जो सबसे कम काम करता है वही सबसे अधिक पैसे लेता है। जिस बाजार में इनसान बिकता है उस बाजार में भगवान भी बिकता है। तो फिर ऐसे समाज में शिक्षक की क्या हैसियत हो सकती है?

आज का समाज ही भ्रष्टाचारमूलक है। काला बाजार बढ़ रहा है, किन्तु क्या बाजार भी काला या गोरा होता है? हमें बाजार एव दरबार से मनुष्य को उबारना होगा। इसलिए राज्यतन्त्र और अर्थतन्त्र से हमें मुक्त होना ही होगा। हम राज्य और अर्थ-निरपेक्ष नहीं, राज्यतन्त्र और अर्थतन्त्र से हमे मुक्त होना ही होगा। आज के समाज में तीन तत्व हैं—सौदा, सट्टा और लाटरी। सौदा यानी कम-से-कम जो देता है और ज्यादा-से-ज्यादा जो लेता है वही होशियार है। यह हुआ सौदा, लेना देना। दोनों फर्जी जहाँ है वह है सट्टा, और कुछ देना नहीं सबका लेना, यह है लाटरी। क्या हम मानते हैं कि इन मूल्यों से समाज चलेगा? आज हम सब भ्रष्टाचार की बात करते हैं किन्तु उसमें स्वय को छोड़कर शिकायत करते हैं। आप और हम सब आत्म विश्लेषण नहीं अत्मावलोकन करें, केवल आत्म साक्षित्व नहीं अत्मावलोकन करें।

मनुष्य का स्वत्व किसी से प्रदान किया जानेवाला या किसी से मान्यता पानेवाला नहीं होता। वह तो हर आदमी को अपने लिये खोजना होता है। यही मनुष्य की अन्तिम प्रतिष्ठा है जिसका हमें आविष्कार करना होगा। यह काम प्रचार से नहीं होगा। आज तो शिक्षण दरबार और बाजार के हाथ में पडकर प्रचार का साधन बन गया है। उसे इससे हमें उबारना होगा। आज प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक के शिक्षण की मुक्ति की बडी आवश्यकता है। दरबार कभी शस्त्र के साथ जाता है तो कभी शास्त्र के साथ। वह कभी सम्पत्ति के साथ जाता है तो कभी शस्त्र का प्रयोग करता है। किन्तु हमें समाज में से शस्त्र शास्त्र व सम्पत्ति इन तीनों से ही शिक्षण को बचाना होगा। आज शिक्षण के नाम पर जो प्रचार चल रहा है उससे यह नहीं होगा। आज देश में कम-से-कम १० हजार लोग ऐसे होंगे जो रोज अध्यात्म पर प्रवचन करते हैं। ३ हजार ऐसी सस्थाएँ होंगी जिनका यह दावा है कि वे आध्यात्मिक उन्नयन का काम कर रही हैं और उनके अनुयायियों की सख्या तो बढ ही रही है। फिर कम-से कम ५० लाख शिक्षक और एक करोड छात्र होंगे ही। यह सब हैं तो फिर भ्रष्टाचार क्यों बढ रहा है? आप लोग अकसर इन सर्वोदयवालों को कहते हो कि ये भी भ्रष्टाचार नहीं रोकते वरन् कई बार स्वय उसमें पड जाते हैं। किंतु आपने कभी इस पर क्या नहीं सोचा कि देश में आध्यात्मिक शिक्षा देनेवाले इतने असख्य प्रवचनकार और सस्थाएँ हैं उनके पास साधनों का भी बाहुल्य है तो वे क्यों नहीं भ्रष्टाचार रोकते?

आप सब तो बुद्धिवादी हैं न। किन्तु हमारे देश में बुद्धिवादी वह है जो बुद्धि से कम-से-कम काम लेता है। वह उसे बचाकर रखना चाहता है। यदि सत्य मूल्यवान है तो हम इसके खर्च में कजूसी क्यों करें? किंतु आज तो हमारे विश्वविद्यालय ही कम-से-कम विद्या खर्च करते हैं। जिस देश की परम्परा ही धार्मिक और आध्यात्मिक रही है उसमें इतना भ्रष्टाचार क्यों है? इस पर आपने कभी सोचा है? आपने इस असख्य पण्डे पुजारियों से कभी यह सवाल क्यों नहीं पूछा? आपने उनसे इसलिए नहीं पूछा कि उनकी पाठ-पूजा के लिए मिठाई भी तो चोरबाजारी से ही आती है न! इसमें नागरिक चारित्र्य कहाँ है? मनुष्य के जीवन की एक मर्यादा है उसका स्वीकार होना चाहिए। मैं मनुष्य की शान एव आन नहीं लूँगा यह सकल्प होना चाहिए। सम्पत्ति, सत्ता और शस्त्रधारियों को सरस्वती के मंदिरों में प्रवेश नहीं होना चाहिए।

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार : प्रधान सम्पादक
श्री वंशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : १०
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

मई, '७३

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है ।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे ।
● पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें ।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है ।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित;
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम

शिक्षा में कोई नयी बात ?

वर्ष : २१
अंक : ११

शिक्षा सलाहकार बोर्ड की स्थायी समिति ने 'पाँचवी योजना में शिक्षा-नीति' पर अपनी मुहर लगा दी है। योजना-अवधि में शिक्षा के लिए ३२ अरब की माँग की गयी थी, २२ अरब रुपये की ही स्वीकृति मिली है। इसमें से ११ अरब रुपये प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय होंगे—प्रारम्भिक शिक्षा में ६ से १४ वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा। शेष धन का उपयोग माध्यमिक और उच्च शिक्षा के विकास के लिए किया जायगा।

इस विकास की रूप-रेखा भी सोची गयी है—सोचा गया है कि माध्यमिक शिक्षा अधिकाधिक व्यवसायीकरण और उच्च शिक्षा का नियमन किया जायगा। गुणात्मक विकास की तो प्रत्येक स्तर पर कोशिश की ही जायगी। चेष्टा की जायगी कि शिक्षा-व्यवस्था में सामाजिक न्याय का आकार तैयार किया जाय। गुणात्मक सुधार की ये बातें पहले भी कही जाती रही हैं, आज भी कही जा रही हैं और बावजूद इस कहने-सुनने के और बावजूद एक से अधिक शिक्षा-आयोगों की संस्तुतियों के शिक्षा का पुराना झगड़ा ज्यों का त्यों चलता जा रहा है।

एक नयी बात जो इस योजना में की जायगी वह है अनौपचारिक शिक्षा को शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शिक्षण-प्रणाली के अभिन्न अंग के रूप में चलाना। शिक्षा-मंत्री का कहना है कि प्रस्तावित अनौपचारिक शिक्षा से शिक्षा-प्रणाली की अनेक त्रुटियाँ ठीक हो जायेंगी। शिक्षा अभी सभी स्तरों पर

नयी तालीम मई, '७३
पहिले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४६ रजि० सं० एल० १७२३

आवरण मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस, मानमंदिर, वाराणसी २२१००१

वर्ष : २१
अंक : ११

- शिक्षा में कोई नयी बात
- शिक्षा : जिसकी आवश्यकता है
- शिक्षा मे परिवर्तन : एक यक्ष प्रश्न
- उच्चतर शिक्षा का माध्यम

जून १९७०

पूरी तरह सस्थागत थी। इस योजना-अवधि मे सस्थागत शिक्षा के अतिरिक्त आर्थिक सस्थागत शिक्षण और गैर-सस्थागत स्वाध्याय शिक्षण का शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर विकास करना है। अशकालीन और गैर-सस्थागत शिक्षण का बहुत बडा कार्यक्रम बनाया जायगा। सस्थागत शिक्षण के प्रारम्भिक स्वर पर बहुत बडा वेस्टेज होता है। इस नयी योजना से वह रुकेगा। माध्यमिक स्वर पर बडे पैमाने पर अशकालीन और समाचार पाठ्यक्रम चालू किये जायेंगे। बोर्ड की सभी परीक्षाऍ प्राइवेट छात्रों के लिए खोल दी जायेंगी। विश्व-विद्यालय स्तर पर भी प्रत्येक राज्य मे कम-से-कम एक खुला विश्व-विद्यालय स्थापित किया जायगा। राष्ट्रीय स्तर पर भी ऐसा ही एक खुला विश्वविद्यालय स्थापित होगा, जिसमे परीक्षा देने के लिए किसी प्रकार की उपस्थिति आवश्यक नहीं होगी। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं मे सभी प्राइवेट छात्र शामिल होंगे।

यह सब होगा और इस प्रकार पढ़नेवालों की सख्या मे खूब वृद्धि होगी। 'सख्या' पर 'सस्थागत शिक्षण' के कारण जो बधन और नियमन था वह ढीला हो जायगा। तो निश्चय ही सख्या मे वृद्धि होगी—परन्तु स्वाभाविक रूप मे प्रश्न उठता है कि क्या पाँचवीं पचवर्षीय योजना मे कोई काम ऐसा होगा जो चार योजनाओं मे अभी तक नहीं हुआ है—कम-से-कम शिक्षा के क्षेत्र मे? अखबारों मे लम्बे विवरण निकलते है। उनमे बडे-बडे ऑकडे होते हैं। वे यह बताने के लिए होते है कि हजारों नये स्कूल खुलेंगे जिनमे लाखों नये बच्चे भर्ती होंगे। कितने ही नये महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और सस्थान भी खुल जायेंगे।

हम मान लेते है कि यह सब होगा। प्राथमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जायगा। 'माडेल स्कूल', 'एक्सपेरिमेण्टल स्कूल', 'कम्यूनिटी स्कूल' जैसे नये नाम प्रचलित होंगे। बड़े विद्यालय में नये नामों से नये विषय और नये विभाग शुरू किये जायेंगे। इमारतें बनेंगी, तनख्वाहें बढ़ेंगी। लेकिन हम जानना यह चाहते हैं कि इन विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों मे जो शिक्षा दी जायेगी वह कितनी बदली हुई होगी, और जो शिक्षक होंगे वे कितने नये होंगे। सख्या

(शेष पृष्ठ ५२६ पर देखें)

नारायण देसाई

पाओलो फ्रेरे का शिक्षण-विचार

पाओलो फ्रेरे का जन्म सन् १९२१ में उत्तर-पूर्व ब्राजिल में रेसिफ में हुआ। "भूख के बारे में मुझे कोई किताब पढ़ने की जरूरत नहीं थी। मैं भूख के बीच ही पनपा था।" पाओलो के सारे विचार ही गरीबी और अत्याचार की परिस्थिति के खिलाफ एक मौलिक विचारक की प्रतिक्रिया-स्वरूप है। उसने पाया कि गरीबों का अज्ञान और आलस्य सारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप है और वर्तमान शिक्षा तो अत्याचारियों के अत्याचार को टिकाये रखने का एक प्रमुख साधन भर है। एक ओर से उसने अपने क्रांतिकारी विचारों में मार्क्स, सार्त्र, मुनीर, ऐरिक फ्राम; माओ, मार्टिन लूथर किंग, चेग्वेवारा, उनामूनो और मरकूजे आदि विभिन्न प्रकार के दार्शनिकों के विचारों से समर्थन पाया, तो दूसरी ओर से ब्राजिल की गरीब बस्तियों में "मुक्ति के लिए शिक्षा" का प्रयोग किया। इस दर्शन और इस प्रयोग का परिपाक ही "पेडेगोजी ऑव द ओप्रेस्ड" में पाया जाता है। ब्राजिल में सैनिक शासन आने के बाद पाओलो का देश-निकाला किया गया। कुछ समय चिली में काम करने के बाद आज वह स्विटजरलैंड के जिनोवा में 'वर्ल्ड कौंसिल ऑव चर्चीज' में स्पेशल कन्सल्टन्ट के नाते काम कर रहा है। वर्ल्ड काउन्सिल ऑव चर्चीज ने कई क्रांतिकारी विचारों का समर्थन किया है और खासकर दक्षिणी अमेरिका में उसके कई क्रांतिकारी आन्दोलनों को बल मिला है।

एक्यूमेनिकल क्रिश्चियन सेण्टर विभिन्न मतमतान्तरवाले लोगों को इकट्ठा करनेवाला केन्द्र है। इस सेमिनार में भी विभिन्न प्रकार के मार्क्सवादी, विभिन्न सम्प्रदाय के ईसाई, युनिवर्सिटियों या सरकारी शिक्षा-विभाग में काम करनेवाले शिक्षाविद् लोग इकट्ठा हुए थे। मेरे लिए इतने सारे मार्क्सवादियों के बीच पांच दिन के लिए रहने का यह पहला मौका था। बड़ा अच्छा अनुभव हुआ। ये लोग एक निश्चित भाषा में और निश्चित विचार-पद्धति ही से सोच सकते हैं। इससे भिन्न सोचनेवालों के लिए उनके पास हमेशा कोई न कोई लेबल तैयार होता है-बुर्ज्वा, पटीबुर्ज्वा, रियेक्शनरी, रिविजनिस्ट इत्यादि-इत्यादि। उधर मार्क्सवादी लोग कुछ भी सोचें या कहें तो उसमें जरूर कुछ बुरा हेतु होगा, यह माननेवाले लोग भी सेमिनार में मौजूद थे। फिर भी सब एक-दूसरे के प्रति विनय-विवेक नहीं चूकते थे। इसलिए चर्चाओं में कभी गाली-गलौज नहीं हुआ। और चाहे जितना बंद मन हो तो भी इस प्रकार के सामूहिक अनुभव का कुछ-न-कुछ असर होता ही है।

पाओलो फ्रेरे के विचारों को संक्षेप में बता दूं। पाओलो का कहना है कि शिक्षा कभी तटस्थ नहीं हो सकती। या तो वह बंधन के लिए होगी या मुक्ति के लिए। पूँजीवादी समाज में शिक्षा को चालू समाज-रचना को टिकाये रखने के एक माध्यम के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। उत्तम से उत्तम विद्यालय भी अगर गरीब जनता की मुक्ति के लिए न हो तो वह पूँजीवादी समाज-रचना को टिकाये रखने व मजबूत करने का ही काम करते हैं।

बंधन की शिक्षा यह विश्वास रखती है कि गुरु में सारा ज्ञान है और शिष्य खाली है। गुरु शिष्य के दिमाग में ज्ञान उडलता है। लेकिन यह सारी प्रक्रिया बंधन को बढ़ानेवाली होती है, क्योंकि उसमें ज्ञान को एक वस्तु माना जाता है। और अपने मन के मुताबिक ज्ञान को उडला जाता है। वास्तव में ज्ञान तो एक निरन्तर विकास करनेवाली प्रक्रिया है। वह कभी एकतरफा नहीं हो सकता। अतः मुक्ति की शिक्षा दलितों के बीच शुरू होती है। दलितों के अपने प्रश्न सुलझाने की प्रक्रिया में ही शिक्षा है। विद्यार्थी और शिक्षक साथ मिलकर प्रश्नों के बारे में विचार करते हैं। इस क्रिया से दोनों पक्षों को ज्ञान मिलता है। ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ होता है वास्तविकता पर काम कर, और विचार कर उसमें से ज्ञान-लब्धि करना। इस प्रक्रिया में ज्ञान प्राप्त करनेवाला या प्रशिक्षक दोनों ज्ञान-प्राप्ति के बाद वही पुराने के पुराने व्यक्ति नहीं रह जाते। दोनों पुराने व्यक्तियों की इस क्रिया में मृत्यु होती है और फिर पुनर्जन्म होता है,

इस माने में ज्ञान के कारण दोनों ही 'द्विज' बनने चाहिए। मुक्ति तो इतिहास के प्रवाह में प्राप्त करने की होनी है। वह ऐसी प्रक्रिया से प्राप्त होती है, जिसमें ऐतिहासिक वास्तविकता पर लोग असर करते हैं, पूंजीवादी समाज-रचना ने अपने व्यापक प्रचार-साधनों द्वारा वास्तविकता के बारे में बहुत सारे भ्रम पैदा कर रखे होते हैं। उसे दूर करके जनता को जाग्रत करना यही शिक्षा का प्रमुख काम है। जाग्रत जनता अपने आप ही क्रांति करेगी। साधन-शुद्धि के विचार को पाओलो स्वीकार करता है। लेकिन उसका कहना है कि गरीब लोगों में जो अशांति दिखती है उसे हिंसा नहीं कहा जा सकता। करोडों लोगों को दबाये रखने में जो हिंसा है उस हिंसा के प्रवर्तक लोगों को इन गरीबों की "हिंसा" की भर्त्सना करने का कोई अधिकार नहीं।

इन विचारों को पाओलो फ्रेरे ने अपनी पुस्तकों में शास्त्रीय भाषा दी है। पहले ब्राजिल में तथा बाद में चिली में प्रौढ शिक्षा के व्यापक प्रयोग में उसने अपने इन विचारों को अमल में रखने का प्रयत्न किया। प्रौढ शिक्षा के उसके वर्गों का वर्णन बडा दिलचस्प था। रिओडी जेनेरो के एक गरीब इलाके के प्रौढ शिक्षा-केन्द्र (जिसका पाओलो ने "सांस्कृतिक वर्तुल" नाम दिया था) में चलिए। पोर्चुगीज के १७ शब्द पाओलो के कार्यकर्ताओं ने सोच-विचार कर चुन लिये हैं। ये ऐसे भी शब्द हैं जिनसे कुछ पढने-लिखने में आसान हैं और कुछ जटिल हैं। शहरी बस्ती है, इसलिए पहले एक स्लाइड दिखायी जाती है—गरीब बस्ती के बारे में। उसी स्लाइड मे एक कोने में शीर्षक भी लिखा रहता है। फावेला (FAVELA) यानी झुग्गी बस्ती। शिक्षक पूछता है कि इस चित्र में हम क्या देखते हैं ? अलग-अलग लोग अलग-अलग जवाब देते हैं। सब इस विषय पर सहमत होते हैं कि यह झुग्गी बस्ती का चित्र है। पहले तो झुग्गी की अवस्था के बारे में चर्चा होती है—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक। फिर दूसरी स्लाइड में सिर्फ "फावेला" शब्द लिखा हुआ दिखाया जाता है। फिर सब लोग साथ मिलकर उस शब्द का उच्चारण कई बार करते हैं। फिर पूछा जाता है कि इसमें कितने उच्चारण हैं ? तीसरी स्लाइड में फा, वे और ला को अलग-अलग लिखा हुआ दिखाया जाता है। फिर चौथी, पाँचवी, छठी स्लाइड में फा···फा···फा···फा·· फा, वे···वे···वे···वे · वे·· वे···ला·· ला··· ···ला ··ला···ला दिखाया जाता है। फिर फा···फे···फि·· फु फो, वा, वे, वि, वु, वो, ला, ले लि, लु, लो। इनको पढने-लिखने से लोग कई सारे अक्षर सीख लेते हैं और कई नये शब्द। यहाँ तक कि दो-एक वाक्य भी बनाने लग जाते हैं। निरक्षरता-निवारण का यह एक शास्त्रीय तरीका है। पाओलो फ्रेरे

की पद्धति में अगर कोई विशेषता है तो वह यह है कि वह लोगों से उत्तर निकालता है। उपनिषद की पूर्णात् पूर्णम्'' वाली प्रक्रिया को वह साकार करता है। उसके साथ सारी राष्ट्रीय परिस्थिति का समवाय करता है।

दिन में एक बार पाओलो बोलता था और उस पर चर्चा होती थी। रोज किसी-न-किसी ओर एक वक्ता के विचार पेश होते थे। श्री जे० पी० नायक ने 'भारत में लोकशिक्षण' के बारे में, डा० अमरीकसिंह ने 'भारत में उच्च शिक्षा' के बारे में, और श्री विनायक पुरोहित ने 'कोठारी कमीशन की रिपोर्ट' की आलोचना करनेवाला भाषण किया। राधाकृष्ण 'गांधी के शिक्षा-विचार' पर बोलनेवाले थे, लेकिन वे सेमिनार में नहीं आ पाये थे। इसलिये यह विषय मुझे रखने के लिए कहा गया। श्री नवबाबू तो सेमिनार के लिए आये ही थे। वास्तव में यह विषय उन्हीं को रखना चाहिए था। चर्चा में उन्होंने जरूर हिस्सा लिया। पूरे सेमिनार में पाओलो के बाद किसी एक व्यक्ति का सबसे अधिक असर हुआ हो तो वह नवबाबू का। मेरे व्याख्यान के बाद दूसरे दिन पाओलो ने आकर मुझसे बहुत आग्रह किया कि I was Gandhi's educateo इस विषय पर मैं एक पुस्तक लिखूँ। पाओलो स्वयं मार्क्स के विचार से प्रभावित है। लेकिन फिर भी उसका मन खुला है। इस बात का यह सूचक था।

(तरुण मन से साभार)

पूर्णचन्द्र जैन

शिक्षा में परिवर्तन : एक यक्ष प्रश्न

बालक आसपास के वातावरण का प्रतिबिम्ब है।

जन्म लेने के साथ चेतन पिण्डाश (शिशु) के शरीर, बुद्धि, मन, चित्त आदि द्वारा चारों ओर चल रही क्रिया-प्रक्रिया का आत्मसात् किया जाना और उसके अनुसरण में प्रतिछाया या प्रतिबिम्ब रूप ज्ञात-अज्ञात क्रिया होना, आरम्भ हो जाता है।

भूख पीडा वगैरह की अभिव्यक्ति शिशु कराह, रूदन, मुख-मालिन्य द्वारा स्वतंत्र रूप से भी करता है। किन्तु शिशु की भावना, उसकी इन्द्रियों की सवेदना और क्रिया, अधिकाशत चारो ओर चल रहे क्रिया-कलाप एव बन-बिगड रहे वातावरण पर ही आधारित होती है।

बालक वातावरण का प्रतिबिम्ब

इस प्रकार शिशु और बालक के सारे सस्कार, उसकी भावाभिव्यजना और उसके विभिन्न इन्द्रियो के सकेत-सचार, माता-पिता-परिजन के जीवन-व्यवहार, महल, घर, झोपड़े के आनन्ददायी और उन्मुक्त, या पीडा भरे और घुटे-घुटे व सहमे वातावरण के लगभग शत-प्रतिशत प्रतिबिम्ब होते हैं।

यह अनुसरण, नकल या प्रतिबिम्बरूप की क्रिया-प्रक्रिया ही शिशु और बालक की पहली शिक्षा या ज्ञान घूट है।

इसीलिए मां, फिर पिता और फिर कुटुम्ब के अन्य लोग और बाद में पड़ोसी व सगी-साथी शिशु के, बालक के, क्रमश: प्रथम व निकटतम या अव्यक्त शिक्षक कहलाते हैं।

माता-पितादि से मिलनेवाला वातावरण वह नीव है जिस पर शिशु, बालक के भावी जीवन का, अर्थात् उसके व्यक्तित्व का महल खडा होता है।

ऊपर की स्थापना को समझ लिया जाय तो शिक्षा में परिवर्तन कैसे, क्या, कब और कौन करे, इन प्रश्नो का झमेला बहुत सरल हो जा सकता है और

तब ही माता पिता, परिजन व समाज, शाला व शिक्षक, सरकार आदि के परस्पर सम्बन्ध तथा अपने हिस्से का काम करने के दायित्व का बँटवारा, एहसास और अमल बहुत सहज हो सकता है।

इसी में से एक बात और निकलती है जो कम महत्व की नहीं है। वह यह कि आदमी को जन्म से मृत्यु तक हर समय शिक्षण प्रशिक्षण सीखने, सिखाने की जरूरत है।

ऊँची पढ़ाई करके अथवा अपनी आयु, अनुभव, व्यवहार आदि के आधार पर कोई यह दावा करे कि उसे ज्ञानार्जन की आवश्यकता नहीं, समाज से उसे कुछ नहीं सीखना-सिखाना है तो वह व्यक्ति शायद सबसे बड़ा मूर्ख या अज्ञानी है।

अच्छी शाला स्वयं परिवर्तन सक्षम

अच्छी शाला के कुछ लक्षण हैं, होने चाहिए। चाहे वह शाला छोटे शिशुओं के लिए हो अथवा न्यूनतम प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा देनेवाली हो, उसकी सजीवता और सफलता के कुछ मापदण्ड होने चाहिए। शाला न सिर्फ प्रतिदिन पाठ्यक्रम के लिए शैली, विषय, आधारभूत पुस्तक, कथा व प्रयोग वगैरह के चयन में नवीनता और मौलिकता भरे, बल्कि शाला के साथ शिक्षार्थी के माता पिता व परिजन के चारों ओर के वातावरण को, उनसे नियमित सम्पर्क रखते हुए, इतना स्वच्छ सजीव बनाये कि बालक को अच्छे स्वस्थ संस्कार सहज मिलते जायें। इसके लिए शाला के प्रधानाध्यापक से लेकर चपरासी तक, सम्बन्धित अधिकारी या संचालकगण, बालक के अभिभावक या संरक्षक, पड़ोसी आदि को अपनी आखें खुली और सीखने के लिए तत्पर रखनी होंगी, संस्कारी और घर-दुनिया की जानकारी में तरोताजा रखना होगा, ताकि बालक को अच्छे संस्कार मिलें, पढ़ने-गुनने की अच्छी सामग्री मिले और शाला में या घर पर शिक्षा पाने से बालक डरे या भागे नहीं।

एकबार शिशु या बालक शाला में आ जाय, कक्षा के शिक्षक से चौन्नजर हो जाय, दिन भर शाला में गुजार दे, उसके बाद शाला से छुट्टी मिलने पर जाते हुए वह कुछ खोया-सा महसूस न करे, दूसरे दिन शाला में आने को स्वतः जल्दी न करे, शाला न आने की वृत्ति दिखाये, तो यह स्थिति की पहली नाकामयाबी का एक सर्टिफिकेट माना जायेगा।

आज शालाएँ, खास तौर से शहरों के स्कूल, फैक्टरियाँ बनी हैं। शिक्षार्थी दिन भर की पढ़ाई के बाद छुट्टी पाता है तो जेल से छूटने जैसा अनुभव करता है। क्योंकि सिवाय स्वयं छुट्टी के लिए लालायित रहता तथा पढ़ाने से

अधिक मटरगश्त में खुशी अनुभव करता है। उधर माता-पिता या संरक्षक को भी अपनी सन्तान को प्रारम्भिक शिक्षा व संस्कार देने की फुर्सत नहीं है।

शाला जीवनदायी वातावरण बनाये

ऊपर मापदण्ड की सफलता के लिए शाला की मर्यादित कक्षाएँ और कक्षा में भी मर्यादित संख्या में शिक्षार्थी रखना चाहिये। कक्षा की शिक्षा के साथ शाला में चारों तरफ तथा खेल-मैदान वगैरह में, शिक्षार्थी को जीवनदायी वातावरण देना चाहिये और शिक्षार्थी के माता-पिता, संरक्षक से सम्पर्क रख उसके घर-आंगन व अभिभावक के दिल-दिमाग को अनुकूल बनाने में भी पर्याप्त समय-शक्ति लगानी चाहिए। शाला यह दायित्व माने इसका मतलब ही होगा कि शाला के शिक्षक, उसके सामान्य कर्मचारी, जिम्मेवार संचालक, सब स्वयं अपने आपको शिक्षा ग्रहण करने की हर शिक्षार्थी व उसके माता-पिता के मानस स्वभाव वगैरह के समझने की वृत्ति रखेंगे।

गैर-सरकारी शिक्षण-संस्थाओं का दायित्व

इस दृष्टिकोण से गैर-सरकारी शिक्षण-संस्थाओं को, खास तौर से जो संस्थाएँ एक महत्वाकांक्षा इस क्षेत्र के प्रयोग की रखती हैं, उन्हें सरकार के ढाँचे व नियमों के रहते भी अपने यहाँ के शिक्षण को, आज और अभी दुरुस्त करने की बात मिलजुल कर सोचनी चाहिए। आज की सरकारें बहुत यांत्रिक ढंग से बनने, चलनेवाली हो गयी हैं और जल्दी कुछ परिवर्तन इनकेद्वाराशिक्षा या तो अन्य किसी क्षेत्र में हो सके यह सम्भव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इनका अस्तित्व लोक-शिक्षण, लोक-जागरण, लोक-सक्रियता से अधिक लोकरंजन या लोगों को येन-केन-प्रकारेण खुश या तो मूक निष्क्रिय रखने (मतदान के अलावा) पर निर्भर करता है। *सरकार* चलानेवाले जन-प्रतिनिधि ऐसा न मानते हों तो बहुत ही अच्छा है, शिकायत का सवाल ही नहीं। जो भी हो, दोनों स्थितियों में सरकार शिक्षा की अत्यधिक गिरावट, कमी, स्वयं महसूस करती हो या नहीं करती हो अथवा वह अनुभव करते हुए भी कुछ परिवर्तन नहीं ला सकती हो, इन सब स्थितियों में, जनसेवी शिक्षण-संस्थाओं और शिक्षण-प्रेमियों को गम्भीरता से शिक्षा में परिवर्तन लाने की बात सोचनी, तय करनी व अमल में लानी चाहिए। सरकार स्वयं कभी अनुभव कर वांछनीय परिवर्तन करने लगे, उसमें यदि साथ देने लगे तो सुन्दर, अति सुन्दर। वह सोने में सुहागा होगा। ●

शिक्षक : आचार संहिता की सीमा में

राधेश्याम प्रसाद सिंह

विगत कुछ वर्षों से शिक्षकों के विषय में बातचीत करना एक फैशन जैसा हो गया है। राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, सरकारी अधिकारी सबके सब शिक्षकों को कुछ-न-कुछ नसीहत देना अपना कर्त्तव्य समझते रहे हैं। इनके द्वारा व्यक्त किये गये बहुत सारे विचार अनर्गल होते हैं। आचार्यकुल वास्तव में एक ऐसा मंच है, जहां इस विषय पर गम्भीर विचार करना सम्भव तथा उचित है।

समाज के किसी वर्ग विशेष के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्रायः हम यह भूल जाते हैं कि वह वर्गविशेष भी समाज का ही एक अंग है और समाज के अन्य वर्गों के 'कारनामों' से वह अछूता नहीं रह सकता है। यदि समाज के विभिन्न अंग सड़ गये हों तो शिक्षकों की गतिविधि में भी सड़ांध की बू अवश्य आयेगी।

मूल प्रश्न : शिक्षक कौन हो ?

शिक्षक कैसे हों, इसके विषय में बहुत सारे लोगों ने लम्बी दलीलें पेश की हैं। जहां तक मैं समझता हूं शिक्षकों को कैसा होना चाहिए, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह जानना है कि कैसे लोगों को शिक्षक होना चाहिए। योग्यता के बंधन से मुक्त, मंत्री तथा उच्च अधिकारियों की पैरवी पर शिक्षक की हैसियत हासिल करनेवाले सज्जन कदापि अच्छे शिक्षक नहीं हो सकते। ऐसे शिक्षक सामान्य शिक्षकों से बिलकुल भिन्न होंगे।

वैसे लोगों का ही शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश हो, जिनको इस पेशे के प्रति स्वाभाविक रुचि हो। आज बहुत सारे लोग बेरोजगारी की विवशता से मुक्त होने के लिए शिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश कर जाते हैं। न उनका इस पेशे के प्रति रुचि है और न इसके लिए स्वाभाविक गुण। आगे चलकर ऐसे लोग ही विद्या-मंदिर के सम्पूर्ण वातावरण को दूषित कर देते हैं। अभी ऐसे शिक्षकों की कमी नहीं, जो पैसे तो शिक्षा विभाग से प्राप्त करते हैं और काम करते हैं राजनीतिज्ञ के। प्रशासकीय तथा अन्य सरकारी सेवाओं के चुनाव की एक पद्धति है, लेकिन शिक्षकों के चुनाव की कोई पद्धति नहीं। शिक्षण-संस्थाएं तो गोशाला हैं, जहां निराश नवजवान और अवकाश प्राप्त अधिकारी दोनों का प्रवेश सम्भव है।

शिक्षकों को समाज के प्रति जागरूक होना है

किसी शिक्षण-संस्था के कार्यालय से नियुक्ति-पत्र प्राप्त कर लेने मात्र से कोई शिक्षक नही बन जाता। सही अर्थ में शिक्षक वही है जो अपने दायित्वो के प्रति जागरूक है। पिछले पचीस वर्षो से समाज में तेजी से परिवर्तन आ रहे हैं। परिस्थितियाँ बदलती जा रही हैं। बहुत सारे गुलाम देश साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्ति पाकर राहत की सास ले रहे हैं। एशिया में भारत जैसा शक्तिशाली गणतंत्र का उदय हुआ है। सदियो से पिछड़ी आदि जातियाँ अब आधुनिक सभ्यता का स्वाद लेने लगी हैं। शिक्षण-संस्थाओ में नये वर्ग की आबादी बढ़ रही है। पुराने मूल्य ढह गये हैं और नये मूल्यो की स्थापना नही हो सकी है। इस बदले हुए परिवेश में शिक्षक वर्ग सिर्फ ५० मिनटो का व्याख्यान देकर ही अपने दायित्वों से मुक्त नही हो सकता। यह सचमुच चिन्ता का विषय है कि आज के छात्र पाठशाला से स्नातकोत्तर विभागो तक रास्ता तय कर लेते हैं, परन्तु सारी प्रारम्भिक बातों का भी उन्हे ज्ञान नही होता है। क्या इस त्रुटि के लिए शिक्षक दोषी नहीं है?

अध्ययन-अध्यापन एवं शोध-कार्य

शिक्षकों के हल्का होने का मूल कारण अध्ययन का अभाव है। जब तक अध्ययन हमारा मूल उद्देश्य नही होगा, हम अपने छात्रो से उचित प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते। अध्ययन के बिना प्रतिभा का विकास हरगिज सम्भव नही है। अत्यन्त खेद का विषय है कि शिक्षण-पद्धति का सीधा सम्बन्ध वार्षिक परीक्षा से हो गया है। पाठ्यक्रम से अलग होकर न हम सोचते हैं और न छात्रो को सोचने को प्रेरित करते हैं। हममें से कुछ लोगो की कृपा से छात्रो को ऐसे सस्ते नोट उपलब्ध हो रहे हैं, जिन्हे पढ़कर उनकी प्रतिभा कुंठित होती जा रही है। चिन्तन को प्रोत्साहित करने योग्य सामग्री को आज अनावश्यक मान लिया गया है। जरूरत इस बात की है कि लम्बे अवकाश को शिक्षक अध्ययन-कार्य में ही लगायें। परिस्थितिवश, दो महीने के ग्रीष्मावकाश को हम परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच में व्यतीत कर अपने को धन्य समझते हैं। आखिर परीक्षा का पारिश्रमिक ही तो वेतन का पूरक होता है! सबसे दिलचस्प स्थिति तो शोध-कार्य की है। साधारणतः शिक्षकों के पास न तो इसके लिए समय है और न उचित प्रोत्साहन ही। शोध-कार्य के पुरस्कार से अधिक कीमती पुरस्कार तो ट्यूशन और सस्ते नोट लेखन से ही सम्भव है। कुछ लोगों ने इतने गंदे और अपवित्र ढंग से शोध की उपाधि प्राप्त की है कि किसी भी स्वाभिमानी शिक्षक को उस रास्ते पर कदम बढ़ाना कठिन हो गया है। शोध की उपाधि वितरित

करनेवाले ऐसे महयों ने शिक्षण-संस्थाओं की गरिमा को नष्ट कर दिया है। इन सारी विवशताओं के बावजूद शिक्षकों को अपना कर्तव्य निभाना ही पड़ेगा। शिक्षक प्राय वर्ग-कार्य में पूरी लापरवाही बरतते हैं। किसी भी मूल्य पर हमें पूरी तैयारी के बिना वर्ग में प्रवेश नहीं करना चाहिए। यह तैयारी उनके छात्र-काल के नोटों पर ही आधारित न होकर यथासम्भव मौलिक पुस्तकों के अध्ययन से ही हो। मुर्दा नोट छात्रों में स्वाभाविक उत्सुकता जागृत नहीं कर सकेंगे। यदि छात्रों में शिक्षकों के व्याख्यान से उत्सुकता नहीं जगी तो यह पूरा व्याख्यान समय और ऊर्जा का अपव्यय ही माना जायेगा।

राजनीति से तटस्थ

शिक्षकों के विरोध में एक आम शिकायत है—राजनीतिज्ञों के पिछलगु बनने की। कुटिल राजनेताओं को शिक्षकों की प्रतिष्ठा कुचलने में आज चाहे जितना सुख का अनुभव हो रहा हो, परन्तु देश के भविष्य के साथ इस खेल की कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी। इस परिस्थिति में हमारा यह फर्ज है कि राजनीति के प्रति अपना रुख तटस्थ रखें। इस सम्बन्ध में शिक्षकों के रुख के प्रति यह ठीक ही कहा गया है कि हमें राजनीति से दूर रहकर राजनीति पर प्रभाव डालना है। यह कैसी विडम्बना है कि पुराने पढ़े-लिखे शिक्षक आज राजसत्ता-विभूषित राजनीतिज्ञों के चरण रज निस्सकोच प्राप्त कर रहे हैं। पिछले पचीस वर्षों में इस देश में ऐसे शिक्षकों के प्रभाव से ही एक रीढ-विहीन पीढ़ी तैयार हो गयी है, जिसमें मात्र भौतिक उपलब्धि की भूख ही जग सकी है। दल के दलदल में फँसे शिक्षक सरस्वती के पुजारी होने का दावा नहीं कर सकते। अभी भी हम सम्भल जायें तो देश विनाश से बच सकता है। राजनीति मिथ्या और कृत्रिम सगठन को ही जन्म देती है। ऐसे सगठन से हमारा उद्धार नहीं होगा।

समय-निष्ठा

शिक्षकों से एक महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है—समयानुसार कार्य करने का, समय-निष्ठ होने का। आधुनिक शिक्षक समय के प्रति प्राय उदार दृष्टिकोण रखते हैं। जरा ठहर कर सोचिए। ५० मिनट के वर्ग में आप २० मिनट बाद पहुँचे, उस वर्ग में आप क्या न्याय कर सकेंगे? गाडी समय के बाद पहुँची, आपका मूड खराब हो गया। चाय देर से मिली, आपको सिर दर्द हो गया। अखबार देर से आया, आप खफा हो गये और आप देर से पधारें और छात्र चूँ तक न

बोलें। कैसी पवित्र आकांक्षा है आपकी ? समय पर आकर देखें, छात्रा का शरीर ही नहीं, आत्मा भी आपका अनुसरण करने लगेगी।

सादगी

अहंकार-विहीन सादगी शिक्षकों का दूसरा आभूषण है। सादगी का अर्थ बेतरतीब सिले हुए वस्त्र हरगिज नहीं है। यह तो सादगी का मजाक हुआ। मेरे एक मित्र हैं। एक घंटे उनके पास बैठ जाइए। अपने सस्ते और सादे वस्त्रों की चर्चा किये बगैर वे नहीं रह सकते। अपनी सादगी को इस तरह किसी पर थोपना अहंकार का द्योतक है, और ऐसे आचरण से प्रतिक्रिया का ही जन्म होता है। कभी-कभी तो हमारे वस्त्र इतने आक्रामक होते हैं कि शिक्षण-संस्था के जिस रास्ते से हम गुजरते हैं, लोग आहत हो जाते हैं। सच्चा शिक्षक वही है, जिसमें स्वाभाविक सरलता और सादगी हो। आज ऐसे शिक्षकों का अभाव नहीं है जो छात्रों से मजिस्ट्रेट की तरह व्यवहार करते हैं। एक छोटी-सी घटना हुई और उबल पड़ते हैं। सहायता और देख-रेख की बात तो दूर है, उनकी मीठी वाणी सुनने को भी छात्र तरसते हैं। इन मानवीय व्यवहारों के अभाव में ही छात्र रास्ते से भटकते जा रहे हैं।

परीक्षा और शिक्षक

परीक्षा के संदर्भ में बहुत सारी तोहमत हम शिक्षकों पर लगायी गयी है। प्रश्न-चयन, निरीक्षण, परीक्षण, अंक-निबंधन—इन सारे कार्यों में हमारे खिलाफ अंगुली उठाई जा रही है। ऐसे उदाहरण का अभाव नहीं, जब शिक्षक व्यापारियों की तरह प्रश्न बेचकर पैसे कमा रहे हैं, अंक बेचकर यश पा रहे हैं। परीक्षा में ढिलाई के फलस्वरूप ही सरकार को विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता नष्ट करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ और परीक्षा-नियंत्रण में सफलता प्राप्त कर सरकार आज यश कमा रही है। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शिक्षक सिर्फ भय की भाषा समझते हैं। हममें से बहुसंख्यक अभी भी ठीक हैं और यदि चाहें तो इन अल्पसंख्यकों पर हावी होकर परीक्षा की पवित्रता को पुनः स्थापित कर सकते हैं। इन परीक्षाओं को ठीक करने के लिए हमें वर्ग कार्य में चुस्त होना पड़ेगा। प्रायः छात्र इस चुस्ती के लिए बेचैन हैं।

अन्त में मेरा समर्पण है कि शिक्षकों के आचरण में तबतक सुधार सम्भव नहीं है, जबतक हम राजनीति के आकर्षण से चकाचौंध होना बन्द न कर दें। लोभी अभिभावक और छात्रों को ठग शिक्षक कभी सही रास्ते पर नहीं ला सकते। एकबार हम ईमानदारी और साहस से जीने का संकल्प तो लें, सफलता हमारी है।

बिहार आचार्यकुल सम्मेलन का एक सन्दर्भ लेख

शिक्षा : जिसकी आवश्यकता है

द्वारका सिंह

वर्तमान स्थिति

"हमारे समय का सबसे अधिक ज्वलन्त तथ्य यह है कि हम आज एक ऐसे संसार में रह रहे हैं जो हममें अत्यधिक भय और चिन्ता उत्पन्न करता है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री और दूसरे बुद्धिवादी बराबर मानव समाज के भविष्य पर चिन्ता कर रहे हैं और इस विषय में शंका प्रकट की जाने लगी है कि क्या हम एक युग के अन्त में पहुँच गये हैं और जो सभ्यता हमने निर्मित की है वह नष्ट होने जा रही है ? विश्व वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष, अनिश्चितता और बेचैनी के संकट से गुजर रहा है। श्रद्धा के पुराने आधार कभी के टूट चुके हैं। नये अधिकारों और खोजों की तीव्र गति के कारण जन जीवन और समाज का नक्शा तेजी से बदल रहा है।

आज का संकट सभ्यता का संकट है। विज्ञान और तकनीकी की शानदार विजय ने भी इस संकट में कोई कमी नहीं की है। इसके विपरीत इन विजयों ने उन खतरों की, मानवता आज जिनका सामना कर रही है, वृद्धि कर दी है।

राजनीतिक धरातल पर विश्व के लगभग प्रत्येक कोने में 'गर्म' और 'शीत' कोई बड़ा युद्ध नहीं हो रहा है किन्तु हम निरन्तर युद्ध के कगार पर खड़े हैं। सभी मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रों के लिए मानवाधिकारों की स्वीकृति के बावजूद हम देखते हैं कि राष्ट्र वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण राष्ट्रवाद और जातिवाद के दल-दल में फँसते जा रहे हैं।

विज्ञान और तकनीकी के कारण राज्य-सत्ता के हाथों में इतनी घातक शक्ति संचित हो गयी है कि उससे सारे संसार की सुरक्षा और शांति खतरे में पड़ गयी है। वैज्ञानिक मस्तिष्क ने अपनी सृजनात्मक योग्यता और प्रवीणता का उपयोग विनाश के ऐसे शक्तिशाली यंत्रों के अधिकार में किया है जिनसे मनुष्य के पूर्ण विनाश की ही सम्भावना उत्पन्न हो गयी है।

अस्थिरता और असुरक्षा की यह स्थिति किसी दैवी व्यवस्था का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक शक्तियों के साथ मनुष्य के असमंजस का परिणाम है। यह मानवकृत है और इस तकनीकी मानव को ही इस उदासीनता के लिए जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। आज के समाज की इन आर्थिक और राज-

नैतिक उत्तेजनाओं का एक ही इलाज है कि हम फिर से सत्य का प्रतिपादन करनेवाले महान ऋषियों के सन्देश का स्मरण करें।

क्या शिक्षा के पास व्यक्ति और समाज के लिए इस खतरे का कोई जवाब है ? क्या शिक्षा विज्ञान और तकनीकी से समर्थित वर्तमान मूल्यों को, यह कह कर कि वे ऐतिहासिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, असहाय होकर चुपचाप स्वीकार कर लेगी ? इसके विपरीत क्या हम विश्व के महान पुरुषों की नेक सलाह, बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह, को स्वीकार कर विरासत में प्राप्त जीवन की चुनौती को साहसपूर्वक स्वीकार करके उसकी बुराइयों को दूर करने के लिए आगे नहीं आयेंगे ?

स्पष्ट है कि शिक्षा के *वर्तमान ढाँचे ने देश में व्याप्त इस संकट को समाप्त* या कम करने में कोई योगदान नहीं किया है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषों और कमियों पर पिछले सौ सालों में साहित्य का ढेर लग गया है और प्रतिष्ठित *शिक्षा-शास्त्रियों और दूसरे विद्वानों ने* इसकी इतनी स्पष्ट और जोरदार शब्दों में निन्दा की है कि अब उसके विषय में और कुछ कहना मरे घोड़े को मारने के समान होगा।

*शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य में सहिष्णुता, सहकारिता और सामाजिक भाव-*प्रवणता आदि गुणों का विकास करना है जो अपने पड़ोसियों और साथियों के साथ मेल और सौहार्दपूर्ण ढंग से रहने के लिए आवश्यक है। सामाजिक न्याय के लिए *अनुराग विकसित करने की बुनियाद बनाने का केवल यही एक मार्ग है।* इस प्रकार के रुझानों का विकास विद्यालय में रहकर वास्तविक अनुभव प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

अगर शिक्षा के सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करना है तो यह आवश्यक है कि विद्यालय समुदाय शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में समाजसेवा के सार्थक कार्यक्रम में भाग लें। आज की शिक्षा में विद्यालय पड़ोस के समुदायों से अलग-*अलग पड़ गये हैं।* वे स्वयं के कार्यों, भावनाओं और विचारों के घेरे में अकेले और अलग रहते हैं। शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य यह है कि वह प्रत्येक बालक में अपने और सामाजिक परिवेश के बीच विश्वसनीय समझदारी का विकास करे। *इस प्रकार के सम्बन्ध नागरिक शास्त्र के शैक्षणिक पाठ पढ़ा देने से नहीं बनेंगे।* इस प्रकार के सम्बन्ध पड़ोसी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने और उसके प्रति क्रियात्मक संवेदनशीलता का प्रतिफल होते हैं।

हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने हमारे बालक-बालिकाओं को अपनी परम्परागत महान संस्कृति और धर्म से विमुख कर दिया है। शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो देश के नौनिहालों को उनकी ही धरती की संस्कृति में

पाले और उनके स्वस्थ विकास के लिए उचित पोषण दे। हमारी शिक्षा ने अब तक भारत के अतीत की उपेक्षा की है और हमारे विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति की कोई जानकारी नहीं है। अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ होना या उसके प्रति अवमानना की भावना रखना एक तरह की सांस्कृतिक आत्महत्या है। शिक्षा की किसी भी सुगठित व्यवस्था को अपने बालकों को न केवल उनके भव्य अतीत का ही ज्ञान देना चाहिए बल्कि इससे भी अधिक आवश्यक है उन्हें भविष्य के लिए उचित निर्देशन देने की दृष्टि से उसके प्रति रागात्मक प्रतीति कराना।

आज की शिक्षा के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यही है कि उसने विद्यार्थियों में श्रद्धा का दृष्टिकोण नहीं पनपाया है। यदि शैक्षणिक प्रक्रिया में ऐसा ज्ञान शामिल नहीं है जिससे मस्तिष्क प्रकाश पा सके, तो वह पूर्ण शिक्षा नहीं है। मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना पूर्ण मानव की शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है।

जीवन में मानव-मन को अशान्त बना देनेवाली अनिश्चितताओं और अन्तर्विरोधों के कारण आज आध्यात्मिक शिक्षा की अतीव आवश्यकता है। सांस्कृतिक संकट के काल में सही ढंग की आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा ही सुरक्षित आश्रय हो सकती है। आज परिवार, मन्दिर और अन्य सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य में धार्मिक वृत्तियों का पोषण नहीं कर पा रही हैं। इसके अतिरिक्त तकनीकी संस्कृति सर्वव्यापक हो रही है।

आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा केवल निर्देशन का नहीं, बल्कि शिक्षण का विषय है। विभिन्न विश्वासों की विरासत का प्रसार निस्सन्देह आवश्यक है। किन्तु यही अपने-आप में पर्याप्त नहीं है। आध्यात्मिक शिक्षा विश्वासों का हस्तान्तरण नहीं, वरन् एक खोज है, एक शोध है। सही तरीके की आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालयों को विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मों के अध्ययन को श्रद्धाभाव से अपने पाठ्यक्रम में रखना होगा।

परीक्षाएँ जैसी आज चल रही हैं एक अभिशाप हैं। उन्हें जड़ से समाप्त कर देना चाहिए। वे शिक्षा को गलत रास्ते पर ले गयी हैं। विद्यालयीय जीवन में सहभाग, वास्तविक कार्य, कार्य-विवरण और रिपोर्ट, कक्षा में उनके कार्य-निदान, व्यक्ति का मूल्यांकन, कार्य की दैनिक और सालाना रिपोर्ट, पुस्तकालय, सेमिनार, अभिलेख आदि के माध्यम से छात्रों के कार्यों का सतत मूल्यांकन होना चाहिए। आज दफ्तरों में बाबूगिरी के पेशों के लिए पासपोर्ट के तौर पर डिग्रियाँ, डिप्लोमा या प्रमाण-पत्रों को

जो मान्यता प्राप्त है उसके अभाव में तो यह शिक्षा-पद्धति कभी समाप्त हो गयी होती। फिर भी शिक्षा के पवित्र नाम पर चलनेवाले इस बेहूदेपन को समाप्त करने का अब भी समय है।

शिक्षाशास्त्री न केवल हमारे देश में ही वरन् पश्चिमी देशों में भी इन विचारों पर जोर देते रहे हैं। विशिष्ट शिक्षा आयोगों ने भी समय समय पर इन कमियों की ओर हमारा ध्यान खींचा है और सुधार के लिए सुझाव दिये हैं। टनों कागज और स्याही खर्च करके बुलेटीन, परिपत्र, सम्भावित योजनाएँ, शोध-अध्ययनों और गोष्ठियों के निष्कर्षों एवं रिपोर्टों का पर्वत जैसा ढेर वितरित किया जा चुका है। किन्तु परिणामस्वरूप शिक्षा के संगठन और प्रशासन में कुछ सामान्य सुधार, जैसे काम के घण्टों में परिवर्तन, छुट्टियाँ, टाइम-टेबुल, परीक्षा-पद्धति में कुछ परिवर्तन अथवा कुछ नये पदाधिकारियों की नियुक्तियों के अतिरिक्त विचारों को शीघ्र क्रिया में परिणत करने के लिए बुनियादी सिद्धान्तों में मौलिक और क्रांतिकारी परिवर्तन करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया है। हमें आज प्रशासन और संगठन-सम्बन्धी मामलों में छिटपुट सुधार की आवश्यकता नहीं है, बल्कि शिक्षा के आदर्श क्रियान्वयन में क्रांति की आवश्यकता है।

किये गये प्रयास

सन् १८५४ ई० के 'वुड डिसपैंच' के बाद स्वतंत्र भारत ने अनेक आयोगों और समितियों का गठन किया जिनमें १९४८-४९ का विश्वविद्यालीय शिक्षा आयोग, १९५२-५३ का माध्यमिक शिक्षा आयोग तथा १९६५-६६ का भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन) उल्लेखनीय है। इन आयोगों की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाये गये। नवीनतम शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन) की रिपोर्ट पर काफी चर्चा हुई और टिप्पणियाँ की गयी। चर्चाओं के फलस्वरूप भारत सरकार ने १९६८ साल में अपने शिक्षा मंत्रालय के द्वारा शिक्षा की राष्ट्रीय नीति निर्धारित की जिसका प्रकाशन उसी साल किया गया।

तत्पश्चात् १९७० की ९-१० फरवरी को डा० वी० के० आर० वी० राव तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मंत्री की प्रेरणा से सेवाग्राम में देश के चुने हुए शिक्षा-विदों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन का मुख्य लक्ष्य यह था कि वह गांधीजी द्वारा निर्धारित मानव-मूल्यों को राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में किस प्रकार शामिल किया जा सकता है, इस पर विचार करे।

उसके बाद १९७२ की ३ और ४ जून को शारदाग्राम (गुजरात) में सीमित संख्या में शिक्षाविदों का सम्मेलन हुआ जिसमें राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में काफी चर्चाएं हुई। उक्त सम्मेलन के एक पारित प्रस्ताव के अनुसार १९७२ साल में ही सेवाग्राम में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन १४, १५ और १६ अक्तूबर को किया गया जिसका उद्घाटन हमारी प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया। उक्त सम्मेलन के अवसर पर सम्मेलन के अध्यक्ष तथा गुजरात राज्य के तत्कालीन राज्यपाल श्री श्री मन्नारायण ने भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप का एक प्रारूप तैयार किया और सम्मेलन के सामने वह रखा गया। उक्त सम्मेलन में देश के अधिकांश मुख्य मंत्रियों, शिक्षा मंत्रियों, उपकुलपतियों, प्राचार्यों, प्राध्यापकों तथा राष्ट्र-निर्माताओं ने भाग लिया और सर्वसम्मति से राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये जो निम्नांकित हैं —(१) शिक्षा हर स्तर पर सामाजिक दृष्टि से उपयोगी एवं उत्पादक क्रिया-कलापों द्वारा आर्थिक विकास की उपलब्धि से सम्बद्ध रहकर ग्रामीण और नगरीय दोनों क्षेत्रों में प्रचलित हो।

(२) प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तरों के पाठ्यक्रमों में तीन मूल तत्वों पर बल दिया जाय .

(क) आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास तथा शैक्षणिकता की अविभाज्य अंग के रूप में कार्यों द्वारा श्रम-प्रतिष्ठा।

(ख) सामुदायिक सेवा के सार्थक कार्यक्रमों में छात्रों और शिक्षकों के सहयोग से राष्ट्रीयता एवं सामाजिक दायित्व की भावना।

(ग) नैतिक मूल्यों का सिंचन तथा सर्वधर्म समभाव और उनके मूलभूत सिद्धान्तों की एकता।

(३) शैक्षणिक ढांचे के विभिन्न स्तरों को १० + २ + ३ क्रम के अनुसार होना चाहिए।

(४) प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल सभी बच्चों के लिए समान तौर पर खुले होना चाहिए।

(५) सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से स्कूलों की एक आम पद्धति संचालित करना जरूरी है।

(६) निजी संस्थाओं में मौजूद बुराइयों को हटाने के लिए सरकार

प्रयत्न होने चाहिए । लेकिन प्रशासन को माध्यमिक स्कूलों और कालेजों को सचालित करने की समस्त जिम्मेवारी नही उठानी चाहिए ।

प्राथमिक और माध्यमिक स्तरो पर सभी राज्यों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा है, विश्वविद्यालय स्तर पर इस प्रकार के शिक्षा-माध्यम को जारी करने के लिए शीघ्र कदम उठाना चाहिए ।

(८) इस शैक्षणिक सुधार में शीघ्रता लाने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि सिविल तथा मिलिट्री सेवाओ के लिए अखिल भारत प्रतियोगिता परीक्षाओं को क्षेत्रीय भाषाओ में लिया जाय और उम्मीदवारो को प्रत्येक राज्य के लिए तर्कयुक्त आधार पर नियत कोटा के अनुसार चुना जाय । इन सेवाओं का अखिल भारतीय स्वरूप कायम रखने के लिए चुने गये नवयुवक को हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान कराया जाय तथा उन्हें राष्ट्रीय इतिहास, सस्कृति, भारतीय सविधान और आर्थिक सयोजन की भी आवश्यक जानकारी दी जाय ।

(९) परीक्षा के वर्तमान ढग से छात्रो की शारीरिक, मानसिक और नैतिक क्षमताओं पर बड़ा बुरा प्रभाव पड रहा है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि परीक्षा-पद्धति में अविलम्ब आमूल सुधार किये जायें ।

सक्षेप में, परीक्षा-पद्धति न केवल विद्यार्थियो की बौद्धिक सिद्धि की जाँच करे, बल्कि उत्पादक और विकास प्रवृत्तियों, सहगामी कार्यक्रमों, समाजसेवा, नियमित उपस्थिति तथा सामान्य व्यवहार पर भी ध्यान दे ।

(१०) सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रों में नौकरियो के लिए डिग्रियो का सम्बन्ध विच्छेद कर देने के लिए भरसक प्रयत्न किये जाने चाहिए । इस उद्देश्य से भर्ती के नियमों में समुचित सशोधन किया जाय ।

(११) कोई भी शैक्षणिक विकास शिक्षको का गुणवत्ता और प्रशिक्षण में सुधार लाये विना सम्भव नही है । शिक्षको का कर्त्तव्य है कि ये छात्रों के प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाने का भरसक प्रयास करें । लेकिन सरकार का भी यह फर्ज है कि वह शिक्षको की सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाये और उन्हे दैनिक आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करे ।

(१२) शैक्षणिक पुनर्रचना के महत्त्वपूर्ण कार्य में सभी स्तरो पर माता-पिता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना नितांत आवश्यक है । इस उद्देश्य से विद्यालयों एव कालेजो में पालक-शिक्षक मण्डल की स्थापना एक सामान्य व्यवस्था बन जानी चाहिए ।

(१३) शैक्षणिक सुधार की नीति-निर्धारण प्रक्रिया में छात्रों का सहकार लेना जरूरी है छात्र-संघों का उपयोग विद्यार्थियों में आत्म-संयम लागू करने की दृष्टि से किया जा सकता है।

नवयुवकों को यह बात भली-भाँति समझायी जाय कि हिंसा वर्तमान तरीकों से अनिवार्यतः प्रति हिंसा उत्पन्न होगी जो हमारे लोकतान्त्रिक ढाँचे को ही गम्भीर खतरे में डाल देगी।

(१४) पिछले २५ वर्षों में लागू की गयी विभिन्न शैक्षणिक योजनाओं के बावजूद हमारी आबादी का ७० प्रतिशत अंश अभी भी निरक्षर बना हुआ है। इसलिए जनता में 'व्यावहारिक' साक्षरता लाने के लिए संगठित प्रयत्न किये जायँ ताकि जनता में श्रेष्ठतर नागरिक जागरूकता पैदा होने के अलावा उनकी कार्य कुशलताओं में अभिवृद्धि हो सके। इस राष्ट्रीय अभियान में सामाजिक सेवा की प्रवृत्ति के रूप में छात्रों और शिक्षकों का पूरा सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए।

(१५) विद्यालयों और महाविद्यालयों में खेल-कूद का बड़े पैमाने पर विकास किया जाय। प्रतिभाशील नवयुवकों का योग्यतानुसार चयन कर उन्हें प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

आगे की योजना

अब तक हमलोग शिक्षा की वर्तमान स्थिति की ओर अब तक किये गये प्रयासों के सम्बन्ध में चर्चा करते रहे। अब इन चर्चाओं के फलस्वरूप बिहार आचार्यकुल आगे की कौन सी योजना लेगा इस पर विचार करना है।

शिक्षा का उद्देश्य

(१) शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है। (२) शिक्षा को व्यक्ति को हर प्रकार के शोषण-मुक्त एक नयी समाज-रचना करने का उत्तरदायित्व, बुद्धिमत्ता और सक्रियता से स्वीकार करने के योग्य बनाना चाहिए। (३) शिक्षा को व्यक्ति में बुद्धिमत्तापूर्ण समझदारी की आदत और उसकी आत्म निर्देशन की शक्तियों की वृद्धि के साथ-साथ उसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। (४) शिक्षा को आध्यात्मिक और नैतिक मूल्य पनपाने चाहिए। (५) शिक्षा को पारस्परिक संस्कृति की पुनः व्याख्या में सहायता करनी चाहिए। (६) शिक्षा को विज्ञान को सत्य के लिए खोज के रूप में और मानव मूल्यों को बढ़ावा देनेवाली तकनीकों को प्रोत्साहन देना चाहिए। (८) शिक्षा को छात्रों में सृजनात्मक और सौंदर्यात्मक अनुभवों के लिए प्रचुर अवसर प्रदान करने चाहिए।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निम्नांकित कार्यक्रम लाने होंगे

(१) चरित्र के वर्तमान ह्रास का हल केवल शिक्षा में सामान्य सुधारों से नहीं वरन् शैक्षिक उद्देश्यो और क्रियाओं में समग्र क्रांति के द्वारा ही निकल सकता है। (२) शिक्षा के हर स्तर पर मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए (३) शिक्षा के सभी स्तरों पर उत्पादक और सार्थक शरीर-शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए। (४) शिक्षण-संस्थाओं को कार्यकारी लोकतंत्र के रूप में विकसित होना चाहिए।

तो हम क्या करें !

सम्भवतः बिहार आचार्यकुल ही सर्वप्रथम आचार्यकुल है जो इस राज्य की नयी शिक्षा-नीति में मोड़ लाने के लिए आज विचार कर रहा है। इसलिए इस आचार्यकुल को नयी शिक्षा-नीति की कार्यान्विति के लिए निम्नांकित कदम उठाने होंगे

(क) आचार्यकुल को एक शिक्षा-समिति का गठन करना। (ख) शिक्षा के प्रत्येक स्तर के सिलेबस का सम्यक अध्ययन और उनके परिवर्तन के लिए ठोस सुझाव देना। (ग) प्रत्येक स्तर के विद्यालय और महाविद्यालय और महाविद्यालय के प्रांगण को सादगी के साथ आकर्षक और उपयोगी बनाना जिसमें समुदाय और छात्रा के वे प्रकाश-स्तम्भ बन सकें। (घ) आचार्यकुल के सभी सदस्यों को सादी वेश भूषा में रहने का संकल्प लेना। (ङ) छात्र-समुदाय को किसी समाजोपयोगी उत्पादक काम की ओर प्रवृत्त करने के लिए संस्था के हाते में परिश्रमालय की स्थापना करना या निकट के सुसज्जित परिश्रमालय में कार्य की सुविधा प्रदान करना। (च) प्रत्येक संस्था का अपना सेवा-क्षेत्र होना चाहिए जहाँ वह संस्था शिक्षा के माध्यम से सेवा के काम कर सके। (छ) लोकतंत्र के सफल कार्यान्वयन के लिए नागरिक शिक्षा की व्यवस्था संस्था के सेवा क्षेत्र में करना। (ज) प्रत्येक आचार्य को आचार्यकुल के लिए निर्मित आचार्य संहिता के अनुसार अपने को निर्देशित करना। (झ) छात्रों की समस्याओं का स्नेहपूर्वक समाधान करना। (ट) प्रत्येक संस्था द्वारा अतिरिक्त समय में छात्रो के मार्गदर्शन के लिए अतिरिक्त समय में छात्रों के मार्गदर्शन के लिए अतिरिक्त वर्गों का संचालन करना।

द्वारिका सिंह, शैक्षिक निबन्धक, बिहार स्टेट टेक्स्ट बुक
पब्लिशिंग कारपोरेशन, पटना

शासनमुक्त शिक्षण : विनोबाजी के अधिकृत मार्गदर्शन

[महाराष्ट्र आचार्यकुल के प्रथम सम्मेलन के अवसर पर 'शासनमुक्त शिक्षण' विषय पर महाराष्ट्र आचार्यकुल के संयोजक श्री मामा क्षीरसागर, विदर्भ के संगठक श्री रामसेवालकर और श्री दि० ह० सहस्रबुद्धे ने विनोबाजी से कुछ प्रश्न पूछे थे। विनोबाजी द्वारा दिये गये प्रश्नों के उत्तर नयी तालीम के पाठकों के लिए दिया जा रहा है। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर आप अपनी राय लिखें ऐसी प्रार्थना है।—सम्पादक]

प्रश्न शिक्षण क्रम की रचना कैसी हो, पाठ्यक्रम किन विषयों का हो, पाठ्यक्रम कैसा हो, परीक्षा प्रणाली कैसी हो, तथा ऐसे ही अन्य विषयों के बारे शासन, भारत तथा राज्य स्तर पर शिक्षा-सम्बन्धित व्यक्तियों से शिक्षा-विशेषज्ञ, शिक्षक, शिक्षा विभाग के कुछ उच्च अधिकारी आदि की समितियाँ गठित करके, उनसे सिफारिशें प्राप्त की जाती हैं और उन सिफारिशों पर शासन केवल निर्णय लेता है—आज ऐसी सामान्य स्थिति है। ऐसी स्थिति में शिक्षण शासन-मुक्त होना चाहिए या निश्चित रूप से क्या हो ?

विनोबा इंग्लैंड में क्या चल रहा है, जानते हैं ?

सहस्रबुद्धे—नहीं।

विनोबा—इंग्लैंड की तरह किया जाय। इंग्लैंड के सारे विश्वविद्यालय स्वतंत्र हैं। उन पर सरकार का कोई शासन नहीं है। शासन का हस्तक्षेप विश्वविद्यालय स्वीकार नहीं करते। शिक्षाक्रम, पाठ्यपुस्तकें आदि के बारे में सारा निर्णय विश्वविद्यालय ही करते हैं। सरकारी कुछ भी नहीं हो सकता। विश्वविद्यालय का खर्च, प्राध्यापकों का वेतन आदि सब सरकार देती है। इस प्रकार इंग्लैंड में शिक्षण की पूरी स्वायत्तता है।

सदस्य जुड्ढे—इग्लैंड में विश्वविद्यालयों पर शासन के नियंत्रण के विषय में मुझे कोई जानकारी नहीं है। लेकिन प्राथमिक और विशेषत माध्यमिक शिक्षा पर शासन का काफी नियंत्रण रहता है। लडका को किस उम्र तक अनिवार्य शिक्षण प्राप्त करना चाहिए, यह भी शासन तय करता है। वेतनमान तय करने के लिए जो बर्नहम कमेटी होती है उसमें शासन के प्रतिनिधि रहते हैं।

विनोबा—माध्यमिक शिक्षा तक इग्लैंड में जैसी व्यवस्था है वैसी होनी चाहिए लेकिन लडके को शाला में जाना चाहिए ऐसी सख्ती करने का अधिकार शासन को नही होना चाहिए। *व्यक्तिगत रूप से मेरा मत है कि* प्रत्येक को पढना चाहिए। लेकिन शाला में जाना ही चाहिए ऐसी सख्ती करना ठीक नही है। मेरे मन में बच्चे को खेती में लगाने का है और पढाने का नही है अथवा पढाना हो तो मैं *अपना घर पर पढ़ा लूंगा शाला में भरती नहीं करूंगा*। अपने लडके को शाला में भरती न करके खेती में लगाने का अधिकार मुझे रहे, यह शासन-मुक्ति का पहला अर्थ है। दूसरा अर्थ है जो शाला में जायेगा उसकी माध्यमिक शिक्षा तक की व्यवस्था इग्लंड जैसी होनी चाहिए।*

आप विद्वान है, शिक्षक है। आपका एक लडका है। आप उसे घर पर पढाते है। फिर उसे स्कूल भेजने की जबरदस्ती क्यो होनी चाहिए? आपके स्कूल में, मेरे घर में कुआँ है। फिर पानी पीने के लिए सार्वजनिक कुएँ पर जाना ही चाहिए, यह जबरदस्ती क्यो? मेरे घर में मेरे लडको के लिए शिक्षण की योजना है। फिर मैं उन बच्चों को स्कूल में क्या भेजूँ? बहुत हुआ तो आप इतना देखिये कि उन लडको को पढाया कि नही पढाया। उससे लिखा लीजिए। प्रमाण क्या है? अँगूठे के बदले हस्ताक्षर करता। दूसरा क्या है? कम्पल्सरी शिक्षण में क्या है? लडके अँगूठा न करके सही कर सकते हैं—हो गयी पढाई। शिक्षित हो गये। लेकिन ये लोग कहते हैं साक्षर हो गये। मैं कहता हूँ और लोगो को साक्षर होना चाहिए। साक्षर होने का क्या उपयोग है? मुझे शासन मुक्त जनता चाहिए—शासन-मुक्त जनता शासन-मुक्त शिक्षण से ही आयेगी।

---

* विनोबा जी के शिक्षण सम्बन्धी ये विचार आज के विश्व में अत्यन्त प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियो और समाजशास्त्रियो के अनुरूप है, जो मानते है कि स्कूली शिक्षा आज के युग के लिए अपर्याप्त ही नही हानिकर भी है। इन शिक्षा-शास्त्रियो में लैटिन अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री डा० इवान इलिच और 'फ्यूचर शाक' के लेखक एडविन टाफलर के नाम लिये जा सकते हैं।—सम्पादक

१—लडका को स्कूल में भेजना चाहिए, यह आग्रह मुझे स्वीकार नही।

२—माध्यमिक शिक्षा तक शिक्षा-विभाग का नियमन मान्य है। लेकिन विभाग को विद्वानो की सलाह से यह काम करना चाहिए। (आचार्यकुल ने अपनी शिक्षा-नीति में यह बात स्पष्ट कही है।)

३—कालेज और युनिवर्सिटियाँ सरकार के नियमन से पूरी तरह मुक्त रहे।

प्रश्न माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय स्तर पर विभिन्न विषयो का पाठ्य-क्रम माध्यमिक शिक्षा मडल तथा विश्वविद्यालय तय करते हैं, परीक्षाएँ भी ये ही लेते हैं, पाठ्यग्रन्थ स्वीकृत करते हैं। इधर विशेषज्ञ से पुस्तकें लिखाकर उनका प्रकाशन मण्डल तथा विश्वविद्यालय ही करें, यह पद्धति चालू हो रही है। उक्त दोनो बातो में शासन सहसा हस्तक्षेप नही करता। शिक्षण शासन-मुक्त हो, इस माँग के सदर्भ में इस व्यवस्था में कैसा परिवर्तन होना चाहिए?

उत्तर शिक्षा के विषय में सब कुछ युनिवर्सिटियो को मिलाकर करना चाहिए, यह मेरी सलाह है। लेकिन माध्यमिक स्तर तक, अगर ऐसा होता है तो मेरे द्वारा मान्य करने पर कोई कठिनाई नही रही।

प्रश्न भारत ने लोकशाही को जीवन-पद्धति के रूप में पूरी तरह प्रत्यक्षत मान्य नही किया है, तो भी शासन पद्धति के रूप में प्रत्यक्षत मान्य किया है। शिक्षण शासन-मुक्त होना चाहिए यह माँग करते समय शिक्षा क्षेत्र विषयक सारी बातो पर अन्तिम अधिकार प्रातिनिधिक विधि मडल के हाथ में रहेगा। यह मानना ही पडेगा न?

उत्तर प्रातिनिधिक विधि मडल यानी लेजिस्लेटिव एसेम्बली का कोई अधिकार मैं मान्य नही करता। ससद के सदस्यो को जनता चुन देती है, इतना ही ज्ञान देखकर उनका चुनाव नही किया जाता, इसलिए ज्ञान पर उनकी सत्ता नही हो सकती।

प्रश्न शिक्षा शासन-मुक्त हो और स्वायत्त हो, ये दो माँगें अलग-अलग मानी जायें या एक ही माग के दो पहलू हैं? दो स्वतत्र मागें मानने में क्या फर्क है?

उत्तर फर्क मुझे भी समझ मे नही आता।

प्रश्न शिक्षा शासन-मुक्त हो यह माग आगे बढाने में और उसे समाज की ओर से स्वीकार कराने में आचार्यकुल के सदस्यो को कैसा बर्ताव करना चाहिए? कैसा प्रचार करे? मतदाता नागरिको को इस माँग की न्यायता कैसे समझाई जाय?

उत्तर : आचार्यकुल को मतदाताओं के पास जाने का कोई कारण नहीं। आचार्यकुल को राजनीतिक स्तर से मुक्त होना चाहिए—किसी भी राजनीतिक पार्टी में न रहे।

१—विद्यार्थियों की शिक्षा की ओर तन्मयतापूर्वक ध्यान दिया जाय।

२—बचे हुए समय में एक-एक गाँव का संगठन हाथ में लिया जाय। गाँव के लोगों की उनके काम में मदद की जाय, सलाह दी जाय। इस तरह एक-एक गाँव की ओर लक्ष्य किया जाय। विशेष प्रश्नों के लिए वर्ष में दो-तीन बार सब एक जगह मिलें। वहाँ कार्यक्रम करके अपना विचार जाहिर किया जाय। सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक प्रश्न, और जागतिक प्रश्नों का अध्ययन करके सबके सामने रखा जाय। सामूहिक निर्णय जाहिर किया जाय। जाहिर करने पर उसका जो प्रभाव पड़ेगा वह पड़ेगा। उसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं।

प्रश्न : आज शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था प्रमुखतः शासन, निजी शिक्षा-संस्था या निजी मंडलों के हाथ में है। इन व्यवस्था मंडलों में व्यक्ति हित, जाति, भाषा, धर्म, राजनीतिक दल आदि का हित देखने की दृष्टि से विचार करनेवाले और उस दृष्टि से बर्ताव करनेवाले लोगों का प्राबल्य है। इस कारण शिक्षकों पर भी उस दृष्टि से बर्ताव करने का दबाव होता है। उस दबाव से मुक्त होना आवश्यक है। इसलिए शिक्षण को शासन-मुक्त करने के मार्ग पर एक कदम के रूप में सारी शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था केवल शिक्षा-हितैषी लोगों को, जिन्होंने दूसरी नीतियों में भाग नहीं लिया और लेते भी नहीं उनको स्वायत्त मंडल स्थापित करके सौंप देना चाहिए। ऐसा एक सुझाव है, इस बारे में आपका विचार क्या है ?

उत्तर : सुझाव अच्छा है।

प्रश्न : आपने कहा है कि शिक्षा स्वायत्त कैसे हो ? यह तय करने के व्यावहारिक मार्ग के रूप में सारे कुलगुरुओं और साहित्यिकों को सही विचार से शिक्षा-योजना तैयार करनी चाहिए और वह सबको मान्य करनी चाहिए। कुलगुरु चारित्र्य-सम्पन्न तथा चिन्तनशील होते हैं, ऐसा आपने कहा। वस्तु-स्थिति की जानकारी के आधार पर अनेक प्रतिनिधि आपके विचार से सहमत नहीं थे। इसके अतिरिक्त आज भी शिक्षण के स्वरूप के बारे में और व्यवस्था के बारे में इनमें से अनेक लोगों की सलाह ली जाती है। अतः दूसरा अधिक विश्वसनीय व्यावहारिक मार्ग आप सुझायें।

उत्तर : चारित्र्यहीन और चिन्तनहीन व्यक्ति सर्वत्र होते हैं। तब यह जो

कुलगुरु वर्ग है उसमें भी ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं। परन्तु उनमें प्रमाण कम-से-कम होगा। किसी भी एक वर्ग में जिस प्रमाण में भ्रष्टाचारी व्यक्ति होंगे उस हिसाब से कुलगुरु वर्ग में कम-से-कम होंगे। कुल मिलाकर ७०-८० विश्वविद्यालय हैं। कितने कुलगुरु हो गये ? एक विश्वविद्यालय के लिए एक कुलगुरु के हिसाब से अस्सी कुलगुरु हुए। इनमें कितने भ्रष्ट होंगे ? चार-पाँच होंगे। एक-दूसरे पर भ्रष्टाचार का लांछन लगाने का आजकल फैशन हो गया है। उसकी तरफ मैं ध्यान नहीं देता। लेकिन मैं सामान्यतः ऐसा समझता हूँ कि कुलगुरु है तो वह चारित्र्य-सम्पन्न होगा। इसके बिना वह इतना ऊपर नहीं चढ़ सकता।

प्रश्न : इस समय कुलगुरु पद के लिए पेनल्स मँगाये जाते हैं और उन पेनल्स में से एक की नियुक्ति सरकार करती है। कुलगुरु की नियुक्ति भी यह सर्वसाधारण पद्धति है। ऐसी स्थिति में उनका आचरण और वर्तन स्वतंत्र रहेगा यह कैसे माना जाय ?

उत्तर : सरकार की ओर से कुलगुरु नियुक्त किये जाते हैं, ऐसा आप कहते हैं, इसमें मुझे आपत्ति नहीं। सरकार की ओर से न्यायमूर्ति नियुक्त किये जाते हैं लेकिन नियुक्त करने के बाद वे सरकार के अधीन नहीं रहते। कुलगुरु बनने के बाद उसे किसी भी प्रभाव में नहीं आना चाहिए।

प्रश्न : वर्तमान पद्धति के अनुसार एक पेनल सरकार की तरफ, राज्यपाल की तरफ जाता है और उस पेनल्स में से एक की नियुक्ति होती है। जिनका चयन होता है वे प्रभाव में रहते हैं। पेनल में किसका चयन होगा यह कई बार तो पहले से बताया जा सकता है। इस पर से समझ में आता है कि यह चयन किस दृष्टि से किया जाता है।

उत्तर : कुलगुरु का वर्ताव विधानमण्डल के स्पीकर जैसा होना चाहिए। इलेक्ट होते ही वह किसी भी पार्टी का नहीं रहता। स्पीकर बनने पर उस पर पार्टी का बंधन नहीं रहता। ऐसा ही इस विषय में होना चाहिए—इसी तरह कुलगुरुओं को वर्तना चाहिए।

प्रश्न—कोई भी एक योजना मान्य करने पर उसमें कार्यान्वयन के विषय में कुछ नार्म्स तय कर दिये जायें और शेष स्वातंत्र्य स्कूल, कालेजों को दिये जायें ऐसा विचार आपने व्यक्त किया है। इन नार्म्स का पालन किया जाता है, यह देखने के लिए एकाध कमेटी आवश्यक होगी। वह किसकी होगी ? कैसी होगी ?

उत्तर—योजना का पालन हो रहा है या नहीं, इसके लिए कमेटी चाहिए। वह प्रांतीय हो, अखिल भारतीय नहीं। और जो प्रांत के कुलगुरु होंगे, महाराष्ट्र

में सात युनिवर्सिटियाँ हैं। इसलिए उन सात कुलगुरुओं को मिलाकर अपनी ओर से एक कमेटी इस काम के लिए नियुक्त करनी चाहिए और सो भी अपनी ओर से।

प्रश्न—शिक्षण को शासन-मुक्त करना है। ऐसा करने पर वह किसके हाथ में दिया जाय? जिनके हाथ में दिया जाय उनके लिए कोई कसौटी होनी चाहिए? कैसी? उनका चयन, नियुक्ति और चुनाव कौन और कैसे करेगा?

उत्तर—युनिवर्सिटियों के हाथ में।

प्रश्न—जिन मुद्दों पर मतैक्य होगा वे पुरोगामी स्वरूप के न रहें यह सम्भव है। ऐसी स्थिति में पुरोगामी (प्रोग्रेसिव) कदम शिक्षण-व्यवस्था की ओर से उठाना कठिन ही होगा। इस कारण शासन-मुक्त और स्वायत्त शिक्षण से उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायता मिले—शांतिपूर्ण क्रांति हो—यह उद्देश्य साध्य होगा ऐसा नहीं लगता। आपकी प्रतिक्रिया क्या है?

उत्तर—जिन मुद्दों पर एक मत होगा उन्हीं मुद्दों पर चला जाय। सारा समाज धीरे-धीरे ही आगे बढ़ेगा और क्रांति के लिए उपाय क्या है?

१—जिन मुद्दों पर मतैक्य होगा उन मुद्दों पर अमल किया जाय। मतैक्य होने से अमल करने में कोई कठिनाई नहीं रहेगी।

२—जिन मुद्दों पर मतैक्य न हो उन मुद्दों पर चर्चा जारी रहे।

प्रश्न—शिक्षण को शासन-मुक्त होने से वह जातीयता, सम्प्रदाय भाषाभिमान, विशिष्ट राजनीतिक दल, विशिष्ट अभिनिवेश आदि से वह सचमुच मुक्त होगा क्या? इनसे मुक्त न होने वाला हो और पुरोगामी न रहने वाला हो तो शासनमुक्ति की माँग क्यों की जाय?

उत्तर—जातीयता, सम्प्रदाय, भाषाभिमान आदि बातें सर्वथा बुरी नहीं हैं। उनमें कुछ अच्छा अंश है। अच्छा अंश मिलेगा तब बुरा अंश जायगा। तब तक हिन्दुस्तान के लिए आपको जरा धीरे धीरे बर्तना होगा। 'धीरे तो कारण साह्य होय नारायण', जरा धीरज धरना होगा।

जातीयता—जातीयता का हिन्दुस्तान में बहुत बड़ा कारण है। वह कारण उसका समाधान होने पर दूर होगा। कौन-सा कारण है? मांसाहार-मुक्ति। कुछ जातियों ने मांसाहार छोड़ दिया है। कुछ भी हो जाय तो भी हमारी लड़की मांसाहारी कुल में न जाय, यह इच्छा रहती है और जातीयता मिटाने के लिए विवाह होने चाहिए। ऐसा होने पर ही जातीयता मिटेगी। उसके लिए दूसरी जाति का मनुष्य हो। लेकिन यदि उसने मांसाहार छोड़ दिया हो तो विवाह करने में हर्ज नहीं। इस तरह जीवन को व्यापक बनाते जायें।

नया सम्प्रदाय—सम्प्रदायों को नष्ट होने की मुझे आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। भारत जैसे बड़े देश में अनेक सम्प्रदायों का होना उचित ही है। किन्तु उन सम्प्रदायों के जो मुख्य लोग हैं उन्हें एकत्र बैठाकर कामन फाइंड्स निकालना चाहिए और देश को आगे ले जाना चाहिए। भाषाभिमान अच्छी बात है लेकिन अन्य भाषा का विरोध न हो।

शिक्षण को शासनमुक्त करने से ये बातें सध सकेंगी। चौथी बात है विशिष्ट राजनीतिक दल। उन्हें विशिष्ट अभिनिवेश से मुक्त होना चाहिए। यह आज नहीं होगा कालान्तर में होगा। तब तक राजनीतिक पक्ष भेद और दौरे कायम रहेंगे। उसमें शिक्षण संस्था भाग नहीं लेती। यह पर्याप्त है।

प्रश्न—आप जैसे दूरदृष्टिवाले लोग जो समझते हैं कि समाज-जीवन का प्रवाह मानवता की ओर जा रहा है तथा जो तदनुसार प्रत्यक्ष में बर्ताव करने के लिए तैयार रहते हैं, हमेशा बहुत थोड़े होते हैं। तब शिक्षा-क्षेत्र विषयक अंतिम अधिकार लोगों को दे दिया तो निश्चित ही—कम लोगों को दिया तो भी विविध प्रश्नों में मतैक्य साकार होगा ही, ऐसा नहीं है। मतैक्य न होना ही अधिक सम्भव है। ऐसी स्थिति में बहुमत या सर्वसम्मत से ?

उत्तर—जितने मुद्दों पर मतैक्य होगा वह निर्णय। जिस पर नहीं होगा उस पर चर्चा जारी।

प्रश्न—शिक्षण शासन-मुक्त विषय की चर्चा में एक प्रतिनिधि ने यह सुझाव दिया कि राज्य विधान में ही जैसे कानूनी, कार्यकारी और न्याय ऐसे तीन विभाग होते हैं उसी तरह शिक्षण का भी एक चौथा विभाग रहे। यह सुझाव आप को कैसा लगता है ?

उत्तर—ठीक है यह सुझाव। ◘

डा० नगेन्द्र

उच्चतर शिक्षा का माध्यम

शिक्षा के क्षेत्र में आज सबसे ज्वलन्त प्रश्न माध्यम का है उच्चतर ज्ञान-विज्ञान—उद्योग-विज्ञान आदि की शिक्षा का माध्यम क्या हो? अंग्रेजी ही चलती रहे या भारतीय भाषाएं हों और सार्वदेशिक स्तर पर हिन्दी का क्या उपयोग हो—ये कुछ प्रश्न प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध हैं।

शिक्षा-तन्त्र के चार प्रमुख अंग हैं। एक, आधारभूत ज्ञान। दो, प्रसारण की साधन-सामग्री। तीन, शिक्षक और चार, शिक्षा का अधिकारी छात्र-वर्ग। इनके अतिरिक्त समाज का भी इस तन्त्र से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि अन्ततः समाज का कल्याण ही तो शिक्षा का लक्ष्य है। शिक्षा-तन्त्र की सफलता इन सभी अंगों के उचित सामंजस्य में निहित है। इनमें से ज्ञान तो आत्मा या अन्तश्चेतना की क्रिया अथवा प्रवृत्ति का नाम है जो अमूर्त है, धारणाओं के संघात से उसका निर्माण होता है। अतः ज्ञान का किसी जाति, देश या भाषा के साथ सहज सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि विकसित जाति या भाषा अधिक ज्ञान सामग्री-सम्पन्न होती है, परन्तु ये सम्बन्ध मौलिक न होकर नैमित्तिक ही हैं। आधुनिक विज्ञान के विकास में अनेक राष्ट्र योगदान कर रहे

है, उसको किसी जाति या भाषा तक सीमित कर देखना मानव-आत्मा का अपमान करना होगा। प्रसारण की साधन सामग्री का सामान्य अर्थ है वाङ्-मय या ग्रन्थ समूह जिसका सम्बन्ध माध्यम, भाषा के साथ है। स्वभावत जिन सम्पन्न देशो में ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होता रहा है और हो रहा है अथवा जिसके पास अनुवाद आदि के लिए अधिक भौतिक साधन हैं उनकी भाषाओ में सब सामग्री अधिक उपलब्ध रहता है और व्यवहार एव प्रयोग से उनकी शक्तियाँ इस प्रकार के ज्ञान का वाहन और सम्प्रषण करने के लिए विकसित हो जाती हैं। जिन भाषाओ में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है उसके माध्यम से शिक्षा के लिए ज्ञान का अर्जन और विकास सरल होता है। अत शिक्षक-वर्ग के लिए ज्ञान के विसर्जन की भाषा भी प्राय वही बन जाती है जो उसके अर्जन की भाषा होती है। जहाँ इस भाषा में और समाज की भाषा में या समाज के उन विशिष्ट अग की भाषा में, जो विद्यार्जन करता है, ऐक्य है वहाँ तो लाभ है। परन्तु जहाँ समाज की भाषा भिन्न है, वहाँ समस्या पैदा होती है और शिक्षातन्त्र के विभिन्न अगों का सम भग हो जाता है। हमारे देश के सामने ऐतिहासिक कारणों से आज ठीक यही समस्या है। भौतिक विज्ञान और उद्योग-विज्ञान का विकास प्राय पश्चिम के समृद्ध देशो में हुआ है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यूरोप की तीन प्रमुख भाषाएँ—अग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच ज्ञान-विज्ञान की सबसे समृद्ध माध्यम भाषाएँ थी। दूसरे महायुद्ध के बाद जर्मन और फ्रेंच पिछड गयी। अमरीका के प्रभाव से अग्रेजी का विस्तार और विकास होता रहा और उधर रूसी भाषा का महत्त्व एकदम बढ़ गया। विज्ञान और उद्योग का भण्डार आज प्राय इन दो भाषाओं में भरा हुआ है। हमारे देश का अग्रेजी के साथ पिछले सौ वर्षों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत रूसी या यूरोप की किसी अन्य भाषा की अपेक्षा, ऐतिहासिक कारणों से भारतीय छात्र-समुदाय के लिए अग्रेजी का माध्यम निश्चय ही सुख-साध्य है। जिस अग्रेजी का आरोप भारतीय समाज पर अग्रेजी शासक ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किया था, उसका सदुपयोग आज भारतीय अपने स्वार्थ के लिए क्यों न करें? देश के अनेक शिक्षाविदों का यह सीधा तर्क है और इसी के आधार पर शिक्षा-आयोग ने उच्चतम शिक्षा के लिए प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ अग्रेजी माध्यम का ग्रहण प्राय अनिश्चित काल तक अवश्य माना है और रूसी भाषा को केवल पुस्तकालय-भाषा के रूप में स्वीकार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह तर्क व्यावहारिक परिस्थितियों में से उद्भुत हुआ है और इसे मानसिक दासता या और कुछ कहकर तिरस्कृत करना समी-

चीन नहीं होगा। परन्तु इसमें भी अनेक दोष हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें शिक्षातंत्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग भारतीय छात्र-वर्ग और भारतीय समाज की, छात्र-वर्ग जिसका एक अंश है, उपेक्षा की जा रही है। भारतीय समाज का अंग्रेजी से सम्पर्क परतंत्र भारत में भी कभी गहरा नहीं रहा, स्वतंत्र भारत में तो शासन की ढुलमुल नीति के बावजूद वह और भी क्षीण हो गया है और तथाकथित उच्च या उच्चतर मध्यम वर्ग में भी, संस्कारों की बाधा होने पर भी, मातृभाषा के प्रति सम्मान की भावना बढ़ती जा रही है। अतः जिस समाज के लिए उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है, उसकी भाषा अंग्रेजी नहीं है। उधर माध्यमिक शिक्षा प्रायः भारतीय भाषाओं के द्वारा प्राप्त करने के कारण विद्यार्थी का अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान के ग्रहण एवं अभिव्यक्ति का अभ्यास भी एक प्रकार से छूट-सा गया है, और स्नातक स्तर पर भी अब यही हो रहा है। ऐसी स्थिति में अनभ्यास के कारण एक साथ स्नातकोत्तर या उच्चतर स्तर पर सहसा अंग्रेजी को ग्रहण करना व्यावहारिक नहीं होगा। विद्यार्थी ज्ञान का अर्जन एक विशेष स्तर तक भारतीय भाषा में करता है और अन्त में जिस समाज में उसे अपने ज्ञान का उपयोग करना है वहाँ भी मुख्यतः भारतीय भाषा का माध्यम ही ग्रहण करना होगा, तब फिर यह आशा करना गलत होगा कि बीच में वह अंग्रेजी का सम्यक् उपयोग कर सकेगा या अंग्रेजी के माध्यम से उसकी योग्यता में सहसा वृद्धि हो जायेगी। उदाहरण के लिए, विधि की शिक्षा को ही लीजिए। आरम्भ में वर्षों तक छात्र प्रादेशिक भाषा के माध्यम से इतिहास, नागरिक शास्त्र आदि का अध्ययन करता है, फिर अन्त में भी उसे जिस वर्ग के लोगों के साथ काम करता है, उनके व्यवहार का माध्यम भी प्रादेशिक भाषा है। इसलिए उसे छोड़कर दूसरी भाषा का आँचल पकड़ रहना कहाँ तक बुद्धिसम्मत है? एक विकल्प यह रखा जाता है कि मानविकी और सामाजिक विज्ञान आदि की शिक्षा भारतीय भाषाओं में हो, परन्तु भौतिक विज्ञान, उद्योग विज्ञान तथा विधि आदि तकनीकी विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में ही होती रहनी चाहिए। इसके विषय में मैं अत्यन्त विनयपूर्वक यह प्रश्न करना चाहता हूँ कि एक ही शिक्षातंत्र के भीतर क्या यह सम्भव हो सकेगा कि आधी शिक्षा भारतीय भाषाओं में हो और आधी अंग्रेजी में? राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन का माध्यम एक हो और वैज्ञानिक गतिविधि का माध्यम दूसरा। हम अनुभव करें हिन्दी, बंगला या तेलगु में और न्याय की माँग करें अंग्रेजी में?

वास्तव में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बीस वर्षों में देश की परिस्थितियों ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर दे दिया है। अत. आज सवाल यह नहीं रहा कि माध्यम क्या हो—वरन् यह कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का सक्रिय प्रयोग किस प्रकार हो। जो लोग आज भी इस सवाल को छेड़ना चाहते हैं कि माध्यम क्या हो, वे या तो यथार्थ से अनभिज्ञ हैं, या जानबूझ कर मुख्य प्रश्न को टालना चाहते हैं। ऐसे लोगों से बहस करना बेकार है, क्योंकि इससे अकारण ही राष्ट्र की उस सीमित शक्ति और समय का भी अपव्यय हो सकता है जो रचनात्मक कार्य के लिए अर्थात् माध्यम-परिवर्तन की योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए तत्काल अपेक्षित है। काम यह बड़ा है, पर बड़े से बड़ा काम भी सगठित प्रयत्न से शीघ्र ही पूरा हो सकता है। दुर्भाग्य यह है कि अभी तक इस प्रकार का प्रयत्न भी सही ढग से आरम्भ नहीं हुआ है। इस प्रसग में पहली आवश्यकता यह है कि हिन्दी-भाषी राज्य मिलकर इस बात की जाँच-पड़ताल करें कि माध्यम-परिवर्तन के लिए कुल मिलाकर कितनी पुस्तकें अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। इनमें से उचित स्तर की कितनी पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं और शेष कितनी ऐसी हैं जिनका अनुवाद या स्वतन्त्र रूप से निर्माण होना है। तत्काल अपेक्षित आधारभूत सामग्री का मानचित्र तैयार हो जाने के बाद हिन्दी-राज्यों के विश्वविद्यालय आपस में कार्य-विभाजन करके इस लक्ष्य को शीघ्र ही पूरा कर सकते हैं। उच्चतर शिक्षा के पाठ्यक्रम में छोटे-बड़े लगभग तीस विषय हैं। इनमें स्नातक कक्षाओं के ग्रन्थ प्राय. उपलब्ध हैं और शेष की पूर्ति अविलम्ब हो की जा सकती है। यह ठीक है कि इन ग्रन्थों का स्तर वैसा नहीं है जैसा अग्रेजी में उपलब्ध मानक ग्रन्थों का है, परन्तु मैं पूछता हूँ कि आचार्यों के मानक ग्रन्थ आजकल कितने विद्यार्थी पढ़ते हैं? अधिकाश विश्वविद्यालयों में स्नातक-परीक्षा के लिए भारतीय लेखकों की पुस्तकें ही निर्धारित हैं जिनके अनुवाद प्राय हो चुके हैं या माँग होते ही तीन महीने के भीतर प्रकाशक आपको छाप कर दे देंगे। यह भी ठीक है कि केवल व्यवसाय की दृष्टि से, जल्दी में या अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत ये अनुवाद सतोषप्रद नहीं हैं, किन्तु विश्वविद्यालयों की ओर से नियमित रूप से माँग होते ही इनका उचित सशोधन एवं पुनरीक्षण करने में कितना समय लगता है? स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी अनेक विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। शेष का निर्माण विश्वविद्यालय अविलम्ब ही कर सकते हैं। हिन्दी राज्यों में पैंतीस विश्वविद्यालय हैं। आरम्भ में यदि सभी विषयों के लिए कुल डेढ़ हजार

नयी पुस्तकों की आवश्यकता है तो एक-एक विश्वविद्यालय के हिस्से में चालीस-पचास पुस्तकें आती हैं जो निष्ठा और सकल्प के साथ कार्य करने पर अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष के भीतर, और जल्दी की जाय तो दो-तीन वर्षों के भीतर तैयार की जा सकती हैं। एक पुस्तक पर यदि औसत से बीस-पच्चीस हजार रुपया खर्च आया तो तीन करोड़ रुपये में आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तीन वर्ष के भीतर हो सकती है—और, यदि ईमानदारी से कोशिश की जाती तो अब तक यह लक्ष्य सात बार पूरा हो सकता था या सात गुना वाङ्मय प्रस्तुत किया जा सकता था।

इन ग्रन्थों के रचनातन्त्र के बारे में कुछ समस्याएँ सामने आ सकती हैं। उदाहरण के लिए एक मूल समस्या यह है कि साहित्येतर विषयों पर हिन्दी में लिखनेवालों की सख्या अभी बहुत कम है। विषय के पण्डित का भाषा-शैली पर अधिकार नहीं है और भाषा-प्रवीण को विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं है। इसका हल बड़ा आसान है और जिन्हें आवश्यकता हुई है, उन्होंने खोज लिया है। यह कार्य वास्तव में दो सहयोगियों की अपेक्षा करता है—विषय का विशेषज्ञ और भाषा का अधिकारी, इनमें दोनों मिलकर काम करेंगे। विषय का विशेषज्ञ अपने भाषा-ज्ञान के अनुसार परिनिष्ठित हिन्दी में या खिचड़ी हिन्दी में प्रत्येक परिच्छेद का प्रारूप तैयार करता चलेगा और भाषाविद् साथ-साथ उसका सस्कार करता चलेगा। यह तो हुआ स्वतन्त्र लेखन के प्रश्न का समाधान। प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य अभ्यस्त लेखक कर सकते हैं और कर रहे हैं। इस प्रकार के अनुवाद में जो त्रुटियाँ रह जाती हैं, उनका कारण यह है कि इस अनुवाद का विषय-मर्मज्ञ और शैलीकार के द्वारा उचित पुनरीक्षण नहीं किया जाता। वास्तव में अनुवाद-तन्त्र के तीन आवश्यक अंग हैं—एक : विषय का मर्मज्ञ और साथ ही भाषा का सामान्य अधिकारी अनुवादक, दो : विषय सशोधक और तीन : भाषा-सम्पादक। प्रत्येक विश्वविद्यालय अपने साधनों के अनुसार एक या दो चुनकर उपर्युक्त तंत्र के आधार पर एक रचना-केन्द्र की स्थापना कर सकता है। जहाँ नियमित रूप से पूर्णकालिक तथा अर्धकालिक विशेषज्ञों की सहायता से, लक्ष्य बाँधकर, निर्माण-कार्य हो सकता है। इस प्रकार, उद्देश्य की पूर्ति शीघ्र ही की जा सकती है। शासन और विश्वविद्यालय दोनों को निरलस भाव से अविलम्ब ही इन संकल्पों को क्रियान्वित करना चाहिए। जो काम कर्त्तव्य-निष्ठा से, शोभा के साथ होना चाहिए, उसके लिए आन्दोलनों के दबाव की प्रतीक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं।●

शिक्षण किन बातों में स्वतंत्र और स्वायत्त रहे ?

[महाराष्ट्र आचार्यकुल की प्रश्नावली पर डा० चिन्तामण राव देशमुख, भूतपूर्व वित्त मंत्री, भारत सरकार तथा श्री मा० गो० वैद्य से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर। —स०]

प्रश्न : शिक्षण किन-किन बातों में स्वतंत्र और स्वायत्त रहे ?

देशमुख : शिक्षण के उद्देश्य जितने प्रमाण में अधिकाधिक साधे जा सकें उतने प्रमाण में शिक्षण-संस्था को स्वायत्तता और स्वतंत्रता रहे। किसी भी कार्य विभाग में विशेषतः शिक्षा-विभाग में निचली इकाइयों को निर्दिष्ट स्वायत्तता और स्वतंत्रता देना कार्यनिर्वाह के लिए आवश्यक है। तब संस्था किसी भी स्तर की हो, थोड़ी-सी स्वायत्तता और थोड़ा-सा स्वातंत्र्य प्रत्येक को देना ही पड़ता है।

१—योजना की रूपरेखा और नियमावलियाँ केन्द्रीय शासन को ही तैयार करनी होगी।

२—लेकिन तदन्तर्गत सविस्तार पाठ्यक्रम तैयार करने के बारे में स्वायत्तता और स्वतंत्रता का स्थान और उपयोग है—किन्तु इस शर्त पर कि यह 'योग' प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथ में हो।

३—सार्वजनिक परीक्षा आदि सब हटा दी जायँ। परिणामतः प्रवेश-परीक्षा अपरिहार्य हो जायगी। यही हमारी पुरातन पद्धति है नालंदा विद्यापीठ इत्यादि में।

मा०गो०वैद्य १—न्याय विभाग को शासन की दण्डशक्ति का सहारा (सैंक्शन) अनिवार्य है। उसके बिना न्यायदान की कोई कीमत नहीं रहेगी। इस प्रकार का सैंक्शन शिक्षा विभाग के लिए आवश्यक न रहे। शिक्षा विभाग को सैंक्शन समाज का चाहिए। लेकिन वर्तमान परिस्थिति में शिक्षा का सम्बन्ध केवल नौकरी से जुड़ा होने के कारण और सबसे बड़ा नौकरी दाता शासन होने से

उपाधि को शासन की मान्यता आवश्यक हो गयी है। उपाधि का नौकरी से सम्बन्ध तोड़ दिया जाय तो शासनाभिमुखता बहुत कम हो जायगी। जब तक यह नहीं होता तब तक शिक्षा पर शासन का अंकुश और नियंत्रण रहना अपरिहार्य है। न्यायदान के विषय में न्याय विभाग को शासन ने अपना 'सेंक्शन' दिया और न्याय विभाग के 'फैसले' के अनुसार चलना मान्य करने पर अन्य विषयों में शासन हस्तक्षेप नहीं करता। न्यायाधीशों की नियुक्ति शासन करता है, लेकिन न्यायाधीश न्याय कानून के अनुसार देते हैं, शासन की इच्छा के अनुरूप नहीं। इसलिए कानून भले ही शासन बनाये और न्यायदान भी भले ही उस कानून के अनुरूप हो, तो भी न्यायदान स्वतंत्र और स्वायत्त रहता है। शिक्षा विभाग की ऐसी रचना करना उचित नहीं। शिक्षण की व्यवस्था शिक्षा-संस्थाओं को सरकार के आदेश के अनुसार चलाने की अपेक्षा श्रेयस्कर नहीं है कि स्वयं सरकार ही सीधे-सीधे चलाये। यह नहीं चाहिए तो शिक्षण-संस्थाओं को पाठ्यक्रम, नियंत्रण और परीक्षण के विषय में स्वतंत्रता रहनी चाहिए।

२—शिक्षण की स्वायत्तता का मतलब है सम्पूर्ण शिक्षण-व्यवस्था की स्वायत्तता।

३—शासकीय और अशासकीय का फर्क रहने में हर्ज नहीं है। अशासकीय शालाओं को सरकार अनुदान देगी। परन्तु आज की अपेक्षा उसकी अलग से व्यवस्था करना आवश्यक है। आज सरकार पाठ्यक्रम तैयार करती है, पुस्तकें तैयार करती है, खर्च का ९७·५ प्रतिशत या ९९ प्रतिशत अनुदान देती है। फिर सरकार ढाई प्रतिशत या एक प्रतिशत खर्च के लिए संस्था चलाने की जिम्मेदारी क्यों टालती है? मुझे लगता है कि ऐसी संस्थाओं को सरकार हाथ में ले ले तो आज का सारा भ्रष्टाचार रुक जायेगा। राजनैतिक स्वार्थपूर्ति के लिए शालाएँ खोली और उस पूर्ति में हाथ का सहारा दे, इसलिए जिनको सरकार ने मान्यता दी, उनके चरने के लिए एकाध चरागाह हो तथा उनकी उपद्रव-शक्ति का कष्ट अपने को न हो, यह उद्देश्य होने से उसके लिए आज की व्यवस्था जितनी पोषक व्यवस्था नहीं है।

प्रश्न : १—शिक्षा के सारे घटकों का—शासन, शिक्षा-संस्था, संचालक, पालक, शिक्षक और विद्यार्थी—अनुबंध साधने की योजना कौन तैयार करे? किस पद्धति से? यह पद्धति किस प्रकार तय की जाय?

२—स्थानीय राजनैतिक कार्यकर्ताओं का स्थानीय संस्थाओं के संचालन में किस प्रकार का स्थान रहेगा? वह राजनीतिक दल का सदस्य रहे या न रहे? आज का सामाजिक कार्यकर्ता कल राजनैतिक पक्ष का कार्यकर्ता हो सकता

है। सर्वोदय कार्यकर्ता को नैमित्तिक कार्य करना पड़ता है। क्या ऐसे कार्यकर्ताओं को संचालन में स्थान दिया जाय ? क्यों ?

३—सारी शिक्षा-संस्थाओं के स्वायत्त होने पर उन्हें दी गयी शिक्षा-योजना की सामान्य रूपरेखा एक ओर रखकर अथवा उसमें परिवर्तन करके उसे वे अमल में लाती होंगी तो उसकी देखरेख कौन, कैसे और क्यों रखे ?

४—शिक्षा-संस्था को सम्पूर्ण स्वायत्तता दी जाय अथवा मर्यादित स्वायत्तता दी जाय ? इसके कारण शिक्षा-संस्थाओं की प्रयोगक्षमता पर कौन-सा इष्टानिष्ट परिणाम हो सकेगा ?

५—लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज-रचना का ध्येय सामने रखकर भारतीय शासन ने कार्य करना तय किया है। शिक्षा के अनेक उद्देश्यों में से राष्ट्रीय लक्ष्य-नीति में सहायक होनेवाला शिक्षण दिया जायगा, ऐसी रूपरेखा संस्थाओं को दी जायगी। इस कारण स्वायत्तता की मर्यादा आयेगी या नहीं ? ऐसा होने पर उसका स्वरूप कैसा रहेगा ? वे आवश्यक हैं क्या ?

डा० देशमुख १—शासन, संस्था और संचालक के विषय में शासन और संचालक संस्था के प्रधान को स्वतन्त्रता दें—पालकों की सहायता प्राप्त करना संचालकों का काम है। शिक्षक और विद्यार्थियों का अनुबंध जोड़ना शिक्षकों का धर्म होना चाहिए।

२—संस्था के स्तर पर—राजनैतिक कार्यकर्ताओं को वैयक्तिक स्थान केवल उनकी शैक्षणिक योग्यता के अनुसार रहे, अन्यथा उनकी शिक्षणरूपी गाय के गले का भयकर घोंघा हो जाने की सम्भावना है।

३—देखरेख उनकी होगी जिन्होंने स्वायत्तता दी। स्वायत्तता की मर्यादाएँ देने के पूर्व ही तय करनी होती है। यह कोई स्वय-भू बात या स्थिति नहीं है। अनुभव के अनुसार बदल भी सकती है।

स्वायत्तता का प्रमाण समझदारी और शालीनता से तय करना होगा। "बाबा वाक्य प्रमाण' को सिरजोरी काम बिगाड़ेगी। राष्ट्रीय ध्येय के अनुरूप मर्यादा शिक्षा-पद्धति की और उसके तन्त्र की अवश्य रहेगी।

किसी को भी स्वतन्त्ररूप से शिक्षा-संस्था शुरू करने का अधिकार है, लेकिन शासन उसकी सहायता नहीं करेगा।

४—अमर्यादित अनर्गल स्वायत्तता को बौद्धिक क्षेत्र में स्थान है, लेकिन शैक्षणिक क्षेत्र में नहीं।

५—देखरेख का कार्य मध्यवर्ती मंडल को करना चाहिए। लेकिन एक उदार चौखट में उस-उस शिक्षण-संस्था को परिवर्तन करने देने का मौका दिया जाय।

६—सम्पूर्ण स्वायत्तता कहीं नहीं होती। समानता और स्वायत्तता का मेल बैठना अशक्य नहीं है।

७—लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज-रचना का ध्येय हमारे संविधान में अतर्भूत नहीं है। समाजवाद सर्वमान्य नहीं है। वह एक या कुछ विशिष्ट दलों का ध्येय है। इसके अलावा, समाजवाद के आशय के विषय में भी एक वाक्यता नहीं है। 'जीवन के सारे अंग सरकार के अधीन' यह समाजवाद का मोटा-मोटा अर्थ माना जाता है। उसे स्वीकार करने का तथा कर लिया जाय तो स्वायत्तता की सारी चर्चा ही व्यर्थ हो जाती है। जो समाजवादी नहीं है, वह पूँजीवाद का पुरस्कर्ता है, ऐसा भी हमारे यहाँ अर्थ किया जाता है। इसलिए हर आदमी पूँजीवाद का पुरस्कर्ता साबित न होने के लिए अपने को समाजवादी कहता है। शिक्षण से व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह समाजशील बनना चाहिए, ऐसा ध्येय रखना बुरा नहीं है। लेकिन व्यक्ति का समाजशील बनना अलग है और समाजवादी बनना अलग है। उसका समाजवादी बनने का मतलब है विशिष्ट राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था से उसे बाँधना। समाजशीलता में व्यक्ति के *अहंकार का और विभक्त भावना का नियंत्रण है। समाजवादित्व में व्यक्ति* का विलयन है।

प्रश्न : स्वतन्त्रता और स्वायत्तता मान्य करके भी शिक्षा-योजना के कुछ घटकों की ओर से लगायी गयी मर्यादाएँ व्यवहार के नाते आवश्यक होने पर, वे मर्यादाएँ कौन-सी हों ? ये मर्यादाएँ स्वीकार करने पर भी स्वायत्तता कैसे रखी जा सकेगी ? शिक्षा के विविध घटकों को शिक्षण स्वायत्त करने की दृष्टि से किस-किस प्रकार प्रयत्न करना चाहिए ? उसमें शिक्षकों का—व्यक्तिगत और संघटन के द्वारा—कार्य क्या है ?

देशमुख : पहले किये गये विवेचन के अनुसार 'स्वायत्तता' वरिष्ठों की ओर से प्राप्त कार्यनिर्वाह-पद्धति है, जिसमें मर्यादा अभिप्रेत ही है। यह कोई निसर्गजन्य हक नहीं है। अनुमत स्वायत्तता के वर्तुल में कोई भी हस्तक्षेप न करे—यह स्वतन्त्रता है। यह सम्पूर्ण हो और हस्तक्षेप न चले। कहाँ जाकर रोका जाय यह प्रत्येक की सद्सद्-विवेकबुद्धि का प्रश्न है। भारत की वर्तमान परिस्थिति में यह सब मुझे मन का लड्डू लगता है। सिद्धान्त और सामंजस्य रिक्त है और एकदम नीचे के स्तर के स्वार्थ में उन्माद आ गया है। इस प्रवृत्ति को नियंत्रण में रखना व्यक्ति के लिए साध्य नहीं है। इसके लिए संगठन आवश्यक है और वह खमीर चाहिए।

बढ़ना एक बात है, गुण बढ़ना बिलकुल दूसरी। क्या संख्या के साथ-साथ गुण भी बढ़ेगा ?

अभी लखनऊ विश्वविद्यालय में जो कुछ हुआ उसे शिक्षा का 'वाटरगेट' मान लेना चाहिए। हमारी शिक्षा में जो सड़न और निकम्मापन है वह नया नहीं है, पुराना है। अगर इसी शिक्षा को चलाते रहना हो तो शिक्षा के नाम में कुशिक्षा का प्रचार करना होगा। कुशिक्षा का प्रचार करना देश का—उसके वर्तमान और भविष्य दोनों का—घोर अहित करना है। कुशिक्षा से अशिक्षा कहीं अधिक सह्य है। कुशिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह मनुष्य के सहज गुणों को भी हर लेती है। ऐसा मनुष्य समय की गति और समाज के जीवन से भी अच्छी बातें सीखने के अयोग्य हो जाता है। तब वह असामाजिक और समाज-विरोधी भी हो जाता है। हमारा तरुण समाज से हटता, कटता जा रहा है, इसका प्रमाण ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है। परिवार, गाँव, स्कूल, बाजार हर जगह प्रमाण भरे पड़े हैं। समाज अपने तरुणों और तरुणियों के हाथों बहुत बड़ा नुकसान उठा रहा है। तोड़-फोड़ से कहीं बड़ी क्षति यह है कि समाज अपने तरुणों और तरुणियों की सही, सच्ची, विधायक शक्ति के लाभ से वंचित हो रहा है। तरुण की प्रतिभा से बड़ी कोई दौलत नहीं होती। आज हम उसी दौलत को खुले हाथों गँवा रहे हैं।

क्या यह गँवाना पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में खत्म होगा, या कम-से-कम रुकेगा ? अभी तक तो कोई ऐसी बात सामने नहीं आयी है जिससे भरोसा हो कि ऐसा होगा। क्या शिक्षा स्कूल की चार दीवालों से बाहर भी निकलेगी ? क्या अभ्यास-क्रम बदलेगा ? परीक्षा-पद्धति में सुधार होगा ? उत्पादक श्रम हर विद्यार्थी के लिए अनिवार्य होगा ? ज्ञान का अभ्यास वातावरण और समाज के वास्तविक जीवन के अनुबन्ध में कराया जायेगा ? क्या यह सब होगा, या विद्यालय डिग्री के बाजार ही बने रहेंगे ?

अब हमारे बच्चों के सामने इक्कीसवीं शताब्दी का जीवन है। कौन मानेगा कि आज की शिक्षा किसी भी अंश में उन्हें उस जीवन के लिए तैयार कर सकती है ? इसीलिए दुनिया में शिक्षा का नया

विचार अब यह नहीं मानता कि शिक्षा विद्यालय में बँध सकती है या कुछ वर्षों में किसी परीक्षा के साथ पूरी हो सकती है, या वास्तविक जीवन से अलग रहकर सार्थक रह सकती है। हमारे अगुआ क्या सोचते हैं? स्वय शिक्षक और विद्यार्थी क्या सोचते हैं?

अगरेजों ने शिक्षा चलायी अपना शासन चलाने के लिए। आज की शिक्षा किसलिए चलायी जा रही है? देश का सर्वनाश करने के लिए?

—राममूर्ति

सूचना

[पाठकों को सूचित किया जाता है कि माह मई, अक १० 'आचार्यकुल विशेषांक' निकालने के कारण सामान्य अक से आठ पृष्ठ ज्यादा बढ़ाना पड़ा। सामान्य अक ४८ पृष्ठ का प्रकाशित होता है।

अत कागज का हिसाब पूरा करने की दृष्टि से यह अक ४० पृष्ठ का ही प्रकाशित किया जा रहा है।—सम्पादक]

सम्पादक मण्डल :
श्री धीरेन्द्र मजूमदार : प्रधान सम्पादक
श्री वंशीधर श्रीवास्तव
आचार्य राममूर्ति

वर्ष : २१
अंक : ११
मूल्य : ७० पैसे

अनुक्रम

जून, '७३

● 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से प्रारम्भ होता है।
● 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा आठ रुपये हैं और एक अंक के ७० पैसे।
● पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
● रचनाओं में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होती है।

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट, द्वारा सर्व सेवा संघ के लिए प्रकाशित,
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी में मुद्रित

नयी तालीम : जून, '७३
पहिले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त
लाइसेंस नं० ४८ ...
रजि० सं० एल० १७२३

हमारे नये प्रकाशन

विश्व भवत्येक नीडम्
नारायण देसाई

श्री नारायण देसाई पिछले दिनों विश्व-शांति यात्रा पर यूरोप तथा अमेरिका गये थे। अनेक देशों के शांतिप्रिय लोगों से, युवक-युवतियों से मिले, और उन्होंने देखा कि आज 'एक विश्व' की प्यास जोर से लगी है। सारा विश्व एक परिवार है, एक नीड है–यह सर्वोदय का आधारभूत विचार है।

पुस्तक यात्रा-विवरण तो है ही, पर पढ़ने मे प्रत्यक्ष अवलोकन का आनद देती है। मूल्य : ३.००

मधुमेह
डा० शरण प्रसाद

इस पुस्तक में मधुमेह या डायबिटीज के विषय मे लेखक ने प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से अच्छा विवेचन किया है।

मूल्य १.५०

हृदय रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा
धर्मचंद सरावगी

विषय नाम से स्पष्ट है।

मूल्य २ ००

नेत्र रक्षा की कला
गोविंदभाई पटेल

आँख है तो जहान है। आँखों की रक्षा हमारे अपने हाथ मे है। आँखों की सुरक्षा के प्रति हम सचमुच बहुत लापरवाह रहते है। यह पुस्तक हमे आँखों के विषय में अनेक बातों की जानकारी देती है। मूल्य - ३ ००

सर्व सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

आवरण मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर वाराणसी २२१ ००१